हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

5



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य रु 75.00
© डॉ मुकुन्द द्विवेदी
प्रथम संस्करण : अगस्त, 1981
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002
मुद्रक : शान प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032
कलापक्ष : मोहन गुप्त
HAZARIPRASAD DWIVEDI GRANTHAVALI
Price : Rs. 75.00



"विचार सत् और असत् के यथार्थ स्वरूप को पहचानने मे सहायता करता है और विवेक सत् से असत् को और असत् से सत् को अलग कर देता है।"

—सहज साधना



"मारा समाज धर्म की झूठी कल्पना के कारण जर्जर हो गया है, शतधा विच्छिन्न हो गया है, आत्मगौरव की भावना से हीन हो गया है।"

—चारु चन्द्रलेख

रीतिकाल के अंत में मुक्तक काव्य की धारा क्षीण हो चली थी। गुप्त काल से अपभ्रंश के साहित्य में भी रस और अलंकार के मुक्तक दोहों का प्रचलन था। हेमचंद्र के व्याकरण से और मेरुतुंग के प्रबंध चिन्तामणि में ऐसे मुक्तक दोहों का प्रमाण मिल जाता है। चौदहवीं शताब्दी में भारतीय भाषाओं की चिन्तन-सामग्री मौलिक नहीं रह गई थी। वे प्राचीन ग्रंथों की टीकाओं में ही उलझी हुई थीं। तो भी भक्ति के प्रबल आन्दोलन ने भारतीय मनीषा को झकझोर दिया और निर्गुण और सगुण भाव से भजन करने वाले कवियों ने काव्य के क्षेत्र में नवीन मौलिकता का परिचय दिया, लगभग तीन सौ वर्षों तक भक्ति का प्रभावशाली आन्दोलन और भक्त के रूप प्रतिभाशाली कवियों को आकृष्ट किये रहा। इस समय देश में केंद्रीय सत्ता सुव्यवस्थित हो गई थी। प्रायः देश के सभी प्रधान हिस्सों में शान्ति और व्यवस्था की प्रतिष्ठा थी। छोटे छोटे कई दरबारों पर बड़े राज्य बन गये थे जो बाहरी आक्रमण से निश्चिन्त थे और भीतरी व्यवस्था में निरंकुश थे। इन राजाओं के लिये वीरत्व-व्यंजक उत्साह संचारिणी कविता का कोई स्थान नहीं था, क्यों कि बाहरी आक्रमण से वे सुरक्षित थे। इन्हीं दरबारों में एक प्रकार की कविता प्रश्रय पाने लगी जिस में रस स्तुति और शृंगार का प्राधान्य था। इस दरबारी कविता का उद्गम और पोषण-स्थान मुक्तक दरबार में अपभ्रंश से चली आती हुई मुक्तक परंपरा ही था। [illegible] और अंत में उस [illegible] का प्रभाव ऐसा सर्वग्रासी हुआ कि इस [illegible] की कविता उसकी गुलाम हो गई।

यह अलंकार शास्त्र था। संस्कृत में साहित्य विवेचन की दो धाराएं बहुत पहले से चली आ रही थीं। एक धारा के विवेचन का विषय था अलंकार और दूसरी की विवेचना का विषय था रस। दूसरी धारा प्रधानतः नाटकों की आलोचना की थी। [अलंकार एक प्रकार के कहने का ढंग है। कोई बात जब सीधे सीधे कहने से पूरी पूरी

ये ... [illegible] ... हैं। [illegible]
... लीलाओं को [illegible] ...
के रूप में चलते-फिरते चित्र ... हैं—

सोभित कर नवनीत लिए
घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित मुख दधि
लेप किए।

और फिर,

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत
मनिमय कनक नंद कैं आँगन बिंब पकरिबैं धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं कर सौं पकरन चाहत
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ पुनि पुनि तिहिं अवगाहत।

फिर [illegible] और [illegible] के [illegible] ... [illegible]।
[illegible] चलत [illegible] मैया।
[illegible] ...
और फिर आँगन में नाचने लगते हैं; यशोदा मैया [illegible]
को देखती हैं और आनन्द विभोर ... इन
लीलाओं के ... से मातृहृदय की [illegible]
... हृदय का ही ... [illegible]
... के साथ [illegible] है कि [illegible]
गतिशील चित्र आँखों के सामने [illegible]
हो उठते हैं। प्रत्येक लीला [illegible] के [illegible]
... प्रभावित करती है और [illegible] हृदय [illegible]

द्विवेदीजी की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ

निवेदन

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन मे अनेक परिकल्पनाएँ तथा योजनाएँ थीं जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोडकर वे चले गये हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की शृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व-बिन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचना-दृष्टि समय के आरपार देखने में समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठता और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य में हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालों को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बाग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य में सहजता का मणिकांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन में विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्हीं अद्वितीय प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पांचवाँ खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवाँ खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवाँ खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवाँ खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवाँ खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवाँ खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवाँ खण्ड : विविध साहित्य ।

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेकों समस्याएँ आयी हैं। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-संग्रह तथा तिथिक्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त में मूल निबन्ध-संग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके, इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्रायः अभिभूत रहे हैं, अतः दोनों महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड में विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री संकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थीं और अनेक अनुवाद भी। उन्हें यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता में अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योतिःशास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय में परामर्श दिया, और श्री महेशनारायण 'भारती-भक्त' ने मुद्रण प्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बनाया। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते हैं। श्रीमती शीला सन्धू और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम वृहद् हिन्दी विश्व परिवार को समर्पित करते हैं। इससे ज्ञानधारा एवं रससृष्टि में थोड़ा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे।

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी

अनुक्रम

मध्यकालीन बोध का [illegible]

आमुख

मुझे इस बात की खुशी है कि पंजाब यूनिवर्सिटी का प्रकाशन विभाग आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पाँच व्याख्यानों को, जो इन्होंने टैगोर प्रोफेसर के नाते पंजाब विश्वविद्यालय में दिये थे, प्रकाशित कर रहा है। एक विद्वान् के विचारों को प्रकाशित करने में हर यूनिवर्सिटी गौरव का अनुभव कर सकती है। मध्य-कालीन साहित्य पर आचार्य द्विवेदी का पूरा अधिकार है। इसलिए इस पुस्तक को विद्वानों को सौंपते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है।

सूरजभान
(वाइस-चांसलर)
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

प्राक्कथन

'मध्यकालीन बोध क्या है ?' इस विषय का चयन मैंने शायद इसलिए किया था कि यह मेरी व्यक्तिगत समस्या थी, जो बाद में समष्टिगत सिद्ध होकर रही। आधुनिक, आधुनिकता, आधुनिकतावाद, आधुनिक बोध, आधुनिक संवेदना आदि शब्दों की झड़ी में मध्यकालीन बोध के स्वरूप से परिचित होना आवश्यक जान पड़ा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्यकालीन साहित्य का गहरा मन्थन ही नहीं किया है, वरन् इस मन्थन से अनमोल रत्न भी निकाल रखे हैं। वे पंजाब यूनिवर्सिटी में टैगोर प्रोफेसर के पद पर आसीन थे। इसलिए हिन्दी विभाग की ओर से इनसे मध्यकालीन बोध पर व्याख्यान देने के लिए निवेदन किया गया, जिसे इन्होंने अपने सहज भाव से स्वीकार कर लिया। इस व्याख्यान-माला में पाँच व्याख्यानों को पिरोने का निश्चय किया गया : 1. मध्यकाल और उसके आदर्श काव्य; 2. महाकाव्य और अलंकृत प्रबन्ध; 3. उद्देश्य और उपलब्धियाँ; 4. रस का व्यावहारिक अर्थ; और 5. रस : कवियों का साक्ष्य।

इन व्याख्यानों पर या इस विषय पर मेरे लिए राय देना अनधिकार चेष्टा होगी। यह मेरे अध्ययन का विषय नहीं है, लेकिन रुचि का विषय इसलिए बन गया है कि मध्यकालीन बोध को समझे बिना आधुनिक बोध को समझना मेरे लिए कठिन और अधूरा था। परम्परा में डूब जाना एक बात है, लेकिन परम्परा से कट जाना दूसरी बात। इसका मतलब मध्यकालीनता से जुड़ना भी नहीं है, लेकिन इसे हठवश नकारकर आधुनिकता को समझना कम-से-कम मुझे मुश्किल लगा है। इन व्याख्यानों की सहायता से आधुनिक बोध अधिक स्पष्ट होने लगता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने निष्कर्षों को ठोस आधार दिया है, मध्यकालीन साहित्य इनकी रगों में समाया हुआ है। यह कैसे और किस तरह है—इसके बारे में इनके व्याख्यान बोलेंगे, हम नहीं।

अन्त में मुझे डॉ. लल्लन राय को धन्यवाद देना है जिन्होंने इन व्याख्यानों को इनके शुद्ध रूप में प्रकाशित करने में सहायता दी है, और श्री बालकृष्ण के प्रति आभार व्यक्त करना है जिन्होंने सुरुचि के साथ इन्हें पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया है।

इन व्याख्यानों को पुस्तक-रूप में सौंपते हुए मुझे हर्ष हो रहा है।

इन्द्रनाथ मदान
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़
16-1-1970

मध्यकालीन साधना

किसी काल-विशेष के साहित्यबोध या साहित्य-संवेदना के समझने का क्या उपाय है ? क्या वे सारे ग्रन्थ जो उस काल-विशेष में लिखे गये, उस काल की संवेदना को प्रकट करने के एकमात्र समर्थ साधन हैं या कुछ और भी बातें इसके लिए आवश्यक हैं ? यदि केवल साहित्यिक कृतियों का उल्लेख-मात्र इस कार्य के लिए आवश्यक होता तो मेरा काम अपेक्षाकृत आसान था। लेकिन मैं इसे इतना आसान नहीं समझता। मेरी दृष्टि में सम्पूर्ण साहित्यबोध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कवियों, ग्रन्थकारों और कृतियों की जानकारी प्राप्त करें जो उस काल-विशेष में आदर्श, अनुकरणीय और व्याख्येय समझे गये थे। फिर हमें उन आचार्यों का परिचय भी प्राप्त करना होगा जिनके बताये हुए कायदे-कानून, विधि-निषेध और आदर्श इस काल में स्वीकार कर लिये गये थे। फिर हमें उन लोकप्रिय किंवदन्तियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो सकता है, जो श्रेष्ठ समझे जानेवाले कवियों और साहित्यकारों में प्रचलित हो गयी थी। इन किंवदन्तियों में प्रच्छन्न रूप से लोकप्रिय साहित्यिक मान और उत्तम रचना की कसौटी विद्यमान रहती है। फिर विभिन्न रचनाओं पर लिखी गयी टीका-टिप्पणियाँ भी हमें उस काल-विशेष की प्रवृत्तियों का परिचय दे जाती हैं। कभी-कभी साहित्य-क्षेत्र के बाहर भी जाने की जरूरत पड़ सकती है, क्योंकि साहित्य के पीछे अनेक प्रकार की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियाँ काम करती रहती हैं और किसी प्रयत्न के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उसे बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना आवश्यक हो जाता है।

मध्यकाल के साहित्यबोध के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'मध्यकाल' से तात्पर्य क्या है। इस शब्द का एक स्पष्ट अर्थ आधुनिक युग का पूर्ववर्ती काल है और दूसरा स्पष्ट अर्थ है प्राचीन काल के बाद का समय। आधुनिक युग विज्ञान की देन है। मशीनों के आने के बाद ही इस युग में नयी समस्याएँ और उनके समझाने के लिए नये प्रयत्न सामने आने लगे। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर मनुष्य परिवर्तित होने को बाध्य हुआ और तेजी से उस युग का जन्म हुआ जिसे हम 'आधुनिक' कहते हैं। पश्चिम के देशों से हमारा सम्पर्क होने के बाद हम इस युग में प्रविष्ट हुए। इस नये युग में व्यक्ति क्रमशः स्वतन्त्र होता गया है तथा और भी स्वतन्त्र होता जा रहा है। इसमें पहले के युग में मनुष्य और मनुष्य का सम्बन्ध सीधा और प्रत्यक्ष होता

था, लेकिन नये युग का सम्बन्ध बाजार के माध्यम से होने लगा है। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक, राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र तो हो रहा है, परन्तु उसकी स्वतन्त्रता और स्वाधीनता बाजार के मूल्यों द्वारा नियन्त्रित होती है। इसके पहले व्यक्ति या तो मालिक होता था, नौकर होता था, दास होता था, मित्र होता था, कवि होता था या आश्रयदाता होता था। आज वह ठीक ऐसा नहीं है। मध्यकालीन युग की चर्चा करते समय हमें इन सम्बन्धों का भी विश्लेषण करना होगा।

लेकिन पहली बात यह है कि हम मध्यकाल की सीमा का निर्धारण कर लें।

'मध्ययुग' या 'मध्यकाल' शब्द भारतीय भाषाओं में नया है। आजकल इस शब्द का प्रयोग एक ऐसे काल के अर्थ में होने लगा है, जिसमें तार्किक रूप से मनुष्य एक जकड़ी हुई स्तब्ध मनोवृत्ति का शिकार हो गया है। इस देश के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के किसी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। यद्यपि प्राचीन काल में भारतवर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग के चार युगों की चर्चा मिलती है। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में भी इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

के 653 वर्ष बीतने पर राजा हुए थे। जो भी हो, इस देश की दीर्घकालीन प्रचलित परम्परा के अनुसार ईसवी सन् से कोई 3101 वर्ष पूर्व कलियुग का आरम्भ हो गया था। इस प्रकार यद्यपि हिन्दू-परम्परा इस काल का पाँच हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व से आरम्भ होना बताती आ रही है, तथापि नयी दृष्टि के पण्डितों ने आर्य राजाओं की वंशावली के आधार पर सन् ईसवी के कोई एक सहस्राब्दक पूर्व से इस काल का आरम्भ माना है। साधारणतः इस काल के बाद राजाओं का उल्लेख पुराणों में भविष्यकालिक क्रिया के प्रयोग द्वारा किया गया है। यह माना जाता है कि कलियुग में मनुष्यों की प्रवृत्ति पापकर्मों की ओर हो जाती है और उनका आयुबल क्षीण हो जाता है, तथा ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों मनुष्य की पापाभिमुख प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। यद्यपि कलिकाल के दोष अनेक हैं, तथापि उसमें एक बड़ा भारी गुण भी है। अन्यान्य युगों में मानस-पाप का भी फल मिलता है, किन्तु कलियुग में मानस-पाप का फल तो मिलता ही नहीं, ऊपर से मानस-पुण्य का फल प्रचुर मात्रा में मिलता है। अनजान में यदि भगवान का नाम ले लिया जाय तो मुक्ति हो जाती है। अजामिल, गणिका आदि इसी प्रकार तर गये थे। भाव से हो, कुभाव से हो, क्रोध से हो, घृणा से हो, उत्साह से हो, आलस्य से हो, जैसे-तैसे भी भगवान का नाम ले लेने से इस युग में मंगल ही होता है। इस प्रकार चार युगों के विश्वास के मूल में एक प्रकार की निराशावादी मनोवृत्ति है, जो मानती है कि मनुष्य क्रमशः नैतिक दृष्टि से पतन की ओर बढ़ता जा रहा है। जो कुछ अच्छा था वह पहले हो चुका है और अब आगे केवल ह्रास की ही सम्भावना है। इस विश्वास का कुछ आभास हमारे देश के बहुत प्राचीन साहित्य में भी मिल जाता है। व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दू विश्वास उत्थान-पतन की निरन्तर चलनेवाली प्रक्रिया में विश्वास करता है। कलियुग के बाद फिर कृत, त्रेता, द्वापर और अन्त में कलिकाल आयेगा। यह चक्र अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता जायेगा। पर व्यवहार में यह आशाजनक नहीं है। कलियुग की आयु 4,32,000 वर्षों की है और अभी कुल जमा लगभग पाँच ही हजार वर्ष बीते हैं। बाकी 4 लाख 27 हजार वर्ष बीतते-बीतते न जाने क्या गति होगी। परन्तु इस लम्बे समय के प्रचलित होने का इतिहास नया है। सन् ईसवी के आरम्भ होने के आसपास ही इस बड़े कालमान की कल्पना की गयी है। महाभारत में और रामायण के अधुनोपलब्ध रूपों में इस प्रकार की काल-कल्पना मिल जाती है। गुप्तकाल में इसने दृढबद्ध संस्कार का रूप धारण किया और परवर्ती काल में वह समूची हिन्दू जाति के इतिहास को प्रभावित करने का कारण बन गयी। महाभारत और भागवत आदि ग्रन्थों में कलियुग का बड़ा ही चिन्ताजनक रूप उपस्थित किया गया है। प्रायः सभी पुराणों में कलियुग के नैतिक ह्रास का वर्णन किया गया है। प्रायः हर पुराण में बताया गया है कि इस युग में लोगों का नैतिक चरित्र पतित हो जायेगा। श्रुति-स्मृति में जिस

आचार का निर्देश है वह मिटने लगेगा। वर्णाश्रम-व्यवस्था में गड़बड़ी आ जायेगी। शूद्र लोग संन्यास लेकर उच्च वर्णों को उपदेश देने का ढोंग रचेंगे। स्त्रियाँ चरित्रहीन हो जायेंगी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले विद्वानों का विश्वास है कि बौद्ध धर्म के अभ्युत्थान के बाद कुछ ऐसे विचार बने होंगे। महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन काने महोदय का अनुमान है कि (हिस्ट्री आफ दि धर्मशास्त्र, पृ. 895) सन् ईसवी की चौथी शताब्दी तक युगों के इस प्रकार के विश्वास ने जड़ जमा ली होगी। उन्होंने अनेक पुराणों में ज्यों-का-त्यों पाया जानेवाला यह श्लोक दिया है जिसके अनुसार कलियुग में वे लोग धर्मोपदेश करेंगे जो शठतायुक्त बुद्धि से रहनेवाले या गलत मान्यता के विश्वासी होंगे, उनके दाँत सफेद होंगे (भ-दन्त), वे जितेन्द्रिय होने का दावा करेंगे तथा मुण्डित और काषाय वस्त्र धारण करनेवाले होंगे—

शुक्लदन्ता जिताक्षाश्च मुण्डाः काषायवाससः
शूद्राधर्मं वदिष्यन्ति शाठ्यबुद्ध्योपजीविनः।

इसी प्रकार महाभारत के वनपर्व (110/67) में बताया गया है कि कलियुग में देवस्थानों, चैत्यों और नागस्थानों में पृथ्वी हड्डियों के स्तूपों से भर जायेगी, देवमन्दिर उठ जायेंगे—

देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च।
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता॥

इन श्लोकों से स्पष्ट ही सूचित होता है कि बौद्ध धर्म के अभ्युत्थान से इस प्रकार की प्रतिक्रिया को बल मिला था।

दसवीं शताब्दी के बाद के पुराणों और स्मृतियों में प्राचीन ग्रन्थों के बहुत-से विधानों को कलिकाल में वर्जित कहा गया है। पुराने जमाने में कुछ बातें करणीय मान ली जाती थीं, उन्हें कलिकाल के अल्पशक्ति-सम्पन्न लोगों के लिए वर्जित कर दिया गया है। नियोग, विधवा-विवाह, गोमेध आदि ऐसे ही कृत्य हैं। परवर्ती काल के निबन्ध-ग्रन्थों में इन कलिवर्ज्य कृत्यों का विस्तारपूर्वक निर्देश है। पहले के लोग समर्थ थे और 'समरथ के नहिं दोष गुसाईं', परन्तु कलिकाल के लोग क्षीणबल हैं, असमर्थ हैं, उन्हें उन्हीं आचरणों के पालने की अनुमति नहीं दी जा सकती। सन् ईसवी के प्रथम सहस्राब्दक में जो विश्वास धीरे-धीरे जड़ जमाने लगे थे, उन्होंने अन्ततोगत्वा सामाजिक सहजगति का रास्ता ही रोक दिया। कलियुग का पूरा प्रभाव सन्-ईसवी के दूसरे सहस्राब्दक में अनुभूत हुआ।

इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार कलिकाल ह्रासोन्मुख युग है। सन् ईसवी के कुछ बाद इस विश्वास का आरम्भ हो जाता है, परन्तु इस विश्वास के कारण जो स्तब्ध और जकड़ी हुई मनोवृत्ति सामूहिक प्रयासों पर छा गयी उसके बद्धमूल होने में कुछ और समय लगा होगा। सन् ईसवी की नवीं-दसवीं शताब्दी में वह उग्र रूप में प्रकट होती है। आजकल जिसे स्तब्ध मनोवृत्ति का काल कहते हैं, वह वहीं से शुरू होता है। बौद्ध धर्म के अभ्युत्थान-काल में देश में

आत्मविश्वास की उमंग आयी थी, व्यापार और उद्योग से समृद्धि का आविर्भाव हुआ था और यद्यपि ब्राह्मण धर्मानुमोदित व्यवस्था वैसी ही नहीं रह गयी थी जैसी पुराने शास्त्रकारों के निर्देशानुसार होनी चाहिए थी, फिर भी उसमें आशा का स्वर एकदम नष्ट भी नहीं हुआ। उसमें प्राणशक्ति बनी रही। गुप्तकाल में राष्ट्रीय गौरव का पुनरुत्थान होता है। बाहरी आक्रमणकारियों का उपद्रव बहुत कुछ शान्त हो जाता है और आसेतु-हिमाचल पूरा देश सुरक्षा के वातावरण में साँस लेता है। गुप्त साम्राज्य के अन्तिम दिनों में भी किसी-न-किसी प्रकार की सुरक्षा बनी रहती है। पर बाहरी आक्रमणों का ताँता भी बँध जाता है। ब्राह्मण धर्मानुमोदित व्यवस्था के नष्ट होने का भय भी बना रहता है। पुराणों में फिर से आस्था की जाने लगती है कि भगवान भू-भार को कम करने के लिए अन्यान्य युगों की भाँति फिर अवतार लेंगे और म्लेच्छों का दमन करेंगे। वे कलिकाल में कल्किन् (कल्की) नाम का अवतार लेंगे और म्लेच्छों का नाश करके फिर कृत या सत्ययुग का प्रवर्त्तन करेंगे। प्रायः सभी मुख्य पुराणों में इस भावी अवतार की चर्चा है। भागवत के बारहवें स्कन्ध में बताया गया है कि शम्भला ग्राम के मुखिया विष्णुयशस् नामक ब्राह्मण के घर में कल्की का प्रादुर्भाव होगा। वे शीघ्रगामी घोड़े पर चढ़कर अपनी तलवार से असाधुओं का दमन करेंगे। उसके बाद सत्ययुग (कृतयुग) आयेगा और सात्विक प्रजा उत्पन्न होगी। इतिहास के जानकारों ने बताया है कि यद्यपि यह बात पुराणों की भविष्य-कथन की शैली में कही गयी है तथापि इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का अवतार हो चुका है। पुराणों में व्यासजी के बाद की सभी घटनाओं को भविष्य-कथन की शैली में ही कहा गया है। नन्दों की चर्चा है और किसी-किसी पुराण में तो गुप्त राजाओं की भी चर्चा है। इसलिए उनका कहना है कि शम्भला ग्राम के विष्णुयशस् के घर में उत्पन्न होनेवाले कल्की भी वस्तुतः हो चुके हैं। अधिकतर विद्वानों का विचार है कि मिहिरकुल के आक्रमण से सारा देश कराह उठा था। राजतरंगिणी के अनुसार तो उसने तीन करोड़ लोगों का नाश किया था। (त्रिकोटिहन्)। इसी दुर्दान्त मिहिरकुल को सन् ईसवी की छठी शताब्दी के मध्य भाग में यशोधर्मन् (विष्णुवर्धन) ने परास्त किया था और कामरूप से पश्चिमी समुद्र तक एकच्छत्र चक्रवर्ती बनकर शासन किया था। 'कल्की' इन्हीं का नाम है। सुझाया गया है कि परवर्ती काल में यशोधर्मन् और विष्णुवर्धन नामों का गड्डमड्ड होकर विष्णुयशस् बन गया है। यह भी सुझाया गया है कि कर्क सफेद घोड़े को कहते हैं, 'कल्क' उसी का रूपान्तर है। कदाचित यशोधर्मन् सफेद घोड़े के सवार होने के कारण लोक में कर्की या कल्की कहे गये। यदि यह अनुमान सत्य है तो मानना पड़ेगा कि छठी शताब्दी में वर्णाश्रम व्यवस्था को आशा की ज्योति दिखी थी और सत्ययुग के पुनः प्रवर्त्तन की आशा भी बँधी थी। पर यह आशा देर तक नहीं टिकी। सातवीं शताब्दी के बाद देश खण्डित होने लगा और निराशा का स्वर प्रबल होता गया। बाद की शताब्दियों में कलियुग के जमकर बैठ जाने के

विश्वास ने बल पकड़ा और स्तब्ध मनोवृत्ति का काल जमकर लोकचित्त को अभिभूत करने में समर्थ हुआ।

इति ... जाते ही रहते हैं। हमारे दीर्घ इति-हास में ... आशा का अभ्युदय स्वर्णयुग की कल्पनाओं को बढ़ावा देता है, निराशा और अवसाद का बोध दुःखमय और पापाश्रयी युग की कल्पना को प्रोत्साहित करता है। सातवीं शताब्दी के बाद के साहित्य में अतीत काल को अविसंवादित रूप से स्वर्णयुग मान लिया जाता है और भविष्य की ओर क्रमशः निराशा का भाव बढ़ता जाता है। क्रमशः अतीत को गौरवशाली और भविष्य को अन्धकारमय समझने की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगती है। घोर कलिकाल की निराशामयी कल्पना की प्रवृत्ति निरन्तर बलवती होती जाती है। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर इतिहास ही दे सकता है। हम ज्ञात परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही इस व्यापक मनोवृत्ति का उत्तर पा सकते हैं।

यदि मध्यकाल का अर्थ स्तब्ध मनोवृत्ति का काल है तो उसका ठीक-ठीक आरम्भ भारतवर्ष में कलिकाल के इसी आखिरी रूप से मानना चाहिए। हमारी परम्परा ने यद्यपि कलिकाल का आरम्भ बहुत पहले से मान रखा है और एक प्रकार की नैतिक चिन्ता बहुत पहले से हुई जान पड़ती है, पर स्वतन्त्र चिन्तन और आत्मविश्वास का ऐसा अभाव कभी नहीं हुआ जैसा सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद देखने को मिलता है।

लेकिन इस विश्वास के अनुसार कलियुग अन्तिम युग है। आजकल के शिक्षित लोग जब 'मध्ययुग' या 'मध्यकाल' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनके कहने का अभिप्राय भारतीय परम्परा के युग-विभाग के अनुसार बीच में पड़ने-वाले द्वापर या त्रेता युग से नहीं होता। वस्तुतः यह शब्द अंग्रेजी के 'मिडिल एजेज' के अनुकरण पर बना लिया गया है। यूरोपीय इतिहास में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक अभ्युदय के पूर्व तक के काल को 'मध्ययुग' या 'मध्यकाल' कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी विचारकों ने साधारणतः सन् 476 ईसवी से लेकर 1553 ईसवी तक के काल को मध्ययुग कहा है। हाल की जानकारियों से यह मालूम हुआ है कि इस प्रकार के नामकरण का कोई विशेष उल्लेखनीय कारण नहीं था। असल बात, जैसा कि मैंने अन्यत्र दिखाया है, यह जान पड़ती है कि 'मध्ययुग' शब्द का प्रयोग काल के अर्थ में उतना नहीं होता, जितना एक खास प्रकार की 'पतनोन्मुख और जकड़ी हुई मनोवृत्ति' के अर्थ में होता है। ऐसा माना जाता है कि मध्ययुग का मनुष्य धीरे-धीरे विशाल और असीम ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का भाव छोड़ता जाता है तथा ... धार्मिक आचारों और स्वतःप्रमाण ... होता जाता है। साधारणतः आप्त ... निकालनेवाली व्याख्याओं पर अपनी ...

इतिहास के इसी युग मे यह शास्त्रार्थ प्रबल रूप धारण करता है कि सुई के नोक पर कितने फरिश्ते खड़े हो सकते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्तिपरक अर्थ स्वीकार करनेवाले लोग ही अंग्रेज़ी में 'मिडिएवल', 'मिडिएवलिज़म' आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। कभी-कभी तो ऐसे शब्दों का व्यवहार अवहेलनापरक अर्थ में ही किया जाता है। इसका प्रयोग हिन्दी 'कलियुगी' जैसे शब्द के अर्थ मे नहीं होता, क्योंकि 'कलियुगी' शब्द में जो अनादर का भाव है, वह चरित्रपरक होता है और 'मिडिएवल' (मध्ययुगीन) शब्द का अनादर भाव कुण्ठित-मनोवृत्तिपरक अर्थ मे होता है। अंग्रेज़ी शब्दकोश के अनुसार मध्ययुगीन साहित्यकार वह है जो तथाकथित मध्ययुग के कवियों और लेखकों का अनुकरण करके लिखा करता है। जिस काल को मैं भारतीय साहित्य का मध्यकाल कहने जा रहा हूँ, उसमें भी अनुकरण करने की थोड़ी-बहुत चेष्टा मिल तो जायेगी, पर हम उसे अनुकरण-प्रधान साहित्य नही कह सकते। नि सन्देह इसमें नये काव्य-रूपों का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है। यद्यपि इसमें यह भाव तो है कि पहले लोगों की तुलना में नये लोग अल्पशक्ति के है और पुराने लोगों की कही बातों को परम प्रमाण मानकर उनकी व्याख्या करना और संगति लगाना ही उनका काम है, तथापि रचनात्मक क्षेत्र के बारे मे यह कहना बहुत उचित नहीं जान पड़ता कि उनमें मात्र अनुकरण की प्रवृत्ति ही प्रधान है।

स्तब्ध या कुण्ठित मनोवृत्ति क्या है? कई प्रकार से इस बात को स्पष्ट किया गया है। आधुनिक युग में यह विश्वास किया जाने लगा है कि साहित्यकार जब लिखता है तो उसके द्वारा कुछ बदलना चाहता है। वह अपने इर्द-गिर्द की परिस्थितियों मे कुछ असुन्दर या अशोभन देखता है और उसे सुन्दर-शोभन मे परिवर्तित करने के लिए व्याकुल हो उठता है। वह केवल बँधी-बँधाई परिपाटियो से चालित होकर लिखने से यह उद्देश्य नही पूरा कर सकता। वास्तविक परिवेश और अनुध्यात शोभनता के बीच जितना ही अधिक व्यवधान होता है, उतनी ही अधिक उसकी व्याकुलता होती है इस व्यवधान को पाटने की। आधुनिक युग में नाना कारणों से इस व्यवधान को पाटने की ओर कवि समझ-बूझकर प्रवृत्त होता है। उसका उद्देश्य, जैसा है—उसकी व्याख्या करना नहीं होता और न यह होता है कि जो कुछ पुराने जमाने से कहा जाता आया है उसे दुहराये। यह सचेत परिवर्तनेच्छा आधुनिक युग की विशेषता बतायी जाती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो हमारे आलोच्य काल के भक्ति-साहित्य में इस प्रकार की व्याकुलता प्रचुर मात्रा मे मिलती है। फिर भी वह आधुनिक इसलिए नही कही जाती कि उसका अनुध्यात आदर्श परलोक में मनुष्य को मुक्त करना है। इसी लोक में, इसी मर्त्यजगत् को सुन्दर और शोभन बनाने के उद्देश्य से वह नहीं लिखा गया। भक्ति-साहित्य संसार के बाह्यरूप को यथास्थित छोड़कर व्यक्ति-मानव के चित्त मे परिवर्तन लाने पर अधिक जोर देता है। फिर भी यह लौकिक रस के कवियों की रचनाओं की तुलना मे अधिक मुक्त और अधिक

कुण्ठाहीन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। भक्ति-साहित्य अपने-आपमें स्तब्ध और कुण्ठित साहित्य नहीं है, पर परिवर्तन का लक्ष्य अदृष्ट होने के कारण वह पूर्ण मुक्त नहीं है। एक दूसरी बात भी कुण्ठित मनोवृत्ति को समझाने के लिए कही जाती है। साहित्यकार जब प्रतीक और रूढ़ि का विवेक खो देता है तो वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक मूर्ति, प्रत्येक रेखा और प्रत्येक चिह्न जब तक अपने पीछे के तत्त्वचिन्तन के साथ आते हैं तो प्रतीक होते हैं, परन्तु जब उनके पीछे काम करनेवाले तत्त्वचिन्तन भुला दिये जाते हैं तो वे रूढ़ हो जाते हैं। विष्णु का गगनाभ नील वर्ण उनकी अनन्तता का संकेत करता है, उनके चारों हाथ और उनके शस्त्र भी अनन्त काल और गति के निदर्शक हैं; पर विष्णु की मूर्त्ति को उनका फोटोग्राफ मान लेना रूढ है और स्तब्ध मनोवृत्ति का परिचायक है। किसी भी देवता की मूर्त्ति फोटो नहीं है। यथार्थ चित्र संकेताभिधान होता है और तत्त्वचिन्तन को मुखर करनेवाला विग्रह प्रतीक होता है। कहा जाता है कि मध्ययुगीन साहित्यकार भी प्रतीक को रूढ रूप में चिह्न या अनुकृति मानने लगता है। इस प्रकार वह कुण्ठित और स्तब्ध अर्थात् ह्रासोन्मुखी मनोवृत्ति का शिकार हो जाता है।

रूढ़ अर्थ में ईसवी सन् की पाँचवीं से सोलहवीं शताब्दी को मध्ययुग या मध्यकाल मान लेने में काल की दृष्टि से आसानी है, पर भारतीय साहित्य के प्रसंग में इस काल-खण्ड को ऐसा नाम देना उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि यूरोपीय इतिहास के जिस काल को मध्ययुग कहा जाता है, उसके प्रारम्भिक शताब्दियों को आधुनिक यूरोपियन विद्वान भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहते हैं। यद्यपि यह बात भी सम्पूर्ण रूप से तथ्य के अनुकूल नहीं कही जा सकती, तथापि इतना तो सत्य है कि भारतीय इतिहास में गुप्त नरपतियों का उत्कर्ष-काल बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। सन् ईसवी की पहली शताब्दी से मथुरा के कुषाण सम्राटों के शासन-सम्बन्धी चिह्नों का मिलना एकाएक बन्द हो जाता है। इसके बाद के दो-तीन सौ वर्षों का काल अब तक भारतीय इतिहास का अन्धकार-युग ही कहा जाता रहा है। हाल ही में इस काल के अनेक तथ्यों का पता चला है, किन्तु धारावाहिक इतिहास लिखने की सामग्री अब भी पर्याप्त नहीं कही जा सकती। धीरे-धीरे विद्वान अन्वेषक कुछ-न-कुछ नये तथ्यों का संग्रह करते जा रहे हैं। यह अन्धकारयुग शब्द भी यूरोपियन पण्डितों के दिमाग की ही उपज है। यदि राजाओं और राजपुरुषों का नाम ही इतिहास न समझा जाय तो इस काल को 'अन्धकारयुग' नहीं कहा जा सकता। धर्म और दर्शन आदि के जो ग्रन्थ परवर्त्ती डेढ़ हजार वर्षों के इतिहास को प्रभावित करते रहे हैं, उनका बीजारोपण इसी काल में कहीं हुआ था। मनुस्मृति का अन्तिम रूप सम्भवतः इसी काल की देन है। सूर्यसिद्धान्त का पुराना रूप इसी काल में बना होगा। अश्वघोष ने सम्भवतः इसी काल में अपनी नयी काव्यशैली का आरम्भ किया और परवर्त्ती नाटकों, प्रकरणों और अन्यान्य रूपकों को प्रभावित करनेवाला भारतीय

नाट्यशास्त्र भी इसी काल में अन्तिम रूप पा सका था। इसी प्रकार परवर्ती काव्यों को दूर तक प्रभावित करनेवाला वात्स्यायन का कामसूत्र इसी काल में सम्पादित हुआ था। दर्शन और धर्म-साधना के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों और सम्प्रदायों की स्थापना इसी काल में हुई। इस प्रकार परवर्ती भारतवर्ष को जो रूप प्राप्त हुआ, वह अधिकांश में इसी काल की देन है।

हमने पहले ही देखा है कि गुप्तकाल भारतवर्ष में समृद्धि का काल था, उसे स्तब्ध मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता। सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी के बाद के वर्ष में मगध का प्रसिद्ध पाटलिपुत्र चार सौ वर्षों की प्रगाढ़ निद्रा के बाद एकाएक जाग उठा। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसकी शक्ति लिच्छवियों की राजकन्या से विवाह करने के कारण बहुत बढ़ गयी थी, अचानक प्रबल पराक्रम के साथ उठ खड़ा हुआ और उत्तर भारत के विदेशियों को उखाड़ फेंकने में समर्थ हो गया। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने और भी प्रचण्ड विक्रम का परिचय दिया। अनेक मदवर्त्तित सामन्तों और बलदर्पित शासकों का मानमर्दन करके उसने उत्तर भारत को निष्कण्टक-सा बना दिया। इसका पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी पिता के समान ही प्रतापशाली हुआ। इसका सुव्यवस्थित साम्राज्य पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैला हुआ था। इस समय सनातन वैदिक धर्म नया तेज और यौवन पाकर बड़ा शक्तिशाली हो गया। गुप्त सम्राटों के समय भारतवर्ष नवीन उल्लास से उत्फुल्ल था। जहाँ तक सर्जनात्मक साहित्य का प्रश्न है, इस काल में काव्य, नाटक, कथा आख्यायिका आदि विविध काव्यांगों का विकास चरम बिन्दु तक पहुँच गया था। इस काल के कवि अतीत के प्रति बहुत श्रद्धाप्रवण थे, परन्तु उनमें आत्म-विश्वास भी उतनी ही प्रचुर मात्रा में विद्यमान था जितनी प्राचीनता के प्रति श्रद्धा। इस विश्वास और श्रद्धा के युगपत् सम्मिलन से वे शक्तिशाली साहित्य दे सके। श्रद्धा की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और अन्ततः उसने आत्मविश्वास को अभिभूत कर लिया। जहाँ से यह स्थिति पैदा हुई, वहीं से ह्रासोन्मुख काल या मध्ययुग का आरम्भ समझना चाहिए।

लगभग इसी समय दक्षिण में वाकाटक नृपतियों का शक्तिशाली शासन था। ये भी संस्कृत और प्राकृत साहित्य के संरक्षक हुए। वाकाटक नृपति प्रवरसेन स्वयं प्राकृत के बहुत अच्छे कवि थे। गाथा सप्तशती (गाहासत्तसई) की कई गाथाएँ वाकाटक नृपतियों की लिखी बतायी जाती हैं। संस्कृत साहित्य में इसी समय वैदर्भी, पांचाली और मागधी रीतियों की नींव पड़ी। राजशेखर ने जिस वात्सोमी (वत्सगुल्मी) रीति का उल्लेख किया है, वह भी वाकाटक नृपतियों की एक शाखा की राजधानी वत्सगुल्म (वर्तमान 'वाशम')के नाम पर है। विदर्भ में वाकाटकों का ही राज्य था। इस प्रकार सन् ईसवी की चौथी-पाँचवीं शताब्दी दो अत्यन्त प्रभावशाली राजवंशों—गुप्तों और वाकाटकों—के प्रोत्साहन के कारण साहित्य और कला के परम उत्कर्ष का काल है।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस समृद्धिकाल के साहित्य में 'शब्द' की अपेक्षा 'अर्थ' पर अधिक ध्यान दिया गया है। जीवन को उपभोग्य और ग्राह्य बनाने पर अधिक बल है। शब्द-शक्तियों का विचार अवश्य किया गया है, पर बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति कम है। साहित्य और कला में उन वस्तुओं पर अधिक बल दिया गया है जो शब्दों द्वारा संकेतित होती हैं, स्वयं शब्द-मात्र नहीं हैं। अजन्ता के चित्रों में और तत्कालीन साहित्य में जीवन का उमड़ता प्रवाह मिलता है। यहाँ जो भोग है वह शक्ति से पोषित और संयम से निर्देशित है। संयम लक्ष्य नहीं, साधन है; और भोग भी लक्ष्य नहीं, वृहत्तर उपलब्धि का सहायक है। परवर्ती काल में शब्द प्रधान हो गया है, अर्थ क्रमशः सिमटता गया है। अर्थ से क्रमशः कटता हुआ शब्द, स्तब्ध और प्रयोग-विरहित शैथिल्य को ही जन्म दे सकता है।

वस्तुतः यूरोप के इतिहास में जिस समय मध्ययुग का प्रारम्भ हुआ, उस समय भारतीय इतिहास में नवीन उत्साह और नवीन जोश का उदय हुआ था। संस्कृत भाषा ने नयी शक्ति प्राप्त की और समूचे देश में एक नये ढंग की राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गयी। इस काल में राज-काज से लेकर साहित्य, धर्म और सामाजिक विधि-व्यवस्था तक में एक विचित्र प्रकार की क्रान्ति का पता लगता है। पुराने शासक लोग राजकार्य के लिए जिन शब्दों का व्यवहार करते थे, उन्हें छोड़ दिया गया। कुषाण नरपतियों ने जिस गान्धारशैली की मूर्त्ति-कला को बहुत सम्मान दिया था, वह एकदम उपेक्षित हो गयी। आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार, क्रिया-काण्ड सभी विषयों पर इस युग की अमिट छाप है। इस काल को और चाहे जो कहा जाय, पतनोन्मुखी और जकड़ी हुई मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता। जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निस्सन्दिग्ध रूप में प्रामाणिक मानी जाती हैं, उनका सम्पादन अन्तिम रूप से इस काल में ही हुआ था। जो काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिकाएँ उन दिनों लिखी गयीं वे आज तक सम्मान और श्रद्धा पा रही हैं। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए, वे सैकड़ों वर्ष बाद आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं। इस काल को, भारतीय उन्नति के स्तब्ध हो जाने का काल नहीं कहा जा सकता। गुप्तकाल के बाद भी दो शताब्दियों तक साहित्यिक सर्जनात्मक प्रतिभा फलती-फूलती रही। आधुनिक विद्वान आठवीं शताब्दी को भारतीय साहित्य के स्वर्णयुग की अन्तिम सीमा मानते हैं। हमने देखा है कि कलिकाल के जमकर बैठने का काल भी लगभग यही है। इसलिए मेरा सुझाव है कि यहीं से भारतीय साहित्य के स्वतन्त्र चिन्तन के वास्तविक ह्रास का काल माना जाय और इस काल का अन्तिम सीमान्त अठारहवीं शताब्दी तक स्वीकार किया जाय। यहीं से भारतीय साहित्य का टीका-युग शुरू होता है। इसे ही आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली में मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाना चाहिए।

इस लम्बे काल के भी दो हिस्से हैं। आठवीं शताब्दी का काल पूर्व-मध्य-

युग है और तेरहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक का काल उत्तर-मध्ययुग। यद्यपि मुसलमानों का आगमन इस देश में पहले ही हो चुका था, पर बारहवीं शताब्दी के बाद ही वे इस देश के सांस्कृतिक सन्दर्भ में अनुभव किये जाने योग्य हो सके। बारहवीं शताब्दी तक के काल के साहित्यिक प्रयत्नों में उनका प्रभाव नहीं दिखायी देता या नगण्य दिखायी देता है।

गुप्त-वाकाटक काल में हिन्दू धर्म नये रूप में उभरा था। इस काल में पूर्ववर्त्ती आर्ष ग्रन्थों को अकाट्य रूप में प्रमाण मानने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। वेदों को स्वतःप्रमाण मानने के आग्रह में यह बद्धमूल हो गयी और वेद-विरोधी सम्प्रदायों को नास्तिक और हेय मानने की बुद्धि निरन्तर बढ़ोतरी पर रही। प्राय. सभी सम्प्रदायों में उपास्य देवताओं की मूर्ति कल्पित की गयी और प्रत्येक देवता की शक्ति की भी कल्पना की गयी। इन देवियों और देवताओं की स्तुति में मनोहर काव्य रचे गये। देवमन्दिरों, मूर्तियों, भित्तिचित्रों, नाटकों और काव्यों में स्वस्थ मानवचित्र सहस्रधार हो गया तो दर्शन, धर्म, साधना और तपस्या के क्षेत्रों में विपुल वैभव उद्भित हुआ; नागरिक जीवन में कला, संगीत, काव्य, आख्यायिका आदि के विनोद बहुत परिमार्जित होकर सामने आये; युद्ध और शान्ति के लिए मानवीय प्रयासों में अद्भुत क्षमता आ गयी और जीवन को इहलोक में सफल और परलोक में चरितार्थ करने की वृत्ति शक्तिशालिनी सिद्ध हुई। इस काल का सहृदय प्रतीक और संकेत (सिम्बल और साइन) के विवेक से बहुत अधिक च्युत नहीं हुआ था। आठवीं शताब्दी तक वह विवेक पर किसी-न-किसी प्रकार जमा रहा, पर आगे चलकर वह विवेक के स्थान पर रूढ़ि का समर्थक हो गया।

इस प्रकार गुप्त-वाकाटक काल के बाद भी लगभग दो सौ वर्षों तक भारतीय साहित्य का रचनात्मक पक्ष शक्तिशाली रहा। बाद में वह शिथिल हो गया। यद्यपि कोई एक निश्चित तिथि इसके लिए निर्दिष्ट नहीं की जा सकती, तथापि इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ईसवी सन् की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य का बहुत ही उज्ज्वल काल है। विंटरनित्स ने कहा है कि सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी के आते-आते भवभूति के बाद भारतीय साहित्य का स्वर्णयुग समाप्त हो जाता है ('हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर,' जिल्द 3, पृ. 53)। इस काल तक रामायण और महाभारत श्रद्धापूर्वक आदर्श काव्य स्वीकार कर लिये गये थे। कालिदास की बहुत सी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ लिखी जा चुकी थीं। श्रीहर्षदेव के नाटक, माघ और भारवि के काव्य, भवभूति के नाटक आदि महत्त्वपूर्ण रचना के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। गद्यकाव्य में सुबन्धु और बाणभट्ट का सिक्का जम चुका था। प्राकृत की गाथा सप्तशती संगृहीत और प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अमरुक, बिल्हण आदि की सरस मुक्तक रचनाएँ सम्मानित हो चुकी थीं। यद्यपि परवर्त्ती काल में भास के नाटक मूल रूप में भुला दिये गये थे, परन्तु उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा स्वीकृत हो चुकी थी।

भास के ही एक नाटक का परवर्ती परिवर्धित रूप मृच्छकटिक आदर और सम्मान प्राप्त कर चुका था। भरत का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, पिंगल का छन्दःसूत्र आदि कवि-बुद्धि के प्रेरणादायक ग्रन्थ श्रद्धापूर्वक आर्षग्रन्थ स्वीकार कर लिये गये थे और भामह, दण्डी आदि के काव्य-विवेचना-परक ग्रन्थ प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। भट्टि-काव्य एक ओर जहाँ उत्तर-काव्य-ग्रन्थ के रूप में समादृत हुआ था, वहीं व्याकरण और कविशिक्षा के लिए भी उपयोगी माना जाने लगा था। अश्वघोष, मातृचेट, आर्यसूर आदि बौद्ध-कवियों को, जो संस्कृत-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं, भुला दिया गया था। केवल आधुनिक काल के विद्वानों की खोज से इनकी रचनाओं के बारे में कुछ जाना जा सकता है। यद्यपि आठवीं शताब्दी के बाद भी कई महत्त्वपूर्ण काव्य संस्कृत में लिखे गये, जिनमें श्रीहर्ष का नैषध चरित और जयदेव का गीत-गोविन्द काफी लोकप्रिय रहे तथापि मुख्य रूप से इसी काल की, अर्थात् आठवीं शताब्दी के पूर्व की, रचनाएँ इस देश के काव्य-रसिकों का आगामी सहस्र वर्षों तक मन मुग्ध किये रहीं।

मैंने आरम्भ में ही निवेदन किया है कि आलोच्य विषय (मध्यकालीन साहित्यिक बोध) की जानकारी के लिए सिर्फ यह जरूरी नहीं है कि हम यह जानें कि इस काल में साहित्यिक लोगों ने क्या लिखा, बल्कि यह भी जानना जरूरी है कि वे किन बातों को आदर्श और श्रेष्ठ समझते थे। क्योंकि मैंने पहले ही आपको बताया है कि आठवीं शताब्दी से हमारे देश में एक प्रकार की ह्रासोन्मुखी मनोवृत्ति का प्राधान्य आरम्भ हो गया था। इस काल में यह मान लिया गया था कि जो कुछ अच्छा था वह पहले के लोग कर गये हैं, नये सिरे से हम केवल उनकी व्याख्या कर सकते हैं। नया कुछ देने का दावा प्रायः खत्म हो चुका था। इसलिए अगले व्याख्यान में संक्षिप्त रूप से मैं उस साहित्य का परिचय देना आवश्यक समझता हूँ, जिसे परवर्ती काल के लोगों ने आदर्श मान लिया था। निःसन्देह व्याख्या करने के बहाने नयी चीज देने का प्रयत्न भी इस काल में किया गया; परन्तु आदर्श बराबर पुराने लोगों की कृतियाँ ही रही हैं। काव्यालोचन के प्रसंग में कुछ अधिक स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय इसके बाद भी मिलता है, लेकिन वह भी सन् ईसवी की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद स्तब्ध और गतिहीन हो जाता है।

साहित्य शब्द का प्रयोग आजकल हम कुछ अधिक व्यापक अर्थों में करने लगे हैं। परन्तु इस व्याख्यान में हमने इस शब्द का प्रयोग केवल रचनात्मक साहित्य तथा उसके मूल्यांकन के प्रयासों तक ही सीमित रखा है। केवल इस बात की ओर इंगित कर देना आवश्यक है कि दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि अन्यान्य शास्त्रीय विषयों की भी यही स्थिति है। सर्वत्र ईसा की आठवीं शताब्दी तक के बने हुए ग्रन्थों को आदर्श और व्याख्येय माना गया है। परवर्ती काल में भी इन विषयों की जो पुस्तकें लिखी गयी हैं, उनमें नया कुछ

कहने का दावा बहुत कम है। अधिकतर पूर्ववर्ती आचार्यों की बातों को प्रामाणिक मानकर पुस्तकें लिखी गयी हैं और सर्वत्र यह मनोभाव दृष्टिगोचर होता है कि श्रेष्ठ चिन्तन पहले के लोग कर गये हैं। अब या तो व्याख्या करनी है या उनकी बातो का संक्षेप मे संग्रह कर देना है। अतः साहित्य में जिस स्तब्ध और जबदी हुई मनोवृत्ति का आभास मिलता है, वही अन्यान्य चिन्तन-क्षेत्रों में भी उपलब्ध होती है।

आठवीं शताब्दी के बहुत पहले ही महाभारत और रामायण को सर्वश्रेष्ठ काव्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। इसमें रामायण को आदिकाव्य माना गया था। महाभारत को इतिहास अधिक और काव्य कम समझा जाता था। आठवीं शताब्दी के कुछ पूर्व से जिस अलंकृत काव्यशैली को बहुत सम्मान मिलने लगा, उसके आदर्श रूप मे रामायण ही को स्वीकार किया जा सकता था। इस तथ्य से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मध्यकालीन काव्य-प्रेमी का साहित्यिक आदर्श क्या था। वह ललित पदविन्यास, छन्द-योजना, रस-व्यंजना और अलंकार-योजना को अधिक गौरव देता था।

सो, भारतीय पण्डितों ने भी रामायण को तो 'आदिकाव्य' कहा है, परन्तु महाभारत को 'इतिहास,' 'आख्यान,' 'पाँचवाँ वेद' आदि कहा है और इस प्रकार यह बताना चाहा है कि महाभारत रामायण से भिन्न श्रेणी की रचना है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (1-5) के अनुसार इतिहास में पुराण और इतिवृत्त का समावेश होता है। ऐसा जान पडता है कि परवर्ती पुराणो की परम्परा महाभारत के रूप से सम्बद्ध है और काव्यों की परम्परा रामायण के रूप से, पर न तो परवर्ती पुराण महाभारत की ऊँचाई तक पहुँच सके हैं और न परवर्ती काव्य रामायण की गुरुता तक। महाभारत को यद्यपि विशेष रूप मे 'काव्य' नही कहा गया तथापि उसमे कितने ही आख्यान ऐसे है जो निश्चित रूप मे 'काव्य' की श्रेणी मे आते हैं और समूचे महाभारत में कविबुद्धि को प्रेरणा देनेवाले तत्त्व प्रचुर मात्रा मे वर्त्तमान है। परवर्ती काल के कवियों ने वाल्मीकि और व्यास दोनों को श्रेष्ठ कवि मान लिया था। परम अभिमानिनी कर्णाटराजप्रिया (विज्जिका ?) ने अपने को सभी कवियों से श्रेष्ठ घोषित करते हुए भी तीन कवियो को सावधानी से पूज्य और श्रेष्ठ स्वीकार किया था। इनमें एक तो स्वयं ब्रह्मा है, दूसरे वाल्मीकि और तीसरे व्यास हैं। ब्रह्मा को वेदों का रचयिता समझकर उन्हें कवि रूप में स्वीकार किया गया था। उसकी दर्पोक्ति से इतना स्पष्ट ही है कि महाभारत और पुराणों के रचयिता व्यास पूज्य कवि के रूप मे मान लिये गये थे। स्वयं महाभारत ने अपने विषय में कहा है : "जैसे दही मे मक्खन, मनुष्यो में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयो मे समुद्र और चतुष्पदों मे गौ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार इतिहास में यह 'भारत' श्रेष्ठ है। इस आख्यान को सुनने के बाद अन्य कथाएँ उसी प्रकार फीकी मालूम होगी जिस प्रकार कोकिल की वाणी सुनने के बाद काक की वाणी। जैसे पंचभूत से लोक की तीन संविधियाँ उत्पन्न होती

हैं, उसी प्रकार इस इतिहास को सुनकर कवि-बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।" अर्थात् महाभारतकार के मन में यह बात उपस्थित थी कि इस इतिहास को सुनकर कवि-बुद्धियाँ उत्पन्न होंगी। यह बात अक्षरशः सत्य है, क्योंकि पिछले दो हजार वर्षों के भारतीय साहित्य को यह महाग्रन्थ नित्य प्रेरित और चालित करता रहा है। अनेक युगों के संचित भारतीय ज्ञान का यह भण्डार माना जाता रहा है। कवि-बुद्धि में कदाचित् महाभारतकार प्रतिभा के साथ-ही-साथ शिक्षा और अभ्यास को भी ग्रहण करते हैं। 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग संकेत करता है कि उन दिनों कवि-कर्म के लिए विशेष प्रकार का 'शिक्षित पटुत्व' आवश्यक माना जाने लगा था।

महाभारत की मूल कहानी कुरु-पाण्डव-युद्ध है जो सम्भवतः प्राचीनतर कुरु-पांचाल-युद्ध का किंचित् परिवर्तित रूप था। परन्तु इस मूल कहानी के इर्द-गिर्द अनेक प्राचीन उपाख्यान आ जुटे हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ को 'संहिता' (संग्रही-कृत) का रूप दिया है। इन कहानियों में कई तो यूरोपीय देशों में इतनी प्रिय हुई हैं कि एक ही कहानी के एक भाषा में तीन-तीन, चार-चार अनुवाद हुए हैं। ऐसे उपाख्यानों को यूरोपीय पण्डितों ने 'महाकाव्य के भीतर महाकाव्य' (एपिक विदिन एपिक) नाम दिया है। सहृदय के चित्त को भाव-मथित कर डालने में ये उपाख्यान अत्यन्त प्रभावशाली हैं। श्री एफ. वप्प जैसे मर्मज्ञ विद्वान ने आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले नल-दमयन्ती के उपाख्यान की इस महिमा को अनुभव किया था। उन्होंने लिखा था—"मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि मेरी समझ में करुणा तथा आवेगों की दृष्टि से और भावों की कोमलता तथा विमोहक शक्ति के ख्याल से नल-दमयन्ती का उपाख्यान अद्वितीय है।" इसकी रचना इस ढंग से की गयी है कि वह सबको आकर्षित करती है—चाहे वह बूढ़ा हो या जवान, उच्च जातीय हो या नीच जातीय, रसज्ञ आलोचक हो या सहज बुद्धि द्वारा चालित साधारण पाठक। कोई आश्चर्य नहीं कि इस उपाख्यान ने देश-विदेश के सहृदयों के चित्त को इस प्रकार आलोड़ित किया है और यह अनेक काव्यों और नाटकों का मूल प्रेरणादाता रहा है। ऐसी कहानियाँ महाभारत में बहुत हैं। सावित्री-सत्यवान के आख्यान के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध जर्मन पण्डित श्री विंटरनित्स ने लिखा था कि "चाहे जिस किसी ने सावित्री के काव्य की रचना की हो, चाहे वह कोई सूत रहा हो या ब्राह्मण, वह अवश्यमेव सब कालों का सर्वोच्च कवि था।" ऐसी कहानियों का सीधा सम्बन्ध मूल कहानी से नहीं है, पर मूल कहानी भी भारतवर्ष के और बाहर के सहृदयों और कवियों को शताब्दियों से प्रभावित करती रही है।

रामायण में कवि का नैपुण्य बहुत स्पष्ट है। उससे कवि के व्यक्तित्व का अन्दाजा आसानी से लगाया जा सकता है, पर महाभारत उससे भिन्न कोटि की रचना है। वह एक कवि का बलपूर्वक सँवारा काव्य नहीं है। अनेक आख्यान उसमें जुड़ते हैं। फिर भी, मैंने अन्यत्र बताया है, एक हाथ की रचना न होने पर भी महाभारत एक सम्पूर्ण युग की रचना है। इसमें किसी एक व्यक्ति—कवि—का तो नहीं, पर एक सम्पूर्ण युग का व्यक्तित्व बहुत ही स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त

हुआ है। इस युग में भारतीय जनता शहर और गाँव में इतनी अधिक नहीं बँट गयी थी, यदि बँटी भी थी तो अन्तर बहुत थोड़ा था। अभिजात वंश के लोगों के साथ उसका अन्तर बहुत अधिक नहीं था। इस युग के राजा और सरदार लोगों ने हथियार नहीं छोड़ा था, वे साधारण जनता के साथ-साथ युद्ध में लड़ते थे और यदि राजवंशीय व्यक्ति साधारण व्यक्ति से प्रत्यक्ष वीरत्व में किसी प्रकार कम सिद्ध हुआ तो उसकी हेठी मानी जाती थी। महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का विशाल वन है। इस ग्रन्थ में ऐसे पात्र बहुत कम है—नहीं हैं, कहना अधिक ठीक है—जो महलों में पलकर चमके हों। सबके-सब एक तूफ़ान के भीतर से गुजरे हैं। संघर्षों के भीतर से ही महाभारत के सर्वोत्तम चरित्र विकसित हुए हैं। उनका विकास कवि की सुनियन्त्रित योजना के इशारे पर नहीं हुआ है, बल्कि अपने-आपकी भीतरी शक्ति के द्वारा हुआ है, जैसे महावन की विशाल वनस्पति हो जो तूफ़ानों और शिलावृष्टियों की चोट सहकर और पार्श्ववर्त्ती वनराजि की भयंकर प्रतिद्वन्द्विता को पछाड़कर आकाश में सिर उठाता है। इन पात्रों ने अपना रास्ता स्वयं निकाला है, अपनी ही रची हुई विपत्ति की चिता में ये हँसते-हँसते कूद गये हैं। महाभारत का अदना-से-अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता। आत्मविश्वास की ऐसी उच्छल धारा सर्वत्र नहीं मिल सकती। सबके चेहरे पर अकुतोभय भाव है, अविश्वास की छाया कहीं नहीं; असफलता तो है, पर निराशा नहीं है। जीवन की गलतियाँ तो हैं, पर उनके लिए अनुताप नहीं है। सरल तेज, अकृत्रिम दर्प, निर्भीक वीरत्व, विवेकयुक्त कर्त्तव्य और अकपट आचरण महाभारतीय वीरों के चरित्र के मूल स्वर है।

महाभारत में एक जटिल समाज-व्यवस्था के आरम्भ का आभास पाया जाता है, जिसमें कूटनीति सदाचार पर, सामयिक सुविधा पुरानी रूढ़ियों पर, युक्तितर्क सहज बोध पर विजयी होते दिख जाते है। महाभारत में लड़ाकू सभ्यता चरम बिन्दु पर पहुँची है और प्रत्यक्ष युद्ध के स्थान पर कूटनीतिक युद्ध का बीजारोपण हो चुका है।

क्या कारण है कि परवर्त्तीकाल में महाभारत को रामायण की तरह विशुद्ध काव्य नहीं समझा गया? या कम-से-कम उसे आदिकाव्य रामायण की तरह केवल काव्य नहीं माना गया? परवर्त्ती काल में एक प्रकार की मनोवृत्ति का अवश्य ही विकास हुआ होगा जो इन दोनों महान् काव्य-ग्रन्थों में इस प्रकार भेद कर सकी है। यह मनोवृत्ति हमारे लिए विशेष उपयोगी होगी, क्योंकि इससे मध्यकालीन साहित्य-बोध के समझने में सहायता मिलती है। बात यह है कि महाभारत के कथानकों को परवर्त्ती महाकाव्यों की भाँति अलंकृत करके कहने का प्रयत्न नहीं किया गया है। चरित्रों की भीतरी प्राणशक्ति ने ही कथानक को सहज प्रवाह दिया है और सहृदय में प्रविष्ट होने की क्षमता दी है। महाभारत में तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान की विशद व्याख्या है। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय का ऐसा विवेकयुक्त प्रयत्न भारतीय साहित्य में फिर कभी नहीं हुआ। परन्तु इन सभी व्याख्याओं

और प्रयत्नों मे एक अद्‌भुत सहज भाव है, जिसकी तुलना और किसी चीज से नही की जा सकती। प्राणशक्ति के सहज प्रवाह और विवेकबुद्धि को निरन्तर उद्‌बुद्ध करने के प्रयत्नों ने इस महाग्रन्थ को अपूर्व महिमा से मण्डित किया है। महाभारत अपने प्रतिपाद्य युग को उसके समस्त दोष-गुणों के साथ अत्यन्त जीवन्त रूप मे प्रकाशित करता है। इस सहज गौरव ने ही इस ग्रन्थ को सन्तकाल के 'कवि-बुद्धियों' के उत्पादक की महिमा दी है। संसार के साहित्य में शायद ही कोई ऐसा दूसरा ग्रन्थ हो जो महाभारत की तुलना में रखा जा सके। वह अपने युग के शक्तिशाली व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है और आगे आनेवाले काल को प्रेरणा देता है। फिर भी वह उस श्रेणी का काव्य नहीं है, जिसमें बात को चमत्कारपूर्ण ढंग से कहने का प्रयत्न होता है; शब्द और अर्थ के अलंकरणों का समझ-बूझकर प्रयोग किया जाता है, जिसे अलंकृत काव्य कहा जाता है।

महाभारत कई हाथों की रचनाओं की 'संहिता' है, किन्तु उसकी अपेक्षा रामायण 'एक हाथ की रचना' अधिक है। प्रक्षेप इसमें भी है, पर ऐसा जान पड़ता है कि इसका मुख्य अंश एक ही कवि की कुशल लेखनी का चमत्कार है। इस कवि को छन्दों पर पूरा अधिकार था, वर्ण्य विषय के सभी पहलू उसके लिए हस्तामलक की भाँति स्पष्ट थे और मनुष्य के चित्त को मथित कर देनेवाली घटनाओं का उसे पूर्ण ज्ञान था। ग्रन्थ के आरम्भ की कहानी बड़ी संकेतपूर्ण है। वाल्मीकि मुनि ने क्रौंच पक्षियों के एक प्रेम-परायण जोड़े में से एक को व्याध-बाण से मारे जाते देखा था और उस ऋषि के कोमल हृदय में इस घटना से ऐसी व्यथा पहुँची कि उन्होने व्याध को कठिन शाप दिया और इस शाप के वाक्य ने ही अद्‌भुत छन्द का रूप धारण किया। इन घटनाओं का उल्लेख करते हुए महा-कवि कालिदास ने कहा था कि मुनि-चित्त का शोक ही श्लोक बन गया था—'निषादविभाण्डजदर्शनेत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'। रामायण की यह अत्यन्त संक्षिप्त और अत्यन्त मार्मिक आलोचना है। ऋषि-कवि के हृदय का पुंजी-भूत शोक ही रामायण काव्य है। करुणा का ऐसा विशाल महान काव्य संसार में सम्भवतः दूसरा नही है। शताब्दियों से इसने भारतवर्ष के साधारण से लेकर सुसंस्कृत सहृदयों के चित्त को मुग्ध कर रखा है, शताब्दियों से भारतीय साहित्य-कारों ने इसे आदर्श और अनुकरणीय ग्रन्थ समझा है और इसमें कोई अति-शयोक्ति नहीं है कि शताब्दियों तक इस ग्रन्थ को पवित्र और निर्दोष माना जाता रहेगा। भारतीय-साहित्य के आधे से अधिक हिस्से को इसी पवित्र महाकाव्य ने प्रेरित किया है।

रामायण में तीन प्रेम-विछोहों की योजना है। इनमे एक तो कवि-कथा के रूप मे ही है। इन तीनों में ही उसी क्रीड़ा-परायण क्रौंच-मिथुन में से एक के विछोह—अप्रत्याशित दुर्भाग्य के अकारण प्रहार से उत्पन्न विछोह—का स्वर मुखर हुआ है। इनमें से एक है राम का अयोध्या से वियोग। अयोध्या जब सर्व-प्रिय नवीनकान्त राम को पति-रूप में पाने की तैयारी कर रही है—जैसे नव

परिणीता वधू व्याकुल उत्सुकता के साथ प्रियमिलन की तैयारी कर रही हो—ठीक उसी समय दुर्भाग्य व्याध अपने अप्रत्याशित बाण का सन्धान करता है और जोड़ा बिछुड़ जाता है। अयोध्या अनाथ हो जाती है—'चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्।' एक ही झटके में अयोध्या की सारी समृद्धि फक् हो गयी। कहाँ का नाच और गान, सारी नगरी एक सिरे से दूसरे सिरे तक उदास और श्री-हीन हो गयी, बाजार बन्द हो गये, जन-चित्त से हर्ष के चिह्न पुँछ ही गये : जैसे महासमुद्र का जल एकाएक सूख गया हो।

क्रौंच मिथुन के प्रेम-विछोह से जिसे प्रेरणा मिली थी वह करुण भाव राम के वनवास के रूप में मूर्तिमान हो उठा है। ऐसा जान पड़ता है कि रामायण के कवि को प्रेरणा देनेवाली घटना भी काव्य की सुनियोजित परिकल्पना का ही अंग है। मध्ययुगीन भारतीय कवि के मन में इस प्रकार की परिकल्पना का बड़ा मान था। छोटे-बड़े हर कवि ने सुनियोजित परिकल्पना का कुछ-न-कुछ सहारा अवश्य लिया था। मध्यकालीन साहित्यबोध में इस बात का बड़ा महत्त्व है। दूसरा विछोह होता है राम का सीता से। यहाँ रावण इस दुर्भाग्य का वाहक है। इस प्रसंग में राम की व्यथा से रामायण पूर्ण है। एक बार दुःख-कातर राम कह उठते हैं कि 'मैं सोचता हूँ कि मेरे जीवन में विछोह हुआ है—सारा जीवन ही शोकवेग से परिपूर्ण है।'

तीसरा और सर्वाधिक मर्मभेदी विछोह है सीता का राम से। समस्त विप-त्तियों और आपदाओं के समुद्र को पार करने के बाद सीता शान्ति की साँस लेती हैं—भविष्य-सुख की जरा-सी कल्पना उनके चित्त में आवेग का कम्पन उत्पन्न करती है। ठीक उसी समय दुर्भाग्य फिर बाण का सन्धान करता है और पक्षियों के किलकते जोड़े-सी दशा होती है। इस प्रकार समूची रामायण ऋषि के करुण चित्त का विगलित मूर्त रूप है। कालिदास ने ठीक ही कहा था, 'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'।

स्पष्ट है कि रामायण के कवि के मन में प्रकृति और मनुष्य के समानुभूति-मय साहचर्य का जीवन्त रूप विद्यमान है। यदि यह कहा जाय कि बाद के कवियों को भी ऐसी दृष्टि-सम्पत्ति नहीं मिली तो कोई अतिरंजन नहीं होगा। केवल बाह्य प्रकृति ही नहीं, मानवीय प्रकृति का भी जैसा सूक्ष्म निरीक्षण कवि को प्राप्त है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। रामायण में महाभारत के समान पात्रों की प्रचु-रता नहीं है, पर जितने भी हैं उनके भीतर और बाहर का ऐसा अद्भुत चित्रण किया गया है कि दीर्घकाल से सहृदय केवल आश्चर्य से देखता रह गया है। श्लिगल ने शायद ठीक ही कहा था कि "रामायण के जीवन्त पात्रों की तुलना में यूरोप के क्लासिकल साहित्य के पात्र फीके पड़ जाते हैं"; और जब कभी वाल्मीकि प्रकृति की ओर दृष्टि डालते हैं तो न केवल वे प्रकृति को जीवन्त रूप में उपस्थित कर देते हैं, बल्कि उनके हृदय के सहज उल्लास से प्रकृति अपूर्व भावरस में स्नान करके नवीन हो उठती है। किष्किन्धाकाण्ड में वर्षा और शरद् ऋतुओं

के वर्णन बहुत ही सजीव हुए हैं। परवर्ती कवियों की भाँति इनमें कवि-कल्पना के गूढ़ रूपक नहीं हैं, सीधे प्रकृति के वाह्य रूप के भीतर अनायास दृष्ट प्राणों का सहज उल्लास है।

यद्यपि इस काव्य में ऐसी सावधानीपूर्वक की गयी सजावट, शब्दों और अर्थों के अभिराम अलंकरण आदि तत्त्व प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं, फिर भी यह परवर्ती अलंकृत महाकाव्यों से भिन्न है। इसमें अलंकरण अनायास आ गये हैं। वे दूर की कौड़ी ले आने के कविकौशल से सम्पूर्ण रूप में स्वतन्त्र हैं। सजावट वहाँ काव्य का सहज प्राणवन्त अंग है, वेष्टित आवरण नहीं।

रामायण भी एक युग का व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुई है। इसके केन्द्र में तेजोदृप्त गृहस्थ है, जो विपत्तियों से म्लान नहीं हो जाता, सम्पत्ति से उकता नहीं जाता, शत्रु की गर्वोक्तियों से उत्तेजित नहीं हो जाता और परिस्थिति की विषमताओं से विचलित नहीं हो उठता—शान्त, सौम्य, गम्भीर और अविकत्थन। रामायण का वीर महाभारत के वीर की अपेक्षा अधिक सँवारा हुआ, अधिक सम्हालकर रचा हुआ वीर है जिसकी चित्तवृत्ति महाभारत के वीर की भाँति सहज ही उत्तेजित नहीं हो जाती बल्कि मर्यादाओं की रश्मि से सदा नियन्त्रित होती रहती है। महाभारत के वीर अधिकतर अपने सजातीय वीर समाज में पनपे हैं। उसके क्षत्रिय वीर अनेक प्रकार के कालोपयोगी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हैं, तत्कालीन प्रचलित नवीनतम युद्ध-कौशलों और युद्ध-रूढ़ियों के अभ्यस्त हैं। पर रामायण के हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवान जैसे अनेक वीर न तो इन कौशलों के जानकार हैं, और न रूढ़ियों के कायल। फिर भी रामायण के वीर के चित्त में सहज नैतिक स्वर प्रधान है। महाभारत के वीरों में नैतिक आचरण कुछ-कुछ बौद्धिक है, समय-बे-समय उसका अन्यथाचरण हो सकता है; पर रामायण के वीर का नैतिक आचरण सहज है, उसका अन्यथाभाव सम्भव नहीं। इस प्रकार रामायण में महाभारत की अपेक्षा कुछ पूर्वतन समाज के चरित्र को महाभारत की अपेक्षा परवर्ती भाषा और शैली में चित्रित किया गया है। रामायण सच्चे अर्थों में परवर्ती महाकाव्यों को प्रेरणा देनेवाला आदिकाव्य है। छन्दों का प्रवाह, सर्गों का चुस्त संगठन, प्रकृति का अत्यन्त जीवन्त रूप में उपस्थापन, पात्रों का मर्यादित विकास और मानवीय मनोभावों का उदात्तीकरण—जिस दृष्टि से देखिए, रामायण निपुण कवि की रचना है। यह अधिक यत्न से संस्कृत चरित्रों की नवस्थली है। भारतवर्ष का गृहस्थ—साधारण गृहस्थ—तदधीभूत श्रोता है। महाभारत और रामायण साधारण-से-साधारण भारतीय गृहस्थ को दूर की चीज नहीं जान पड़ते। अपने सुख-दुःख की, अपनी आशा-आकांक्षाओं की, अपने राग-विराग की अभिव्यक्ति तो उसे मिलती ही है, उनका वह निखरा हुआ रूप भी उसे प्राप्त होता है जो उसके गृहस्थ जीवन का आदर्श है। दोनों महाग्रन्थों के प्रधान पात्र [illegible] रूप में घूमते हैं, उनके [illegible] प्रत्यक्ष साक्षी हैं और [illegible] हैं। [illegible] वीरता में एक [illegible]

ग्रादर्श है। रावण भी वीर है, पराक्रमी है; परन्तु उसका वीर्य ग्रौर पराक्रम पर-पीडन मे व्यक्त हुग्रा है, उसकी बहादुरी दूसरो की सम्पत्ति हड़पने में प्रकट हुई हैं; जबकि राम दोनो के रक्षक हैं, सबकी समृद्धि चाहनेवाले हैं, समाज-विरोधी तत्त्वो के उन्मूलक है। महाभारत ग्रौर रामायण में ही वीरत्व का ग्रादर्श मनुष्यता का उन्नायक है, छीना-झपटी की बहादुरी का प्रतिशोधक है। दोनों का प्रधान स्वर है—ग्रनीति का दमन, नीति का उन्नयन; पशुता का विरोध ग्रौर मनुष्यता का संवर्धन। यह ग्रादर्श कृत्रिम ग्रौर बाहर से चिपकाया हुग्रा नहीं है, बल्कि जीवन के कठोर संघर्षों के भीतर से प्रस्फुटित हुग्रा है, ग्रतएव सहज ग्रौर गम्भीर है। कोई ग्राश्चर्य नही कि ग्राज तक ये मानवीय ग्रादर्श हमारे प्राणों को ग्रान्दोलित कर रहे है।

परवर्ती भारतीय साहित्य को इन दो ग्रन्थो ने कितना प्रभावित किया है, इसका ग्रन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि यदि समूचे भारतीम साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो ग्रधिकांश—शायद 90 प्रतिशत—रचनाएँ इन्हीं दोनों ग्रन्थों के ग्राधार पर हुई हैं, ग्रौर ग्राज भी हो रही हैं।

मध्यकालीन संस्कृत साहित्य की विशेषताग्रों को समझने के लिए इस बात को भी स्मरण रखना चाहिए कि परवर्त्ती काल के काव्यो का केन्द्र-बिन्दु शहरी जीवन हो गया। इस समय तक भारतवर्ष नगरों ग्रौर गाँवों में बँट गया था। दो विशिष्ट मनोवृत्तियाँ, दो विशिष्ट जीवन-दृष्टियाँ विकसित होने लगी थीं। नगर मे रहनेवाले समृद्ध नागरिकों के लिए कामशास्त्र, काव्यशास्त्र ग्रादि ग्रनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये, पर गाँव के रहनेवाले ग्राम्य लोगों के लिए स्मृति-पुराण ही काफी समझे गये। परवर्त्ती काव्य का लक्ष्यीभूत श्रोता वह सहृदय है जिसे छन्दों ग्रौर ग्रलंकारों का ग्रच्छा ज्ञान है, वात्स्यायन की बतायी विधियों की पूरी जानकारी है, नागरिक जनोचित जीवन का ठीक-ठीक रूप मालूम है ग्रौर रामायण तथा महाभारत के ग्रादर्शों की बौद्धिक ग्राहकता है। साथ ही वह रुचिवाला व्यक्ति है। यद्यपि यह रुचि ईश्वरप्रदत्त वस्तु बतायी गयी है, पर उसे सुसंस्कृत करने में काव्यों ग्रौर ग्रलंकार-ग्रन्थों का, वात्स्यायन ग्रौर ग्रन्य कामशास्त्र के ग्राचार्यों की विवेचनाग्रों का ग्रौर परम्परा-प्राप्त महान ग्रादर्शों का विचित्र योग है। इस रुचि का सर्वोत्तम प्रकाश कालिदास की रचनाएँ हैं। महान ग्रादर्शों से ग्रनुप्राणित नागरिक-जीवन-विलास से इस मनोहर काव्य को खुराक मिली है। इसमें समृद्ध ग्रौर विलासी भारत की उद्वेल प्राण-धारा ने कवि-कौशल से मर्यादित संयत रूप धारण किया है। यह नागर सभ्यता की सर्वोत्तम उपज है। परन्तु परवर्ती काव्यों में जीवन-धारा उतनी प्रबल नही रह सकी। ग्रालंकारिक ग्राचार्यों की काव्य-विवेचना का प्रभाव व्यापक होता गया। हमारे ग्रालंकारिक ग्राचार्यों ने काव्य-कौशल का, उक्ति-वैचित्र्य का ग्रौर रस-परिपाक का बहुत सूक्ष्म विवेचन किया; पर कवि के व्यक्तित्व का, उसकी कल्पना-शक्ति का, उस कल्पना-शक्ति के उस रूप का जो पाठकों के मन में ग्रनुभूति जाग्रत

करता है, कम विवेचन किया। इन शास्त्रों को पढने से रघुवंश और नैषधचरित के कवि-कौशल या उक्ति-वैचित्र्य की विशेषताओं को तो समझा जा सकता है, पर यह ठीक समझ में नहीं आता कि 'रघुवंश' किस प्रकार 'नैषधचरित' से भिन्न कान्ति के व्यक्तित्व से सम्पन्न काव्य हो जाता है; कालिदास और श्रीहर्ष की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ क्या हैं। हमारे आलंकारिकों ने अपूर्व धैर्य और अध्यवसाय से काव्य के तत्त्वों को समझने का एक सामान्य प्रतिमान तो तैयार कर दिया, पर कवि की विशेषताओं को समझने की मार्मिक दृष्टि की उतनी विवेचना नहीं की। काव्यों के व्याख्याताओं ने भी श्लोकों के उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार सौन्दर्य और रसोत्कर्ष को खण्डभाव से समझाया है। सब मिलाकर यही बातें काव्यकलाओं को चालित करने लगी थीं। आचार्यों की निपुण विवेचना ने उस वस्तु को परिस्फुट करने की चेष्टा नहीं की, जिसे आजकल 'एस्थेटिक सेन्स' या सौन्दर्य-भावना का नाम दिया गया है। कर्मफल-प्राप्ति की अवश्यम्भा-विता ने संसार की विसदृशताओं को उपेक्षणीय समझने की दृष्टि का विकास किया। परवर्ती काल के महाकाव्य अधिकाधिक रूढ़ि-समर्थक और उक्ति-वैचित्र्य को प्रश्रय देनेवाली मनोवृत्ति के शिकार होने लगे। कविसमयों, रूढ उपमानों, आरोपित-कल्पित मूल्यों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि वे परवर्ती काव्य सामान्य जीवन की अपेक्षा रूढ परम्पराओं और घिसे-घिसाये कलात्मक आदर्शों से अधिक प्रेरणा ले रहे थे।

फिर भी संस्कृत का काव्य पाठक को आकृष्ट करता है। छन्दों की ऐसी परिमार्जित योजना, ध्वनियों का ऐसा स्पष्ट और ठोस चित्रण तथा साथ ही मानवीय आदर्शों का ऐसा सम्मिश्रण संसार के साहित्य में दुर्लभ है। कामसूत्र की प्रेरणा इन काव्यों को बराबर चालित करती रही, इसलिए उसमें शारीरिक आकर्षण का बड़ा जोर है। कोई प्रसंग ऐसा नहीं आता जहाँ कवि को इस शरीर-आकर्षण को परिस्फुट करने का मौका न मिल जाता हो। वसन्त और वर्षा जैसी ऋतुएँ प्रेम की हूक को जगाया ही करती हैं। तपता ग्रीष्म भी इसको उकसा जाता है। और नहीं तो 'प्रजापालिका प्याऊ' के सेवापरायण कर्त्तव्य में नियुक्त सुन्दरी ही उसके आकर्षण को जगा देती है। हेमन्त की ठिठुरन में भी कवि हार माननेवाला नहीं। और कुछ नहीं तो सुभ्रुओं की कन्दूक-क्रीडा के झणज्झणित मेखला से ही, वलयों और नूपुरों की वाचालता से ही यह कार्य हो सकता है। स्त्री-सौन्दर्य का बहुत ही सुन्दर और आकर्षक चित्रण इन कवियों ने किया है। मौका मिलने पर वे सुन्दरियों की चर्चा करने का प्रसंग नहीं छोड़ सकते। फूलों का वस्त्र धारण करनेवाला कामदेव नामक देवता इस साहित्य में बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेता है। आधुनिक समझे जानेवाले लोग बार-बार इस देवता के अनधिकार प्रवेश से बिदकते हैं; पर संस्कृत काव्य का प्रेमी इसको उतना नापसन्द नहीं कर सकता। संस्कृत के काव्य इन गुणों से बहुत ही मोहक और आकर्षक हुए हैं।

परवर्ती काव्यों ने विभिन्न प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों से अपनी खुराक संग्रह की है। इसमें अन्तर होना स्वाभाविक है। रामायण और महाभारत की जड़ें जितनी गहराई से सामान्य मानव-जीवन में गयी थीं उतनी गहराई से वे नहीं जा सकीं। इसीलिए वे उतनी दीर्घस्थायी भी नहीं हुईं और उतना प्राण-रस भी नहीं संचित कर सकीं। किन्तु फिर भी उनमें एक अपने ढंग का आकर्षण है। भारवि और माघ की रचनाओं में बहुत उत्तम ढंग से विकसित जीवन्त मानव-आदर्श पाठक को मुग्ध करते हैं। भारवि की अपूर्व अर्थगाम्भीर्यमयी रचना में वाक्पाटव के साथ-ही-साथ समृद्ध राज-व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक कूटबुद्धि का कौशल भी अभिव्यक्त हुआ है। इन काव्यों में मनुष्य के महान आदर्शों की उपेक्षा नहीं हुई है और स्थान-स्थान पर उनका स्वर बहुत प्रबल हो गया है।

परवर्ती महाकाव्यों में मानवीय आदर्शों को अधिक सावधानी से उभारा गया है। फिर भी उनमें भाषा और भाव को अलंकृत करने का पूरा-पूरा प्रयास है। संस्कृत काव्य का रसिक इसके बिना मानवीय आदर्शों के चित्रण को कम ही पसन्द करता है। लेकिन जिस चीज को वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है, वह रस है। रस के उपकारक होकर ही भाषा और भाव के अलंकरण धन्य होते हैं। उसके विरुद्ध जाने पर ये उतने आकर्षक नहीं होते।

महाकाव्य श्रौर श्रलंकृत प्रबन्ध

सन् ईसवी के प्रारम्भ के समय निश्चित रूप से संस्कृत की काव्य-शैली निखर चुकी थी, काव्यरूप-सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन चुकी थीं और कथानक में भी मोहनगुण और मादक प्रवृत्ति से आनेवाले काव्यगत अभिप्राय प्रतिष्ठित हो चुके थे। आदि-कवि की महत्त्वपूर्ण रचना के बाद जिन कवियों ने इस शैली को अधिकाधिक निखारने का प्रयत्न किया उनका पता हमें नहीं है। वाल्मीकि से कालिदास तक निश्चय ही अनेक कवियों ने इस क्षेत्र में कार्य किया होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश वह कहानी सम्पूर्ण रूप से विस्मृत हो गयी।

सौभाग्यवश बौद्ध कवि अश्वघोष के दो महाकाव्य बुद्धचरित और सौन्दरानन्द प्राप्त हुए हैं। परवर्ती बौद्ध साहित्य में अश्वघोष नाम बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ लिया गया है और उनके नाम पर अनेक कथाएँ गढ़ ली गयी हैं। इन कहानियों के कारण अश्वघोष के समय के विषय में अनेक जल्पना-कल्पनाओं का अवकाश मिला है, परन्तु इधर प्रायः सभी पण्डितों ने उन चीनी परम्पराओं को विश्वासयोग्य स्वीकार कर लिया है, जिनमें उनका सम्बन्ध महाराज कनिष्क से बताया जाता है। इस प्रकार अश्वघोष का समय सन् ईसवी की प्रथम शताब्दी में पड़ता है।

अश्वघोष का 'बुद्धचरित' निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि उनके पूर्ववर्ती अनेक महान कवि मनुष्य के सूक्ष्म-से सूक्ष्म मनोरागों और जटिल-से-जटिल मानसिक ग्रन्थियों को प्रकट करने में पूर्ण रूप से समर्थ हो गये थे। 'बुद्धचरित' की केवल खण्डित प्रति ही प्राप्त हुई है। द्वितीय से त्रयोदश सर्ग तक तो पूरा मिला है, किन्तु प्रथम और चतुर्दश के कुछ अंशमात्र ही प्राप्त हुए हैं। ई. बी. कावेल ने सन् 1893 ई. में इसे प्रथम बार आक्सफोर्ड से प्रकाशित कराया था। चीनी और तिब्बती अनुवादों के रूप में पूरी पुस्तक सुरक्षित रह गयी है। संस्कृत में प्राप्त अंश में बुद्ध के मार-विजय और बोधि-लाभ तक की कहानी आ गयी है।

अश्वघोष की भाषा अत्यन्त सहज, प्रवाहमयी और मँजी हुई है। उन दिनों बौद्धों में जिस प्रकार की विचित्र संस्कृत भाषा प्रचलित थी, वह अश्वघोष को स्वीकृत नहीं थी। पण्डितों ने उनकी भाषा में अपाणिनीय प्रयोग खोजे अवश्य हैं, पर सब मिलाकर यह भाषा कालिदास के निकट तक पहुँचती है। कम कवियों ने ऐसी प्रसाद-गुणयुक्त भाषा लिखी होगी। कभी भी उन्होंने ब्राह्मण-परम्परा का उल्लेख हल्के ढंग से नहीं किया है। इन बातों को देखकर विद्वानों

ने अनुभव किया है कि अश्वघोष जन्मत: ब्राह्मण-शास्त्रों का निष्ठापूर्वक अध्ययन करने के बाद ही बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए थे। बुद्ध के प्रति उनकी अपार श्रद्धा थी, पर अपने काव्य की कथावस्तु को उन्होंने चमत्कारवादी पौराणिक भक्त की दृष्टि से नहीं सँभाला, बल्कि सन्तुलित विचार के निपुण कवि की दृष्टि से सजाया है।

काव्य के लिए जिन वस्तुओं की अपेक्षा होती है, उनका उन्होंने जमकर उल्लेख किया है। युवक राजकुमार सर्वार्थसिद्ध का नगर-प्रवेशवाला दृश्य 'रघुवंश' के सातवें सर्ग की याद दिलाता है। पौर युवतियों की दर्शनोत्कण्ठा को कवि ने बहुत सजीव बनाया है। कुमार को देखने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठिता एक बालिका खिड़की के छज्जे को पकड़कर इस प्रकार लटक गयी, मानों तोरण-शालभंजिका हो। जो लोग द्वितीय शताब्दी की तोरण-शालभंजिकाओं का थोड़ा परिचय रखते हैं, वे इस अनूठी उपमा की सरसता समझ सकते हैं। यद्यपि पूरा काव्य बुद्ध के वैराग्य और संसार-त्याग के आदर्श से चालित है, फिर भी वह मनोरागों को भटकानेवाले मोहक चित्रों से रहित नहीं है। कुमार के महाभिनिष्क्रमण के दिन अश्वघोष ने आकर्षण और विकर्षण, दोनों पहलुओं का जो चित्र खींचा है, वह रोमांचकारी है। मारविजय के अवसर का बहाना लेकर कवि ने युद्ध का एक दृश्य उपस्थित कर दिया है, जिससे सूचित होता है कि उन दिनों काव्य के वर्णनीय विषयों की रूढ़ि स्थिर हो चुकी थी और अश्वघोष, इन सबका अपने काव्य में अन्तर्भाव करना चाहते थे।

यद्यपि अश्वघोष महायान के प्रवर्तकों में स्वीकार किये गये हैं और चीनी तथा तिब्बती अनुवाद में उनके नाम पर चलनेवाले अनेक धर्मग्रन्थों का सन्धान प्राप्त हुआ है, फिर भी उनका 'बुद्धचरित' केवल धर्मकथा नहीं है और न केवल श्रद्धेय की भाँति का गुणगान-मात्र है। वह निपुण कवि द्वारा परिकल्पित काव्य है—सरस, प्रवाहमय और उदात्त गुणों से युक्त। मनुष्य के सूक्ष्म और जटिल मनोरागों को उन्होंने निर्वेदग्रस्त वैरागी की दृष्टि से नहीं, बल्कि संवेदनशील कवि की आँखों से देखा है। श्रद्धा और भक्ति इस काव्य में परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं, जो अपने रचयिता की धार्मिक वृत्ति का प्रमाण हैं।

अश्वघोष का दूसरा काव्य 'सौन्दरानन्द' पूरा ही प्राप्त हुआ है। स्व. महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने इसे सन् 1910 ई. में 'बिब्लियोथिका इण्डिका' ग्रन्थमाला में पहले-पहल प्रकाशित कराया था। सुप्रसिद्ध विद्वान जान्स्टन ने कभी कहा था कि यद्यपि 'बुद्धचरित' विषयवस्तु और कवि की द्रष्टव्य प्रीति की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है, फिर भी 'सौन्दरानन्द' की अपेक्षा वह कच्चे हाथों की रचना है। 'सौन्दरानन्द' अधिक प्रौढ़ हाथों से लिखा गया है, इसीलिए उसमें भाषा और शैली अधिक प्रौढ़ और मार्जित है। तब से यह साधारणत: स्वीकार ही कर लिया गया है कि 'सौन्दरानन्द' परवर्ती रचना है, यद्यपि कोई नहीं मानता कि यह 'बुद्धचरित' की अपेक्षा अधिक समंजस और

सरस रचना है। 'सौन्दरानन्द' में वर्ण्य-विषय बहुत छोटा है। नन्द, जिन्हें रूपवान होने के कारण 'सुन्दर' कहा जाता था, संसार त्याग करना नहीं चाहते थे, भगवान बुद्ध के प्रभाव से वे प्रव्रजित हुए। इस छोटे-से कथानक को, जो मूल रूप में 'महावग्ग' या 'निदान कथा' से लिया गया होगा, कवि ने विस्तार दिया है। परिणामस्वरूप इसमें कथा से नाममात्र को सम्बद्ध विषयों का विस्तार किया गया है और 'बुद्धचरित' के बहुमुखी विषय की तुलना में इसमें भरती की बातें अधिक आयी हैं। इस काव्य में अश्वघोष का धर्म-प्रचारक रूप प्रधान हो गया है।

अश्वघोष के काव्यों में दो पक्ष बहुत स्पष्ट रूप में उभरे हैं। संसार में जो कुछ आकर्षक और मोहक है, उसका वे सोल्लास वर्णन करते हैं किन्तु फिर भी वे उससे अभिभूत नहीं होते, उसे क्षणभंगुर और अस्थिर समझते हैं। दोनों ही भाव उनके अपने हैं। दोनों के संघर्ष ने उनकी भाषा में तीव्र प्रवाह ला दिया है। कालिदास के काव्यों में भी दोनों तत्त्व हैं, किन्तु दोनों को वे उचित महिमा से मण्डित कर सके हैं। अश्वघोष जीवन के आकर्षक पक्षों को आवश्यक महिमा नहीं दे सके हैं। मोहन रूप के अन्तराल में भी कोई महिमा है, इसे वह स्वीकार करते नहीं जान पड़ते। इसीलिए कालिदास की भाँति अश्वघोष की सौन्दर्य-दृष्टि आकर्षक नहीं हो सकी, परन्तु वक्तव्य की ताजगी, विषय के प्रति स्वकीयदृष्टिता, सामान्य मनुष्यत्व को प्रभावित करने योग्य मनोरागों की योजना और उदात्त भावनाओं के उद्बोधन की दृष्टि से अश्वघोष बहुत महान कवि हैं।

कालिदास (सन् ईसवी की चौथी-पाँचवी शताब्दी) का कुमारसम्भव भी 'मार-विजय' या काम को परास्त करने का काव्य है। 'बुद्धचरित' में भी वैराग्य ने मार पर विजय प्राप्त की है, परन्तु कालिदास का काव्य 'बुद्धचरित' की अपेक्षा अधिक आकर्षक बना है। जिस पर्वत-कन्या (पार्वती) के प्रेम-व्यापार की इसमें योजना की गयी है, उसका जैसा विकास उचित था वैसा ही इस ग्रन्थ में हुआ है। वैसे तो पार्वती शकुन्तला की भाँति ही निसर्ग-कन्या है, परन्तु उसमें वह भिन्न और विशिष्ट भी है। वह जगन्माता का गौरव लेकर अवतीर्ण हुई। वह हिमालय के स्वच्छ हिमराशि में खिले हुए पुष्प की भाँति ही कोमल और मनोहर है। उसकी अन्तरात्मा हिमराशि की भाँति ही स्वच्छ है, परन्तु उसका चरित्र हिमालय की कठोरता और गुरुता का उपयुक्त अधिकारी है। शिव के चित्त में पार्वती के अपूर्व सौन्दर्य ने जो क्षोभ उत्पन्न किया, वह प्रेम के अपदेवता—काम (मार)—का अनधिकार हस्तक्षेप था। इस अपदेवता के प्रभाव से अकाल-वसन्त का प्रादुर्भाव हुआ था। अशोक कन्धे पर से फूट पड़ा था, बकुल अकारण व्याकुल हो उठा था, सम्पूर्ण वनस्थली असमय की मादकता से मत्त हो उठी थी। इसी अकाल पुष्पोद्गम की मनोहर, किन्तु अशुभ, पृष्ठभूमि में सचारिणी पल्लविनी लता की भाँति पार्वती शिव के निकट पहुँची। अवसर देखकर कामदेव ने

बाण मारा और शिव के नेत्र पार्वती के बिम्बफलाधरोष्ठ मुख पर व्यापारित हुए। बहुत शीघ्र ही शिव को इस चांचल्य का कारण मालूम हो गया और जब तक देवताओं के मुख से 'त्राहि-त्राहि' की वाणी निकले तब तक शिव की नयनाग्नि से कामदेव भस्म हो गया। अकाल वसन्त का विराट् आयोजन मुहूर्त्त-भर में भहराकर गिर गया। कवि निर्लिप्त, निर्मोह और अनासक्त भाव से पार्वती की तपस्या के आयोजन में जुट गया। जो प्रेम शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न हुआ था, वह क्षणभंगुर था, उसमें अशुभ भविष्य का बीज छिपा हुआ था—शकुन्तला के शारीरिक आकर्षणजन्य प्रेम की भी यही कहानी है—परन्तु जो प्रेम तपस्या से उत्पन्न होता है, वह स्थायी होता है और शुभ भविष्य का बीज लेकर आता है। शिव-पार्वती के प्रेम में कालिदास ने इसी महान सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, परन्तु सर्वत्र उनकी रचना सुषमित (वेल बैलेन्स्ड) है। कुमार या काम की पराजय नारी के आन्तरिक प्रेम का पराभव नहीं है, बल्कि उसकी महिमा को और भी उज्ज्वल, और भी सरस तथा और भी महान बनानेवाली है। 'कुमारसम्भव' में *कालिदास ने काम पर जो शिव की विजय दिखायी है,* यह प्रेम के निखरने, उज्ज्वल होने और महिमा-मण्डित बनने का साधन-मात्र है।

'बुद्धचरित' से 'कुमारसम्भव' तक की यात्रा किस मार्ग से हुई है, इस बात का पता लगाना बड़ा कठिन है। यह विवाद अब भी चल रहा है कि अश्वघोष सचमुच ही कालिदास के पूर्ववर्त्ती है या नहीं, परन्तु इतना निश्चित है कि कालिदास के युग में काव्य-शैली पूर्ण रूप से निखर चुकी थी और काव्यगत रूढ़ियों का विकास हो चुका था। ऋतुसहार में इसका पूरा संकेत मिलता है, यद्यपि ऐसे भी विद्वान है जो 'ऋतुसंहार' को कालिदास की रचना मानने में हिचकते हैं। केवल विलास-सामग्रियों की सूची प्रस्तुत करना कालिदास का काम नहीं था; मल्लिनाथ ने 'ऋतुसंहार' पर टीका लिखी ही नहीं; फिर, कालिदास के सभी काव्यों और नाटकों में जिस प्रकार के उद्देश्यगत गाम्भीर्य और विचारगत सौषम्य का परिचय मिलता है, वह इस छोटी-सी पुस्तिका में है ही नहीं। इसलिए इन पण्डितों का कहना है कि इसे कालिदास की रचना नहीं मानना चाहिए। परन्तु इसकी शैली और पद-विन्यास में कालिदास के ध्वनि-सौन्दर्य और संगीत-गुण को देखकर सभी विद्वान इसे कालिदास की ही रचना मानते हैं। जो हो, 'ऋतुसंहार' कालिदास की रचना न भी हो तो भी वह प्राचीन अवश्य है। छठी-सातवीं शताब्दी के कवियों की रचना पर इसके श्लोकों का प्रभाव खोजा जा चुका है। यह ग्रन्थ काव्य-शैली की विकास की कहानी अवश्य सुना सकता है। मुझे 'ऋतुसंहार' को कालिदास की रचना न मानने का कोई प्रबल हेतु नहीं दिखायी देता। 'कुमारसम्भव' के प्रथम आठ सर्गों की प्रामाणिकता के बारे में तो कभी सन्देह नहीं किया गया, परन्तु अन्तिम सर्गों को निश्चित रूप से अप्रामाणिक मान लिया गया है। उनमें न तो कालिदास का भाव-गाम्भीर्य है और न उनकी सुषमित

पैनी दृष्टि ही है, जो भोग में वैराग्य की महिमा देख सकती है। फिर भी 'कुमारसम्भव' नाम यह संकेत करता है कि इस ग्रन्थ मे कुमार का जन्म हो जाना चाहिए था। आठ सर्ग तक ऐसा नहीं होता अतः इस काव्य को अधूरा ही समझना चाहिए। परन्तु इन आठ सर्गों मे काव्य का सुगठित और परिपक्व रूप प्राप्त हो जाता है। यहाँ कवि ने तपस्या की आँच से परिशोधित प्रेम को पवित्र रूप में उपस्थित करने के जिस उद्देश्य की सिद्धि चाही थी, वह निश्चित रूप से प्राप्त हुई है। आठवें सर्ग मे यह एकता अवश्य खण्डित हुई है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने कालिदास के इस साहसिक वर्णन को कभी क्षमा के योग्य नही समझा।

परन्तु कालिदास को जीवन के विविध अंगों को देखने का अवसर रघुवंश में मिला है, इसलिए कई समालोचकों ने इसे कालिदास का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना है। आदि से अन्त तक इसमे निपुण कवि का कौशल झलकता है। दिलीप और सुदक्षिणा के तपोमय जीवन, अविचलित त्याग और धैर्य के बीच से कार्य आरम्भ होता है और धीरे-धीरे महान् रघुवंशी राजाओं के वीरत्व, वदान्यता, त्याग और तपस्या की कहानी उद्घाटित होती है। इन्दुमती का स्वयंवर मोहक और अभिराम चित्रों के अलबम के समान पाठक को अभिभूत करता है और इसकी पृष्ठभूमि में इन्दुमती के वियोग का करुण दृश्य बहुत ही द्रावक होकर प्रकट हुआ है। आलोचकों ने 'कुमारसम्भव के रति-विलाप के साथ 'रघुवंश' के अज-विलाप की तुलना की है, किन्तु दोनों मे केवल परिस्थिति का ही अन्तर नही है, मनोदशा का भी अन्तर है। रति इस बात को जानती है कि उसका पति अपराधी था और दण्ड देनेवाले भोलानाथ उसकी करुण दशा से अवश्य पिघलेंगे और वह अपने पति को फिर से प्राप्त करेगी। परन्तु इन्दुमती का अवसान देवता के कोप से नहीं, बल्कि स्वर्ग से गिरे फूल से हुआ है। इसमें अपराध की आशंका भी नही है और प्रतिविधान की आशा भी नही है। कालिदास ने मानो करुण रस के उस पहलू को ही ध्यान मे रखकर अज-विलाप की रचना की है, जो 'कुमारसम्भव' में कहने से रह गयी थी। अज-विलाप प्रिया-वियोग से दुखी शाश्वत मानव की करुण वेदना के रूप में ही प्रकट हुआ है। कालिदास ने विरह को कई रूपों में चित्रित किया है—मेघदूत से विरही यक्ष का अवधि-प्राप्त व्याकुल विरह, शकुन्तला का निरवधि विक्षुब्ध वियोग, रति का आशा और आशंका से उद्वेल करुण विरह और अज का अचानक, अकारण समापन्न निराश वियोग—सर्वत्र कालिदास की लेखनी ने अद्भुत नैपुण्य का परिचय दिया है। प्रेम के केन्द्रगत रहस्य को जो कवि नहीं जानता, वह किसी प्रकार इतनी विषम परिस्थितियों को नही सँभाल सकता। सचमुच ही कालिदास अद्वितीय कवि है, परन्तु 'रघुवंश' का सबसे महत्त्वपूर्ण चरित्र राम ही है।

वाल्मीकि-जैसे महान कवि ने जिस चरित्र को इतना महिमाशाली बनाया है, उसे फिर से लेकर नयी तेजस्विता और गरिमा देना मामूली कवि का काम नहीं है। कालिदास केवल निपुण आयोजना के ही कवि नही है, केवल कथा के मर्म-

स्थल को पहचाननेवाले कवि ही नहीं है, केवल विचारसाम्य की परख रखनेवाले पारखी पण्डित ही नहीं है, बल्कि वे अपना क्षेत्र भी पहचानते है। वह यह जानते है कि वाल्मीकि-जैसे कवि की छुई चीज को न छूना ही सबसे उत्तम है। बारहवें सर्ग मे उन्होंने वाल्मीकि की कहानी को उन्ही के छन्दों मे दुहराया है। एक-पर-एक चित्र सामने आते जाते है, नवीन चित्रों की योजना पाठक को सदा उलझाये रहती है और रावण-विजय तक की सारी कहानी वह अनायास सुन जाता है। इसके बाद कालिदास अपने प्रिय क्षेत्र मे कहानी को उठा ले आते है। विमान से राम-सीता लौट रहे है। राम, सीता को एक-एक स्थान दिखाते जाते है। विमान की प्रचण्ड गति के साथ-ही-साथ कहानी भी ताल देती चल रही है। यहाँ केवल उन मार्मिक स्थलों को दिखाने की चेष्टा है जो राम के पौरुष, प्रेम, धैर्य और अकुतोभय चरित्र को निखारते जाते हैं। सीता साँस रोककर सुन रही हैं। विमान तेजी से दौड़ रहा है। रुकने की फुरसत कहाँ है! 'रघुवंश' का तेरहवाँ सर्ग कालिदास की अद्‌भुत निपुणता का परिचय देता है। राम के गम्भीर प्रेम की ऐसी मर्मस्पर्शी कहानी सुनने के बाद ही परवर्ती सर्ग मे सीता का निर्वासन होता है। यह एक अत्यन्त विषम परिस्थिति है। सीता का सम्पूर्ण नारीत्व यहाँ पादाहत सर्प की भाँति फुफकार उठता है, किन्तु सीता अन्त तक सीता ही हैं। कालिदास ने अत्यन्त करुण और सुकुमार घटना को बड़ी सावधानी से सँभाला है। सीता का जो तेजस्वी रूप पन्द्रहवें सर्ग मे प्रकट हुआ है, वह सब प्रकार से अपनी उपमा आप ही है। नारीत्व की महिमा को कालिदास ने कभी भी खण्डित नही होने दिया है। ऊपर-ऊपर से 'रघुवंश' एक नही, अनेक कथानकों का समन्वय है। परवर्ती कवियों में किसी को भी इस प्रकार के असंघटित कथानक-समूह को महाकाव्य का विधान बनाने का साहस नही हुआ; परन्तु फिर भी कालिदास के अद्‌भुत कौशल से ये कथानक एक-दूसरे से ऐसे मिले हुए है कि उनमें एक प्रवाह खोजा जा सकता है। भावना और विचार, प्रेम और कर्तव्य, गाम्भीर्य और माधुर्य तथा भोग और वैराग्य का ऐसा सुसंस्कृत काव्य संस्कृत मे फिर नही लिखा गया। 'रघुवंश' संस्कृत-काव्य-परम्परा को अपने सर्वोच्च बिन्दु पर ले जाकर विरत होता है। यहाँ से संस्कृत की काव्य-परम्परा ढलती वयस का शिकार हो जाती है।

कालिदास की श्रेष्ठता भारतीय साहित्य मे सर्वमान्य है। न तो आधुनिक ढंग से देखने के अभ्यस्त पश्चिमी आलोचकों ने ही इस विषय मे सन्देह किया है, न पुराने ढंग से विचार करनेवाले भारतीय आचार्यों ने ही। इसका कारण कालिदास की अद्‌भुत सामंजस्य और सौषम्य-विधायिनी दृष्टि है। उनके काव्यों में विद्वत्ता की बहुलता उतराकर नही बहती। न तो उन्होंने काव्य-रूपों की उपेक्षा होने दी है और न वक्तव्य वस्तु को म्लान होने दिया है। परवर्ती संस्कृत काव्यों में उत्तरोत्तर इस सौषम्य का ह्रास होता गया है। साधारणतः संस्कृत-कवियों की दृष्टि वर्णन-प्रधान हो गयी है। वे कथानक के उस पहलू को लेते हैं जिससे उनके लिए चन्द्रोदय का, वन-विहार का, जल-केलि का, वसन्त-शोभा का, वधूजन

और वर्णनात्मक अतिरेकों की अनावश्यक योजना है। परन्तु ये बातें भारतीय काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि में दोष नहीं हैं और जब कभी किसी भारतीय कवि के उत्कर्ष-अपकर्ष का विचार किया जाना चाहिए, तभी इन बातों को आवश्यक दोष मानकर आगे बढ़ना चाहिए। यदि आलोचक पहले किसी पूर्वाग्रह का शिकार न हो और उपर्युक्त विशेषताओं को व्यक्तिगत दोष न मानकर उन्हें काल की विशेषता मानकर उपेक्षणीय समझ लें, तो माघ में सचमुच ही पद-लालित्य और अर्थ-गाम्भीर्य मिलेगा।

सन् ईसवी की छठी शताब्दी में भट्टि नामक कवि ने अपना प्रसिद्ध काव्य रावणवध लिखा, जो उनके नाम पर 'भट्टि-काव्य' नाम से भी अधिक प्रसिद्ध है। यह काव्य व्याकरण और अलकार के प्रयोग सिखाने के उद्देश्य से लिखा गया था, इसीलिए इसमें एक ओर तो विद्यार्थियों का ज्ञानवर्धन प्रमुख है और दूसरी ओर विद्वानों का मनोविनोद। इसमें कवि की विद्वत्ता उसकी अनुभूतियों को दबा देती है। सदा से यह ग्रन्थ कुछ सीखने-सिखाने की दृष्टि से ही आदर पाता रहा है; परन्तु फिर भी इस काव्य में कुछ मोहक गुण अवश्य है। दक्षिण की भाषाओं को तो इस काव्य ने बहुत प्रभावित किया। भट्टि के थोड़े समय बाद कुमारदास नाम के एक कवि हुए, जिन्होंने काव्य-मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य राजशेखर जैसी प्रशंसा प्राप्त की है। उन्होंने जानकीहरण नाम का एक काव्य लिखा था, जो मूल रूप में पहले उपलब्ध नहीं था, पर सिंहली में इसका शब्द-प्रति-शब्द रूपान्तर उपलब्ध था। अब सौभाग्यवश यह काव्य मूल रूप में मिल गया है। काव्य सचमुच ही उत्तम बताया जाता है और कालिदास की सुपमित रुचि का उत्तराधिकारी भी बताया जाता है।

आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद से समसामयिक राजाओं के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा का आरम्भ होता है। इन्हें संस्कृत के ऐतिहासिक काव्य कहा गया है, परन्तु इनमें ऐतिहासिकता नाम मात्र को ही होती है। परवर्ती काव्य-रचयिताओं की भाँति ये कवि भी कथानक-सूत्र को बहाना बनाकर काव्य में रूढ बने विषयों का वर्णन कर देते हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि इनमें सम्भावना-पक्ष पर अधिक जोर दिया गया है, अर्थात् एक राजा के लिए जो कुछ सम्भव है उसे समसामयिक आश्रयदाता पर घटाया गया है। राजा युद्ध करता है और देश जीतता है तो सारे संसार के जीतने की भी सम्भावना है; कवि अपने चरितनायक को समग्र विश्व का विजेता बनाने में नहीं हिचकेगा। राजा एकाधिक विवाह करते हैं, वे सौ भी तो कर सकते हैं; कवि चरितनायक के अनेकानेक विवाहों और केलि-कलापों के बढ़ाने में नहीं हिचकेगा। सम्भावना-पक्ष पर जोर देने के कारण इन काव्यों की ऐतिहासिकता म्लान हो गयी है। फिर वास्तविक जीवन में कुछ ऐसे प्रसंग भी आते हैं, जहाँ व्यक्ति समाज की क्रूर नियम-निष्ठा पर बलि हो जाता है, एक ही साथ आकर्षक और विकर्षक मनोभावों के [illegible] में पंगु हो जाता है। वह अनमिल घटनाओं के आघात-प्रत्याघात से [illegible]

की रचनाओं का होना स्वाभाविक है। भारतीय परम्परा कच्चे और अपरिपुष्ट काव्यों को यत्नपूर्वक सँभालकर रखने के पक्ष में नहीं थी। उसने उतने को ही बचाया है, जितना उसे उत्तम जँचा। निस्सन्देह संसार की अन्यान्य पुरानी भाषाओं में इस कोटि का साहित्य दुर्लभ है।

इस काल के साहित्य का चरम लक्ष्य खण्ड-सत्य कभी भी नहीं रहा है। वाल्मीकि या व्यास या कालिदास मनुष्य की महिमा के प्रचारक थे, उसकी दुर्बलता के नहीं, और न उस सहजात पशु-सुलभ मनोवृत्ति के, जो थोड़ी-सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठती है। इस मध्यकालीन भारतीय साहित्य ने 'जीवशास्त्रीय' समझी जानेवाली उस लालसा को प्राधान्य नहीं दिया, जो समस्त जीवों की स्थिति के प्रयोजन की पूर्ति करती है। इस लालसा से अतिरिक्त, प्रयोजनातीत, सत्य को ही उन्होंने मनुष्य का अपना 'सत्य' समझा था। प्रेम संयम और तप से उत्पन्न होता है; भक्ति साधना से प्राप्त होती है; श्रद्धा के लिए अभ्यास और निष्ठा की जरूरत होती है—ये पशु-सुलभ आदिम वृत्तियों की उपज नहीं हैं। वाल्मीकि को जब छन्द-सरस्वती का साक्षात्कार हुआ तो उन्हें सबसे बड़ी चिन्ता यह हुई कि किस प्रकार इसमें महान चरित्र की अवतारणा की जाय—ऐसा महान चरित्र, जो विपत्ति में म्लान न हो, सम्पत्ति में उतरा न उठे, विजय-दर्प के समय क्षमा करना न भूले, शक्ति पाने पर सदय होने से न चूके और जीवन के उपरले स्तर की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के गम्भीर तल में बहनेवाली चरितार्थता की धारा को न भूल जाय। कालिदास ने मदन-वैभव और अकाल वसन्त की समस्त आकर्षक मोहकता को वैराग्य के एक भ्रूभंग में धूलिसात् करा दिया और फिर तपस्या की आँच में तपाकर प्रेम के कुन्दन को चमकाया। सीता, पार्वती और राधिका भारतीय कवि की आदर्श कल्पना हैं। सबको तपस्या की आँच में तपना पड़ा है, सबको दुःख और वेदना के मरु-कान्तार को पार करना पड़ा है और तब जाकर भारतवर्ष के सहृदय ने उन्हें देवता के आसन पर बैठाया है। संयम बड़ी वस्तु है, तपस्या बड़ी वस्तु है। क्षणिक आवेग, सामयिक उन्माद, अधीर विनिवेदन तब तक भारतीय कवि के चित्त को मुग्ध नहीं करते जब तक वे संयम, तप और भक्ति में स्नान करके पवित्र न हो गये हों। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन केवल खण्ड-सत्य था। कवि ने उस अभिशप्त प्रीति को विजयी नहीं होने दिया है। विजयी हुआ वह प्रेम जो जीवन-रस में पूरी तरह परिपक्व होकर मिला है।

संस्कार बड़े प्रबल हैं, वे विवेक को प्रायः ही दबोचते रहते हैं। भारतीय सहृदय एक प्रकार के संस्कारों में पलता है और दूसरे देश के सहृदय दूसरे प्रकार के। जो काव्य-लक्ष्मी इन संस्कारों को दबा सके उसमें प्राण-शक्ति का अपूर्व विलास माना जाना चाहिए। कभी-कभी अच्छे सहृदय भी अपने बद्धमूल संस्कारों से काव्य-सौन्दर्य को परखने का प्रयत्न करते हैं और द्रष्टव्य को छोटा करके देखने में रस पाते हैं। एक उदाहरण दूँ। आप सभी जानते हैं कि दीर्घ

काल से भारतवर्ष इस बात में विश्वास करता रहा है कि किये का फल जरूर भोगना पड़ता है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में उसे अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। इससे बच सकना सम्भव नहीं है। इस जन्म में जो कुछ भी मनुष्य ने पाया है, वह पूर्वजन्म के पुण्य या पाप का परिणाम है और इस जन्म मे जो पुण्य या पाप करेगा, वह भी उसको भोगना ही पड़ेगा। इस विश्वास का प्रभाव भारतवर्ष के साहित्य पर पड़ा है। इस साहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलेगी, जिसे पश्चिम के साहित्य मे 'समाज के प्रति विद्रोहभावना' कहकर बहुत बड़ा नाम दिया गया है। वस्तुतः प्राचीन हिन्दू कवि इस जगत के समस्त विधान को सामंजस्यपूर्ण और उचित मानता था। धनी या निर्धन होना पुराने पुण्य या पाप का परिणाम है, अच्छे या बुरे कुल मे जन्म लेना सुकृत या दुष्कृत का फल है, इसमें कहीं विरोध या विद्रोह की जरूरत ही नहीं है। साहित्य में इसीलिए 'रिवोल्ट' (विद्रोह) नामक वस्तु का यहाँ एकदम अभाव है। मैं यहाँ यह नहीं बताना चाहता कि भारतीयों का ऐसा विश्वास ठीक था या गलत था। मैं यह भी नहीं कहने जा रहा हूँ कि 'रिवोल्ट' का होना वांछनीय है या अवांछनीय। यह सब अवान्तर प्रसंग है, यथाअवसर मैं इसकी चर्चा करूँगा। यहाँ मैं केवल संस्कारों की प्रबलता और तज्जन्य सांस्कृतिक मनोद्वन्द्व का एक उदाहरण आपके सामने रख रहा हूँ। यह समझना आसान है कि कर्मफल की अवश्य-प्राप्यता में विश्वास करनेवाला नाटककार जगत की समंजस-व्यवस्था को चुनौती नहीं दे सकता। भारतीय नाटकों मे यह प्रथा रूढ़ हो गयी है कि धर्मात्मा को पापात्मा से कभी पराजित होता न दिखाया जाये और सद्विचारशील व्यक्ति कठिनाइयों मे जूझता हुआ हार न जाने पाये।

यह विश्वास भारतीय नीतिशास्त्र के मूल मे है और भारत के समस्त प्रयत्नों को इस नैतिक आदर्श के अनुसार रूप देने का प्रयत्न किया गया है। इस-लिए भारतवर्ष में उस श्रेणी के नाटक या आख्यायिका या काव्य नहीं लिखे गये जिन्हें 'ट्रेजेडी' कहते हैं। परन्तु यदि एक बार मनुष्य के मानसिक आवेगों और संवेगों को दृष्टि मे रखकर विचार करें तो एक दूसरी सचाई भी सामने आती है। मनुष्य के अनेक मानसिक संवेग (इम्पल्स) जो एक-दूसरे के विरुद्ध जाते हैं, या एक-दूसरे को क्षीणबल करते रहते हैं, कलाकार के संवेदनशील चित्त में युगपत् उत्थित होते हैं। हमारे देश के अलंकारशास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि दो विरुद्ध भाव एक ही आश्रय के मन में आ सकते हैं, रस की अनुभूति में ये सब समय बाधक ही होते हैं। इसीलिए इनमें किसी एक को या तो अंग बनाकर गौण हो जाना चाहिए या आश्रय का भेद दिखाकर रस-बोध के मार्ग को निष्कण्टक कर देना चाहिए। लेकिन इससे यह अनुमान तो कर ही लिया जा सकता है कि आश्रय के चित्त में न सही, कवि के चित्त मे ये परस्पर-विरुद्ध भाव अपने विरोधी स्वभाव को छोड़कर बने रहते हैं और अवसर पाकर जब कला के माध्यम से प्रकट होते हैं तो श्रोता के चित्त में विचित्र सामंजस्य उत्पन्न करते हैं। तरंग

खाना और करुणार्द्र होना विषय के प्रति अभिमुखीकरण के संवेग है, इनके द्वारा चित्त उस वस्तु की ओर अभिमुख होता है, जिसे देखकर ये भाव उदित हुए थे। विभीषिका और त्रास प्रतिमुखीकरण के संवेग हैं, इनके द्वारा मनुष्य विषय की ओर जाना नही चाहता बल्कि उसे दूर छोड़कर मुँह फिरा लेना चाहता है। दु:खान्त नाटकों में ये दोनों भाव एक साथ काम करते रहते हैं। हमारे देश का आलंकारिक निश्चित रूप से कहेगा कि इनमे दोनों समान शक्तिशाली नही हो सकते, एक अंगी होकर रहेगा, दूसरा अंग। यदि कही दोनों तुल्यबल हुए तो रसबोध को ही मार डालेंगे। परन्तु 'ट्रेजेडी', के पश्चिमी आलोचक मानते है कि ये दोनों संवेग श्रोता के चित्त मे एक साथ वर्त्तमान रहते है और एक ऐसे अलौकिक आस्वाद को उत्पन्न करते है जो साधारण जीवन के अनुभवों से हू-ब-हू नही मिलते। आधुनिक मनोविज्ञान ने बताया है कि हम दो कौशलो से उन मनोवेगों को तरह दे जाते हैं, जिनसे हैरान होने की आशंका होती है—दमन से और उन्नयन से। 'ट्रेजेडी' की महिमा इस बात में है कि वह इन दोनो से हमे मुक्त रखती है। कठिनाई या तो मनोभावों के दमन से पैदा होती है या उनके उन्नयन से। सफलता मिलने के समय मनुष्य न तो किसी मनोभाव का दमन करता है, न उन्नयन। सफलताजन्य सन्तोष इस विश्वास का फल है कि स्नायुमण्डल ठीक है, कही कोई प्रयास नहीं करना पडा है। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री 'ट्रेजेडी' को सर्वप्रेरक और सर्वग्राह्य वस्तु मानते हैं, क्योंकि वह दो परस्पर-विरुद्ध मनोभावों का सन्तुलन ठीक रखकर आश्चर्यजनक सामंजस्य उत्पन्न करती है।

ये दो दृष्टियाँ है। एक समाज की सामंजस्य-व्यवस्था को अनालोड़ित रखने के उद्देश्य से सामाजिक मंगल के रास्ते चलकर प्राप्त की गयी है और दूसरी व्यक्ति-मानव के मनोवेगों का निरीक्षण करके उपलब्ध की गयी है। किसी की महिमा अस्वीकार नही की जा सकती। अस्वीकार करने के लिए अधिक-से-अधिक घोर विवेचना और मानसिक संयम की आवश्यकता है। भारतीय कवि ने अपने विश्वासों के अनुसार जगत् के सामंजस्य-विधान मे सन्देह करना उचित नही समझा। अपने लिए उसने आत्मनिर्मित अनेक बन्धन स्वीकार कर लिये। इन बन्धनों के भीतर उसने जो रस-सृष्टि की, उसे अन्य देश और अन्य काल के संस्कारों के चश्मे से देखने से हम उसका सौन्दर्य नही उपलब्ध कर सकेंगे।

जीवन के गम्भीरतर समझे जानेवाले प्रश्नो का साहित्य मे समाधान खोजना आधुनिक प्रवृत्ति है। अत्यन्त हाल में जड़ विज्ञान की उन्नति के साथ मनुष्य की दुनिया छोटी हो गयी है। यन्त्रों के आविष्कार ने जहाँ जीवन की ऊपरी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए प्रचुर उत्पादन की व्यवस्था की है, वहाँ उससे वितरण और उपयोग की उतनी ही अच्छी व्यवस्था नही हो सकती है। क्योंकि उत्पादन के साधन कुछ थोड़े-से लोगो के हाथ में चले गये हैं, उनके हथियाने मे जिस बौद्धिक कौशल की आवश्यकता है, वह मनुष्य अनायास ही उचित अवसर मिलने पर पा जाता है। परन्तु उसमे उत्पादित सामग्री को सब तक पहुँचाकर सबके

साथ मिलकर भोगने में जो मानसिक औदार्य और बौद्धिक निलिप्तता आवश्यक है, वह उतनी आसानी से नहीं मिलती। पहली मनोवृत्ति छीन-झपटकर अपना स्वार्थ साधन करने के कौशल को प्रश्रय देती है। इसे मनुष्य ने अपने पूर्वज पशुओं से विरासत के रूप में पाया है। दूसरी मनोवृत्ति में आत्मयाग, पर-दुःख-संवेदना और मनुष्य की चरम एकता के भाव हैं—जो संस्कार और साधन की अपेक्षा रखते हैं। पहली मनोवृत्ति ने शोषकों का दल पैदा कर दिया है; परन्तु दूसरी मनोवृत्ति अब भी अत्यन्त शिशु रूप में है। इस नयी अवस्था ने संसार के सामने सैकड़ों समस्याएँ उपस्थित कर दी हैं। घिनौने युद्ध और भयंकर अकाल अब प्रकृति के कोप से नहीं होते, मनुष्य की दलित वासनाओं के कारण हो रहे हैं। जीवन एक सिरे से दूसरे सिरे तक इस प्रकार झकझोर दिया गया है कि पुराने संचित संस्कार बुरी तरह झड़ गये हैं और एक-दूसरे से उलझ गये हैं। मनुष्य ने इतने दिनों तक जीवन के विभिन्न पहलुओं का जो मूल्य आँका था, वह अधिकांशतः भहराकर चकनाचूर हो गया है। बहुत-कुछ टूट रहा है, बहुत कुछ ढह रहा है। मनुष्य सर्वत्र इन समस्याओं का समाधान खोजता है। वह विज्ञान से इसका हाल पूछता है, इतिहास से इसका रास्ता पूछता है और साहित्य से इसके समाधान की आशा रखता है। जीवन जटिल हो गया है। जहाँ विज्ञान ने ज्यादा पैर जमाया है, जहाँ व्यवसायमूलक क्रान्ति हुई है, अर्थात् जहाँ अवसर देखकर एक दल ने उत्पादन के साधनों को हथिया लिया है, वहीं समस्याएँ सहस्रमुखी हो गयी हैं। उन्होंने नाटक को ग्रस लिया है, काव्य को ग्रस लिया है और साहित्य को समझने की दृष्टि को भी ग्रस लिया है। पुराने भारतीय कवि की भी अपनी सीमाएँ हैं। उन सीमाओं के भीतर उन्होंने कैसे रूप और रस की सृष्टि की है, यही विचार्य है। आधुनिक समस्याओं का समाधान उनमें एकदम नहीं मिलेगा ऐसा तो नहीं है, परन्तु उत्तर सामान्य ढंग का होगा, विशिष्ट और बहुश्रुत नहीं; क्योंकि जीवन की सभी समस्याएँ सामयिक ही नहीं हैं, कुछ दीर्घस्थायी भी हैं। पुराने लोगों ने भी कुछ सामना किया था। उनके सभी अनुभव बासी नहीं हो गये हैं। प्रसिद्ध तन्त्रशास्त्रज्ञ सर जॉन वुडरफ ने एक बार बड़े अफसोस के साथ कहा था, "साधारणतः यूरोपीय प्राच्यविद्या-विशारदगण और उनके वे भारतीय शिष्य, जो उनकी ही अंगुली पकड़कर चला करते हैं, कुछ ऐसे अवहेलनामूलक विचारों का पोषण करते हैं कि भारतीय शास्त्र केवल ऐतिहासिक कुतूहल का विषय है। यही कारण है कि वे इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाते कि प्राचीन पूर्वीय ज्ञान और आधुनिक आविष्कारों में भी आश्चर्यजनक साम्य मिलता है।"

कथा तथा आख्यायिका

संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों ने 'कथा' शब्द का प्रयोग एक निश्चित काव्य-रूप के अर्थ में किया है। संस्कृत की 'कथा' गद्य में लिखी जाती थी।

एक इसी श्रेणी की गद्यबद्ध रचना और भी होती थी जिसे आख्यायिका कहते थे। भामह ने काव्यालंकार(1/25-128) मे सुन्दर गद्य मे लिखी सरस कहानी वाली रचना को 'आख्यायिका' कहा है। यह उच्छ्वासों मे विभक्त होती थी और इसका कहनेवाला और कोई नही, स्वय नायक होता था। इसमें बीच-बीच में वक्त्र और अपवक्त्र छन्द आ जाते थे। इसमे कन्याहरण, युद्ध, विरोध और अन्त मे नायक की विजय का उल्लेख भी होता था। 'कथा' इससे थोड़ा भिन्न हुआ करती थी। उसमे वक्त्र और अपवक्त्र छन्द नही होते थे और न उसका विभाजन ही उच्छ्वास-संज्ञक अध्यायो मे हुआ करता था। इसकी कहानी स्वयं नायक नही कहा करता था, बल्कि किन्ही दो व्यक्तियों की बातचीत के रूप में कह दी जाती थी। उसके लिए भाषा का कोई बन्धेज नहीं था। भामह के इस कथन को ही अपने सामने रखकर दण्डी ने 'काव्यादर्श' (1/23-28) में कहा था कि कथा और आख्यायिका वस्तुतः एक ही श्रेणी की रचनाएँ हैं; क्योंकि कहानी नायक कहे या कोई और कहे, अध्याय का विभाजन हो या न हो, अध्यायों का नाम उच्छ्वास रखा जाय या लम्भ रखा जाय, बीच में वक्त्र या अपवक्त्र छन्द आते हों या न आते हों, इससे कहानी मे क्या अन्तर आ जाता है? इसलिए इन ऊपरी भेदों के कारण 'कथा' और 'आख्यायिका' में अन्तर नही करना चाहिए।

'बृहत्कथा' और हाल की 'सतसई'

प्राकृत में लिखी हुई सबसे पुरानी कथा गुणाढ्य की बृहत्कथा ही है। इस ग्रन्थ ने परवर्ती संस्कृत काव्य-नाटकों और कथा-जातीय गद्य-काव्य को बहुत कथा-सामग्री प्रदान की है। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि यह अमूल्य निधि आज अपने मूलरूप मे प्राप्त नही है। सन् ईसवी की आठवी-नवी शताब्दी के साहित्य से पता चलता है कि उस समय तक यह कथा प्राप्य थी। यहाँ तक कि लगभग 875 ई. में कम्बोडिया की एक संस्कृत प्रशस्ति में गुणाढ्य और उनकी बृहत्कथा की चर्चा आयी है। यह ग्रन्थ पैशाची प्राकृत मे लिखा गया था। इसके निर्माण की कहानी बड़ी मनोरंजक है। गुणाढ्य पण्डित महाराज सातवाहन के सभापण्डित थे। महाराज सातवाहन भी उदयन, विक्रमादित्य (साहसाक) की भाँति ऐतिहासिक पुरुष थे। सातवाहन राजाओं ने दीर्घ-काल तक दक्षिण में राज्य किया था। सिक्कों पर उनके 'साड' 'सात' आदि नाम प्राप्त हुए है। पण्डितो ने अनुमान किया है कि 'हाल' वस्तुत. 'साड' शब्द का ही प्राकृत रूप है। वर्ण-परिवर्तन के आधार पर निश्चित किया हुआ यह सिद्धान्त सही हो भी सकता है और नही भी हो सकता है। परन्तु इतना सत्य है कि 'हाल' प्राकृत साहित्य के उसी प्रकार पुरस्कर्त्ता थे जिस प्रकार विक्रमादित्य संस्कृत साहित्य के। ब्राह्मण-साहित्य मे अपने प्राकृत-प्रेम के कारण इन्हें कई बार उपहास का पात्र बनना पड़ा है। हम अभी जिस मनोरंजक कहानी की ओर आपका

ध्यान आकृष्ट करने जा रहे हैं, वह ऐसे ही उपहास का द्योतक है।

'हाल' की सतसई प्राकृत-कविताओं का अपूर्व संग्रह है। शताब्दियों से वह पण्डितों का कण्ठहार बनी हुई है। इसके कोई एक दर्जन रूप हमें परम्परा-क्रम से प्राप्त हुए है। विशेषज्ञों ने सब रूपों के अध्ययन के बाद दिखाया है कि सात सौ मे लगभग चार सौ गाथाएँ पुरानी है। बाकी परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुई हैं। इस पुस्तक का मूल नाम गाथाकोश था। एक गाथा के अनुसार कविवत्सल 'हाल' ने एक करोड गाथाओ मे से चुनकर इन सात सौ पद्यों का संग्रह किया था। एक मजेदार कहानी मे तो यह भी कहा गया है कि सरस्वती के वरदान से 'हाल' के राज्य का प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दिन के लिए कवि हो गया था और सबने अपनी कविताएँ 'हाल' को दी थी। उन्ही से चुनी हुई कविताओ का संग्रह 'सतसई' है। इसमे तो कोई शक नही कि 'हाल' प्राकृत-साहित्य के पृष्ठपोषक थे। राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' मे तो इस अनुश्रुति का भी उल्लेख किया है कि सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में केवल प्राकृत बोलने का ही नियम बना दिया था। यह सातवाहन और हाल एक ही व्यक्ति होगे। ऐसा प्राकृत-प्रेमी राजा प्राकृत में निबद्ध प्रेम-गाथाओं का नायक हो, यह बिलकुल स्वाभाविक ही है और शायद यह भी स्वाभाविक ही है कि ऐसे प्राकृत-प्रेमी राजा को संस्कृत से अनभिज्ञ बताकर उपहास का पात्र बनाया जाय।

गुणाढ्य पण्डित की बृहत्कथा या 'वड्डकहा' अब मूल रूप मे उपलब्ध नही है। कहा जाता है कि उनकी कथा का उपहास स्वयं 'हाल' ने किया और खिन्न होकर उन्होने उसका अधिकाश भाग स्वयं जला दिया। किसी प्रकार राजा को सुबुद्धि हुई और अन्तिम सातवाँ भाग बचाया जा सका। राजा की प्रार्थना पर सिर्फ एक ही भाग बच सका। उस बचे भाग की कथा हमारे पास मूलरूप में तो नही आ सकी, परन्तु संस्कृत भावानुवाद के रूप मे आज भी उपलब्ध होती है। बुद्धस्वामी के बृहत्कथा श्लोक संग्रह, क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मंजरी और सोमदेव के कथासरित्सागर मे 'बृहत्कथा' के उस अवशिष्ट अंश की कहानियाँ संगृहीत है। इनमे पहला ग्रन्थ नेपाल के और बाकी काश्मीर के पण्डितो की रचना है। यह नही पता चलता कि गुणाढ्य ने मूल कहानी गद्य मे लिखी थी या पद्य मे। 'बृहत्कथा श्लोकसंग्रह' से जान पड़ता है कि वह पद्य मे लिखी गयी होगी, पर कथा की परवर्ती परिभाषाओं को देखकर बहुतेरे पण्डित उसे गद्य में लिखी बताते हैं। वैसे तो यह विवाद तब तक चलता रहेगा जब तक सौभाग्यवश मूलग्रन्थ की कोई प्रति न मिल जाय। किन्तु मैं अपना यह विश्वास प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलकथा पद्यबद्ध थी और वही से प्राकृत-भाषा या लोकभाषा मे पद्यबद्ध कथाओं के लिखने की परम्परा शुरू होती है।

परन्तु ये रचनाएँ प्राकृत मे होने पर भी उस काल के संस्कृत-काव्यों की परम्परा मे ही आती हैं। इतना अवश्य है कि वे कुछ अधिक लोकोन्मुख है। कदाचित् मुक्तक-काव्य की परम्परा भी प्राकृत से ही शुरू होती है। अर्द्धविश्वसनीय

या अविश्वसनीय अनुश्रुतियाँ पूर्ववर्त्तीकाल के संस्कृत मुक्तक काव्यधारा के अस्तित्व का आभास अवश्य देती हैं, पर और भी पुरानी बौद्ध शास्त्रीय परम्परा प्राकृत की मुक्तक काव्यधारा को ही प्रबल सिद्ध करती है।

इतना निश्चित है कि जिसे हम मध्यकाल का साहित्य कहने जा रहे हैं, उसकी प्रेरणा प्राकृत के विशाल साहित्य से निर्विवाद रूप से मिलती रही है। प्राकृत साहित्य के बारे में कुछ अधिक चर्चा करने का अवसर हम बाद में खोजेंगे। मध्यकालीन साहित्य प्रवृत्तियों की जानकारी के लिए यह साहित्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना संस्कृत का साहित्य। अस्तु।

उद्देश्य और उपलब्धियाँ

मुक्तक-काव्य की पुरानी परम्परा

हमने देखा है कि भारतीय परम्परा के अनुसार पहले कवि आदिकवि वाल्मीकि है और उनकी रामायण आदिकाव्य। महाभारत को मुख्य रूप से इस देश में इतिहास के रूप मे स्वीकार किया गया है। रामायण निश्चित रूप से उस कोटि का ग्रन्थ है, जिसे भारतीय परम्परा में 'काव्य' कहते हैं और विद्वानों के विचार से महाभारत के पुराने अंशो मे भी निश्चित रूप में उस श्रेणी की रचनाएँ मिल जाती हैं, जिन्हें भारतीय परम्परा काव्य-रूप में स्वीकृत करती है। निस्सन्देह सन् ईसवी के प्रारम्भ होने तक इन दोनों ग्रन्थों का अधिकांश बन चुका था। कर्णाटराजप्रिया (विज्जका ?) जैसी अभिमानिनी कवयित्री ने भी ब्रह्मा के साथ वाल्मीकि तथा व्यास को उत्तम कवि मान लिया था। बाकी कवियों के सिर पर वे अपना बायाँ पैर ही रखती हैं, दाहिने लायक उनके सिरों को मानती ही नही —

> एको भून्नलिनात् पदश्च पुलिनाद् वल्मीकतश्चापदः
> प्राच्यासो त्रय एव दिव्य कवयो दिव्यन्तु देव्यागिरा
> अर्वाचो यदि गद्यपद्यरचना चातुर्यवागुद्धता—
> स्तेषां मूर्ध्नि ददामिवामचरणं कर्णाटराजप्रिया।

एक मिलता-जुलता ऐसा ही श्लोक किसी शाकल्यमल्ल नामक कवि का भी मिलता है। अस्तु, इस प्रकार काव्य-पद्धति का श्रीगणेश ईसा के बहुत पहले हो हो जाना सिद्ध होता है। जिसे हम भारतीय मनीषा का मध्यकाल कहते हैं (सन्. ई. की आठवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक), उस काल में रामायण और महाभारत को अत्यन्त श्रद्धा के साथ स्वीकार कर लिया गया था। परवर्ती काल मे सुभाषित-संग्रहों का प्रयत्न भी किया गया था। इन सुभाषित-संग्रहो मे संग्रहकर्त्ता द्वारा अपने पूर्ववर्ती कवियों की अच्छी रचनाओ का संग्रह किया गया था। इन सुभाषितों मे पाणिनि का नाम भी आता है, जिनका काल निश्चित रूप से सन् ईसवी के प्रारम्भ होने के कम-से-कम 400 वर्ष पहले का है; और पतंजलि का भी, जिनका समय ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी है। इन रचनाओं की प्रामाणिकता के बारे मे कुछ मतभेद हैं, परन्तु इतना निश्चित है कि काव्य समझी जानेवाली शैली बहुत पहले से इस देश मे प्रचलित हो चुकी थी। वैसे चौथी शताब्दी के बाद से मिलनेवाले ऐतिहासिक अभिलेखो में वे सारी बातें खोजने से मिल जायेंगी जो,

परवर्ती काव्य में प्रचुर मात्रा मे मिलने लगती हैं।

अलंकृत काव्य

आप जानना चाहेंगे कि यह काव्य-शैली क्या है। यूरोपीय पण्डितों ने इसे 'आरनेट पोयट्री' या 'अलंकृत काव्य' कहा है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसका आरम्भ राज-दरबार के कवियों ने किया होगा। परवर्ती काल मे भी इस श्रेणी के कवियों को राजाश्रय प्राप्त रहा। इसलिए यूरोपीय पण्डित कभी-कभी 'कोर्ट पोयट्री' कह करके भी इसका परिचय देते है। राज-दरबार से सम्बद्ध होने पर भी इस श्रेणी की रचना को 'कोर्ट पोयट्री' कहना बहुत उचित नही होगा; क्योंकि इस शब्द से उन्हें आधुनिक स्वच्छन्दतावादी कविता से इसकी विशेषता समझने मे मदद नही मिलेगी। इसलिए इस श्रेणी के काव्य को इस व्याख्यान मे मैं 'अलंकृत काव्य' कहूँगा।

'अलंकृत काव्य' श्रेणी की रचनाओं मे कवि को अच्छी शिक्षा की जरूरत होती है। उसे अलंकारों का बहुत अच्छा ज्ञान होना चाहिए; कौन-सी बात ग्राम्य हो जाती है और कौन-सी शिष्ट, इस बात की जानकारी होनी चाहिए; उसे रसों और भावों की पहचान होनी चाहिए; अनेक प्रकार की ऋतुओं में प्रेमियों के मानसिक उतार-चढाव की ठीक-ठीक जानकारी होनी चाहिए; व्याकरण-सम्मत, किन्तु सरस भाषा के नाडी-स्पन्दन का अनुभव होना चाहिए; प्रेम, मिलन, विरह आदि की विभिन्न स्थितियो को चमत्कारपूर्ण ढग से कहने की क्षमता होनी चाहिए; प्रेमी और प्रेमिकाओ की विभिन्न अवस्थाओ का सूक्ष्म परिचय होना चाहिए; विशिष्ट अवसरों, मनोभावों और पात्रों के अनुरूप छन्दों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए; विभिन्न अवसर के वस्त्रों-आभूषणो आदि की सही-सही जानकारी होनी चाहिए; साथ ही, उसके लिए अन्यान्य शास्त्रो की भी यथासम्भव अधिक-से-अधिक जानकारी अपेक्षित है। संक्षेप मे, यह कविता केवल प्रतिभा को आश्रय करके नही बनती, बल्कि इसके लिए अच्छी काव्य-शिक्षा और पुराने कवियो की रचनाओं की जानकारी बहुत आवश्यक है। सातवी शताब्दी के आलंकारिक और कवि दण्डी ने तो यहाँ तक कहा है कि विशेष प्रतिभा-शक्ति न होने पर भी यदि कोई परिश्रमपूर्वक काव्य-शिक्षा का अभ्यास करे तो सरस्वती की कृपा उस पर कुछ-न-कुछ अवश्य हो जाती है और वह सहृदय रसिकों की गोष्ठी मे निर्द्वन्द्व विहार कर सकता है।

स्वभावतः इस प्रकार की कविता में काव्य-शिक्षा पर क्रमशः अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा और जिसे हम भारतीय मनीषा का मध्यकाल कहते हैं, वहाँ तक आते-आते वह अत्यन्त प्रबल काव्य-हेतु मान ली गयी।

सुभाषितों के आधार पर सुकवि के गुण

मध्य-युग के कवि से तत्कालीन सहृदय क्या चाहते थे, और उसे किस

परिवेश में काव्य-रचना करनी पड़ती थी, यह जान लेना उपयोगी होगा। हमारे पास सुभाषितों का जो भाण्डार है, उसमें अनेक प्रकार की सूक्तियाँ सुकवियों की प्रशंसा में लिखी गयी मिलती हैं। इनके विश्लेषण से सुकवि की वांछनीय गुणावली का आभास पाया जा सकता है। आलंकारिक आचार्य बौद्धिक शक्ति-सम्पन्न आचार्य थे। उनकी बातें निश्चित सिद्धान्तों के समर्थन के लिए लिखी गयी हैं। परन्तु ये सुभाषित तत्कालीन सामान्य शिष्टजन की मनोवृत्ति के सूचक हैं। पं० नारायण राय आचार्य ने अनेक पूर्ववर्ती सुभाषितों और ग्रन्थों की सहायता से सुभाषिता रत्न भाण्डागार नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन किया था। इस ग्रन्थ में सामान्य सुकवि-प्रशंसा के 68 सुभाषित संकलित हैं। इसमें सुकवि की प्रशंसा में निम्नांकित बातों का उल्लेख है :

कवि का यश अमर होता है	8 श्लोक
कवि अच्छी सूक्तियाँ कहता है	10 श्लोक
कवि राजा या आश्रयदाता को अमर बना देता है	12 श्लोक
कवि सहृदयों को आनन्दित करता है और सत्त्वाद्रेक कराता है	11 श्लोक
कवि पण्डितों को आनन्दित करता है	5 श्लोक
कवि के हृदय में चौदह भुवन सिमट आते हैं	2 श्लोक
कवि का विद्वान् होना श्रेयस्कर है	10 श्लोक
कवि अनपढ़ में भी आनन्द संचार करता है	1 श्लोक
कवि निर्भीक और हेतुयुक्त बात कहता है	1 श्लोक
कवि शीलयुक्त बात कहता है	1 श्लोक
कवि धीर वाणी कहता है	2 श्लोक
कवि लावण्ययुक्त वाणी कहता है	2 श्लोक
कवि स्वयं रस का आस्वादयिता नहीं होता	2 श्लोक
रस-सिद्ध कवि दुर्लभ है	1 श्लोक
	68 श्लोक

इससे स्पष्ट है कि मुख्य रूप से यश या कीर्ति से कवि की अमरता, राजा या आश्रयदाता को भी अमरता प्रदान करने की शक्ति, अच्छी अर्थयुक्त सूक्ति, सहृदय पण्डित जन को आनन्ददान और कवि का पाण्डित्य ही मुख्य रूप से स्मरण किये गये हैं।

क्या कवि रसवेत्ता नहीं होता ?

ऐसा कहा गया है कि भारतीय रस-शास्त्री से यदि पूछा जाय कि कवि स्वयं अपनी कविता का आनन्द लेता है या नहीं, तो कदाचित् वह यही कहेगा कि कविता लिख लेने के बाद जब वह सहृदय की स्थिति में आता है, तभी अपनी

रचना का आनन्द लेता है। कविता का सही आस्वाद सहृदयों को ही मिलता है। रचना-प्रक्रिया के आनन्द पर भारतीय रस-शास्त्री जोर नहीं देते। सुभाषितों से भी इस बात का समर्थन होता है। 'काव्य प्रपंच चंचू रचयति काव्यं न सारविद्भवति। वृक्षाः फलानि सुवते विंदति सारं पतंग समुदायः' अर्थात् काव्य-रचना में निपुण कवि काव्य-रचना करता है, लेकिन उसका सार जाननेवाला वह नहीं होता। पेड़ फल पैदा अवश्य करते है, परन्तु इन फलो का सार तो पक्षियों का समूह ही जानता है। कविता कवि की पुत्री के समान होती है। वह कन्या के पिता के समान सदा यही सोचता रहता है कि इसे सज्जन के पास जाना है, उसे रमण का आह्लाद देगी, अतः इसे निर्दोष होना चाहिए। इन चिन्ताओं से वह कन्या के पिता के समान ही कष्ट पाता रहता है :

यास्यति सज्जन हस्तं रमयिष्यति तं भवेच्च निर्दोषा।
उत्पादयितापि कविस्ताम्यति कथया हि दुहितेव॥

यह श्लोक पंचतन्त्र में मिलता है। इसमे इस प्रकार के विचार की प्राचीनता सिद्ध होती है। इसके विपरीत जानेवाले कथनो का भी संकलन किया जा सकता है। लेकिन मुख्य रूप से यह बात उन दिनों काफी लोकप्रिय जान पड़ती है कि कवि रचनाकाल मे काव्य-रस का अनुभव नही करता। अलंकारशास्त्री में भी लगता है कि काव्य की रचना-प्रक्रिया मे जो आनन्द है, उस ओर कम ही ध्यान दिया गया है। यह कहना कि कवि रचना करने के बाद सहृदय-रूप में ही काव्य-रसास्वाद करता है, कविता को स्थितिशील कलावस्तु (स्टेटिक आबजेक्ट) मान लेने के समान है। उसकी रचना-प्रक्रिया मे जो गतिशील पक्ष (डाइनेमिक प्रोसेस) का आनन्द है, वह उपेक्षित हो जाता है।

काव्य-सर्जना का आनन्द

काव्य-सर्जना का आनन्द चित्त की गतिशील द्रुति से उत्पन्न होता है। यह तो माना गया है कि कविता-रूपी पुत्री को लोकोत्तर सहृदय के पास भेजकर कवि को जो आनन्द मिलता है, वह न तो ब्रह्म-विद्या से मिल सकता है और न राजलक्ष्मी से—'न ब्रह्मविद्या न च राज्यलक्ष्मीस्तथा यथेयं कविता कवीनाम्। लोकोत्तरे पुंसि निवेद्यमाना पुत्रीव हर्षं हृदये करोति।' परन्तु यह भी कविता को तैयार माल (फिनिश्ड प्रोडक्ट) समझने की ही वृत्ति है। हम इस समय रचना-प्रक्रिया के आनन्द के स्वरूप का विवेचन नहीं करेंगे। यहाँ हमारा उद्देश्य मध्यकाल के कवियों की मनोवृत्ति का परिचय देना है। आनन्द का व्यापक अर्थ स्वीकार करते हुए भी वे श्रृंगाररस से अभिभूत होते थे, इसलिए व्यवहार में उत्पादयिता के आनन्द को भोक्ता के आनन्द के सामने नगण्य मान लेते थे। प्रायः उच्च कोटि के कवियों के बारे में भी इस बात के लिए गर्व अनुभव करते बताया गया है कि भारतीय वाणी उनके साथ तर्कशास्त्र और काव्यशास्त्र में समान रूप से रमण करती है, क्योंकि प्रिय व्यक्ति अगर मनोनुकूल हो

तो सुन्दरियों को इस बात की परवा नहीं होती कि कोमल शय्या मिल रही है या कुश से आच्छादित कण्टकाकीर्ण वनभूमि। नैषधकार श्रीहर्ष के नाम पर ऐसा श्लोक प्रबन्धों में मिलता है;

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढप्राहग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छपटा दर्भांकुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

सहृदय दुर्लभ है

सहृदयों का मिलना दुर्लभ ही है। बारहवीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण सुभाषित-संग्रह सुभाषितावलि में एक बड़ा ही सुन्दर श्लोक संगृहीत है। इसमें कहा गया है कि कवि के ऐसे अभिप्राय जो शब्दों में प्रकट नहीं होते केवल सरस पदों में ही स्फुरित होते हैं, उसका आनन्द लेकर मौन रह जानेवाले, किन्तु रोमांचपूर्ण अंगों से बहुत-कुछ कह देनेवाले सहृदय जन को मेरी यह प्रणामांजलि निवेदित है :

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः ॥

इसमें यह स्वीकार किया गया है कि कविता केवल शब्दार्थ-मात्र नहीं है। वह उससे कुछ अधिक देती है, जो प्रयोजनवती गद्यात्मक भाषा नहीं दे पाती। वह कुछ अशब्दगोचर, पदयोजनास्फुरित तत्त्व केवल सहृदय ही जान पाता है। आनन्दवर्धन इसे 'प्रतीयमान' अर्थ कहते हैं और सुन्दरी स्त्री के अंगों के कुल जोड़ से ऊपर छिटकते रहनेवाले लावण्यतत्त्व का समशील मानते हैं।

मध्यकाल के कवि के सामने ये दो प्रश्न थे। अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से निचुड़े हुए काव्य-रस का आनन्द ग्रहण करनेवाला सहृदय कैसे मिले। और दूसरा, उसके यश को अमर-अजर बना देनेवाला गुणग्राही कहाँ मिले।

उन दिनों की राजसभाओं, विद्वद्गोष्ठियों और वैनोदिक कला-जिज्ञासुओं की खोज इसीलिए आवश्यक थी। कवि राजा को अधिक-से-अधिक गुणग्राही और सहृदय पाकर अपने को कृतार्थ समझता था, पर वास्तविकता यह थी कि सभी राजा या आश्रयदाता ऐसे नहीं होते थे। कुछ अवश्य होते थे, पर कम ही। कई बार प्रथापालन के लिए कवियों को आश्रय देना, राजा लोग कर्त्तव्य मानते थे, पर उनकी स्वयं कोई रुचि नहीं होती थी। फिर भी राजसभा को प्रसन्न करने के लिए कवि को कुछ कहना ही पड़ता था। कई बार कवियों का आन्तरिक क्षोभ भी व्यक्त हुआ है। कहा गया है कि यदि यह कभी न भरनेवाला पापी पेट का खड्ड न होता तो कवि किसी प्रकार आप-जैसे राजाओं के कुटिल कटाक्ष का निरीक्षण न सहता—

इयमुदरदरी दुरंतपूरा यदि न भवेदभिमानभंगभूमिः,
कथमपि न सहे भवादृशानां कुटिलकटाक्ष निरीक्षणं नृपाणाम्।

यह श्लोक भर्तृहरि के नाम पर भी मिलता है। पर कुछ विद्वान् इसे परवर्त्ती काल की रचना मानते हैं। जो हो, इससे कवि की लाचारी का पता तो चलता ही है। किसी कवि को अपनी वाणी को अनुपयुक्त व्यक्ति के सामने सुनाने का दुःख था। उसने अत्यन्त करुण भाषा में अपनी सरस्वती से प्रार्थना की थी कि 'हे मातः, मैंने दुःखों के सामने इस पापी पेट की पूर्त्ति के लिए तुझे बार-बार नवाया है। इस भयंकर अनुचित अपराध को क्षमा कर। हे सहजसरला वत्सला वाणी, इस पाप का प्रायश्चित में आज भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान में तेरा उपयोग करके करना चाहता हूँ।'

ऐसी अनेक सूक्तियाँ कवि की लाचारी की ओर इंगित करती हैं।

काव्य-शिक्षा पर बल

यह प्रश्न नितान्त अनुचित नहीं है कि वह काव्य जो राजसभाओं में या गोष्ठी-विहारों में कवि को कीर्तिशाली बना देता था, कैसा होता होगा ! 'कुमार सम्भव' जैसे बड़े-बड़े प्रबन्ध-काव्यों के पढ़ने योग्य समय तो वहाँ नहीं रहता होगा, 'मेघदूत' जैसे खण्डकाव्य भी कम ही पढ़े जा सकते होंगे। वस्तुतः जो काव्य इन स्थानों पर पढ़े जाते होंगे, वे छोटे मुक्तक ही होते होंगे और उक्ति-चमत्कार का उनमें प्राधान्य रहता होगा। राजशेखर ने उक्ति-विशेष को जब काव्य कहा था तो उनका मतलब कुछ इसी प्रकार के काव्य से था। मैं यह नहीं कहता कि रस-परक काव्य का उन दिनों कोई महत्त्व नहीं था, मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि राजसभाओं और गोष्ठी-विहारों में जो काव्य कीर्तिशाली बन सकते थे, वे चामत्कारिक उक्तियोंवाली रचनाएँ ही होती थीं। पुरानी अनुश्रुतियों से इस बात का समर्थन होता है। ऐसी रचनाओं को 'सूक्ति' या 'सुभाषित' कहना उचित ही है। रुद्रट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि मात्राच्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि केवल क्रीड़ामात्र के लिए उपयोगी हैं (5-24)। दण्डी ने काव्यादर्श में कहा है कि क्रीडा-गोष्ठियों के विनोद में, साहित्यरसिकों की बैठक में और दूसरों को मोहित करने के लिए ही प्रहेलिकाओं का उपयोग है। सम्भवतः पुराने अलंकार-शास्त्रों में रस की उतनी चर्चा न करके उक्ति-वैचित्र्य और गुण-दोष की ही चर्चा जो अधिक मिलती है, उसका भी यही कारण है। गुण-दोष का ज्ञान वादी को पराजित करने में सहायक होता था। काव्य के लिए केवल प्रतिभा को ही आवश्यक नहीं माना जाता था, व्युत्पत्ति और अभ्यास की भी पूरी आवश्यकता अनुभव की जाती थी। यह तो स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा नहीं होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता, विशेषकर उस आदमी को तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभाव से ही पत्थर के समान जड हो, जिसे आर्द्रता की लहरें थोड़ा भी अन्तःसिक्त नहीं कर पाती हों। फिर ऐसे आदमी को भी काव्य का अभ्यास नहीं कराया जा सकता, जो तर्कशास्त्र या व्याकरण पढ़कर अपनी स्वाभाविक संवेदनशीलता खो चुका है। पहले प्रकार का व्यक्ति 'प्रकृत्या जड़' कहा जाता है

ग्रौर दूसरे प्रकार का 'नष्ट साधन', परन्तु यदि थोड़ी भी शक्ति हो तो काव्य सिखाया जाना सम्भव है। प्राचीनो का विश्वास था कि पूर्वजन्म के पुण्य से, या मन्त्रसिद्धि से, या देवता के वरदान से बीच ही में अचानक कवित्व प्राप्त हो जाता है। कवित्व सिखानेवाले ग्रन्थो का यह दावा तो नही है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे या ग्रन्धे को देखने की शक्ति दे देंगे, पर थोडी-सी शक्ति हो तो उसे सभाग्रों मे सम्मान पाने योग्य बना देना उन्हें सम्भव जान पड़ता है ग्रौर पुराने सामन्त-युग के मनुष्य के लिए यह कम महत्त्व की बात नही थी। यद्यपि शास्त्र के ग्रनुसार यश के लिए, व्यवहार ज्ञान के लिए, ग्रमंगल निरास के लिए, सहज मुक्ति के लिए या कान्तासम्मत उपदेश के लिए, ग्रर्थात् जीवन की लगभग समस्त ग्रावश्यकताग्रों की पूर्ति के लिए काव्य लिखे जाते थे, पर ज्यादा जोर कीर्त्ति पाने पर ही दिया गया है; क्योंकि व्यवहार ज्ञान, ग्रमंगल का प्रतिकार, मुक्ति ग्रौर उपदेश तो ग्रौर साधनों से मिल ही सकते हैं। कविता इन बातों मे कई साधनों में से एक ही है। परन्तु कवियश प्रधान वस्तु है। दूसरी प्रधान वस्तु है ग्रानन्द। कवि रस-वर्षा कर दूसरों को भी ग्रानन्दित करता है ग्रौर स्वयं ग्रानन्द पा सकता है। वास्तविक ग्रानन्द रस-सिद्धि है। कवियों की यह कहकर प्रशंसा की गयी है कि उनके यश:शरीर मे जरा-मरण का भय नहीं होता—

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

कीर्त्ति-लालसा

मध्ययुग के ग्रनेक प्रयत्नों के मूल मे कीर्त्ति पाकर ग्रमर होने की लालसा काम कर रही है। कीर्त्ति प्राप्त करने में राजा ग्रौर उसकी राजसभा मुख्य सहायक साधन थे। सुभाषितो मे राजस्तुति को निर्विवाद रूप से काव्य मान लिया गया था। राजदरबार को कीर्त्ति प्राप्त करने का केन्द्र मान लेने के कारण एक विशेष प्रकार का दरबारी काव्य उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुग्रा ग्रौर दुर्जनों तथा चुगलखोरों की निन्दा ग्रौर सज्जनों ग्रौर सहृदयो की प्रशंसा को उसमे विशिष्ट स्थान प्राप्त हुग्रा। यह परम्परा बहुत दिनों तक किसी-न-किसी रूप मे जीती चली ग्रायी। ग्रन्तिम हिन्दू सम्राटो ग्रौर राजाग्रों के दरबार के बहुतेरे कवि पूरे दरबारी हो गये थे। सामन्त-युग का पूरा प्रभाव हमारे ग्रलंकारशास्त्र पर पड़ा है। राजकीय ठाट-बाट का जीवन कवि का भी ग्रादर्श हो गया। राजशेखर ने कवि के जिस शानदार जीवन का चित्र खींचा है, वह चौंधिया देनेवाला है। कवि को सुकुमार रुचि का धन-सम्पन्न व्यक्ति होना चाहिए। उसके शानदार भवन मे पुष्करिणी, मण्डप, स्नान-गृह, दोला ग्रादि होने चाहिए। सुशिक्षित परिचारिकों ग्रौर परिचारिकाग्रों की व्यवस्था होनी चाहिए, महार्हं वस्तुग्रो मे घर भरा रहना चाहिए ग्रौर मूल्यवान वस्त्राभूषणों से उसे समृद्ध रहना चाहिए, इत्यादि-इत्यादि।

इसी प्रकार माघ पण्डित की समृद्धि का वर्णन प्रबन्धचिन्तामणि ग्रादि ग्रन्थों

में बड़ी मुखर भाषा में किया गया है। स्वयं राजा भोज को उस समृद्धि के सामने चकित और हत-गर्व होना पड़ा था। ऐसा जान पड़ता है कि इस श्रेणी के कवियों के सामने वाल्मीकि और व्यास का आदर्श नहीं था, यद्यपि उनके प्रति भक्ति प्रचुर मात्रा में थी।

आज का कवि यह स्वीकार करने में संकोच करेगा कि वह धन के लिए या यश के लिए या व्यवहार सिखाने के लिए लिख रहा है और पाठक भी उससे इन बातों की आशा नहीं करता। छापे की मशीन ने इन विषयों के लिए अनेक अन्य शास्त्रों को सुलभ कर दिया है। इस मशीन ने जो पाठक को भावावेश पर से धकेलकर बुद्धिप्रवाह में फेंक दिया है, वह मामूली बात नहीं है। कवि के हाथ से अनेक विभाग छिन गये हैं! कुछ कहानियों ने ले लिया है, कुछ उपन्यासों ने हथिया लिया है, कुछ निबन्धों ने छीन लिया है और कुछ अन्य साहित्यांगों ने। समय ने 'कान्तासम्मत उपदेश' देने के महान् मंच पर से कवि को उतार दिया है। पाठक उससे कुछ अधिक चाहता है। क्या चाहता है, यह कहना बड़ा कठिन हो गया है। शायद वह 'जीवन की व्याख्या' चाहता है, शायद वह 'आत्माभिव्यक्ति' चाहता है। शायद वह 'स्पाटेनियस आउटबर्स्ट ऑफ़ पर्सनल फीलिंग्स' या वैयक्तिक अनुभूतियों का स्वतः समुच्छ्वित उच्छ्वास चाहता है—ऐसा ही कुछ आधुनिक आलोचकों ने उस रहस्यमय माँग को समझ रखा है। अब युगचेतना को स्वर देना कवि का कर्त्तव्य माना जाने लगा है, मानव-संस्कृति का निर्माण करना उसका लक्ष्य समझा जाने लगा है, अब उसे दरबार को जीतकर कवियश पाने का जरूरतमन्द नहीं माना जाता।

कवि का वर्ण्य-विषय

मध्ययुग का कवि इतनी माँगों का शिकार नहीं बना था। इसीलिए दुनिया के समस्त पदार्थों को अपने वर्ण्य-विषय के अन्तर्गत मानने पर भी चुनता कुछ थोड़े ही विषयों को था। उसे वर्ण्य-वस्तु को सरस बनाने की बड़ी चिन्ता थी और उसमें भी वह शृंगार को ही अधिक महत्त्व देता था। इस रस के बाहर यदि वह जाता था तो प्रायः ऐसी बातों में ही उलझता था, जिसमें वक्तव्य वस्तु कुछ ऐसी वक्र भंगिमा से प्रकट हो कि सहृदयों की सभा 'वाह-वाह' कर उठे। यश और सम्मान करने के लिए समस्या-पूर्ति एक आवश्यक विषय हो गया था। ऐसे ग्रन्थ भी लिखे गये जो समस्यापूर्ति को सहजसाध्य बनाने की कला सिखाते हैं। अनेक प्रकार के रूढ़ उपमान इसमें कवि की सहायता करते हैं। अनेकार्थक शब्द उसको सफल बनाते हैं। मध्यकाल के साहित्य में इन रूढ़ियों का यत्नपूर्वक संकलन किया गया है। श्लेष की पटुता, संस्कृत भाषा के अनेकार्थक तथा सन्धि और समास के नियमों से कविता सहजसाध्य हो जाती है। संस्कृत कवि श्लेष, यमक, अनुप्रास आदि में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता। वैसे तो बहुत पुराने जमाने से ही समस्या-पूर्त्ति, श्लेष और यमक से कौशल दिखाने में कवि अपनी

चरितार्थता मानता था, पर आठवीं शताब्दी के बाद ये उसके प्रधान कवि-कर्म हो गये। समस्या-पूर्ति के कौशल की पटुता दिखाना उन दिनों लोकप्रिय हो गया था। कवियों के नाम पर चलनेवाली कहानियों में ये बातें भरी पड़ी हैं। और तो और, कालिदास को भी समस्या-पूर्ति में उस्ताद बताया गया है। एक कहानी में तो उनकी मृत्यु का कारण भी एक समस्या-पूर्ति को ही बताया गया है। कहा जाता है कि सिंहल के राजा कुमारदास ने किसी वेश्या के घर की दीवाल पर एक श्लोक का आधा हिस्सा लिख दिया था और पूर्ति करनेवाले को प्रचुर इनाम देने की घोषणा कर दी थी। आधा श्लोक इस प्रकार था :

'कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते।'

[कमल में कमल की उत्पत्ति न तो सुनी गयी और न देखी गयी।]

कालिदास ने पूर्ति करके आधा श्लोक इस प्रकार लिख दिया :

'बाले तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवर द्वयम्।'

[फिर हे बाले, तुम्हारे मुखकमल में दो नीलकमल कैसे ?]

स्वयं पुरस्कार-प्राप्ति के लोभ से उस वेश्या ने कालिदास को मरवा दिया था। यह कहानी सच हो या नहीं, उन दिनों के कवियशःप्रार्थियों की भोंड़ी तस्वीर हमारे सामने अवश्य उपस्थित कर देती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि जिस कविता को बहुत उत्तम और पुरस्करणीय समझकर यह सब अनर्थ की बात की कल्पना की गयी, वह नेत्रों के साथ नीलकमल के रूढ़ उपमान के सहारे टिकी हुई है। इस प्रवृत्ति के कारण रूढ़ उपमानों, कवि-समय और साध्य-वसाना लक्षण द्वारा गृहीत उपमेयों के प्रयोग खुलकर हुए। अनेक प्रकार के कवि-समय इतने बद्धमूल हो गये कि परवर्ती काल के कवियों के मन में उनके बारे में कभी सन्देह का उदय ही नहीं हुआ। चक्रवाक का जोड़ा रात को बिछुड़ जाता है, चकोर आग चुगता है, चातक स्वाती के पानी के लिए रट लगाता है, हंस नीर और क्षीर को अलग-अलग कर देता है, अशोक सुन्दरियों के बायें चरण के आघात से खिल उठता है, कीर्ति और हास का रंग सफेद होता है, अनुराग का रंग लाल होता है, इत्यादि। फिर कथानक-रूढ़ियों का भी एक विशाल वन खड़ा हो गया।

मुक्तक काव्य में कवि का नैपुण्य

यमक और श्लेष संस्कृत भाषा की निजी विशेषताएँ हैं, जिन्हें प्राकृत और अपभ्रंश में भी लाने का प्रयास किया गया है। परन्तु संस्कृत कवि के नैपुण्य तक अन्य भाषाओं के कवि नहीं पहुँच पाये। इस भाषा ने सुगठित व्याकरण और सुव्यवस्थित छन्दःशास्त्र, शब्दों, उपमाओं और समस्योक्तियों का विपुल साहित्य दिया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। काव्य-शिक्षा ने कवियों को अनेक ऐसे कौशलों का अधिकारी बनाया, जिसकी तुलना किसी अन्य भाषा के साथ करना कठिन है।

काव्य-शिक्षा पर बल देने का परिणाम

काव्य-शिक्षा पर जोर देने का परिणाम होता है एक प्रकार की निर्वैयक्तिक कारीगरी (इम्पर्सनल टेकनीक) का व्यापक प्रसार। यह किस प्रकार होता है, इस पर थोड़ा विचार किया जाय। हर कला के कलाकार को कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण करनी होती है और प्रारम्भिक शिक्षा का एक मुख्य अंग होता है प्रतिष्ठित कवियों या कलाकारों की कृतियों का अनुकरण। किसी भी कलाकार की रचना का विचार करने के लिए दो तत्त्वों की मीमांसा आवश्यक होती है। एक है उसका स्थिर (स्टैटिक) तत्त्व, जिसका अर्थ होता है बाह्य जगत् का वह पदार्थ जो कलाकार का वक्तव्य बनता है। दूसरा तत्त्व है उसका गतिशील पक्ष, जिसका अर्थ होता है रचनाकार की मानसिक प्रक्रिया। अनुकरण के समय स्थितिशील तत्त्व पूर्ववर्ती रचनाकारों की श्रेष्ठ अनुकृतियाँ होती हैं। स्थिर होने के कारण और अन्यान्य स्थिर वस्तुओं की तुलना में अधिक स्थितिशील होने के कारण ही वे 'प्रतिष्ठित' कही जाती है। कलाकार शिक्षा समाप्त करने के बाद यदि उनसे अभिभूत हो जाता है तो वह बड़ी चीज नही दे सकता; क्योंकि उसमे जो गतिशील सर्जन-प्रक्रिया है, वह कुण्ठित हो जाती है। जो वस्तुएँ प्रतिष्ठा प्राप्त कर गयी होती हैं अर्थात् प्रतिष्ठित है, उनका लोकचित्त पर सिक्का जमा रहता है। नया रचनाकार प्रतिष्ठित कृतियों से कुछ अलग हटे बिना नयी प्रतिष्ठा नही पाता। कालिदास ने रामायण और महाभारत से सामग्री लेकर भी उसमें कुछ नवीनतम ले आने का प्रयास किया था। प्रतिष्ठित कृतियों का अनुकरणमात्र किसी को बड़ा नही बनाता। रचनाकार की सर्जनात्मक शक्ति जब कुछ नया देने का प्रयत्न करती है तो प्रतिष्ठित कृति के प्रति प्रतिक्रिया, विद्रोह और क्रान्ति करती है। प्रतिक्रिया, विद्रोह और क्रान्ति की मात्रा के अनुसार ही नये रचनाकार की महिमा मे तारतम्य आता है। जहाँ तक कवि का प्रश्न है, नयी रचना केवल कवि की उस सावधानी से, जो कही हुई बात को अधिक चामत्कारिक ढंग से उपस्थित करने के लिए बरती जाती है, बड़ी नहीं होती बल्कि नये विचारो और पद्धतियों को अपनाने तथा प्रेपणीय वस्तु को अधिक सशक्त और महान् बनाने से होती है। धर्मकीर्ति नामक एक कवि की रचना सुभाषितों मे मिलती है। ये कदाचित् बौद्ध नैयामिक धर्मकीर्ति (सातवीं शताब्दी) से अभिन्न थे। इनकी शिकायत है कि 'वाल्मीकि ने वानरों द्वारा लाये गये पत्थरों से समुद्र बँधवा दिया और व्यास ने यही काम अर्जुन के बाणों मे करा दिया, तो भी कोई यह नहीं कहता कि उन्होंने अत्युक्ति की है। इधर मैं जो प्रबन्ध लिखता हूँ उसमें वाक् और अर्थ को इस प्रकार सम्हालकर लिखता हूँ मानो तराजू मे तोलकर लिखे गये हों, फिर भी दुनिया इनकी निन्दा करने के लिए मुँह बाये रहती है। प्रतिष्ठे, तुझे नमस्कार' :

शैलेर्बन्धयति स्म वानरहृतैर्वल्मीकिरम्भोनिधि
व्यासः पार्थशरैस्तथापि न तयारत्युक्तिरुद्भाव्यते ।
वागर्थौ च तुलाधृताविव तथाऽप्यस्मत्प्रबंधानयं
लोको दूषयति प्रसारितमुखस्तुभ्यं प्रतिष्ठे नमः ।।

यह शिकायत प्रतिष्ठा के वास्तविक रूप को न पहचानने के कारण है। यहाँ कवि की प्रतिक्रिया केवल युक्तियुक्त बात कहने मात्र में है। सो भी, रामायण या महाभारत के विराट् काव्यार्थ से बिलकुल विच्छिन्न खण्डोक्तियों के आधार पर।

आलोच्य काल के कवियों ने इस गतिशील सर्जनप्रक्रिया की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। वे उक्तियों को सँवारकर चमत्कारपूर्ण बनाने का प्रयत्न करते रहे और नवीनतम के नाम पर स्थितिशील तत्त्व को माँजने-घिसने में जुटे रहे। गतिशील पक्ष के प्रबल होने से व्यक्तिगत रचनात्मक प्रतिभा में निखार आता है और स्थितिशील तत्त्व के अनुकरण या सँवार से निर्वैयक्तिक कारीगरी में नैपुण्य प्राप्त होता है। नवीं शताब्दी के बाद के संस्कृत साहित्य में इसी निर्वैयक्तिक कारीगरी की निपुणता मिलती है। इसमें उक्तियों को माँज-घिसकर आकर्षक बनाने का प्रयास तो है, पर नया मार्ग खोजने या नया काव्यार्थ उद्भावन का प्रयत्न नहीं है।

राजसभा

थोड़ा राजसभा को भी समझने का प्रयास किया जाय। मैंने अन्यत्र इस विषय पर अधिक विस्तार से लिखा है। उस काल के ग्रन्थों में राजसभाओं का जो वर्णन पाया जाता है वह यद्यपि एक प्रकार के काव्य-विनोदों से परिपूर्ण है, फिर भी उसमें उक्ति-वैचित्र्य को या कौशल-विशेष को ही अधिक सम्मान प्राप्त होता था। कादम्बरी में कविवर बाणभट्ट ने एक राजसभा का बड़ा जीवन्त वर्णन दिया है। जब राजा सभा में उपस्थित होता तब तो बड़ी शान्ति रहती थी, पर राजा के न रहने पर लोग असंयत हो उठते थे। 'कादम्बरी' के वर्णन के अनुसार जब राजा सभा में उपस्थित नहीं थे, तब सामन्तों में से कुछ लोग पासा खेलने के लिए कोठे खींच रहे थे, कोई पासा फेंक रहे थे, कोई वीणा बजा रहे थे, कुछ लोग चित्रफलकों पर राजा की प्रतिमूर्त्ति आँक रहे थे, कुछ लोग काव्यालाप में मस्त थे, कुछ हँसी-दिल्लगी में मशगूल थे, कुछ लोग बिन्दुमती नामक विनोद से उलझे हुए थे (अर्थात् बहुत-से बिन्दुओं में आकार-उकार आदि मात्राएँ लगा दी गयी थीं और इस पर से वे पूरे श्लोक का उद्धार करने का प्रयत्न कर रहे थे), कुछ लोग प्रहेलिका नामक काव्य-भेद का रस ले रहे थे, कुछ राजा के बनाये हुए श्लोकों की चर्चा कर रहे थे, कुछ जो अधिक ढीठ थे, वे दरबार के मनोविनोद के लिए आयी हुई स्त्रियों से रसालाप में लगे हुए थे और कुछ चतुर लोग वन्दीजनों से राजा के पूर्वपुरुषों की यशोगाथा सुन रहे थे। इस वर्णन से

जान पड़ता है कि दरबार में काव्य-विनोद की रुचि थी, परन्तु वह काव्य-विनोद बिन्दुमती, प्रहेलिकाचित्र आदि काव्यों की श्रेणी का था। उन दिनों का दरबारी इन बातों में रस ले सकता था और कवि से इस प्रकार के विनोद में सहायक होने की आशा भी रखता था। वस्तुतः राजसभा मे सात अंगों की प्रधानता उन दिनों निर्विवाद रूप से स्वीकार कर ली गयी थी। ये सात अंग है—1. विद्वान्, 2. कवि, 3. भाट, 4. गायक, 5. मसखरे, 6. इतिहासज्ञ और 7. पुराणज्ञ।

विद्वांसः कवयो भट्टा, गायकाः परिहासकाः।
इतिहास-पुराणज्ञाः सभच सप्तागसंयुता॥

ऐसी ही रुचिवाली सभा का सामना कवि को करना पड़ता था। पुराने जमाने में राजा लोग कवि-सभा का आयोजन भी करते थे और उसमे कवियों की परीक्षा हुआ करती थी। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक और साहसांक आदि राजाओं ने यह परम्परा चलायी थी और परवर्ती राजा लोग इस महत्त्वपूर्ण परम्परा को पोषण देते आये। कवियों की नाना भाव से परीक्षा होती थी। कोई कविता चुरा न ले, इसका भी डर बना रहता था और इसीलिए यह आवश्यक था कि कवि अपनी रचना समाप्त करने के बाद राज-सभा मे सुनाकर उस पर अपनी मुहर लगवा दे। राजशेखर ने बताया है कि जब तक काव्य पूरा न हो तब तक दूसरों के सामने उसे नही पढना चाहिए। इसमे यह डर बना रहता है कि सुननेवाला उस काव्य को अपने नाम से चला देगा, फिर कौन गवाही देगा कि किसकी रचना है। इतनी सावधानी वरतने पर भी कभी-कभी धोखा खाना पड़ता था। 'प्रबन्ध-कोष' में हर्ष कवि के वंशधर हरिहर कवि की एक मनोरंजक कथा दी हुई है। ये जब गुजरात के राजा वीरधवल के यहाँ गये थे तो वहाँ स्वयं न उपस्थित होकर अपने एक विद्यार्थी के द्वारा राजमन्त्री और राजकवि सोमेश्वर को आशीर्वाद भिजवाया। राजा और मन्त्री ने आशीर्वाद स्वीकार कर लिया, पर सोमेश्वर बुरा मान गये। उन्हें हरिहर का आचरण हिमाकत-जैसा लगा। राजकवि सोमेश्वर के इस मनोभाव को हरिहर ने गाँठ बाँध ली। दूसरे दिन राजसभा में जब सोमेश्वर ने राजा के एक प्रासाद पर खुदवाने के लिए लिखे हुए 18 श्लोकों का पाठ किया तो हरिहर ने कहा कि ये श्लोक पुराने है और महाराज भोज के प्रासाद पर खुदे हुए है। पढकर सारे श्लोक सुना भी दिये। सोमेश्वर तो इस अपवाद से पानी-पानी हो गये। उनका मुँह पीला पड़ गया। उनकी भद्द उड़ गयी। कवि के सम्मान को इस प्रकार एक ही धक्के मे गिराकर विजयी हरिहर चले आये। लेकिन श्लोक सचमुच ही सोमेश्वर के थे। जब वे फिर हरिहर के शरणापन्न हुए तब हरिहर कवि ने रहस्य खोला। हरिहर बड़े मेधावी थे। एक बार सुनकर ही श्लोक याद कर लेते थे। राजा वीरधवल से उन्होने अपनी चतुरता की बात बताकर सोमेश्वर की मान-रक्षा की। राज-सभा मे कवियों की प्रतिस्पर्धा की कहानियो से पुराना साहित्य भरा पड़ा है। ये कहानियाँ सिद्ध करती हैं कि कवि को धन और कीर्त्ति प्राप्त करने के लिए राज-

सभा का बड़ा ध्यान रखना पड़ता था।

काव्यपाठ का महत्त्व

गोष्ठी या राजसभा मे काव्यपाठ का महत्त्व काव्य-रचना से भी अधिक होगा। क्योंकि, जैसाकि राजशेखर ने बताया है, सुसंस्कृत आदमी चाहे तो कविता कुछ-न-कुछ बना ही लेगा, पर पढना तो वही जानता है जिसको सरस्वती सिद्ध होती है: 'करोति काव्यं प्रायुण संस्कृतात्मा यथ तथा पठितुं वेत्ति स परंयस्य सिद्धा सरस्वती।' जान पडता है कि परवर्ती काल में विकटाक्षरबन्ध और घटाटोपमयी पदावली में बड़े-बड़े छन्द लिखने की प्रथा चल पड़ी। उसका एक कारण यही था कि ऐसी पदावली पढ़ने में खूब जमती है।

काव्यकला

इन बातों को ध्यान में रखने से उस युग के काव्य-प्रयत्नो को आसानी से समझा जा सकता है। काव्य को बहुत पहले से ही कला समझा गया था। श्री ए. वेंकटसुब्बैया ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से संग्रह करके 'कलाज' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित करायी है। उक्त पुस्तिका मे संगृहीत सूचियों को देखने से जान पड़ता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते थे, जिसमे थोड़ी भी चतुराई की आवश्यकता हो। सो व्याकरण, छन्द, न्यास, ज्योतिष आदि भी कला हैं; काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, विन्दुमती, प्रहेलिका आदि भी कला हैं। स्त्रियों का शृंगार करना, कपड़ा रँगना, चोली सीना और सेज बिछाना भी एक कला है। रत्न और मोतियों का पहचानना, घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेष, कुक्कुट आदि का लक्षण भी कला है। प्राचीन ग्रन्थों से जान पडता है कि कई कलाएँ पुरुषों के योग्य समझी जाती थीं, यद्यपि कभी-कभी गणिकाएँ भी उनमे इतनी निपुण हो जाया करती थीं जितने कि पुरुष। गणित, दर्शन, युद्ध, घुडसवारी आदि ऐसी ही कलाएँ हैं। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में पंचाल की कलाएँ बतायी गयी हैं, वे ऐसी ही हैं। परन्तु स्वयं वात्स्यायन की अपनी सूची मे जिन चौंसठ कलाओं की चर्चा है, उनमें लगभग एक-तिहाई ऐसी है, जिन्हे काव्यशास्त्रीय विनोद कह सकते हैं। बाकी मे कुछ तरुण दम्पतियों की विलास-क्रीड़ा मे सहायक हैं, कुछ मनोविनोद के साधक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनो के पूरक भी हैं। यदि पंचाल और यशोधर की बात छोड़ दी जाय तो प्राचीन ग्रन्थों मे प्राप्त 64 या 72 कलाओं मे काव्यशास्त्रीय विनोदो का स्थान बहुत प्रमुख है। बाद में तो कला का अर्थ केवल कौशल ही मान लिया गया। सुप्रसिद्ध कवि क्षेमेन्द्र ने अपने कला-विलास मे गणिकाओं के धनापहरण के कौशलों को, गवैयों के हथकण्डों को, गणकों की धूर्तताओं को कला मे ही गिना है। इसमे काव्य-कला को कोई स्थान नही दिया गया। इस काल के कवि-जन अपने को कला-कोविद मानने में गर्व

अनुभव करने लगे थे। काव्य का एक कौशल हो जाने से काव्य को स्वरूप प्रदान करते समय कवि को अपने वाक्-कौशल का प्रदर्शन करना पड़ता था। वहाँ कविता यदि वचन की वक्रभंगिमा का या अलकार-विलास का रूप धारण कर ले तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

काव्य के जिन अंगों को कला माना गया है, वे उक्तिवैचित्र्य या प्रहेलिका, विन्दुमती जैसे कौशल-परक प्रयासों या समस्यापूर्ति जैसी प्रत्युत्पन्न-बुद्धि की दक्षता से सम्बद्ध हैं। इनमें आशुकवित्व का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सच तो यह है कि ये कविता से कम और कवि-कौशल से अधिक सम्बन्ध रखती है। उनका उद्देश्य मनोरंजन या विनोद है। ऐसी ही काव्य-कृतियों को ध्यान में रखकर कहा गया था कि 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम् ।'

ये कलात्मक विनोद मध्यकालीन सहृदय के एक वर्ग की साहित्यिक चेतना को स्पष्ट करते हैं।

आशुकवित्व और प्रत्युत्पन्नमतित्व

मध्ययुग मे आशुकवित्व अर्थात् किसी विषय पर तुरन्त कविता बना लेने का वड़ा सम्मान था। कई कवियों की प्रशंसा में जो कहानियाँ गढी गयी है, उनमें दो बातों के लिए कवियों की बड़ी प्रशंसा की गयी है। एक तो तुरन्त कविता बना लेने की और दूसरी प्रत्युत्पन्न बुद्धि या हाजिरजवाबी की। मदन और हरिहर दोनों प्रतिस्पर्धी कवि थे। राजा ने नियम बना दिया था कि एक की उपस्थिति में दूसरा न जाने पाये, क्योंकि झगडा हो जाने की सम्भावना बनी रहती थी। एक बार संयोग मे जब हरिहर कविता सुना रहे थे, उसी समय मदन पहुँच गये। आते ही उन्होंने गुस्से से कहा, "हरिहर परिहर गर्वं कविराजगजांकुशो मदनः" (हरिहर गर्व छोड़ो, कविराजरूपी हाथियों का अंकुश मदन आ गया)। जरा भी झिझके बिना हरिहर ने उत्तर दिया—"मदन विमुद्रय वदनं हरिहर चरितं स्मरातीतम्" (मदन, मुँह बन्द करो, हरि और हर का चरित मदन के बूते के बाहर है)। सो, ठन गयी दोनों कवियो की! अन्त मे राजा ने जब एक नारियल पर सौ-सौ श्लोक लिखकर सबसे पहले देनेवाले को श्रेष्ठ कवि घोषित करके विवाद को हमेशा के लिए समाप्त कर देना चाहा, तो मदन ने थोड़ी ही देर में सौ श्लोक दे दिये, हरिहर तब तक साठ ही पर पहुँचे थे। मगर हारनेवाले कोई और ही होते है। हरिहर ने तपाक से श्लोक पढा—"अरे गँवार जुलाहा, ये गँवारिनो के लिए सौ-सौ लुगड़ियाँ बुनकर क्या मशक्कत कर रहा है! एक कोई ऐसी साडी बुन जिसे बड़े-बड़े राजाओं की प्रियाएँ क्षण-भर के लिए अपने वक्षःस्थल से हटाना गवारा न कर सकें।"

रेरे ग्रामकुविंद कन्दलतया वस्त्राण्यभूनित्वया।
गोणीविभ्रममाजनानि शतशोऽप्यात्मा किमायास्यसे

अप्येकं रुचिरं किमप्यभिनवं वासस्तदा सूच्यतां
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीमृता वल्लभाः।

पाणिनीय व्याकरण की महिमा

इस प्रकार की लाग-डाँट और हाजिरजवाबी की कहानियों से संस्कृत का परवर्ती साहित्य भरा पड़ा है। पाणिनीय व्याकरण की प्रतिष्ठा मध्यकाल में बहुत बढ़ गयी थी। इस व्याकरण की अच्छी जानकारी संस्कृत कवि के लिए प्रशंसनीय मानी जाती थी। बहुत से कवि इस व्याकरण की पटुता के कारण ख्याति पा जाते थे। इस सुचिन्तित और सुव्यवस्थित व्याकरण का ही प्रसाद था कि अनेक प्रकार की क्रियागुप्ति आदि प्रहेलिकाओं का खूब प्रचार हुआ। कभी-कभी पाणिनि के कहे हुए अप्रचलित प्रयोगों के व्यवहार के कारण कवि की खूब प्रशंसा हुई है। राजा भोज ने किसी ग्रामीण ब्राह्मण से पूछा, "नद्यां कियज्जलं विप्र!" (नदी में कितना पानी है, ब्राह्मण देवता?) उसने तपाक से उत्तर दिया—"जानुदघ्नं नराधिप!" (जंघे तक महाराज!) यहाँ दघ्नच् प्रत्यय का प्रयोग है, जो केवल व्याकरण की पोथी में ही सुरक्षित है। इस अप्रचलित प्रत्यय के प्रयोग के कारण ही राजा भोज प्रसन्न हुए थे और गरीब ब्राह्मण प्रचुर पुरस्कार पाने में समर्थ हुआ था।

संस्कृत कवि की निपुणता नीति-श्लोकों में प्रकट होती है। आलोच्य काल के कवियों ने नीति और अन्योक्तियों का ऐसा मार्मिक साहित्य रचा है कि संसार में वह इस विषय मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता। जीवन के उतार-चढ़ाव के सैकड़ों-सहस्रों अनुभवों को इन नीति-वाक्यों में संचित करके रख दिया गया है। अन्योक्तियों का साहित्य इस युग की साहित्यिक चेतना का विशद दर्शन है।

इसी प्रकार उपास्य देवताओं की स्तुतिपरक रचनाओं का भी विशाल साहित्य है। इन स्तोत्रों पर जहाँ कवि श्रद्धा और भक्ति के अतिरेक से मनोहर काव्य-जगत् का निर्माण कर सका है, वहीं उसने उपास्य को मानवीय स्तर पर भी ले आ दिया है। इन स्तोत्रों में देवताओं और देवियों की मानवीय ढंग की प्रेम-केलियों की उपेक्षा नहीं की गयी, वरन् कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से उन्हें गाढ़ भी बना दिया गया है। स्तोत्रों में रह-रहकर शृंगाररस का भाव फूट पड़ता है। बाणभट्ट का 'चण्डीशतक', मयूर का 'सूर्यशतक', शंकराचार्य का कहा जाने-वाला 'देव्यपराध क्षमापनस्तोत्र' आदि अलंकृत काव्य-शैली में लिखे गये उत्तम काव्य हैं। कभी-कभी इन भक्ति-भावित स्तोत्रों में भी देवी आदि के अंगसौष्ठव का वर्णन इस प्रकार कर दिया गया है, जिसे आज का कवि करने में कदाचित् संकोच करेगा और यदि ऐसा वर्णन करे भी तो आज का सहृदय उसे बहुत आदर नहीं देगा। बाणभट्ट के 'चण्डीशतक' का यह श्लोक देखिए :

चर्मादिस्पृशिपरस्यारचलितकमलिनी धारु कोपाभिताम्रं
भर्त्रं ध्यानानुपातं झटितिवलयिनो मुक्तबाणस्य पाणेः।

चण्ड्याः सव्यापसव्यं सुररिपुषु शरान् प्रेरयन्त्या जयन्ति
त्रुट्यन्तः पीन भागे स्तनवलेन भरात् सन्धयः कंचुकस्य ॥

('चण्डीशतक' 71)

[देवी चण्डी युद्ध कर रही है, वे अपनी कमलनयन-जैसी लाल-लाल आँखें चारो ओर दौड़ा रही है। उनका ध्यान लक्ष्य पर टिका हुआ है, दायें-बायें चारो ओर असुरों पर तेजी से बाण फेंकते समय उनकी भुजाएँ बार-बार कुण्डलित हो रही है और स्तनमण्डल के चंचल होते रहने के कारण उनकी चोली के बन्द पयोधरों के पीन भाग पर तड़ातड़ टूट रहे है। देवी की चोली के टूटते हुए बन्द तुम्हारी रक्षा करें।]

इन स्तोत्रों में भी उस युग के कवि की निरंकुशता का आभास मिल ही जाता है। परन्तु इन रचनाओं का मुख्य गुण इनका नादसौन्दर्य है। वर्णों की अविरल मैत्री, शब्दातीत अर्थ की व्यंजना करती है और अभिधेयार्थ को बहुत पीछे छोड़ जाती है। नगण्य से अर्थ को भी कवि की वर्णयोजना अद्भुत महिमा प्रदान करती है। यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है और आगे चलकर कई कवियों ने अर्थतत्व को बहुत ही निस्तेज कर दिया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट ने गंगा की स्तुति में कहे हुए जिस श्लोक को चित्रकाव्य कहकर उपेक्षणीय माना था, उसे यदि इस पदसंघटना से उत्पन्न होनेवाले शब्दातीत तत्व के प्रकाशक के रूप में देखा जाय तो कुछ अच्छा भी हाथ लग सकता है। श्लोक इस प्रकार शुरू होता है :

स्वच्छन्दोच्छदच्छ कच्छ कुहरच्छतेतरच्छटा'

और फिर अनुप्रासों का ठाट बँध जाता है। वस्तुतः इस प्रकार की ध्वनि-चमत्कारवाली रचनाएँ उन दिनों काफी लोकप्रिय थीं।

निरंकुश भाव

वस्तुत. मध्ययुग के संस्कृत कवियों के मन में शृंगाररस का बड़ा मान है। निस्सन्देह प्रेम की विविध अवस्थाओं की व्यंजना में वे बहुत ही अधिक सफल हुए हैं। परन्तु कामशास्त्रीय ग्रन्थों ने उन पर काफी असर छोड़ रखा था। इसीलिए शारीरिक — विशेषकर कामोत्तेजक अंगों के—सौन्दर्य का उन्होंने जमकर वर्णन किया है। ऐसी अवस्थाओं का भी उन्होंने खुलकर वर्णन किया है, जिनकी चर्चा आधुनिक काल की रुचि के बहुत अनुकूल नहीं है। कोई भी बहाना मिल जाय, शृंगार की चर्चा अवश्य की जायेगी। उपास्य देवी-देवताओं की विलास-कलाओं का भी उन्होंने जमके वर्णन किया है। आलोच्य काल में देवियों और देवताओं के नाम पर लिखे गये स्तोत्रों में भी शृंगार-केलियों का वर्णन रस लेकर किया गया है। इस काल में कवियों को निरंकुश कहकर प्रशंसा करना आम बात थी। कभी-कभी ऐसी कहानियाँ मिलती हैं, जिनमें इस निरंकुशता की सीमा पार कर दी गयी है। मयूर, कहानियों के अनुसार, बाणभट्ट

के श्वसुर थे। एक दिन वे बाणभट्ट के घर पर रात को पहुँचे, पुत्री और दामाद से मिलने के लिए। देर हो गयी थी, इसलिए बाहर ही पड़े रह गये। उधर घर मे बाणभट्ट की पत्नी अर्थात् मयूर की पुत्री ने मान रचा रखा था। बाणभट्ट यथानियम मनाते जा रहे थे। हाथ जोड़े, पैरों पड़े, खुशामद की, मगर प्रिया का मान भंग नही हुआ। रात बीतने को आयी। बाणभट्ट वैसे तो गद्य के ही प्रवीण कवि थे, पर ऐसे मौके पर गद्य से काम नही बनता, सो, पद्य की भाषा में ही कहने लगे :

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी सीदत इव।
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतः घूर्णितशिराः॥
प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहासि क्रुधमहो—

[हे कृशतनु, रात बीत गयी है, चन्द्रमा भी कष्ट-सा पाने लगा है, इस प्रदीप को भी जैसे नींद आने लगी है और झीमने लगा है। सुन्दरियों का मान प्रणामान्त हुआ करता है : अर्थात् पैरों पर पड़ने पर खतम हो जाया करता है, फिर भी अभी तक तुम्हारा गुस्सा नही गया, यह कितने आश्चर्य की बात है।]

गद्य का कवि तीन चरणों तक तो श्लोक घसीट ले गया। चौथे में उसकी वाणी अटक गयी। आगे क्या कहे, कुछ सूझा ही नही। दो-तीन बार तीसरा चरण पढ़-पढ़कर रुक जाता था। उधर श्वसुरजी सुन रहे थे। कवि थे, झुँझला-कर चौथा चरण बोल उठे :

कुचप्रत्यासत्त्या कठिनमपि ते चण्डि हृदयम्।

[हे चण्डि, गुस्सावर खातून, कठोर वक्षःस्थल के निकट रहने के कारण तेरा हृदय भी कठोर हो गया है।]

मयूर कवि समस्यापूर्ति के दंगल के निपुण खिलाड़ी रहे होंगे। मौका मिलते ही पूर्ति कर दी। पर बेटी ने उन्हें क्षमा नही किया। कुष्ठरोगी होने का शाप पाकर मयूर घर लौटे। मगर कविता करने का अवसर उन्होंने अपने हाथ से नही जाने दिया। निरंकुश होने का गौरव तो उन्हें मिल ही गया। यह श्लोक सुभाषितावलि में मिलता है। चौदहवी या तेरहवी शताब्दी मे मयूर और बाण के नाम पर यह कहानी बन चुकी थी। घटना सही है या नहीं यह सवाल नही है। मुख्य बात यह है कि इस प्रकार के साहित्यिक बोध का आभास मिलता है। कालिदास के बारे में भी शिव-पार्वती के विलास-केलि के वर्णन के लिए शाप-ग्रस्त होने की कहानी मिलती है। 'भोज प्रबन्ध,' 'प्रबन्धचिन्तामणि,' 'प्रबन्ध-कोश' आदि में कवियों की प्रगल्भता की कहानियाँ भरी हैं। उपास्य देवताओं की श्रृंगारलीला-वर्णन की मनोवृत्ति उस समय चरमावस्था को पहुँची दिखायी देती है, जब गाहड़वार नरेशों के अभिलेखों मे नियमतः मंगलाचरण का प्रथम श्लोक इस प्रकार लिखा मिलता है :

अकुण्ठोत्कंठ वैकुंठकंठपीठलुठत्करः।
सरम्भः सुरतारम्भे सश्रियः श्रेयसे स्तुवः।

—यह श्लोक गोविन्दचन्द्र के कमोली लेख और विजयचन्द्र के कमोली लेख मे है। अनुवाद नही करूँगा। डरता है कि आप अनुवाद सुनने के बाद मेरे विरुद्ध ऊपर को शिकायत लिख भेजेंगे—इस सर्वस्वीकृत नियम के बावजूद कि 'अनुवादी न दोषभाक्'।

यह प्रवृत्ति इन अभिलेखो में अपनी चरम सीमा पर पहुँची मिलती है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नही है कि शृंगाररस को काव्य मे स्थान मिलना अनुचित है। मैं तो सिर्फ उन दिनो के सुसंस्कृत लोगों के साहित्यिक रसबोध की प्रवृत्ति की ओर इशारा करना चाहता हूँ। काव्य मे इस प्रकार की उत्तान शृंगारिक मनोवृत्ति आधुनिक युग के पूर्व तक चलती रही। इस प्रकार का मनोभाव काम और रस या शरीर और मन की अनुभूतियों का ठीक-ठीक सामंजस्य न रखने के कारण उत्पन्न होता है। हिन्दू धर्मशास्त्रों मे जिसे त्रिवर्ग कहा गया है उसके अन्तिम दो अर्थात् काम और अर्थ को धर्म के विरुद्ध नही जाना चाहिए और न ही काम को अर्थ के विरुद्ध जाना चाहिए। तभी इनमे भारसाम्य (बैलेन्स) की रक्षा होती है। अन्तिम विश्लेषण के बाद यह पाया जायेगा कि व्यक्ति-मनुष्य पूरे समाज की एक इकाई है। उसका कोई भी कार्य ऐसा नही होना चाहिए जो सामाजिक मंगल के विरुद्ध पड़े। लेकिन साथ ही उसे अपने परिवार और स्वयं की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करनी है। अर्थ उसकी पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और काम उसके व्यक्तिगत प्रयोजनों की। जब भी कोई बात किसी व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य बतायी जाती है तभी यह देखा जाता है कि उसकी व्यक्तिगत वासनाएँ पारिवारिक या सामाजिक कल्याण के विरुद्ध न जायें। ये बन्धन नैतिक दृष्टि से अपेक्षित हैं। प्रायः नैतिक और सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण में विरोध उपस्थित होने की बात कही जाती है। यदि कवि शारीरिक स्तर पर किसी आनन्द का अनुभव करता है और उस आनन्द को दस और भले आदमियो के उपभोग योग्य रूप देता है तो उसमें दोष क्या है ? हम रस-सम्बन्धी अपने व्याख्यान में इस प्रश्न को उठायेंगे। यहाँ केवल इतना कहकर ही समाप्त करते है कि आलोच्य काल में कामशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय विचारों में वैषम्य उत्पन्न करने योग्य गड़बड़ी सहृदय-समाज में जम गयी थी।

मैंने आलोच्य काल के सहृदयों की साहित्यिक संवेदना दिखाने के लिए अब तक अधिकतर मुक्तक काव्य का ही सहारा लिया है। इस युग के साहित्य मे काव्यशिक्षा पर बल दिया गया था और संस्कृत-जैसी सुव्यवस्थित भाषा के साहित्य-शब्दों का सुन्दर उपयोग किया गया था। यद्यपि ये कवि बहुत बड़ी चीज नही दे सके हैं, तथापि इनका प्रयास नितान्त निम्नकोटि का नही है। पश्चिमी विद्वान् भी यह मानते है। श्री कीथ ने कहा है—"संस्कृत कवियों को एक ऐसी भाषा पर अधिकार प्राप्त था, जिसमें अपने सर्वोत्तम रूप में अवस्थित ग्रीक भाषा से भी अधिक सुन्दर ध्वनिगत प्रभाव उत्पन्न किये जा सकते थे। वे लोग

अत्यधिक जटिल किन्तु उल्लेखनीय सुन्दरतावाले छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर सकते थे और साथ ही ध्वनि का अर्थ के साथ सामंजस्य उपस्थित करने में वे अनुभवी एवं दक्ष थे। इस अन्तिम कला का अभ्यास ग्रीक एवं रोमन कवियों ने भी समान रूप से किया है, किन्तु उसके पास इसके लिए उतने समुचित साधन न थे और इस कला में सूक्ष्मता का निर्वाह भी वे कम कर पाये हैं। संस्कृत कवियों ने बहुधा अनुप्रास का आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया है, किन्तु उसका प्रभावोत्पादक ढंग से प्रयोग करने की अपनी शक्ति में वे वरजिल से मिलते-जुलते हैं। अनुप्रास के प्रभावजनक प्रयोग का इस कला में वरजिल के अनुयायी विशेषतः लूकान उल्लेखनीय रूप से हीन पड़ते हैं। उपमा और रूपक के प्रति अपने अनुराग के कारण संस्कृत कवियों में कभी-कभी रुचि-सम्बन्धी दोष आ गये हैं, और उनमें विवेचन-शक्ति की सम्पन्नता और सौष्ठवयुक्त पदावली के प्रयोग की शक्ति दिखायी पड़ती है, जिसकी समता ग्रीक या लैटिन कविता में नहीं पायी जाती। इसके अतिरिक्त, भले ही हमें उनके श्लेष सहज में ही मन को उकतानेवाले जान पड़ें, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्हें प्रायः ठीक ही द्विविध औचित्य का निदर्शन बताया जाता है। अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग भी बहुत-कुछ भाषणकला-सम्बन्धी उस ढंग से उत्कृष्टतर है, जिसका आरम्भ लैटिन कविता में वक्तृत्वकला की शिक्षा देनेवाले विद्यालयों में व्याख्यानों के अभ्यास से हुआ था और जिसका जुवेनल ने इतना अधिक उपहास किया है।"

इस प्रकार आलोच्य काल के कवि ने अपने ही समय के उत्कृष्ट साहित्यिकों की तुलना में उन्नततर कोटि का साहित्य दिया है। परन्तु अपने देश के श्रेष्ठ साहित्य की तुलना में वे बहुत अच्छा नहीं दे सके हैं।

रस का व्यावहारिक अर्थ

यह तो भारतीय साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि रस काव्य का सर्वोत्तम सार है। आप किसी भारतीय विद्यार्थी से इसकी व्याख्या पूछकर देख सकते हैं। वह छूटते ही नौ रसों का नाम गिना देगा और यदि थोड़ा भी गहराई में उतरा होगा तो अनुभाव, विभाव, संचारी भावों की व्याख्या करके आपके धैर्य को आसानी से हिला देगा। परन्तु आप अगर उससे इस स्थायी संचारी भावों के उदाहरण पूछें तो आश्चर्य के साथ देखेंगे कि यद्यपि उसने रस नौ गिनाये हैं तथापि उदाहरण बराबर शृंगाररस के देता जायेगा। जिन पोथियों को उसने पढ़ा है, उनमें भी आपको यही बात मिलेगी। वीभत्स या शान्त या भयानक रस के एकाध उदाहरण भूले-भटके ही दिख पायेंगे। निस्सन्देह इन ग्रन्थों और ग्रन्थाभ्यासियों के उद्धृत उदाहरण को देखकर आप इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि यद्यपि सिद्धान्त रूप मे नौ रस माने जाते रहे हैं, पर सही बात यह है कि व्यवहार में अधिकाश लोगो ने शृंगाररस को ही 'रस' माना है। यह बात सुनने मे आपको शायद अच्छी न लगे, पर है सही। हमारे लिए यह बड़े काम की है, क्योंकि हम तो शास्त्रों के सिद्धान्त की बात करने नहीं चले हैं, हम तो लोक-जीवन के व्यवहार को ही समझने के प्रयासी हैं। परन्तु पुरानी पोथियो को थोड़ा ढूँढ़िए तो बड़ी आसानी से समझ में आ जायेगा कि नौ रसोंवाली बात एक क्षेपक ही है और असल में दीर्घकाल से रस का अर्थ शृंगार ही समझा जाता रहा है। क्षेपक का भी अपना महत्त्व है। और उसी का प्रधान हो उठना तो निश्चित रूप से एक विशेष मनोवृत्ति का सूचक है।

किसी कवि ने जब कहा था कि काव्यशास्त्र के विनोद से बुद्धिमानों का काल कटता है। (काव्यशास्त्र-विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्), तो उसने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात बतायी थी। भारतवर्ष का एक जमाना ऐसा गया है जब बहुत-से काव्य विनोद के लिए लिखे गये थे। पुरानी पोथियों मे काव्य के अनेक उद्देश्य गिनाये गये हैं—वे यश के लिए, धन के लिए, व्यवहारज्ञान के लिए, अनिष्टनिवारण के लिए, मोक्ष के लिए और कान्ता-सम्मत उपदेश के लिए लिखे जाते हैं। पर यह नही कहा गया है कि वे विनोद के लिए या विलास के लिए भी लिखे गये हैं। परन्तु अगर ध्यान से विचार कर देखिए तो कवि को यश और धन काव्य से क्यों मिलते थे? निश्चय ही धनी लोगों से धन मिला करता होगा और साधारण जनता से यश। दोनों के ही व्यवहार मे आने लायक चीज जब

तक न हो तब तक दोनों ओर से सम्मानित होने का कोई हेतु नहीं है। वस्तुतः आलंकारिकों ने जो काव्य के उद्देश्य बताये हैं वह कवि को दृष्टि में रखकर, पाठक को नहीं। पाठकों की ओर से भी यदि उन्हें काव्य के उद्देश्य की बात कहनी होती तो वे निश्चय ही बताते कि काव्य दिल बहलाने के लिए, चतुर होने के लिए और नैतिक बल के दृढ़ीकरण के लिए बनते हैं। प्रस्तुत प्रसंग मे हमे केवल इतने तक ही अपने को सीमित रखना है कि उस युग मे मनुष्य-जीवन मे काव्य-विनोद का बड़ा प्रभाव था। धनी और सम्भ्रान्त लोगों के अतिरिक्त अन्य बुद्धिमान लोग भी काव्य-रस का आस्वादन करते थे और वह रस' मुख्य रूप से शृंगार हुआ करता था। मैंने यह बात एक बार पण्डितों की एक मण्डली मे कही थी। उस समय थोड़ी नाराजगी भी प्रकट की गयी थी। मुझे ऐसा लगा कि शृंगाररस को भारतीय काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपाद्य मानने को कुछ विद्वान् इसलिए अनुचित समझते थे कि उनकी दृष्टि से शृंगाररस निचली कोटि की स्त्रैण वृत्ति है। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग इस प्रकार नही मानते। रस-वस्तु, लौकिक घटनाओं का नाम नही है। परन्तु मैं अपनी बात और भी विशद रूप से समझाने का मौका आगे खोज निकालूंगा। यहाँ मैं 'रस' शब्द की प्राचीन परम्परा का विवेचन कर लेना चाहता हूँ। बिना ऐसा किये हम अपने अभिलषित रसलोक का ठीक-ठीक अन्दाजा नही लगा सकेंगे।

राजशेखर नामक कवि और आचार्य, कान्यकुब्ज के राजा महेन्द्रपाल (903-908 ई) के उपाध्याय थे और इस बात का भी सबूत है कि उक्त राजा के पुत्र और उत्तराधिकारी महीपाल के भी सभा-पण्डित रहे। उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहान वंश की राजकन्या थीं, वे पति के ही समान तीक्ष्णबुद्धि और प्रतिभाशालिनी थी। राजशेखर को कवि और नाटककार के रूप मे बहुत पहले से ही लोग जानते थे। कुछ दिन पहले उनका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ काव्य-मीमांसा का एक अध्याय मिला है। बड़ोदा से निकलनेवाली संस्कृत पुस्तकमाला मे यह पुस्तक छप चुकी है। छप ही नही चुकी है उसके कई संस्करण भी हो चुके हैं। हिन्दी मे भी इसके दो अनुवाद प्रकाशित हो गये हैं। काव्य-मीमांसा' नाना दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमे बहुत ज्ञातव्य बातें संगृहीत है, जो केवल काव्य के कल्पलोक के सिद्धान्त की ही खबर नही देती बल्कि व्यावहारिक जगत् के समाचार भी देती हैं। रस की नीरस चर्चा का आरम्भ इस सरस का नाम लेकर ही हम शुरू कर रहे हैं।

राजशेखर ने 'काव्य-मीमासा' के आरम्भ में ही काव्य-विद्या के अठारह अंग और उनके प्रवर्तक आचार्य इस प्रकार बताये हैं :

1. कवि रहस्य के सहस्राक्ष, 2. औक्तिक के उक्ति गर्भ, 3. रीतिनिर्णय के सुवर्णनाभ, 4. आनुप्रासिक के प्रचेतायन, 5. यमक के चित्रांगद, 6. चित्रकाव्य के चित्रागद, 7. शब्दश्लेष के शेष, 8. वास्तव के पुलस्त्य, 9. औपम्य के औपकायन, 10. अतिशय के पराशर, 11. अर्थश्लेष के उतथ्य, 12. उभयालंकारिक

के कुबेर, 13. वैनोदिक के कामदेव, 14. रूपकनिरूपणीय के भरत, 15. रसाधिकारिक के नन्दिकेश्वर, 16. दोषाधिकरण के धिषण, 17. गुणोपदानिक के उपमन्यु, 18. औपनिषदिक के कुचुमार।

इस प्रकार अठारह अंगों और आचार्यों की बात प्रायः सभी शास्त्र करते हैं। अठारह की संज्ञा भारतीय साहित्य में बहुत लोकप्रिय है। पुराण अठारह हैं, स्मृतियाँ अठारह हैं, महाभारत में अठारह पर्व हैं, और गीता में अठारह अध्याय हैं। ज्योतिष के प्रवर्त्तक अठारह आचार्यों और इसी प्रकार अन्य विषयों के भी अठारह आचार्यों का उल्लेख मिल जाया करता है। जब राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' का उद्धार हुआ तो देखा गया कि काव्य-विद्या के भी अठारह ही आचार्य हैं। राजशेखर ने अपने इस वृहद् ग्रन्थ को अठारह ही खण्डों में पूरा किया था। दुर्भाग्यवश इसका पहला खण्ड 'कविरहस्य' ही अब तक उपलब्ध हो सका है। इसमें भी उन्होंने अठारह ही अध्याय रचे थे। बहुत दिनों तक पण्डितों में यह जल्पना-कल्पना चलती रही है कि राजशेखर की सूची कल्पना-प्रसूत है या किसी अब तक अज्ञात खोयी हुई काव्य-परम्परा के आधार पर लिखी गयी है। जल्पना-कल्पना अब भी जारी है। ऐसा जान पड़ता है कि उक्त सूची का किसी परम्परा पर आधारित होना ही अधिक युक्तसंगत है। इसे कल्पना-प्रसूत सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी जाती है, उनमें मुख्य यह है कि इसके नाम अधिकांश में अश्रुतपूर्व और पौराणिक हैं। फिर इसमें राजशेखर ने अनुप्रास भिड़ाने की भी कोशिश की है, यह भी उसके काल्पनिक होने का सबूत है। वस्तुतः ये दोनों दलीलें लचर है। इनमें कितने ही नाम तो निश्चयपूर्वक पहले के जाने हुए और ऐतिहासिक है। जो अभी तक नहीं जाने हुए है, उनके लिए अनुसन्धान की जरूरत है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में नन्दिकेश्वर, सुवर्णनाम और कुचुमार का नाम पाया जाता है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही बताया गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि करके उनकी स्थिति के लिए धर्म, अर्थ और काम, इन त्रिवर्गों के साधन के लिए एक लाख अध्यायों का ग्रन्थ रचा। उसके एक-एक वर्ग को अलग-अलग करके क्रमशः मनु, वृहस्पति और महादेवानुचर नन्दी ने धर्म, अर्थ और काम के ग्रन्थों की रचना की। नन्दी का ग्रन्थ हजार अध्यायों का था। उसे औद्दालिक श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। इसमें सात अधिकरण थे—साधारण, साम्प्रयोगिक, कन्यासम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक और औपनिषदिक। इन सातों को निम्नांकित आचार्यों ने अलग-अलग सम्पादित किया (वैशिक का सम्पादन दत्तक ने पाटलिपुत्र की वेश्याओं के अनुरोध पर किया था):

	आचार्य	अधिकरण
1.	चारायण	साधारण
2.	सुवर्णनाम	साम्प्रयोगिक
3.	घोटकमुख	कन्यासम्प्रयुक्तक

	आचार्य	अधिकरण
4.	गोनर्दीय	भार्याधिकारिक
5.	गोणिकापुत्र	पारदारिक
6.	दत्तक	वैशिक
7.	कुचुमार	औपनिषदिक

इस सूची को देखने से जान पड़ता है कि कामशास्त्र के प्रवर्त्तक कई आचार्य काव्य-विद्या के भी प्रवर्त्तक हैं। साम्प्रयोगिक के आचार्य सुवर्णनाम रीतिनिर्णय के भी प्रवर्त्तक हैं और कुचुमार या कुचमार दोनों विद्याओं के औपनिषदिक अधिकरणों के प्रवर्त्तक हैं। सम्पूर्ण कामशास्त्र के आदि संक्षेपक नन्दिकेश्वर (महेश्वरानुचर नन्दी) काव्यविद्या के रसाधिकारिक के प्रवर्त्तक हैं। हाल ही मे नन्दिकेश्वर नामक एक आचार्य का **अभिनय-दर्पण** भी उपलब्ध हुआ है। राजशेखर का मतलब किस नन्दिकेश्वर से है, इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

भरत का रूपक-निरूपण तो प्रसिद्ध ही है। यह सब देखते हुए यह तो कहना अनुचित ही जान पडता है कि राजशेखर की सूची काल्पनिक है। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने किसी प्राचीन परम्परा को ही अपना आधार माना है। ध्यान देने की बात यह है कि राजशेखर के काव्य-विद्याओं में ध्वनि का नाम नहीं है। पुरानी अलंकारशास्त्रीय पोथियों मे ध्वनि या व्यंग्यार्थ की कोई चर्चा नही है। नवी शताब्दी के आरम्भ में आनन्दवर्द्धन नामक एक शक्तिशाली पण्डित ने **ध्वन्यालोक** नामक पुस्तक लिखी और यह स्थापित किया कि ध्वनि ही काव्य का आत्मा है। बिना ध्वनि के काव्य निर्जीव हो जाता है। अलंकार या रीति उसे प्राणवान नहीं बना सकते। अब यदि यह सूची काल्पनिक होती तो ध्वनि का नाम इसमें जरूर आता, क्योंकि राजशेखर के काल में यह सम्प्रदाय काफी प्रबल हो चुका था। यह कहना ठीक नहीं कि या तो राजशेखर को ध्वनि का पता नही होगा या वे उसके विरोधी होंगे, क्योंकि 'काव्य-मीमांसा' (पृ. 16) में किसी आनन्द नामक आचार्य का नाम आया है, जो वस्तुत: आनन्दवर्द्धन ही हैं। इस बात को 'काव्य-मीमांसा' (तृतीय संस्करण, पृ. 156) के विद्वान् सम्पादकों ने सिद्ध कर दिया है। राजशेखर ध्वनिमत के विरोधी होंगे—इस कथन का आसानी से खण्डन किया जा सकता है। हेमचन्द्र के **काव्यानुशासन** में एक श्लोक राजशेखर के नाम का है, जिसमें कहा गया है कि काव्यशास्त्राभिनिवेशमूलक अति गम्भीर ध्वनि से आनन्दवर्द्धन ने जिसका आनन्दवर्द्धन नही किया। श्री रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि का अनुमान है कि औक्तिक नामक ग्रंथ में राजशेखर ने वाच्य, लक्ष्य, गौण और व्यंजक शब्दों की चर्चा की होगी। इसी ग्रंथ मे उन्होंने ध्वनि का विचार किया होगा, परन्तु जब तक भारतीय काव्य-शास्त्र के सौभाग्य से उक्त ग्रंथ नही मिल जाता तब तक शास्त्रीजी के अनुमान के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नही जा सकता। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' (पृ. 18) में जिस 'उक्ति-कवि' का उदाहरण दिया है, उस पर 'उक्ति' शब्द का ऐसा अर्थ नहीं

किया जा सकता जैसा कि शास्त्रीजी ने किया है। स्वयं शास्त्रीजी ने उक्त उदाहरण पर टिप्पणी करते हुए बताया है कि यहाँ उक्ति से सौन्दर्यपूर्ण उपस्थापन का तात्पर्य है। इसके लिए कवि को समाधि नामक गुण का आश्रय ग्रहण करना चाहिए (पृ. 189)। ऐसा जान पड़ता है कि ऊपर की सूची किसी अति प्राचीन काल से चली आती हुई परम्परा से ली गयी है। यह परम्परा ध्वनि-सम्प्रदाय के जन्म से पहले की है।

इस प्रसंग मे और भी एक ध्यान देने की बात है। राजशेखर के काव्याधिकरणो के साथ रुद्रट के काव्यांगो का बहुत-कुछ मेल दिखाया जा सकता है। कविरहस्य, औक्तिक और रीतिनिर्णय के बाद राजशेखर चार शब्दालंकारों और चार ही अर्थालंकारों की चर्चा करते हैं। ये अलंकार इस प्रकार हैं: (1) अनुप्रास, यमक, यमकचित्र और शब्दश्लेषण—चार शब्दालंकार तथा (2) वास्तव, औपम्य, अतिशय और अर्थश्लेष—चार अर्थालंकार। नवां उभयालंकार भी इसी प्रसंग मे याद कर लिया जा सकता है। अब रुद्रट के शब्दालंकार पाँच हैं। पहला वक्रोक्ति और बाकी हू-ब-हू वे ही जो राजशेखर के हैं (पृ. 13)। इसी प्रकार अर्थालंकार भी रुद्रट के हू-ब-हू वही है जो राजशेखर के। इन्होने अलंकारों के अनेकानेक भेद कल्पित करके अपने ग्रन्थ का विस्तार किया है। शब्दालकारों की चर्चा करने के पहले रुद्रट ने अपने ग्रन्थ कविरहस्य (प्रथमाध्याय) में वाक्य और शब्दभेद तथा रीतियों (211-4) का यथाक्रम वर्णन किया है। अब अगर शुरू से ही मान लिया जाय कि राजशेखर और रुद्रट का क्रम एक ही है, जो नि.सन्देह है, तो औक्तिक नामक अधिकरण वही हो सकता है, जिसे रुद्रट ने वाक्य-शब्द-भेद कहा है। इस प्रकार भी औक्तिक में ध्वनि का अन्तर्भाव कष्टकल्पित ही जान पड़ता है। पर एक और भी सम्भावना है। शायद वक्रोक्ति नामक अलंकार को राजशेखर ने औक्तिक कहा हो; क्योंकि जब आठ अलंकारो की चर्चा हू-ब-हू मिल जाती है तो कोई कारण नही कि वक्रोक्ति को त्याज्य समझा गया हो। अब इन ग्यारह-बारह अंगों का रुद्रट के साथ मिल जाना ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि राजशेखर की सूची निराधार और काल्पनिक नहीं है। रुद्रट के ग्रन्थों में रस, गुण और दोषो की भी चर्चा है। राजशेखर ने रुद्रट का अनुकरण किया होगा, ऐसा अनुमान करने की अपेक्षा यह अनुमान करना अधिक उचित जान पड़ता है कि दोनों ने एक साधान्य परम्परा से ही अपने-अपने ढंग पर काव्यांगों को ग्रहण किया था।

काव्यविद्याओं के सिलसिले में उक्ति, रीति, शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार, गुण और दोष आदि बातें अलंकारशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी की जानी हुई हैं। यहाँ हमे उनके विषय में कुछ कहने की इच्छा नही है। चार बातें राजशेखर ने जो अधिक बतायी हैं वे भी नयी-सी दिखने पर भी वस्तुतः इस शास्त्र के विद्यार्थियों की अपरिचित नही हैं। ये चार बातें हैं - वैनोदिक, रूपकनिरूपणीय, रसाधिकारिक और औपनिषदिक। जो बात इसमे नयी है वह यह कि

राजशेखर ने इन अठारहों को बराबर का दर्जा दे दिया है, जबकि आलंकारिकों ने कभी इस अंग को और कभी उस अंग को प्रधान और अन्यान्य को गौण बताया है। इन समस्त अंगों को, जिनमें कई-कई को एक ही अंग में अन्तर्भुक्त किया जा सकता था—अलग-अलग स्वतन्त्र अंग मान लेना ही इस परम्परा की प्राचीनता का प्रमाण है। इसीलिए जब हम अपनी चर्चा इस सूची के साथ शुरू करते हैं तो ऐतिहासिक दृष्टि से गलत रास्ते पर नहीं है। अपनी चर्चा आरम्भ करने के पहले राजशेखर की गिनायी हुई नयी-सी लगनेवाली बातों से हमारा परिचय हो जाना आवश्यक है। वैनोदिक नाम ही विनोदों से सम्बन्ध रखता है। कामशास्त्रीय ग्रन्थों में मदपान की विधियाँ, उद्यान और जलाशय आदि की क्रीड़ाएँ, मुर्गे और बटेरों (लाव-तित्तिरों) आदि की लड़ाइयाँ, द्यूत क्रीड़ाएँ, यक्षरात्रियाँ अर्थात् सुखरात्रियाँ, कौमुदीजागरण अर्थात् चाँदनी रात में जगकर क्रीड़ा करना आदि को वैनोदिक कहा गया है। ('कामसूत्र'-4)। इस अंग के प्रवर्तक कामदेव है, इस पर पण्डितों ने अनुमान लगाया है कि कामशास्त्रीय विनोद और काव्यशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे। परन्तु कामदेव नामक पौराणिक देवता और वैनोदिक शास्त्र-प्रवर्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही होंगे, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं भी हो सकता है। राजा भोज के सरस्वती कण्ठाभरण नामक बृहत् अलंकार-ग्रन्थ (5।93-96) से यह अनुमान और भी पुष्ट होता है कि कामोद्दीपक क्रिया-कलाप वस्तुतः वैनोदिक ही समझे जाते होंगे। शारदातनय के भावप्रकाश में दोनों ऋतुओं के लिए जो विलास-सामग्री बतायी गयी है वह परम्परा बहुत दूर तक ग्वाल और पद्माकर तक आकर अपने चरम विकास पर पहुँचकर समाप्त हो गयी है। यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि काव्यों को केवल काव्यशास्त्र ने ही नहीं प्रभावित किया है, 'कामसूत्र' ने भी किया है, अतः इन वैनोदिक सामग्रियों का कामशास्त्र से मिलना न तो आश्चर्य का कारण है और न कामशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण और काव्यशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण की एकता की ही निशानी है। 'कादम्बरी' (कथामुख) में बाणभट्ट ने शूद्रकवर्णना के प्रसंग में कुछ ऐसे काव्य-विनोदों की चर्चा की है जिनके अभ्यास से राजा कामशास्त्रीय विनोदों के प्रति वितृष्ण हो गया था। हमारा अनुमान है कि ऐसे ही विनोद काव्यशास्त्र कहे जा सकते हैं। वे इस प्रकार है—वीणा-मृदंग आदि का बजाना, मृगया (शिकार), विद्वत्सेवा, विदग्धों या रसिकों की मण्डली में काव्य-प्रबन्धादि की रचना करना, आख्यायिका आदि का सुनना, आलेख्यकर्म या चित्रकारी, अक्षर-च्युतक, मात्रा-च्युतक, बिन्दुमती, गूढ चतुर्थपाद, प्रहेलिका आदि। शूद्रक इन्हीं विनोदों में काल-यापन करता हुआ 'वनिता-सम्भोग-पराङ्मुख' हो सका था। इनके लक्षण तो चित्रकाव्य के प्रकरण में दिये गये होंगे, पर इनके व्यवहार के लिए देश-काल-पात्र आदि की योग्यता का वर्णन इस वैनोदिक प्रकरण में किया गया होगा। उन दिनों इस बात का बड़ा महत्त्व था। दण्डी ने ('काव्यादर्श '1-105) कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले

कवियों को श्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना करने की सलाह दी है, क्योंकि कवित्व-शक्ति के दुर्बल होने पर भी परिश्रमी आदमी विदग्ध-गोष्ठियों मे जमकर विहार कर सकता था।

रूपक-निरूपण के आचार्य भरत है, इस विषय में कोई सन्देह नही क्योंकि इनका लिखा हुआ भारतीय नाट्यशास्त्र अपने विषय की पहली पुस्तक है। रूपकों के निरूपण के लिए इससे अधिक बता सकनेवाली पुस्तक दूसरी नही है। परन्तु रूपक-निर्णय के सिलसिले मे भरत ही सबसे प्रथम जाने हुए आचार्य हैं, जिन्होंने 'रस' की इतनी विस्तृत और सुन्दर विवेचना की है। बाद के आचार्यों ने रस पर विचार करते समय एक स्वर से भारतीय नाट्यशास्त्र को ही प्रमाण मानकर विवेचना को आगे बढाया है। भरत मुनि (ना. शा. 6, 30) ने रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्तियां, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग को लेकर ही अपना वृहत्शास्त्र रचा है। ऐसी हालत में भरत को ही रस का आदिप्रवर्तक मानना उचित था। फिर भी राजशेखर ने भरत को रूपक-निरूपण का आचार्य मानकर भी उन्ही को जो रस का आदिप्रवर्तक नही माना, इसका कोई-न-कोई कारण होना चाहिए। भरत (ना. शा. 6, 15। 16) ने आठ नाट्य रसों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन आठ नाट्य रसों (शृंगार-हास्य-वीर-करुण-रौद्र-भयानक-वीभत्स-अद्भुत) को महात्मा द्रुहिण ने कहा है। द्रुहिण ब्रह्मा भी हो सकते हैं और कोई अन्य आचार्य भी। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ ग्रन्थकार का मतलब ब्रह्मा से ही है। फिर भी इस विषय में कोई सन्देह नही कि भरत को अपने पूर्ववर्त्ती किसी 'रस' सम्बन्धी ग्रन्थ के आचार्य की जानकारी थी। बल्कि यों कहना चाहिए कि 'रस' की कोई परम्परा थी जिसे अपने ग्रन्थ में भरत ने अन्तर्भुक्त कर लिया। 'भारतीय नाट्यशास्त्र' के षष्ठ और सप्तम अध्याय मे रसों और भावों की व्याख्या है। इन दो अध्यायों में जितने आनुवश्य या परम्परा-प्राप्त श्लोकों का ग्रन्थकार ने संग्रह किया है, उतने सारे ग्रन्थ मे भी नहीं किया। इसी से स्पष्ट है कि इन अध्यायों की सामग्री उन्होंने किसी अन्य मूल से ग्रहण की थी।

अब प्रश्न है कि इस परम्परा के प्रवर्त्तक आचार्य कौन थे। राजशेखर से पता चलता है कि ये नन्दिकेश्वर थे। नन्दिकेश्वर का नाम नाना भाँति से हमारे सामने आया है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में कभी उन्हें संगीत का, कभी कामशास्त्र का, कभी तन्त्र और कभी अभिनय का आचार्य माना गया है। पंचसायक नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थ में नन्दीश्वर नामक एक आचार्य का उल्लेख है और रतिरहस्य मे तो नन्दिकेश्वर नाम ही आता है। इस अध्याय के शुरू मे ही बताया गया है कि प्रजापति के कामशास्त्रीय अध्याय का संकलन महादेवानुचर नन्दी ने किया था। 'कामसूत्र' की जयमंगला टीका मे कहा गया है कि महादेव उमा के साथ देवताओं के एक हजार वर्ष तक काम-सुख का अनुभव करते रहे। वासगृह के द्वार पर स्थित नन्दी ने इसीलिए 'कामसूत्र' का प्रवचन किया। यदि उक्त टीका

की बात को प्रमाण समझें तो नन्दी पौराणिक देवता हैं। जिस ग्रंथ में साधारणत: शास्त्रकार आचार्यों को पौराणिक कल्पनाओं में ग्रथित किया गया है, उससे हम ऐसा समझ सकते हैं कि नन्दीश्वर या नन्दिकेश्वर नाम के कोई शास्त्रकार जरूर थे जिन्हें नाम-साम्य के कारण पौराणिक देवता मान लिया गया। नन्दिकेश्वर की लिखी एक अभिनय-पुस्तक सन् 1874 में पूना से सम्पादित हुई थी और अब उसे नये सिरे से अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ डॉ. मनोमोहन घोष ने कलकत्ता से प्रकाशित किया है। अभिनय-दर्पण, जैसाकि उसके नाम से ही प्रकट है, अभिनय की पुस्तक है। इसमें हाथ, पैर, मुख, दृष्टि आदि की विविध मुद्राओं का वर्णन और विनियोग (अर्थात् किस रस के अभिनय के समय कौन-सी मुद्रा का व्यवहार करना चाहिए) बताया गया है। वेबर के इतिहास से एक गान-सम्बन्धी पुस्तक नन्दिकेश्वरभरततालाध्याय का भी पता चलता है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर का नाम तीन विषयों के साथ प्रधान रूप से जड़ित है : गान, नाच और कामशास्त्र। कुछ पण्डितों का विश्वास है कि कामशास्त्रीय आचार्य नन्दिकेश्वर ही प्रधान है। अभिनय और गान कामशास्त्रीय विनोद के ही अंग हैं। इन पण्डितों ने कहा है कि राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट रसाधिकरण के आचार्य नन्दिकेश्वर वस्तुत: कामशास्त्र के ही आचार्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यशास्त्र में जब तक रसाधिकरण निपुण भाव से गूँथ नहीं दिया गया था, तब तक रस शब्द का अर्थ शृंगाररस ही था। भरत जब कहते हैं कि नाट्य मे आठ रस होते हैं तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि काव्य मे नौ या दस रस होते हैं। परन्तु ऊपर की व्याख्या को ध्यान में रखकर अगर इस कथन का अर्थ किया जाय तो इसका अर्थ यह भी होता है कि अन्यत्र रस एक या दो हो सकते हैं पर नाट्यशास्त्र मे आठ होते है। ऐसा अर्थ समझने के पक्ष मे प्रबल युक्ति यह है कि काव्य मे बहुत बाद मे चलकर रसो का अन्तर्भुक्त किया गया है। प्राचीन आचार्यों में दण्डी और भामह रस की चर्चा करते ही नहीं, ऐसा तो नहीं है, पर वे वक्रोक्ति या स्वभावोक्ति आदि अलंकारो से अधिक महत्त्व नहीं देते। फिर ऐसा एक भी काव्यविवेचक आलकारिक नही है जो भरत के पहले हुआ हो। सब पर भरत का प्रभाव है। ऐसी हालत में यह कैसे मान लिया जा सकता है कि भरत ने काव्य के रसों को दृष्टि में रखकर ही लिखा था कि 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'। जब काव्य के नौ या दस रस उनके सामने थे ही नहीं, तो निश्चय ही किसी और शास्त्र के रस ने नाट्य-रस को अलग करने के लिए उपर्युक्त बात लिखी थी। यह रस क्या था ? सम्भवत: यही नन्दिकेश्वर का रसराज शृंगाररस था। बड़ी विचित्र बात यह है कि शृंगाररस को ही 'आदिरस' या 'आद्यरस' कहा जाता है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में रसेनशय्या स्वयमभ्युपागता श्लोक में 'रस' शब्द का एक अर्थ शृंगाररस ही समझा जाता है।

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि 'भारतीय नाट्यशास्त्र' के प्रभाववश काव्य में नाट्यशास्त्रीय आठ रसो के साथ एकाध अन्य रस को मिलाकर रसों की

संख्या बढ़ा ली गयी, परन्तु समूचे काव्य-साहित्य में शृंगाररस का ही प्राधान्य बना रहा। ऐसे अनेक आचार्य हुए जो एकमात्र शृंगाररस को ही रस समझते रहे। रुद्रभट का शृंगार तिलक ऐसा ही ग्रन्थ है। भोजराज ने अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में यद्यपि दस रस माने हैं, पर अधिक जोर शृंगार पर ही दिया है। 'शृंगार प्रकाश' में राजा भोज ने शृंगार को ही एकमात्र रस माना था। शारदातनय का 'भावप्रकाश', शिंगभूपाल का 'रसार्णव' और भानुदत्त की 'रस-मंजरी' और 'रस-तरंगिणी' ऐसे ही ग्रन्थ हैं। यह परम्परा बड़ी दूर तक चलती रही। हिन्दी के रीतिकाल में यह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची। केशवदास की 'रसिकप्रिया', तोष की 'सुधा-निधि', चिन्तामणि का 'कविकुलकल्पतरु', मतिराम का 'रसराज', रसलीन के 'रसप्रबोध' और 'अंगदर्पण', देव की 'प्रेमचन्द्रिका', और 'रसविलास', भिखारीदास का 'शृंगारनिर्णय', और पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि ग्रन्थ शृंगार की महिमा प्रतिष्ठित करने में अतुलनीय है। उत्तरकालीन ब्रजभाषा का साहित्य मुख्य रूप से शृंगाररस का साहित्य है।

इस विवेचना से सिद्ध होता है कि भारत के पूर्ववर्ती काल में 'रस' शब्द का अर्थ शृंगार ही समझा जाता था और यद्यपि परवर्ती आचार्यों के शक्तिशाली ग्रन्थों ने इस अर्थ को बहुत-कुछ दबा दिया था, पर वह बिल्कुल लुप्त कभी नहीं हुआ। कवियों का एक समूह बराबर इस रस को ही एकमात्र या प्रधान रस मानता रहा। हजारों वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में इस समूह के कवियों की कभी भी कमी नहीं हुई।

इस प्रकार राजशेखर ने जिस अठारह अंगवाली काव्यविद्या का उल्लेख किया है, उसकी विवेचना से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि काव्य के भिन्न-भिन्न अंग किसी युग में यद्यपि समान भाव से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे, फिर भी आदिरस या शृंगार का स्थान उसमें अतुलनीय था। किस प्रकार काव्य में 'रस' प्रधान पद पर अधिकार कर सका और यह विश्वास किया जाने लगा कि रस ही काव्य की आत्मा है और जहाँ रस है वही काव्य है और जहाँ रस नहीं है वहाँ सब होते हुए भी काव्यत्व नहीं है, यह एक लम्बी कहानी है। हमारी यह इच्छा नहीं है कि 'रस' के सम्बन्ध में जो अति सूक्ष्म विचार किये गये हैं उन्हें यहाँ उपस्थित किया जाये। हमने इस उद्देश्य से इस अध्याय का आरम्भ नहीं किया था। हमारा उद्देश्य प्राचीन आचार्यों की विशेष दृष्टि को समझना था। उस उद्देश्य को सामने रखकर ही हम अब तक की बातें करते रहे हैं। अब भरत और उनके अनुयायियों के अनुसार रस की स्थिति समझने का प्रयत्न किया जाय। भारतीय परम्परा में नायक, 'फल'-भोक्ता को अर्थात् नाटक (या काव्य या कथा) के फल को प्राप्त करनेवाले को कहा गया है जबकि आधुनिक नाट्यशास्त्री नायक या नायिका उसे मानते हैं जिसके साथ सामाजिक सहानुभूति हुआ करती है। इनमें नाटककार द्वारा प्रयुक्त कौशल से एक ऐसी शक्ति केन्द्रित होती है जो निपुण अभिनय के द्वारा उपस्थित किये जाने पर सामाजिकों की समवेदना और

सामान्यानुभूति आकर्षित करती है। खलनायक सहानुभूति नहीं पाता। उसमें कुछ ऐसा औद्धत्य या आचरणगत अनौचित्य होता है, जो सामाजिक वितृष्णा और क्रोध को उद्रिक्त करता है। भरत द्वारा निर्धारित रूपकों में नाटक और प्रकरण के नायक, नायिका और प्रतिनायक इस कोटि के कहे जा सकते हैं। नाट्यशास्त्र में जितने प्रकार के रूपक बताये गये हैं, उनमें प्रथम और उत्तम श्रेणी के नाटकों में केवल दो ही रस है—शृंगार और वीर। ये ही दो रस मुख्य हो सकते है। दो रस और भी मुख्य कहे गये है—रौद्र और वीभत्स। इस प्रकार चार रस ही मुख्य बताये गये है—शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स। इनके अभिनय मे क्रमशः विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप होता है। बाकी चार इन्हीं चारों से उद्भूत होते है। शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, वीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण ('दशरूपक' 43-45)। इस प्रकार ये आठ रस बनते हैं। सामाजिक चित्त मे विकास और विस्तार होता है तो उसे सुख मिलता है और क्षोभ और विक्षेप होता है तो दुःख। इसलिए कुछ आचार्य रस को सुख-दुःखात्मक बताते है। दूसरे आचार्य ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि ये नाटक के विक्षेप और क्षोभ लौकिक विक्षेप और क्षोभ से भिन्न होने के कारण आनन्द-जनक ही होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि शृंगाररस से चित्त मे विकास और वीररस से विस्तार होता है। इन दो रसों का नायक अनायास ही सामाजिक की समवेदना और सहानुभूति आकर्षित करता है। यही कारण है कि पूर्णांग रूपकों में इन दो रसो का ही प्राधान्य है। विकास और विस्तार को एक शब्द में 'विस्फार' कहा जाता है। इस विस्फार के कारण नाटक मे वीररस और शृंगाररस मुख्य होते है। नाटक और रसों से बनते ही नहीं। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रों में त्रासदी (ट्रेजेडी) श्रेणी के नाटकों का महत्त्व है। परन्तु भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने 'करुण'-रस को नाट्य-रस मानते हुए भी ऐसे उत्तम कोटि के रूपकों की कल्पना भी नहीं की जो शोकान्त हों। परन्तु नाटक में यदि नायक या नायिका उसे माना जाये जो सामाजिकों की सहानुभूति आकृष्ट कर सके, तो ऐसे नायक भी सामाजिक की सहानुभूति आकृष्ट कर सकते है जो चरित्रबल में तो उदात्त हो पर किसी दुर्बलता—जैसे आदमी न पहचानने की क्षमता, दैववश अनुचित कार्य कर बैठने की भूल, अत्यधिक औदार्य आदि—से कष्ट में पड़ जाते हों। पश्चिमी देशों मे ऐसी परिस्थितियों के शिकार उदात्त और ललित श्रेणी के नायकों की कल्पना की गयी है। हर समय उनका स्थायी भाव शोक ही नहीं होता। कई बार नायक के चित्त मे उत्साह, रति आदि भाव ही प्रबल होते हैं, केवल परिणाम अनिष्ट-प्राप्ति होता है। सामाजिक के चित्त को सहानुभूतियुक्त बनाने के हेतु नायक के स्वभाव मे स्थित मानवीय गुण ही होते हैं, उसके दुःख पाने से सामाजिक के चित्त मे जो क्षोभ पैदा होता है वह उसे और भी तीव्रता के साथ नायक की ओर ठेलता है। इस प्रकार के रूपकों की कल्पना भारतीय नाट्य-परम्परा में नहीं हुई। उत्सृष्टिकांक आदि में यह रस भारतीय

वृत्ति द्वारा सूच्य और अप्रत्यक्ष होता है। अधिकतर अंग रूप में इसका चित्रण कर दिया जाता है। इसलिए ऐसे नायक भी इस परम्परा में नहीं मिलते।

कुछ आचार्य केवल शृंगाररस को ही एकमात्र रस मानते हैं। इसका कारण यह है कि यही एकमात्र रस है जहाँ सहृदय आश्रय और आलम्बन दोनों से तादात्म्य स्थापित कर सकता है और इससे किसी पक्ष को पराभव की अनुभूति नही होती। वीररस भी इनके मत से एक पक्ष का पराभव होने के कारण अपूर्ण रह जाता है। भरत ने स्पष्ट ही नाट्य में आठ रस स्वीकार किये हैं। इसीलिए यह मत भारतीय परम्परा मे पूर्णतया मान्य नही हो सका।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमे लगता है कि यद्यपि शास्त्रीय विचार के समय रसो की संख्या आठ या नौ बतायी गयी है, पर व्यवहार में रस का अर्थ शृंगार ही था। भरत के पूर्णांग रूपकों मे शृंगार के साथ वीर को भी स्थान मिला है। दर्शक के चित्त को विस्फारित करने की दृष्टि से यह ठीक ही है, पर साधारण रूप मे कवियों और सहृदयों मे शृंगार की महिमा ही प्रतिष्ठित थी।

हमारे आलोच्य काल मे शास्त्रीय विचार का बहुत विकास हुआ। इसमें भरत द्वारा स्थापित सिद्धान्तो में बहुत थोड़ा ही परिवर्तन हुआ। रस-संख्या कभी-कभी बढ़ा देने का भी प्रयत्न हुआ, पर शृंगाररस व्यवहार मे सदा महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी बना रहा।

इस काल का सहृदय सरस काव्य का अर्थ शृंगारी काव्य ही मानता रहा और लोक-चित्त मे कवि का शृंगारी रूप ही प्रतिष्ठित रहा। दीर्घकाल मे लोकचित्त में व्याप्त धारणा को शास्त्रीय ग्रन्थ बहुत अधिक शिथिल नही कर सके।

रस : कवियों का साक्ष्य

हमारे देश का, और कदाचित् सारे संसार का, सबसे पुराना उपलब्ध साहित्य वैदिक संहिताएँ है। वे क्रान्तिदर्शी ऋषि-कवियों के प्रत्यक्षीकृत भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हैं। वे ही हमारे मूल स्रोत हैं। सच पूछिए तो भारतीय साहित्य और सभ्यता 'काव्य' से उत्पन्न हुई है। वेद और उपनिषद् सार्वभौम और सर्वकालिक काव्य है। वैदिक साहित्य मे 'कवि' शब्द बहुत गौरवपूर्ण अर्थों मे व्यक्त हुआ है। परमात्मा को भी कवि कहा गया है और इस समूचे व्यक्त जगत् को 'देवस्य काव्यम्' अर्थात् देवता का काव्य कहा गया है। कवि काव्य की रचना आनन्द के लिए करता है। परात्पर शक्ति-ब्रह्म ने भी जगत् की सृष्टि आनन्द के लिए की थी। आनन्द से ही यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है और आनन्द में ही लीन हो जानेवाला है। पूरा वैदिक साहित्य आनन्दोल्लास का गीत है। वैदिक ऋषि की दृष्टि मे प्रकृति और मनुष्य, जड़ और चेतन, आनन्द की अभिव्यक्ति मात्र हैं। नर्त्तकी के समान चारुभूषणा प्रकृति, वृषभ के समान गरजता हुआ मेघ-मण्डल, समस्त चराचर को अपनी महिमा से भर देनेवाला आकाश, चर-अचर की सुप्त चेतना को प्रेरणा देनेवाला सविता, सभी आनन्द का गान गाते है। यह जगत् मनुष्य का प्रतिद्वन्द्वी नही, पूरक है। प्रकृति की नित्य-नूतन शोभा मनुष्य को प्रेरणा देती है और प्रेरणा पाती है। इन दोनों मे ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे इस प्रकार के तत्त्व-ज्ञान को बढावा मिल सके कि मनुष्य, जगत् या प्रकृति से भिन्न है और एक-दूसरे को जीतने या अभिभूत करने मे निरन्तर क्रियाशील है। इस आनन्दोल्लास से मुखर-काव्य के तत्त्व-चिन्तन का जो क्रम उत्पन्न होता है, वह निश्चित रूप से दोनो के पारस्परिक सम्बन्धो को मधुमय बनानेवाले तत्त्व की खोज से शुरू होता है। प्रकृति या जगत् मनुष्य के अन्तरतर को प्रत्यधिक आकर्षित करता है, उल्लसित करता है, रसमय बनाता है और बन्धनविमुक्त होने की प्रेरणा देता है। उपनिषदो में यही प्रयत्न है। इन दोनो को जोड़नेवाला कोई शोभन-मंगल तत्त्व है। समस्त हलचलो के पीछे कोई शान्त तत्त्व है। वही इन दोनों को मिलाता है। नि.सन्देह वह तत्त्व स्वयं आनन्दरूप है। वह रस ही है। रस भी है और रस का अन्वेषी भी। जो रस भी है और रस का अन्वेषी भी, वह दो नहीं हो सकता। वह अद्वैत है। इस प्रकार प्रकृति और मनुष्य के पीछे चुपचाप स्थित, दोनों को मंगलमय कर्म की प्रेरणा देनेवाला अद्वैत तत्त्व ही रस है। वह आपातत: विरुद्ध दिखनेवाली बातो मे सामंजस्य स्थापित करता है, नानात्व में

'एक' की अभिव्यक्ति देता है। वह 'शान्तम् शिवम् अद्वैतम्' है। भारतीय धर्म और दर्शन इसी काव्य-वेद में उद्भूत हैं। परस्पर विरुद्ध दिखनेवाले पदार्थों में एकता और सामंजस्य खोजना उनका लक्ष्य है। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। भारतीय धर्म किसी पैगम्बर की वाणियों से नहीं पैदा हुआ, किसी धर्म-याजक सम्प्रदाय में संघटित चर्च-मठों द्वारा नहीं प्रचारित हुआ, वह आनन्दोल्लास में मुखरित काव्य की देन है—काव्य, जो मानवचित्त के अतल गाम्भीर्य से उद्गत होने के कारण सार्वजनीन और सार्वकालिक है। दुर्भाग्यवश पिछली शताब्दी में जिनके ऊपर इस प्रेरणादायक साहित्य के पुनरुद्धार और पुनराख्यान का दायित्व आ गया और जिन्होंने निष्ठापूर्वक इस विशाल देश के इतिहास के पुनर्गठन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उन तत्त्व-जिज्ञासु विदेशी विद्वानों के संस्कार पैगम्बरी धर्म और उसके मठीय संगठन से बने हुए थे। उनकी परम्परा में 'धर्म' उतना व्यापक शब्द नहीं है, जितना इस देश में रहा है। उनके यहाँ वह मजहब के संकुचित अर्थ में व्यवहृत होता है। धर्म से दर्शन और काव्य के उद्भूत और प्रभावित होने का संस्कार उनके मन में बद्धमूल था। काव्य से धर्म और दर्शन, कला तथा शिल्प का प्रादुर्भूत होना उनके गले के नीचे उतरनेवाली बात नहीं थी।

भारतवर्ष में इतिहास-पुराण और महाकाव्य की धारा निरन्तर बहती रही। व्यापक अर्थों में यह पूरा वाङ्मय काव्य है। काव्य का इतना विशाल धारावाहिक साहित्य अन्य किसी देश में नहीं है। काव्य से उद्भूत होने के कारण हमारे दर्शन और धर्म के सामंजस्य और सामरस्य की बात नहीं छूटती। उसके भीतर याजक और शासक वर्ग का संघर्ष खोजने से और उसके बारे में पैगम्बरी विधि में उद्भूत तत्त्वज्ञान की भाषा में सोचने से वे गलत दिखायी दे सकते हैं।

फिर भी भारतवर्ष के लम्बे इतिहास में यह साहित्य की धारा सदा एक-सी नहीं रही है। बीच-बीच में उसमें शिथिलता आयी है। यह भी कहा जाता है कि भारतवर्ष में इतिहास लिखनेवाले नहीं हुए और स्वभाव उनका ऐसा कि जब कोई अच्छी-सी चीज मिल गयी तो पुरानी को भुला दिया। कहा जाता है कि इसीलिए वाल्मीकि के पूर्ववर्ती काव्य-जातीय ग्रन्थ लुप्त हो गये। कदाचित् ऐसा ही हो, पर वैदिक और लौकिक साहित्य में एक लम्बा व्यवधान मिलता अवश्य है। वैसे हमने पहले ही देखा है कि महाभारत के कुछ आख्यान काफी पुराने हो सकते हैं। परन्तु अब अपने मूल रूप में हैं या नहीं, कहना कठिन है। भारतीय परम्परा निश्चित रूप से वाल्मीकि को आदिकवि मानती है। आदिकवि का अर्थ है, वैदिक भाषा के साहित्य से भिन्न लौकिक संस्कृत का प्रथम कवि। इस 'प्रथम काव्य' का रचयिता निःसन्देह बड़ी समृद्ध परम्परा का उत्तराधिकारी था, इसमें किसी को कोई सन्देह नहीं है।

रस का महत्त्व किसी-न-किसी प्रकार आदिकवि के काल में पूर्ण रूप से स्वीकृत हो चुका था। उन दिनों रस-मीमांसा का कोई ग्रन्थ लिखा गया था या

नहीं, यह तो हमें नहीं मालूम पर वाल्मीकि ने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो उस प्रकार की शास्त्रीय चर्चा का अस्तित्व स्वीकार करने की ओर प्रवृत्त करते हैं।[1] यह तो स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य के छन्दों का पहले ही पर्याप्त विश्लेषण-विवेचन हो चुका था। अनुष्टुप छन्द परिचित नहीं था। फिर भी 'मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वम्' (वा. रा. 1।2।15) वाली कथा में वाल्मीकि को प्रथम श्लोक छन्द का आविष्कर्त्ता माना गया। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन के अनुसार वाल्मीकि को ताल-लय-समन्वित पद्योचित नियत क्रम में हुई थी—क्रौंच-वध का दृश्य, उससे चित्त में उत्पन्न करुण भाव, फिर उसका गाढ़ काव्य में प्रस्फुटन और अन्ततः इस अभिव्यक्ति द्वारा सौख्यानुभूति। स्वयं वाल्मीकि ने अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण किया था और इस नतीजे पर पहुँचे कि शोकार्त्त होकर मैं जो कह गया वह निःसन्देह श्लोक है—काव्य है।[2] कालिदास भी यही कहते हैं। 'रघुवंश' के चौदहवें सर्ग में इसी बात को दुहराया गया है[3] और वाल्मीकि मुनि के शिष्य भी यही कह गये हैं (1।2।40) रामायण में भी वैदिक अनुष्टुप से इसे अलग माना गया है। यह समाक्षर चार चरणों में गाया हुआ माना गया है :

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः (1।2।40)

चार पाद वैदिक अनुष्टुप में भी होते थे, प्रत्येक पाद में आठ अक्षर भी। पर वाल्मीकि ने दो यतियों की योजना करके, पहले और तीसरे चरण के पाँचवें अक्षर को तथा दूसरे और चौथे चरण के सातवें अक्षर को भी ह्रस्व करके उसे गेय बना दिया, उसे ताल और लय के उपयुक्त बनाया। इस प्रकार वैदिक भाषा का छन्द लौकिक भाषा में आकर नये रूप में परिष्कृत हुआ और बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ। वह गाये जाने योग्य बना। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि स्वयं कवि की गवाही से पता चलता है कि वास्तविक वस्तु के दर्शन से उनके चित्त में शोक-भाव का प्रबल वेग अनुभूत हुआ और वह भाव स्वयं नये छन्द में उतर कर काव्य बन गया। जिस समय वह प्रबल अनुभूत-वेग उदित हुआ, उस समय कवि उसके पूरे स्वरूप को समझ नहीं सके। बाद में विश्लेषण करने के बाद उन्हें शोक के श्लोक रूप तक परिणत होने की प्रक्रिया का अहसास हुआ। भारतीय परम्परा में इस घटना को बहुत महत्त्व दिया गया है। पर यह मानकर भी कि इस घटना से प्रथम काव्य का आविर्भाव हुआ, इसे उस प्रकार की रस-व्याख्या का

1. उदाहरणार्थ—अप्राप्यपद (6।37।6). अलंकार (5।15।39), मधुरश्लक्ष्ण अर्थवत् (सुन्दरकाण्ड) इत्यादि।
2. शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवति नान्यथा। (1।2।18)
3. 'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'। (रघु. 24।70) और, 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागत.'। ('ध्वन्यालोक' 1।5)

आधार नहीं बनाया गया जैसे भरत के प्रसिद्ध सूत्र को। अगर इसे आधार बनाया गया होता तो कदाचित् मध्ययुग के आलोचक अधिक स्पष्टता के साथ सौन्दर्य-बोध की रचनात्मक प्रक्रिया और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के स्वरूप को हृदयंगम कर सकते। चि. वि. वैद्य को इस घटना से अंग्रेज आलोचक हैजलिट की उस उक्ति का ध्यान आया था, जिसमें कहा गया है कि किसी मार्मिक वस्तु या घटना के प्रत्यक्षीकरण से सम्मूर्त्तन प्रक्रिया और सान्द्र भावानुभूति को गतिशील बनानेवाली समवेदना द्वारा विशेष प्रकार की स्वर-प्रक्रिया और ध्वनि-प्रवाह के रूप में फूट पड़नेवाली मानसिक प्रतिक्रिया ही कविता है। परन्तु मध्ययुग में उसे पूज्यवाणी मानकर ही सन्तोष कर लिया गया। इसका कुछ कारण होना चाहिए।

वाल्मीकि का उद्देश्य बहुत बड़ा था। निस्सन्देह उनके शोकाकुल चित्त से निकली करुण वाग्धारा बड़ी शक्तिशालिनी सिद्ध हुई। रामायण में वस्तुतः क्रौंच-वध प्रतीक-मात्र है। दुर्भाग्य के व्याध ने केवल इसी जोड़े को अपने बाण का लक्ष्य नहीं बनाया है, युवराज राम को पतिरूप में वरण करनेवाली अयोध्या और दीर्घ तथा कष्टमय प्रवास के बाद रामचन्द्र से मिलने को अत्यन्त आतुर प्रतिप्राणा सीता भी उसका लक्ष्य बनी है। सारी रामायण-कथा की पृष्ठभूमि में क्रौंच-मिथुन की कहानी कई और भी करुण मिथुन-विछोहों की ओर मार्मिक इंगित करती है, पर इस घटना से उत्प्रेरित कवि-चित्त कुछ महत्तर उद्देश्यों से चालित हुआ था। प्रथम अध्याय में नारद से पूछे गये प्रश्न में उन्होंने महान् और उदात्त चरित्र को अपनी रचना का विषय बनाना चाहा था। वे किसी आदर्श व्यक्तित्व की तलाश में थे, जिसमें 'समग्रा लक्ष्मी' का निवास हो। उन्होंने पूरे मनुष्य को चित्रित करना चाहा था। ऐसा उदात्त व्यक्तित्व-सम्पन्न मनुष्य जो विपत्ति में म्लान न हो, सम्पत्ति में इतरा न उठे, विजयदर्प में क्षमा करना न भूल जाय, शक्ति पाने पर विनम्र होने में न चूके और जीवन के उपरले तल की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के अतल गाम्भीर्य में बहनेवाली चरितार्थता की धारा की उपेक्षा न कर बैठे।

भरत के नाट्यशास्त्र में वस्तु, नेता और रस नाटक के आवश्यक अंग माने गये हैं, फिर भी रस मुख्य है। रससिद्धि के लिए ही वस्तु और नेता की योजना की जाती है। रस अपने-आप आकाश में नहीं टिका रहता। उसके लिए ठोस आधार चाहिए। विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से नेता या नायक के चित्त में रस का संचार होता है। बाद में अनेक आचार्यों ने इस बात पर विचार किया है कि रस की स्थिति वस्तुतः कहाँ होती है—कथा के नायक में, अभिनेता में या दर्शक या पाठक में। इन आलोचना-प्रत्यालोचनाओं का सर्वोत्तम फल यह हुआ है कि रसानुभूति में पाठक या श्रोता या दर्शक को आवश्यक उपादान स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु अभी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहने जा रहा हूँ। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि वाल्मीकि ने नेता की ही खोज की

थी। ऐसे 'नरच्चन्द्रमा' थी, जिसमें मनुष्य की 'समग्र लक्ष्मी' का निवास हो। उन्हें उन नेताओं के किसी ऐसे स्थायी भाव की खोज नहीं थी, जो विभावानुभावसंचारी भाव के संयोग से इस रूप में परिणत हो सके। वे मनुष्य के सम्पूर्ण और आदर्श रूप के जिज्ञासु थे। कदाचित् यही कारण था कि टीकाकारों ने रस के प्रसंग में आदिकवि के बहुपूजित श्लोक को रस की मान्यताओं की स्थापना के लिए उपयुक्त नहीं पाया। एक कारण और भी हो सकता है।

'वाल्मीकि रामायण' निश्चित रूप से बहुत शिष्ट और समुन्नत सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में लिखा गया है। परन्तु महाभारत जिस प्रकार 'इलोक' के लिए, ऐसे सामान्य मनुष्यों के लिए जिन्हें वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था—और इसीलिए उन्हें महाभारत जैसे 'पाँचवें वेद' की आवश्यकता थी—लिखा गया था; कुछ उसी प्रकार रामायण भी लोक में प्रचारित होने के उद्देश्य से लिखा गया होगा, क्योंकि शुरू में ही बता दिया गया है कि चिरकाल तक यह रामायण-कथा लोक में प्रचलित रहेगी—'इलोकेषु प्रचरिष्यति'। महाभारत की तरह नाट्यशास्त्र भी पाँचवाँ वेद होने का दावा करता है। वह भी उन्हीं लोगों के लिए रचा गया था जो वेदों के अध्ययन की सुविधा नहीं पा सके थे। फिर भी नाट्यशास्त्र और रामायण-महाभारत के लक्ष्यीभूत श्रोताओं में थोड़ा अन्तर है। यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में यह कथा दी हुई है कि साधारण जनता के कल्याण के लिए ही इस पाँचवें वेद की रचना हुई थी, फिर भी नाट्यशास्त्र बहुत प्रबुद्ध और सुशिक्षित मर्मज्ञ को दर्शक-रूप में स्वीकार करता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन दिनों नाट्यशास्त्र को अन्तिम रूप दिया गया था, उन दिनों नाट्य-धर्मी रूढ़ियाँ साधारण दर्शकों को भी ज्ञात थीं। आजकल जिसे 'क्रिटिकल आडिएंस' कहते हैं, वही 'नाट्यशास्त्र' का लक्ष्यीभूत श्रोता है। सत्ताइसवें अध्याय में 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट कहा गया है कि नाटक का लक्ष्यीभूत श्रोता कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिए, जो व्यक्ति शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य को देखकर उल्लसित न हो सके, जो इतना संवेदनशील न हो कि दैन्य-भाव के प्रदर्शन के समय दीनत्व का अनुभव न कर सके, उसे नाट्यशास्त्र प्रेक्षक की मर्यादा नहीं देना चाहता। उसे देश-भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए, कला और शिल्प का विचक्षण होना चाहिए, अभिनय की बारीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, शब्दशास्त्र और छन्दःशास्त्र के विधानों से परिचित होना चाहिए और समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। किन्तु 'नाट्यशास्त्र' यह मानता है कि सबमें सभी गुण हों, यह सम्भव नहीं है। सामाजिक स्थिति और शास्त्र-ज्ञान का कम-बेशी होना स्वाभाविक है। फिर भी इनमें अधिक-से-अधिक गुणों का समावेश होना चाहिए। जवान आदमी शृंगाररस की बातें देखना चाहता है, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराणों का अभिनय देखने

में रस पाते हैं। 'नाट्यशास्त्र' इस रुचि-भेद को स्वीकार करता है। फिर भी वह आशा करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल अपने को रसग्राही बना सकेगा। स्वयं कालिदास भी सत्-असत् में विवेक करनेवाले सज्जन पुरुष को अपने काव्य का सही मर्मज्ञ मानते है और ऐसे किसी भी प्रयोग को उत्तम स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं, जिसमे विद्वानों को सन्तोष न हो जाय। परन्तु कालिदास द्वारा यह बात सहज रूप में कही गयी है। यह बिलकुल ठीक है कि सभी लोग रसानुभूति में समान रूप से कुशल नहीं होते। जो संवेदनशील प्रकृति के होते है वे ही सौन्दर्यपारखी है। सन् ईसवी की चौथी-पाँचवी शती तक के कवियों को अपनी कविता के लक्ष्यीभूत श्रोता के समझदार होने की बात क्रमशः अधिक मात्रा में अनुभूत अवश्य होती रही है, पर उनके बहुत पण्डित या शास्त्रज्ञ होने का आग्रह नहीं है।

काव्य-लक्षणों का आरम्भ कब से हुआ यह कहना कठिन है, पर रामायण मे ऐसे स्थल मिल जाते हैं जो परवर्ती कवियों की चामत्कारिक उक्तियो से तुलनीय हो सकते हैं। परन्तु ऐसी उक्तियाँ जो कथा की गति को धीमी कर दें और चरित्र की स्वाभाविक स्थिति से ध्यान खीचकर उक्ति-चमत्कार की ओर ले जायँ, बहुत कम हैं। मध्यकालीन महाकाव्यों में यह बात ठीक उलटी है। विद्वानों ने पतंजलि के महाभाष्य के उदाहरणों और पिंगल छन्द.सूत्र के छन्दों के रमणीय नामो से यह ठीक ही अनुमान लगाया है कि सन् ईसवी के बहुत पूर्व से ही अलंकृत काव्य-शैली काफी प्रौढ़ हो चुकी थी। रामायण मे उसी समृद्ध परम्परा के दर्शन होते हैं। पण्डितों ने दिखाया है कि कालिदास द्वारा उल्लिखित प्रमुख बातों में प्रत्येक के लिए प्रेरणा देने योग्य प्रसंग रामायण मे मिल जाता है। हिसाब लगानेवालों ने सीता के दुःख को अनुभव करनेवाली एक साथ 29 और राम-विरहित अयोध्या के लिए 16 उपमाओं का प्रसंग खोजा है (रा. 2, 19, 21114), परन्तु फिर भी कालिदास के काव्यों में कुछ खास बातों पर बल दिया गया है और वे उजागर हो उठी हैं। कालिदास से दो बातें निश्चित रूप से काव्य में प्रमुख स्थान पाने लगती है—(1) अनेक प्रकार से शब्दालंकार और अर्थालंकार द्वारा वर्णन को चामत्कारिक बनाना और (2) शृंगार रस-तत्रापि कामशास्त्रीय विलास-चेष्टाओं की योजना। कालिदास उपमाओं के लिए तो प्रसिद्ध ही है, उन्होंने 'रघुवंश' में एक पूरा सर्ग यमकों के लिए ही लिखा है। 'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश' मे कामशास्त्रीय भोगवर्णन की योजना है। परवर्ती कवियों ने इन दोनों तत्त्वों का जमके उपयोग किया। परवर्ती महाकाव्यों में वस्तु-तत्त्व की योजना मानो इन दो बातों को उद्देश्य मानकर ही की गयी है। संस्कृत भाषा की समास-बहुला पदावली और बडे-बडे छन्द उनके सहायक सिद्ध हुए हैं। मुक्तक-काव्य में भी इन बातों का ही छोटे पैमाने पर प्रयोग है। उक्ति चमत्कार में श्लेष की प्रवृत्ति क्रमशः बढती गयी है और बारहवी शताब्दी तक आते-आते वह हास्यास्पद स्थिति तक पहुँच गयी है।

गद्य-काव्य में श्लेष की महिमा और भी अधिक उपलब्ध होती है। सुबन्धु (सातवीं शताब्दी) ने तो 'प्रत्यक्षर श्लेषमय वैदग्ध्य-विन्यास निधि' (प्रत्येक अक्षर के श्लेषमय विन्यास के अपेक्षित कौशल की निधि) ही होने का दावा किया है। बाणभट्ट ने, जो उनके ईषत् परवर्ती है, मानो अपनी ही रचना के लिए कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालाप में और भाव में निरन्तर मनोहरा तथा अनुराग-वश स्वयमेव पर उपस्थिता नववधू के समान सुगम, कलाविद्या सम्बन्धी विलास के कारण सुश्राव्य और रस के अनुसरण के कारण बिना प्रयास सुलभा, शब्द-गुम्फमयी कथा किसके हृदय में कौतुक नहीं उत्पन्न करती! सहजबोध दीपक और उपमा अलंकार से सम्पन्न अपूर्व पदार्थों के समावेश से विरचित अनवरत श्लेषालंकार से किंचित दुर्बोध्य कथा, उज्ज्वल प्रदीप के समान और कान्तिमान चम्पे की कलियों में गूंथे हुए और बीच-बीच में चमेली के फूलों से अलंकृत घनी मोहनमाला की भांति, किसके मन को आकृष्ट नहीं करती?

स्फुरत्कलालापविलाससकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथाजनस्याभिनवा वधूरिव॥
हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव॥

परन्तु सुबन्धु और बाणभट्ट में इस प्रकार श्लेष और यमक की योजना के साथ सरसता भी है और वह सरसता शृंगाररस की है। सच पूछा जाय तो इन दो श्लोकों में बाणभट्ट ने मध्यकाल के संस्कृत-साहित्य के सर्वोत्तम पक्ष को प्रत्यक्ष कर दिया है। यह कविता कलालाप के विलास से कोमल, समाससिद्ध पदावली के कारण गम्भीर गुम्फमयी, उज्ज्वल उपमा, दीपक आदि अलंकारों से सुसज्जित, निरन्तर श्लेषालंकार से किंचित दुर्बोध्य, अच्छी जाति के छन्दों और वर्णमैत्रियों से भूषित होगी, परन्तु सदा रसानुवर्ती भी। यहाँ इंगित से रस का शृंगारपरक अर्थ भी दिखा दिया गया है।

भारवि (छठी शताब्दी) अर्थगौरव के लिए बहुत ही प्रसिद्ध है। उक्ति-चमत्कार का उनमें प्राबल्य है। उन्होंने अपने एक पद्य के द्वारा अपना ही आदर्श मानो रख दिया है।

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

उनके बाद भट्टि, कुमारदास, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों में उक्ति-चमत्कार और भोग-परक शृंगार-योजना की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गयी और नायक के व्यक्तित्व की समग्र लक्ष्मी की अभिव्यक्ति की मात्रा क्षीण होती गयी है। कवियों में राजाश्रय पाने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी और महाकाव्य का महान् आदर्श धूमिल हो गया। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल तक आते ही वह लुप्त हो गयी। नवी धनी के किसी कवि ने दुःख के साथ कहा था कि धन-लोभियों के हाथों में अमृत-निष्यन्द सरस सरस्वती की बहुमार्गगामिनी उद्दाम धारा का प्रवाह जो महाकाव्य

में प्रवाहित होता था, समाप्त ही हो गया।[1] साधारण कोटि के कवियों में तो वह अन्तर्धान हो गयी। माघ और भारवि जैसे महान् कवियों में अक्षर-योजना के खेलवाली रचना (चित्रकाव्य) में बहुत अधिक उलझने की प्रवृत्ति मिलती है। श्लेष-प्रियता में सुबन्धु और बाण जैसे महाकाव्य-लेखकों की तरह माघ, भारवि, कुमारदास, और श्रीहर्ष बहुत रस लेते हैं। कभी इन अलकारों को कथा-प्रवाह और पात्र की स्वाभाविक मनःस्थिति को मन्द, अवास्तविक और कृत्रिम बनाने की पूरी छूट दी गयी है, परन्तु बारहवीं शताब्दी के आस-पास तो ऐसे काव्य लिखे जाने लगे जो श्लेष-प्रदर्शन से पाण्डित्य को हास्यास्पद सीमा तक ले जाने लगे। सन्ध्याकार नन्दी के 'रामपाल चरित' के प्रत्येक पक्ष में रामायण के राम और ग्यारहवीं शती के अन्त में विद्यमान राजा रामपाल दोनों के चरित श्लेष द्वारा कहे गये हैं। इसी प्रकार 'राघव पाण्डवीय' नामक दो काव्य लिखे गये, जिसके लेखक धनंजय और माधव भट्ट (कविराज) थे, जिनमें एक ही साथ रामायण और महाभारत की कथा कही गयी है। हरिदत्त सूरि के 'राघवनैषधीय' में राम और नल की कथाओं को उन्हीं शब्दों में कहने की चतुरता दिखायी गयी है। ऐसे अर्थों को उन्हीं शब्दों से निकालने में संस्कृत का अपूर्व व्याकरण और कोष ग्रन्थ सहायता करते हैं और पाठक व्याकरण का सुनिपुण पण्डित न हो तो मुँह मारके भी कुछ नहीं समझ पायेगा। कोई आश्चर्य नहीं कि मध्यकालीन कवियों को अपने पाठक के शास्त्र-निष्णात होने का दावा उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और 'समग्रा लक्ष्मी' की बात एकदम भूल गयी जो कालिदास तक और अंशतः भारवि तक, किसी-न-किसी रूप में बराबर ध्यान में रखी गयी।

किस प्रकार आलंकारिकता की प्रधानता हो सकती है, यह इस अत्यन्त लोकप्रिय शब्दावली से अनुमान किया जा सकता है। कालिदास के 'रघुवंश' में आयी हुई एक उपमा के कारण उन्हें 'दीपशिखा-कालिदास'[2] कहा जाता है, इसी प्रकार भारवि को 'किरातार्जुनीय' की उपमा के आधार पर 'छत्रे-भारवि'[3] और

1. सदा मध्ये भासाभियदगूहनिष्यन्द सरसा
   सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गां परिमलम्।
   प्रसाद ता एता घनपरिचिताः केन महतां
   महाकाव्याम्योनिः स्फुरितमधुरा यन्ति रुचयः॥ (वा. प्र. 7, 256)
2. दीपशिखा : कालिदास
   सचारिणीदीपशिखेव रात्रौ यं य व्यतीयाय पतिवरा सा।
   नरेन्द्र मार्गट्ट इव प्रपेदे विवर्णभाव स स भूमिपालः॥ (रघु. 7)
3. छत्र : भारवि
   उत्फुल्लस्थलनलिनीदलादमुष्मादुद्भूतः सरसिजसम्भवः परागः।
   वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्र लक्ष्मीम्।
   (किरात. 5।39)

माघ को 'शिशुपालवध' में आयी हुई उपमा के कारण 'घण्टा माघ'।[1] इन नामों को देनेवाले के मन में इन कवियों का जो सर्वोत्तम रूप था वह इन उपमाओं में ही व्यक्त होता है। जिन श्लोकों में ये उपमाएँ आयी हैं उनके अध्ययन से एक विचित्र निष्कर्ष निकलता है। कालिदास की उपमा सहज और रसानुग है, भारवि की किंचित् जटिल पर रसानुवर्तिनी, किन्तु माघ की बहुत जटिल और रस-दूरवर्तिनी। यही काव्य में चमत्कार का भी क्रम है। दो बातें और ध्यान देने योग्य हैं, रस-विवेचन में जिनका सीधा सम्बन्ध है। उनमें एक तो कामदेवता है और दूसरा सहृदय है।

पूर्ववैदिक युग में गन्धर्व और अप्सराएँ एकदम अपरिचित ही थीं। उत्तर-वैदिक युग में इनकी चर्चा मिलने लगती है। शतपथ ब्राह्मण (9-4-2) के अनुसार गन्धर्व और अप्सराएँ मिथुन रूप में प्रजापति से उत्पन्न हुई थीं। गन्धर्व और कन्दर्प किसी एक ही आर्येतर (सम्भवतः किरातवर्गी) शब्द के संस्कृतीकृत रूप जान पड़ते हैं। परन्तु विष्णुधर्मोत्तर (3-58) के अनुसार कामदेव और उनकी पत्नी रति, क्रमशः वरुण और गौरी के अवतार हैं। अवतार होने का अर्थ यह है कि वरुण जिस जाति या श्रेणी के देवता थे उसमें भिन्न जाति में अवतरित हुए— कदाचित् गन्धर्व जाति में। इसीलिए मकरकेतन (या मछली की ध्वजा धारण करनेवाला) रूप तो वरुण के समान ही है, पर वे स्वयं गन्धर्व या कन्दर्प हैं। इनका ही एक नाम मार है। जान पड़ता है बुद्धदेव को समाधिच्युत करनेवाली मारसेना के नायक ये ही महाशय थे और बुद्धदेव से मार खाने के बाद ये परवर्ती हिन्दू साहित्य में शिव से भी पिटने को बाध्य हुए थे। पिटे दोनों ही जगह थे। आगे-पीछे की राम जाने। परन्तु जो देवता वैरागियों की दुनिया से खदेड़ा गया वह भोगियों की दुनिया पर हावी हो गया। कालिदास इनको दोनों रूपों में सम्मान देते हैं, पर परवर्ती रूप उन्हें अधिक प्रिय है। बाद के कवियों में इनका बड़ा सम्मान है। शिवजी के नयनाग्नि-पथ से भस्म होने के बाद ये 'अनंग' हो गये और 'कुमारसम्भव' में दिखाया गया है कि शिव से इन्होंने कसके बदला लिया था। तब से ये काव्य की दुनिया में ऐसे दृढ़ स्थान पर अधिकार कर गये कि आधुनिक युग के सबसे श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने आश्चर्य के साथ शिव को पुकार-कर कहा था, 'ऐ वैरागी, तूने पाँच बाणोंवाले देवता को भस्म करके यह कैसा अनर्थ किया कि उसकी राख को विश्व-भर में फैला दिया!" इनके ये पाँच बाण

1. घण्टा माघ

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ
अहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा—
द्वयपरिवारित वारणेन्द्रलीलाम्.
(शिशुपालवध)

फूलों के हैं। तुलसीदास-जैसे वीतराग महात्मा भी इनकी विजयिनी शक्ति के कायल थे। उन्होंने लिखा है कि कामदेव फूलो का बाण हाथ मे लेकर ही सारी दुनिया को वश मे कर लेता है। संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है कि एक को दो टुकड़ों मे विभक्त कर देनेवाले धनुर्धर तो बहुत है, पर दो को एक करनेवाला विचित्र धनुर्धर केवल कामदेव ही हैं।[1] कामदेवता की महिमा से सारा भारतीय, विशेषकर मध्ययुग और उत्तरवर्त्ती मध्ययुग का साहित्य आक्रान्त है। सभी इस देवता के बाण-सन्धान की दक्षता और अव्यर्थ चोट से बहुत परिचित हैं। यह देवता शृंगाररस को ही नही परवर्त्ती काल के भक्तिरस को भी अपने तर्जनी-संकेत से चलाता है। मध्यकाल के कवियो ने इस देवता को बडा सम्मान दिया है। इस देवता की ही महिमा है कि मध्ययुग के साहित्य में उत्तान शृंगार का बहुत ही व्यापक वर्णन है। पुष्पबाणों से देव-देव को जीतनेवाला, सुरतलीला-नाटिका का सूत्रधार यह देवता काव्य मे वह सब कुछ ले आने में सफल हुआ है, जो शृंगार के लिए आवश्यक है।[2] कोई आश्चर्य नही कि मध्यकाल के कवियो मे शृंगाररस का उत्तान रूप इतना व्यापक होकर प्रकट हुआ है। कभी-कभी शृंगार को ही रस कहा गया है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' मे भोजराज ने पूर्वाचार्यो का यह श्लोक उद्धृत किया है :

शृंगारी चेत कविः काव्ये जातं रसमयं जात्
स एव चेद शृगारी नीरसं सर्वमेनत्।

इसीलिए भोजराज ने अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह मत निश्चित किया कि रस तो शृंगार ही है। शारदातनय ने 'भावप्रकाश' मे कहा है :

मनसो ह्लादजननः स्वादो रस इति स्मृतः
शृंगारस्य स युज्येत।

दूसरा तत्व सहृदय है। यह शब्द बहुत पुराना नही जान पड़ता। कुछ लोग तो ध्वनिकार का नाम ही सहृदय बताते है, पर यह केवल अनुमान मात्र है जो सही न होने की ओर ही अधिक झुका है। 'सहृदय' से मिलता-जुलता एक शब्द कालिदास ने प्रयोग किया है। यह है 'सचेताः'। पार्वती की नमस्याखिन्न प्रभा को म्लान देखकर ब्रह्मचारी वेशधारी शिव ने कहा था कि तुम्हारी इस दशा को देखकर किस 'सचेता' का हृदय दुःखी नही होगा, अर्थात् सचेता व्यक्ति ही रूप-लावण्य की महिमा को समझता है। यही सहृदय भी है। अभिनवगुप्त ने कहा

1. एक वस्तु द्विधाकर्तुं बहवः सन्ति धन्विनः।
धन्वी ममार एवैको द्वयोरैक्य करोतियः॥ (सु. र. भा. 250)

2. कुलगुरुबलाना केलिदीक्षा प्रदाने
परमसुहृदनंगो रोहिणीवल्लभस्य
अपि कुसुम पृषत्कैर्देवदेवस्य जेता
जयति सुरतलीलानाटिकासूत्रधारः।
(शारंगधर पद्धति)

है कि उस व्यक्ति का मनोमुकुर काव्य और शास्त्र आदि के अध्ययन से स्वच्छ हो गया रहता है। काव्य की कसौटी सहृदय का हृदय ही बताया जाता है। परवर्ती ग्रन्थों में यह पता चलता है कि वह बहुत अधिक संवेदनशील तो था ही, इसके साथ ही रूप, वर्ण, प्रभा, आभिजात्य, विलासिता, माल्य, वस्त्र, उपलेपन आदि का निपुण जानकार भी होता था और सबसे बड़ी बात कि वह युवक, रसिक और शृंगारप्रिय होता था। ('सहृदय हृदयलीला')

इन दो तत्त्वों ने काव्य में शृंगार को प्राधान्य दिया। हर कवि अपनी वाणी को सरस बनाने के लिए कुछ ऐसा प्रयोग करता है जो शृंगार के द्योतक होते हैं। और शृंगार क्या है? कहा गया है कि शृंग शब्द का अर्थ है मन्मथोद्भेद अर्थात् कामदेव नामक मनचोरी देवता का सक्रिय होना। अतः 'शृंगार' उस देवता की प्रभावशालिनी शक्ति को प्रकट करनेवाला रस ही है।

प्राकृत और अपभ्रंश-काव्य में भी उक्ति-चमत्कार और शृंगार की श्रेष्ठता संस्कृत कवियों के समान ही बनी रही। संस्कृत भाषा की समासगुम्फित शैली उधार ली गयी। कुछ कवि पाण्डित्य-प्रदर्शन के शिकार हुए थे, पर लोक-जीवन का साहित्य अधिक सरल, सहज और स्वाभाविक था।

अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति के दो रूप मिलने लगते हैं। एक तो वही उक्ति-चमत्कार का पाण्डित्य और सहृदय हृदय को प्रभावित करनेवाला मन्मथोद्भेद-मूलक शृंगार और दूसरा साधारण जन की सरस उक्तियाँ—आडम्बरहीन, मोहक और साक्षात् प्रेरणादायक होने के कारण सहज। ये ग्राह्य होकर भी जीवन में प्रत्यक्षतः सम्बन्धित हैं। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त ने कहा था कि यदि शहर से दूर जंगल में स्थित आश्रम में ऐसा सौन्दर्य मिलता है, जो राजाओं के अन्तःपुर में दुर्लभ है, तो कहना पड़ेगा कि अपने गुणों के कारण सहज प्राण-शक्ति के भरोसे में बढ़नेवाली वनलताओं ने यत्नपूर्वक पोषित ललित उद्यान-लताओं को परास्त कर दिया।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यान लता वनलताभिः।

इन कविताओं को पढ़कर महाकवि की इस उक्ति की याद आये बिना नहीं रहती।

स्वयम्भू, त्रिभुवन और पुष्पदन्त जैसे कवियों के काव्य की भाषा अवश्य ही अपभ्रंश है, परन्तु वे शास्त्रीय परम्परा के कवि हैं। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत के काव्यों का गम्भीर अध्ययन किया था। अलंकार, रस और पिंगल के पूर्ण ज्ञाता थे। परन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत दोहों में ग्रामीण कवियों की सरल अभिव्यक्ति है, उनमें कोई आडम्बर नहीं है, वक्रता नहीं है, रसनिष्पत्ति के लिए चिन्तनजन्य भंगिमा नहीं है। स्वयम्भू लोकभाषा के प्रेमी थे, परन्तु रससृष्टि के अभिजात जनोचित नियमों के परिपालक भी थे। हरिवंश पुराण में स्वयम्भू ने लिखा है कि उन्हें इन्द्र से व्याकरण, भरत से रस...

विस्तारणकला, पिंगल से छन्द और प्रस्तार-विधि, भामह तथा दण्डी से अलंकरण, बाणभट्ट से घनघनित शब्दाडम्बर, हरिसेन तथा अन्य कवियों से कवित्व गुण और चउम्मुह (चतुर्मुख) से छन्दण, द्विपदी और ध्रुवकों से जड़ित पद्धड़िया बन्ध प्राप्त हुआ :

इन्देणसमप्पिउ वायरणु। रस भरहें वासें वित्थरणु ।।
पिंगलेण छन्द पय पत्थारु। मम्मह दण्डिणिहिं अलंकारु।।
बाणेण समप्पिउ घणघणउ। ते अक्खर डम्बर घणघणउ।।
हरिसेणि पाविउ णितणउ। अवरेहिं मि कइहिं कवित्तणउ।।
छन्दणिय दुवइ धुवएहिं जड़िय। चउमुहेण समप्पिय पद्धड़िय।।

इस वक्तव्य से उनके गम्भीर अध्ययन और शास्त्रीय ज्ञान का परिचय मिलता है। निश्चय ही उनके काव्य में गम्भीर अध्ययन-मनन का साक्ष्य वर्तमान है। वे विकट बन्ध के कवि कहे गये हैं। पर जिन दोहों की चर्चा हम आगे करने जा रहे हैं, वे पण्डितों के लिखे नहीं जान पड़ते। पण्डित वे हों भी तो पण्डिताई के बहुत ऊपर उठे हुए हैं। सहज भाव बड़ी कठोर साधना से प्राप्त होता है। कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो सकेगी।

एक विरह-व्याकुला प्रिया कहती है कि किसी प्रकार यदि मैं प्रिय को पा जाती तो एक ऐसा खेल करती जो अब तक किसी ने नहीं किया। उसके प्रत्येक अंग में ऐसा पैठ जाती जिस प्रकार पानी मिट्टी के नये कसोर में प्रवेश कर जाता है—अंग-अंग में भीन जाता है :

जइ केम्वइं पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु।।

प्रेमपरवशा वधू कहती है, 'माई री, जब मन स्वस्थ हो तो मान की सुधि की जाय। यहाँ तो बात ही कुछ और है। ज्यों ही प्रिय को देखती हूँ, ऐसी हड़बड़ी मचती है कि फिर अपनी समझी-बूझी को याद कौन करे। सारा सोचा समझा गायब हो जाता है' :

अम्मीए सत्थावथेहिं सुधि करि किज्जइ माणु।
पिय दिट्ठे हल्लोहलइ को सुमरइ अप्पाणु।।

मान करनेवाले दूल्हे को सिखाया जा रहा है—'प्यारे, मैंने तुम्हें बहुत बार मना किया कि मान देर तक न किया करो। बेपीर, इस मात-मनौअल में रात बीत जायेगी और जल्दी-जल्दी दड़बड़ विहान हो जायेगा' :

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया मा करु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडबड़ होइ विहाणु।।

कोई वयस्का सखी सहजबंकिम लोचना नायिका को परिहास-पेशल वाणी में समझा रही है, 'बिटिया, मैंने तुम्हें कितनी बार कहा है कि इस बाँकी न किया करो। वह जो कानवाली बर्छी होती है न, जो हृदय मांस नोचकर बाहर निकलती है, उसी प्रकार तुम्हारी यह बाँकी ८

को वेधती है'

त्रिहुंगि मठ भणिउँ तुहुँ मा कुरु वंकी दिट्ठि ।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि ॥

वंकिम कटाक्षों के तीखेपन को इस प्रकार समझाया जाता है—'जैसे-जैसे वह साँवली अपने वंकिम लोचनों को धूमना सिखाती है वैसे-वैसे मन्मथ अपने बाणों को खरे पत्थर पर घजा-घजाके (घिस-घिसके) तीखा कर लेता है' (ये बाण फूलों के नहीं, इस्पात के होंगे)

जिम-जिम वंकिम लोअणहिं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिम-तिम मम्मह णिअअ सरु खरि पत्थरि तिक्खेइ ॥

विरहिणी ग्राम-वधू काक के शकुन पर अब विश्वास नहीं करती। सुनते-सुनते कान पक गये, पर प्रिय का आना नहीं हुआ और यह काग है कि बोलता ही जा रहा है। उसने उड़ाना चाहा, इस मिथ्याभाषी को, हाथ उठाकर। विरह में दुबली कलाइयों में चूड़ी निकलकर पृथ्वी पर गिरी, लेकिन कागा की बात ठीक ही थी। अचानक प्रिय दिख गये। आधी चूड़ियाँ धरती पर गिर गयी थीं। पर सहसा प्रियदर्शन में खुशी की लहर दौड़ी, दुबली कलाई फूलकर मोटी हुई, आधी चूड़ियाँ तड़ाक से टूट बिखरीं

वायस उड्डावन्तिअ पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ॥
अद्धा वलय महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥

कैसी सहज अभिव्यक्ति है! कोई बनाव-सिंगार नहीं, सहज उल्लास का सहज प्रकाशन।

मान करनेवाले प्रेमी से प्रिया कहती है, 'देखो प्यारे, जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है और मौत का आना एकदम तय है। ऐसी हालत में यह रूठने की बात क्यों! रूठोगे तो ये वियोग के एक-एक दिन देवताओं के सौ-सौ बरसों के समान हो जायेंगे।'

इस प्रकार बारहवीं शताब्दी तक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के कवि शृंगाररस को सर्वश्रेष्ठ और कभी-कभी एकमात्र रस मान चुके थे। वीररस उसके बाद ही आता है। वस्तुतः स्वयं नाट्यशास्त्र ने केवल इन दो रसों को ही पूर्णांग नाटक के लिए स्वीकार किया था। बारहवीं शताब्दी तक वीररस प्रायः शृंगार का अंगी बन चुका था। अपभ्रंश की और परवर्ती लोकभाषाओं की कविताओं में वीररस की दर्पोक्तियाँ प्रायः प्रेमिका या वीर पत्नियों द्वारा करायी गयी हैं या फिर वीररस की योजना अनूढ़ा रूपवती कन्याओं के हरण के लिए की गयी है। पृथ्वीराज रासो की अधिकतर लड़ाइयों के मूल में प्रेम है।

शृंगार मन्मथोद्भेद का रस है। मन्मथ देवता यौवन की उद्दाम प्राणशक्ति के उद्बोधक हैं और उनके लक्ष्य युवक और युवती-जन हैं। इस उद्दाम शारीरिक आनन्द के आश्रय राजकुमार और राजकुमारियाँ हैं, जो प्रायः सुरूप होते हैं। सामाजिक रीति-नीति सब समय इनके सम्बन्धों की सहायिका नहीं होती।

आवश्यकता पड़ने पर कविगण उसकी अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करते। परकीया तो थी ही, असती भी रसोद्रेचक सिद्ध हुई। प्राकृत की गाथाओं में और अपभ्रंश के दोहों में असती मन्मथोद्भेद की पूरी गरिमा लेकर आयी है। संस्कृत के सुभाषितों में भी उसकी महिमा अस्वीकृत नहीं हुई है।

इसी पृष्ठभूमि मे प्राकृत की नायक-नायिका के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और शृंगाररस की पूरी परम्परा को भगवान् की ओर मोड़ देने का प्रयत्न हुआ। जयदेव की रचनाओं मे संस्कृत की सारी समृद्ध परम्परा—कोमलकान्त पदावली, अनुप्रास और यमक की मनमोहन योजना, विरह और मिलन को गाढ़ संवेदना का विषय बनानेवाली काव्य-रूढ़ियाँ—प्राकृत पुरुषों और स्त्रियो से हटाकर भगवत्स्मरण की ओर मोड़ दी गयी। 'सरसता' को हरिस्मरण का माध्यम बना दिया गया।

अत्यधिक प्राकृत-केन्द्री कविता की प्रतिक्रिया का अवसान सहज भगवत्प्रेम में हुआ। सन्तो और सगुणमार्गी भक्तों ने नये रसबोध को बढ़ावा दिया। यद्यपि रीतिकाल मे संस्कृत की प्रवृत्तियों को जिलाये रखा गया, पर भक्ति के आदर्श उसे भी चालित करते रहे। लोकभाषाओं के साहित्य में पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा एकदम लुप्त नहीं हुई। हाँ, संस्कृत कवियों की ऊँचाई तक वह कभी नहीं पहुँच पायी, पर भक्ति और समाजमंगल की जिस ऊँचाई तक वह पहुँची, वह संस्कृत के परवर्त्ती कवियो मे किसी को नसीब नहीं हुई थी।

वैदिक युग मे मनुष्य और प्रकृति एक ही सिक्के के दो पहलू थे। उन्हीं मे ऐसे अन्वेषण ने 'शान्तं शिवमद्वैतं' रसतत्त्व को उजागर किया। रामायण-युग में मनुष्य की 'समग्रा लक्ष्मी' के साथ प्रकृति की 'समग्रा लक्ष्मी' रल-मिलकर चलती है। परन्तु बाद मे सारा जगत् मनुष्य के कुछ भावों को पुष्ट करता है, और रस बनता है। यह समग्र व्यक्ति का ऐसा उद्बोध नहीं है, जो उदात्त रूप मे समाज का प्रतिनिधित्व भी करता है और उसका उन्नयन भी। उसमे मनुष्य द्वारा उद्भावित शास्त्रज्ञान प्रमुख स्थान ग्रहण करता है और भावविशेष की प्रबलता जीवन के विविध क्षेत्रों को अभिभूत कर देती है। यद्यपि इस भाव-विशेष की पुष्टि को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है—पर परब्रह्म के उस रूप को जो प्रकृति और जगत् के नानात्व में अद्वय तत्त्व को खोजने का प्रयास होकर ही रस बनता है, भुला दिया जाता है। कालिदास तक वह भुलाया नहीं गया था, पर बाद मे भुला दिया गया। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप बारहवीं शती के बाद परब्रह्म ही मुख्य हो जाता है—मनुष्य उपेक्षित। परम्पराएँ चलती रहती है—निर्जीव होकर। भक्ति आती है—प्राणधारा होकर। रस की यह परिणति विस्मय-कारक है।

सहज-साधना

स्व. पं. रविशंकर शुक्लजी
की
पावन स्मृति मे

स्व. पं. रविशंकर शुक्लजी
की
पावन स्मृति में

भूमिका

भारत की आध्यात्मिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आत्मा से सम्बन्धित चिन्तन इस देश की अपनी खोज है और वह उतना ही सहज अथवा स्वाभाविक है जितना सूर्य का चमकना, वायु का चलना अथवा नदियों का बहना। वेदों के समय से आज तक यह चिन्तन अबाध रूप में चलता रहा है। कभी एक भावधारा को प्रमुखता मिली है तो कभी दूसरी को। आगे चलकर एकाधिक भाव-धाराओं ने आपस में मिलकर व्यापक भाव-धाराओं का रूप ग्रहण किया और इस प्रकार अनेक सम्प्रदायों का निर्माण हुआ।

आध्यात्मिक क्षेत्र में चिन्तन और तप का बहुत महत्त्व रहा है। परवर्ती वैदिक युग में भी कर्मकाण्ड की तुलना में इन दोनों प्रवृत्तियों का स्थान ऊँचा रहा है। इन दोनों के समन्वय से योग का मार्ग अस्तित्व में आया और उपनिषद्-काल में सदाचार के मेल से योग की महिमा बढ़ी। इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिए सदाचरण, ज्ञान और तप की त्रिवेणी को सामूहिक रूप से महत्त्व प्राप्त हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि अध्यात्म के क्षेत्र में भक्ति को कोई स्थान नहीं था। भक्ति की धारा भले ही अतीत की पृष्ठभूमि में क्षीण दिखायी दे, किन्तु उसकी शृंखला अनवरत रूप में लक्षित होती है। गीता में हमें इन सभी तत्त्वों के स्पष्ट रूप से दर्शन होते हैं।

भारतीय अध्यात्म का इतिहास हमें यह बताता है कि निरन्तर परीक्षण के द्वारा अनुभवजन्य ज्ञान वैज्ञानिक रूप धारण करता गया और तुलनात्मक अनुभव और परीक्षण से उसे समन्वयात्मक रूप मिलता गया। आध्यात्मिक जगत् में इसके अनेक उदाहरण हैं। सहज-साधना अध्यात्म-जगत् का एक ऐसा ही समन्वयमूलक वैज्ञानिक रूप है।

सहज-साधना का अपेक्षाकृत स्पष्ट स्वरूप हमें कबीर और उनके समवर्ती सन्तों की वाणियों में देखने को मिलता है, किन्तु इसका सीधा सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि यह एक प्रक्रिया की ऐसी परिणति है, जो हमें मध्यकाल के सगुण और निर्गुण दोनों ही प्रकार के भक्तों की रचनाओं में दिखायी देती है। इसका कारण यह है कि इन दोनों ही प्रकार के भक्तों ने मूल को पकड़ने की चेष्टा की है और उसकी [illegible]

कर छा गया है।

भगवान् बुद्ध के मत मे तृष्णा के क्षय के द्वारा दुःख की निवृत्ति हो सकती है और तृष्णा के क्षय के लिए पवित्र तथा निर्दोष जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः बुद्धदेव के उपदेश व्यक्ति को दुःख से मुक्त करके निर्वाण की ओर ले जानेवाले थे। बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय में व्यक्तिगत निर्वाण के स्थान मे साधक का लक्ष्य सभी प्राणियों का उद्धार करना हो गया। महायान मे करुणा का स्थान प्रमुख है जिसमे जीव-सेवा और दूसरे का दुःख दूर करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म मे जहाँ साधना द्वारा अपने को सक्षम बनाना आवश्यक हो गया, वही दूसरों को अपने मार्ग पर लाना भी आवश्यक बन गया। उसके फलस्वरूप विभिन्न वर्गों और मतों के लोगों का महायान मे तेजी से प्रवेश होने लगा और अनेक प्रकार के विश्वास और उपासना की विधियों का उसमे समावेश हो गया। महायान का तेजी से विस्तार होने लगा और वह एशिया का सबसे व्यापक धर्म बन गया।

कालक्रम से बौद्ध धर्म मे तन्त्र का प्रवेश हुआ। इसके पीछे यही भावना प्रबल जान पड़ती है कि साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति की ओर शीघ्रता से बढ़ सके। यह प्रवृत्ति केवल बौद्ध धर्म तक ही सीमित नही रही, आगे चलकर हिन्दू और जैन धर्म मे भी तन्त्र का प्रवेश हुआ। बौद्ध तान्त्रिक विधियों मे समस्त सृष्टि-क्रम का संचालन प्रज्ञा और उपाय के रूप मे दिखायी देता है जो शैवो और शाक्तो की सृष्टि-सम्बन्धी मान्यताओं से विशेष अन्तर नही रखता। जो अन्तर है, वह साधनापद्धति और क्रम से सम्बन्ध रखता है। साधना-पद्धति की दृष्टि से सिद्ध और नाथपन्थियो में योग की प्रधानता दिखायी देती है। योग के द्वारा आत्मा को स्थिर करने में और इन्द्रियो और मन के क्षेत्र से अलग करके संयत रखने मे जो सहायता मिलती रही है, उसके कारण सभी सम्प्रदायो ने उसे अपनी साधना-पद्धति मे स्थान दिया है। यही कारण है कि साधना के इतिहास मे योग का अविच्छिन्न रूप हमें दिखायी देता है, वह चाहे अपेक्षाकृत अर्वाचीन हो या अत्यन्त प्राचीन।

महायान की दो धाराएँ हैं—पारमितानय और मन्त्रनय। दोनो का ही लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। पारमितानय मे करुणा, मैत्री आदि की चर्चा प्रधान है। पारमिताएँ छः हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा, जिनमे प्रज्ञा अन्तिम और महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रयान के अवान्तर भेद क्रमशः वज्रयान, काल-चक्रयान तथा सहजयान आविर्भूत हुए। वज्रयान तथा काल-चक्रयान की साधना मे मन्त्र का प्राधान्य रहता है, सहजयान मे मन्त्र पर जोर नही दिया गया है।

सहजयान मे सहजावस्था की प्राप्ति ही पूर्णता की सिद्धि है। निर्वाण और महासुख उसके ही पर्याय हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदन करके निर्विकल्प पद की प्राप्ति ही सहज अवस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति गुरु के उपदेश मे

निवेदन

इस पुस्तक मे मेरे चार व्याख्यानों का संकलन है। ये व्याख्यान नागपुर में मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् की ओर से आयोजित हुए थे। स्वर्गीय पण्डित रविशंकर शुक्लजी उन दिनों हमारे बीच विद्यमान थे। उन्होंने कई व्याख्यानों में सभापति का आसन सुशोभित करके व्याख्याता का मान बढाया था। इन व्याख्यानों के प्रकाशित होने में देर हो गयी और शुक्लजी हमें छोडकर हमेशा के लिए चले गये। व्याख्यानों के प्रकाशित होने पर उनकी पवित्र स्मृति ही मन-पटल पर प्रमुख रूप से विद्यमान है। उनके समान गुणग्राही, सहृदय और कर्मठ नेता हिन्दी-जगत् के लिए अब दुर्लभ है। इन व्याख्यानो की एक-एक पंक्ति के साथ उनकी पवित्र स्मृति जुड़ी हुई है। प्रकाशित होते समय कही वे देख पाते!

यद्यपि इन व्याख्यानो का विषय सहज-साधना है, पर प्रसंग-क्रम से इसमें ऐसी अनेक साधना-पद्धतियों की चर्चा आ गयी है, जो उतनी सहज नही लगेंगी, जितनी कही जाती है। शब्दों के भी नसीब का जोर होता है। 'सहज' शब्द भी खीचतान में आया है। 'ह' और 'ज' ये दोनों अक्षर हठयोग और जप-योग के लिए प्रतीक रूप में व्यवहृत बताये गये है और जो साधना 'ह' और 'ज' को साथ-साथ लेकर चले, उसे 'सहज-साधना' कहा गया है। इस अर्थ में सारा योगमार्ग खिंच आता है। एक सहृदय ने तो मेरे नाम के आरम्भिक अक्षरो से भी इनका सम्बन्ध जोड़ दिया है! इस प्रकार 'सहज' को अनेक अर्थों का विषय बनना पड़ा है और इस व्याख्यान-माला के लेखक को भी अनेक ज्ञात-अज्ञात मार्गों की यात्रा करनी पड़ी है। परन्तु 'सहज' वास्तव मे सहज ही है। कबीरदास ने घोषणा की थी कि 'सहज सहज कहते तो सभी हैं, पर उसे पहचानता कोई नही!' पहचानने का उपाय उन्होंने बताया था—'जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोय।' विषयों का त्याग करना एक बात है और सहज भाव से विषयों का त्याग करना बिल्कुल दूसरी बात है। उत्तर-मध्यकाल के सगुणमार्गी और निर्गुणमार्गी भक्तों ने इसी सहज मार्ग का अपने-अपने ढंग से निर्देशन किया था।

इन व्याख्यानों के प्रकाशन से मुझे प्रसन्नता हो रही है। परन्तु लिखने में व्याख्यान कुछ अधिक अ-सहज हो गये हैं। प्रयत्न तो यही किया है कि वे पाठ्य रूप में ग्रहणीय हों, पर सर्वत्र यह सम्भव नही हो सका।

साधना-केन्द्र

'मनुष्य का शरीर ही सब साधनाओं का केन्द्र है'

साधना-केन्द्र

'मनुष्य का शरीर ही सब साधनाओं का केन्द्र है'

साधना-केन्द्र

'मनुष्य का शरीर ही सब साधनाओं का केन्द्र है'

स्वीकार करने में हिचक मालूम हुई। मानवतावाद इसका बहुत ही मुख्य और सरस परिणाम है। धर्म-भावना के क्षेत्र में मानव-सेवा, समाज-सेवा, चिकित्सालय, मातृसेवा-सदन-जैसी प्रवृत्तियाँ इसका बाह्य अयत्न-सिद्ध उपज रूप रही है। राजनीति मे प्रजातन्त्र समाजवाद, शान्तिवाद प्रभृति विचारधाराएँ इसी की अयत्न-सिद्ध उपज हैं। अयत्न-सिद्ध अर्थात् फोकट का माल—बाई-प्रोडक्ट। इतना तो निश्चित है कि भाव-धाराओं का पोषण इसी विचारधारा से हो रहा है। इस विचारधारा की मूलभूत धारणा यह है कि मनुष्य ही समस्त कर्त्तव्यों और सेवाओं का चरम लक्ष्य है। मनुष्य की सेवा करना, उसका सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पाश से मोचन करना और इसी संसार मे उसे सब प्रकार से समृद्ध करना मानव का चरम लक्ष्य है। यदि कोई परम देवता कही है, तो उसको खेत में काम करते हुए किसानों, सड़क पर मिट्टी तोडते हुए मजदूरों के श्रम-बिन्दुओं में ही साक्षात् पाया जा सकता है। निर्मल शिशुओं के हास्य में, विधवाओं और अपाहिजों के क्रन्दन में, अशिक्षितों और गुमराहों के भ्रान्त आचरणो में और दलितों, पराजितों एवं निष्पेषितो की हाय-हाय में उसका निवास है। मनुष्य की सब पूजाएँ और तपस्याएँ व्यर्थ है, यदि उससे दीन-दुखियों के आँसू नही पुँछ सके, दलितों और निरन्न लोगों के चेहरों पर आनन्द की हँसी न दिखायी दे जाय, और रोगियों की मर्मान्तक पीड़ा न समाप्त हो जाय। इस समूची सेवा-भावना का लक्ष्य क्या है ? स्वर्ग ? नही; मोक्ष ? नही। इस सेवा-भावना का लक्ष्य सेवा-भावना ही है। मनुष्य की सेवा ही साध्य है और मनुष्य की सेवा ही साधन। मनुष्य राष्ट्र, सम्प्रदाय, जाति और परिवार से बडा है। इन बातों का महत्त्व वही तक है, जहाँ तक ये मनुष्य की सेवा के अविरोधी हैं। कोई भी राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक मान्यता इस मानवतावादी विचार-धारा के प्रतिकूल जाकर ग्रहणीय नही हो सकती। युद्ध बुरा है; क्योंकि वह मनुष्य को भयंकर विपत्तियों और दुर्दशाओं का शिकार बना देता है। फाँसी की सजा या यातनापूर्ण कारादण्ड अनुचित है; क्योंकि वह मनुष्य के क्षणिक आवेशों मे किये गये कार्यों के लिए दण्ड-रूप में आकर उसके भीतर की अन्य समस्त सम्भावनाओं को नष्ट कर देता है।

मानवतावाद से विचारशक्ति : दीर्घकाल मे जिन बातों को अपराध समझा जाता रहा है, वे मानवतावादी दृष्टि से या तो अपराध ही नही सिद्ध होती या फिर बहुत हल्के अपराध हैं। इसी विचारधारा ने वेश्या-वृत्ति के विरुद्ध दीर्घकाल मे चली आती हुई निन्दा-भावना को नये सिरे से विचारणीय बना दिया है। सती-प्रथा और विधवा-विवाह निषेध-जैसी भावनाओं को, जो युगों से सम्मान और श्रद्धा का विषय बनी रही, सामाजिक बुराइयो के रूप मे समझने की दृष्टि दी है। इस प्रकार सैकड़ों प्रथाएँ, जो किसी समय बहुत महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद मानी जाती थी, नवसंस्कृत व्यक्ति के चित्त में कम मूल्य की और कभी-कभी हानिप्रद भी मानी जाने लगी हैं और ऐसी बहुत-सी प्रथाएँ, जिनके

प्रति घृणा और जुगुप्सा का भाव था, अब खुल्लम-खुल्ला आदर और सम्मान का पात्र बनती जा रही हैं। कैसा अद्‌भुत परिवर्त्तन है!

रामराज्य का स्वप्न : जिस समय मानवतावाद का जन्म हुआ था, उस समय जड भौतिक विज्ञान का बोलबाला था; इसीलिए तत्कालीन विचारकों के चित्त में भौतिक विज्ञान द्वारा प्रतिष्ठित प्रत्यक्ष-बोध की मर्यादा का बड़ा मान था। ऐसी आशा की गयी थी कि मनुष्य भौतिक विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण करेगा। निस्सन्देह मानवतावाद मनुष्य को शोषण और बन्धन से मुक्त करके इसी लोक में सुखी और समृद्ध बनाने के महान् और उदार आदर्शों से चालित हुआ था। मानवतावाद का साहित्य में निखरा हुआ रूप वैयक्तिक स्वाधीनता है, जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय साहित्य में अद्‌भुत क्रान्ति उपस्थित की। परन्तु जड़-विज्ञान के साथ-ही-साथ जहाँ मनुष्य का औदार्य उन्मिषित होता जा रहा था, वहीं यूरोप के बाहर के देशों पर कब्जा करके वहाँ से लूटी हुई सम्पत्ति के द्वारा अपना-अपना घर भरने की होड़ भी लगी हुई थी।

साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयतावाद : इसी मनोवृत्ति ने उस राष्ट्रीयतावाद को जन्म दिया, जिसकी कोख से साम्राज्यवाद नाम का घिनौना बच्चा पैदा हुआ। शुरू-शुरू में ईसाई धर्म का आश्रय लेकर साम्राज्यवाद पनपा था। अन्य धर्म माननेवाले देशों में इसकी अच्छी प्रतिक्रिया नहीं हुई; इसलिए साम्राज्यवाद ने इस नवीन मानवता-धर्म का सहारा लिया, जो उसकी मजबूती और कमजोरी दोनों का हेतु बन गया। एक ओर जहाँ सुसंस्कृत व्यक्ति का चित्त उड़ान लेकर आसमान छूना चाहता था, वहीं लोभी लुटेरों का दल उसे फन्दे में फाँसकर नीचे की ओर खींच रहा था। ऐसा ही हुआ करता है। जब-जब चैतन्य आसमान की ओर सिर उठाता है, तब-तब जड़त्व उसे नीचे की ओर खींचता है। जड-सत्ता में नीचे की ओर खींचने की अपार शक्ति है और चेतन-सत्ता में ऊपर की ओर उठने का ततोधिक आग्रह। यही द्वन्द्व संसार को थामे हुए है। इसी द्वन्द्व के अन्तरतर में प्रवेश करना और उसकी वास्तविकताओं को समझना सभी समस्याओं का समाधान है। जो हो, यह द्वन्द्व निरन्तर चल रहा है और जब तक सृष्टि है, निरन्तर चलता रहेगा। हमारे देश में यथासमय मानवतावाद भी आया; दलितों, अधःपतितों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया, और साथ-ही-साथ राष्ट्रीयता भी आयी। पश्चिमी देशों में राष्ट्रीय भावना के बहुल प्रचार ने एक राष्ट्र के भीतर सुविधा-भोगी और सुविधा के जुटानेवाले दो वर्गों के व्यवधान को बढ़ाने में सहायता पहुँचायी। जिन लोगों के पास सम्पत्ति है और जिनके पास सम्पत्ति नहीं है, उनका अन्तर भयंकर होता गया। एक तरफ तो विषमता बढ़ती गयी और दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की देवी युवावस्था की देहली पर पहुँचकर ऐसी ईर्ष्यालु रमणी सिद्ध हुई, जो सारे परिवार को ही ले डूबती है। संसार में एक ओर राष्ट्रीयता ने सिर उठाया, दूसरी ओर मानवतावाद के विकृत चिन्तन ने उस विकृत मतवाद

को जन्म दिया, जिसके अनुसार मनुष्यों में भी दो श्रेणी के मनुष्य हैं—एक उत्तम, दूसरे निकृष्ट; एक में देवत्व की सम्भावनाएँ हैं और दूसरे में पशुता से कोई विशेष अन्तर नहीं है। इन विकृत विचारों ने ठाँय-ठाँय दो महायुद्धों को भूपृष्ठ पर उतार दिया। इस प्रकार मनुष्यता की महिमा भी विकृत रूप में भयंकर हो उठी।

मानवतावाद के व्यक्ति-पक्ष की आलोचना : आज संसार का संवेदनशील चित्त इस भयंकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है। सारे संसार के साहित्य के निष्ठावान् मनीषियों के मन में आज एक ही प्रश्न है—यही क्या वास्तविक मानवतावाद है, जो मनुष्य को अकारण विनाश के गर्त में ढकेल रहा है? उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी स्वप्नदर्शियों ने और इस देश के पिछले खेवे के महान् साहित्यकारों ने क्या मानवतावाद की इसी महिमा का प्रचार किया है? आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव-चित्त की गम्भीरतम भूमिका से निकल रहा है—मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति-मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति-मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि-मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। आज के सुसंस्कृत मनुष्य की यही कामना है, यही उसके अन्तरतम की चाह है।

जड़-चेतन का द्वन्द्व : मनुष्य और उसकी चाह! क्या यह इच्छा किसी विशिष्ट अदृश्य चैतन्य की, ऊपरी स्तर की, अभिव्यक्ति नहीं है? और यह मनुष्य क्या? न जाने किस पुण्यक्षण में किसी अज्ञात काल के अज्ञात मुहूर्त में हमारा यह ग्रहपिण्ड, जिसका नाम पृथ्वी दिया गया है, सूर्य-मण्डल से टूट गया था। उस समय यह ज्वलन्त गैसों से भरा हुआ था। शुरू से अन्त तक यह केवल ताप से परिपूर्ण था। इस त्रुटित धरती-खण्ड के किस कण में जीव-तत्त्व वर्तमान था, कोई नहीं जानता। उसके बाद लाखों वर्ष तक यह पिण्ड ठण्डा होता रहा, चक्कर मारता रहा, दुर्दान्त वेग से दौड़ लगाता रहा। खिलाड़ी के इशारे पर नाचनेवाले सरकस के घोड़े की तरह यह चक्कर काटता रहा। लाखों वर्षों तक तप्त धातुओं की महाद्वेह वर्षा होती रही, लाखों वर्षों तक धरित्री का ऊपरी भाग धसकता-भसकता रहा; लाखो वर्षों तक इसकी पपड़ी ठण्डी होती रही। तब से आज तक यह विचित्र धरित्री-पिण्ड विपुल आकाश में निस्सहाय घूम रहा है। कोई भी पर-वलयगामी धूमकेतु इसे एक ही धक्के में चूर्ण-विचूर्ण कर दे सकता था और आज भी कर दे सकता है; कोई भी अतिपरवलयपन्थी अतिकाय परिव्राजक पिण्ड इसे चुम्बक की भाँति सटाक से खींचकर निगल ले सकता था और निगल ले सकता है; पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद होगा भी नहीं। धीरे-धीरे दुर्दान्त वेग कम हो गया, तप्त धातुओं की महाद्वेह वर्षा रुक गयी, धसकन-भसकन का उत्पात शिथिल हो गया, और सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि एकदम उस नवीन वस्तु का आविर्भाव हुआ, जिसे हम 'जीव' कहते हैं; जीव नहीं, जीव-कण।

गया ? ग्राधुनिक मनुष्य कहता है, यह एक रहस्य है, 'मिस्ट्री' है। परन्तु सचमुच ही यह 'मिस्ट्री' है—मिस्ट्री या रहस्य, जिसका कोई समाधान न मिलता हो ! कमल की पंखड़ियाँ एक-एक करके खुल रही हैं—ठीक है; पर क्या यों ही खुल रही हैं ? क्या भीतर से फट पड़नेवाली व्याकुलता किसी के इंगित पर नहीं प्रकट होती है ? क्या ऊपर से सूर्य की रश्मियाँ धीरे-धीरे नहीं उतर रही है ? एक तरफ अवतार हो रहा है, दूसरी तरफ उद्धार। एक तरफ अवतार का अनुग्रह और उद्धार का आग्रह ही क्या सृष्टि-लीला नहीं है ?

मध्ययुगीन अनुशीलन : हमारे देश के ऋषियों और सन्त-महात्माओं ने अपने ढंग से इस प्रश्न पर विचार किया था; उपरले सतह पर दिखनेवाली चेतना के अन्तरतर में प्रवाहित विराट् चेतना को उन्होंने अपने ढंग से सोचा था और उस विराट् इच्छा-शक्ति के मूल स्रोत भी खोज लाने का प्रयत्न किया था। बहुत पहले उन्होंने मनुष्य की महिमा का सन्धान पाया था। जो कुछ भी विपुल ब्रह्माण्ड में है, उसे पिण्ड में देखने का उनका ढंग निराला था। उन्होंने उस महाद्वन्द्व को भी गहराई में जाकर देखने का प्रयत्न किया था, जो इस समस्त सृष्टि को रूपायित कर रहा है। उनके देखने के ढंग और निष्कर्षों में आज के ढग और निष्कर्षों से मौलिक भेद था। मैं यहाँ यह नहीं कहने जा रहा हूँ कि आप उनकी सारी बातें स्वीकार कर लें या यह कि आप आज के समूचे प्रयत्नों को व्यर्थ समझकर उसी रास्ते चलने लगें। नहीं; मैं ऐसा नहीं कहता, पर मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि उस समूचे चिन्तन को एकदम भुला न दिया जाय। उसमें भी सत्य है, उसमें भी प्रकाश देने की क्षमता है। मैं खूब जानता हूँ कि इस युग में भी पुराने आदर्शों और विश्वासों के भूत मनुष्य का पिण्ड नहीं छोड़ रहे हैं और नवीन आलोक में प्रतिभासित भावी युग की मृग-मरीचिका उसे कम गुमराह नहीं कर रही है। ये अतीत के भूत और भविष्य की मृग-मरीचिकाएँ मनुष्य के चित्त में अनेक प्रकार के ऐसे संस्कारों को पैदा करती है, जो उसकी दृष्टि को मोहाकुल बनाती हैं और उसके लिए स्पष्ट देखने की क्रिया में बाधा उत्पन्न करती है। पुराने धार्मिक विश्वासों के मर जाने पर भी उनके बहुत-से निर्जीव स्थूल रूप—जो विधि-निषेधों और आचारों के रूप में प्रकट होते रहते है—उसे घेरे रहते हैं, और कई बार उन विश्वासों का मार्ग रोककर खड़े हो जाते हैं, जो आज भी जीवन्त है और जिन्हें सचमुच जीवन्त रहना चाहिए। आज की एक बड़ी भारी समस्या यह भी है कि मनुष्य निर्जीव रूढ़ियों, मरे हुए विश्वासों और मोह के उद्रेचक संस्कारों से बुरी तरह जकड़ गया है और जीवन के जीवन्त मूल्यों को ग्रहण करने में बाधा अनुभव करता है। वह यह तो जानता है कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्' (सभी पुरानी बातें ठीक ही नहीं हैं और सभी नयी बातें बुरी ही नहीं है) ; परन्तु सैकड़ों प्रकार की विचारधाराओं से नित्य टकराकर वह यह सोच ही नहीं पाता कि 'असाधु' पुराण और 'अनवद्य' नवीन है क्या वस्तु ? क्या आज तक जिन ऋषियों और सन्तों की वाणियों ने मनुष्य में

क्षणभंगुर मूल्यों के स्थान पर शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा करनी चाही है, वे सब नवीन मानवतावाद के एक ही झटके मे समाप्त हो गयी? क्या अतीत को एकदम अस्वीकार करके भविष्य का हृदयहारी भवन निर्मित हो सकता है? क्या सन्तों और भक्तो के पुराने साहित्य में जो कुछ उपलब्ध होता है, वह केवल मृत विचारों के भूत हैं या उनमें कुछ ऐसे प्राणवान् तत्त्व भी हैं, जो इस युग के विचाराघात-जर्जर मानव को कुछ आशा का सन्देश दे सकते हों?

मेरा विश्वास है कि पुराने सन्तों और महात्माओं के विचार मे सार-तत्त्व बहुत अधिक मात्रा मे है। पर उन विचारों को आपके विचार मे सार-तत्त्व मैं अपने इस विश्वास को यथासम्भव आपके सामने उपस्थित करते समय मेरी कामना तो यही है कि आपको अपने विचार का बोझ नही बनने दूँगा। बनाऊँ और यथाबुद्धि विचारो को समझाकर ही विरत हो जाऊँ।

सहज-साधना पृष्ठभूमि . मध्ययुग के निर्गुणमार्गी सन्तों और सगुणमार्गी भक्तो के सन्देश को ठीक-ठीक समझने के लिए उनकी पूर्ववर्ती साधनाओं से परिचय होना बहुत आवश्यक है। जब कबीरदास ने कहा था कि 'सहज सहज तो सब कहते हैं, पर सहज को कोई पहचानता नही', तब उनके मन मे निश्चित रूप से सहज-साधना का दावा करनेवाले अनेक साधक-सम्प्रदायो की स्थिति और परम्परा की बातें थी और इसी प्रकार जब सूरदासजी ने पूछा था कि 'निर्गुण कौन देस को बासी?', तो उनके मन मे निर्गुण-भाव की साधनाओं की पूर्ववर्ती परम्परा अवश्य विद्यमान थी। भारतवर्ष कोई नवसिखुआ देश नही है। मध्ययुग की साधनाओ का विचार करते समय हम केवल उसी युग में बँधे रहकर ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त नही कर सकेंगे। हर साधना के पीछे एक विस्तृत इतिहास है। नाना प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायो और दार्शनिक विचारों के अपात दृश्यमान स्वरूप ही सब कुछ नही है। सहस्रो वर्ष के अतीत के इतिहास मे उनकी जड़ें बहुत गहराई तक गयी हैं। भक्तिकाल के पहले इस देश में नाथ-सम्प्रदाय का बड़ा जोर था। फिर शाक्त-साधनाएँ समूचे देश मे फैली हुई थी। शाक्त-साधनाओं का इतना प्रबल प्रभाव था कि नाथ लोग भी अपने को 'कौल' कहते थे। वस्तुतः मत्स्येन्द्रनाथ के नाम पर जो कुछ ग्रन्थ प्राप्त हुए है, वे उन्हें कौल ही सिद्ध करते है। डॉ प्रबोधचन्द्र बागची ने 'कौलज्ञान-निर्णय' और 'अकुल वीरतन्त्र' प्रभृति ग्रन्थो का सम्पादन किया है, जो मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित बताये गये हैं। 'सिद्ध सिद्धान्त-संग्रह' आदि ग्रन्थो में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि "मत तो हमारा 'कौल' ही है।"

कौल-साधना : कौल अर्थात् 'कुल की उपासना करनेवाले'। 'कुल' शक्ति का और 'अकुल' शिव का नाम है। इस प्रकार कौलो और नाथों के मत मे बहुत साम्य है। दोनों के साधना-पक्ष मे अन्तर भी है, परन्तु यहाँ मैं इस पक्ष के विस्तार मे नही जाना चाहता। यहाँ मेरा उद्देश्य केवल यही है कि नाथ और कौल-साधना अपने देश के इतिहास मे किसी जमाने मे बहुत प्रबल थी। इन साधनाओं ने उससे-

भी पहले की बौद्ध-साधनाओं से बहुत-कुछ ग्रहण किया था। यद्यपि निर्गुणमार्गी सन्तों से सहजयानी-वज्रयानी बौद्धों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता, तथापि कौल और नाथों की मध्यस्थता से उनके बहुत-से भाव सन्तों की साधना में भी रूप, वेश और स्वभाव बदलकर मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य की प्रत्यक्ष धारा में आनेवाले उपनिषद् और पुराण आदि धर्म-ग्रन्थ अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि दार्शनिक विचारधाराएँ तो बराबर ही इन सन्त-भक्तों को प्रेरणा देती रहीं। कुछ भी चर्चा करने के पहले उस विषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जनना बहुत आवश्यक होगा।

मानव-देह की श्रेष्ठता : चौरासी लाख योनि, चौरासी अंगुल का शरीर : उत्तर मध्यकाल के भारतीय मनीषियों ने मनुष्य-देह की श्रेष्ठता स्वीकार की थी। चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद बड़े पुण्य से यह चौरासी अंगुल का मानव-शरीर प्राप्त होता है। दो प्रकार से इस मानव-शरीर को महिमा मिली। प्रथम तो यह कि जो समस्त विश्व की नियन्त्रणकारिणी परा शक्ति है, वह यद्यपि घट-घट में व्याप्त है, यद्यपि कोई अणु-परमाणु ऐसा नहीं है, जो उसकी सत्ता से सत्तावान् न बना हो, तथापि वह अपनी सर्वश्रेष्ठ लीलाएँ मनुष्य-शरीर को आश्रय करके ही प्रकट करती है। यद्यपि विष्णु के अनेक अवतार हुए, तथापि जो अवतार सर्वाधिक मानवीय है—राम, कृष्ण और बुद्ध—उन्हीं को आश्रय करके इस काल की सारी धर्म-साधना और काव्य-साधना विकसित हुई। दूसरी ओर यह कहा गया कि भगवान् को कहीं बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। यह शरीर ही उनका आवास-स्थल है, इसी में शिव और शक्ति की, 'निरगुन' और 'सरगुन' की नित्य लीला चल रही है—'मो को कहाँ ढूँढे वन्दे, मैं तो तेरे पास में'।

संयोगवश हमारे देश की परम्परा का स्वाभाविक विकास रुद्ध हो गया। आधुनिक दृष्टि जिस दिन हमें प्राप्त हुई, उस दिन हमें प्राचीन ज्ञान को परख लेने की दृष्टि नहीं रह गयी थी। अगर इस दृष्टि का स्वाभाविक विकास होता, तो क्या होता, यह कहना कठिन है। मानवता यदि हमारी परम्परा के क्षेत्र में उगती, तो क्या और कैसा वृक्ष उगता, कैसा फूल खिलता, यह सब अब केवल अनुमान का विषय रह गया है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' और पं. द्वारिकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' से उसकी एक झलक मिल सकती है। लेकिन ये प्रयास भी गाढ़ चिन्तन के परिणाम हैं, स्वतःस्फूर्त सहज विकास के रूप नहीं।

पारख-पद : पहले हम निर्गुणमार्गी भक्तों की बात लेंगे। साधारणतया मध्यकाल के निर्गुणमार्गी या ज्ञानमार्गी सन्तों को तर्क-परायण भक्त माना जाता है। कारण शायद यह है कि उन्होंने 'पारख' (परीक्षा) या विवेक पर बहुत अधिक जोर दिया है। प्रत्येक वस्तु को ठोक-पीटकर देख लेने की ओर उनका पक्षपात अधिक है। जो बात धार्मिक विश्वास और परम्परा-समागत रूढ़ियों को आश्रय

करके जी रही है, उसकी परीक्षा के लिए तो वे और अधिक सतर्क दीखते हैं। कबीरदास को ही लीजिए। उनके नाम पर पाये जानेवाले सैकड़ों पदों में यह बात नाना भाव से घुमा-फिराकर कही गयी है। जिस आदमी ने खरे-खोटे का विचार किये बिना ही विश्वास कर लिया, वह उस मूर्ख महाजन की भाँति है, जो मूल गँवाकर लाभ की आशा करता है :

खरा खोट जिन नहिं परखाया,
चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया।

इसलिए विवेक और विचार परमावश्यक है। विचार सत् और असत् के यथार्थ स्वरूप को पहचानने में सहायता करता है और विवेक सत् से असत् को और असत् से सत् को अलग कर देता है। 'पारख' के ये ही दो स्तर हैं। कबीरदास ने दोनों को साधना-मार्ग का आवश्यक सहायक माना है। मनुष्य को दुःख-कष्ट इसलिए है कि उसे यथार्थ ज्ञान नहीं है और जो दुःख उसका नहीं है, उसे वह अपना माने बैठा है। विचार से यह दुःखानुभूति दूर हो सकती है, परन्तु फिर भी वास्तविक वस्तु का पाना बाकी रह जाता है। विवेक उसे इसी वास्तविकता की ओर उन्मुख करता है। वह, झूठ के साथ जो सम्बन्ध है, उसे दूर कर देता है। इसीलिए कबीरदास ने कहा है :

करु विचार जेहि सब दुख जाई,
परिहरि झूठा केर सगाई।

अब यदि इस बात को अपनी तर्कसंगत सीमा तक घसीटा जाय, तो वह वहाँ जाकर रुकती है, जिसे आजकल 'अनुसन्धान' कहा जाता है। 'अनुसन्धान' विश्वास का परिपन्थी माना जाता है। अनुसन्धान किसी बात को, वह जैसी दिख रही है, वैसी नहीं मानना चाहता। संसार की वास्तविकता को उसकी गहराई में जाकर खोजने की आवश्यकता है। जो कुछ जैसा दीख रहा है, उसका वही स्वरूप नहीं भी हो सकता। प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसकर देख लेना आवश्यक है। अनुसन्धान की लपेट से न तो धर्म बच सकता है, न आत्मा, न ईश्वर, न योग, न भक्ति। इसी बात को प्राचीन शास्त्रकारों ने इस प्रकार कहा है कि वही धर्म के वास्तविक रहस्य को जानता है, जो तर्क से अनुसन्धान करता है : 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'।

अनुसन्धान का मार्ग : आज तक वास्तविक सत्य को पहचानने के लिए अनेक तर्कपूर्ण प्रयास हुए हैं। यह खेद का ही विषय कहा जाना चाहिए कि इस पद्धति ने मनुष्य को केवल सन्देह-परायण बनाया है। तर्कपूर्ण अनुसन्धान से जितने परिणाम निकले हैं, वे परस्पर-विरोधी और अपूर्ण सिद्ध हुए हैं। क्या कबीरदास को इस श्रेणी का तार्किक माना जा सकता है? क्या उन्होंने जिस 'पारख-पद' को इतना बहुमान दिया है, वह अन्त तक जिज्ञासु को भटकाने-भरमानेवाला ही होकर रहेगा? कोई नहीं कह सकता कि कबीरदास ने अविश्वास-परायण नास्तिकता का सन्देश दिया है। फिर वह-क्या बात है, जो कबीरदास को एक

साथ 'पारख' का पक्षपाती और विश्वपरायण भक्त, दोनों बना देती है ? आपात दृष्टि से तर्क और विश्वास में कोई मेल नहीं है, वे परस्पर-विरोधी बातें हैं।

सन्तों के सन्देश को समझने के लिए यह ठीक-ठीक जानना आवश्यक है कि तर्क और विश्वास किन अंशों में परस्पर-विरोधी है, और कोई ऐसा स्थान है या नहीं, जहाँ दोनों मिल सकते हों।

फिलॉसफी और थियालॉजी—तर्क और विश्वास : एक पश्चिमी पण्डित ने संसार के तत्त्ववाद का इतिहास लिखा है। भूमिका में उन्होंने बताया कि पुस्तकों में भारतीय दर्शनों की चर्चा उन्होंने एकदम छोड़ दी है; क्योंकि जिस चीज को पश्चिम में फिलॉसफी (ज्ञानानुसन्धान) कहते हैं, उसका भारतवर्ष में विकास हुआ ही नहीं है। फिलॉसफी का मूलमन्त्र सन्देह है और धर्मविज्ञान (थियॉलॉजी) का केन्द्रिय सत्य विश्वास है। भारतीय दर्शनों ने कभी भी धर्म-विज्ञान को छोड़ा नहीं। पश्चिमी पण्डित के इस तर्क में विचारणीय बातें हैं। यह सत्य है कि भारतवर्ष के दर्शनों का मूल प्रतिपाद्य धर्म ही है; परन्तु यह धर्म वह वस्तु नहीं है, जिसे पश्चिम में 'थियॉलॉजी' कहते हैं। दर्शन शब्द का अर्थ ही है देखना। इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि 'दर्शन' कुछ सिद्ध महात्माओं के देखे हुए (साक्षात्कृत) सत्यों का प्रतिपादन करता है। इसीलिए भारतवर्ष में जिस वस्तु को दर्शन कहते हैं, उसका केन्द्र-बिन्दु 'सन्देह' नहीं है, बल्कि योग द्वारा समाहित चित्त का अनुभूत (दृष्ट) सत्य है। इस सत्य के आलोक में 'द्रष्टा' जगत् के और आत्मा के मूल स्वरूप की विवेचना करता है और दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग खोजता है।

धर्म-विज्ञान आप्त-वाक्यों, प्रचलित परम्पराओं और रूढ़ विचारों से प्राप्त विश्वास का तर्क से समर्थन करता है। वह धर्म का तत्त्ववाद है। 'भारतीय दर्शन' वस्तुतः दार्शनिक 'धर्म' का प्रतिपादन करते हैं। फिलॉसफी ग्रीक भाषा से आया हुआ शब्द है। उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'ज्ञान के प्रति प्रेम' है। जानकार लोगों का कहना है कि पश्चिम के तत्त्ववाद ने ज्ञान के प्रति प्रेम का जैसा परिचय दिया है, वैसा परिचय ज्ञेय के प्रति प्रेम का नहीं दिया है।

पांच तत्त्व : मनुष्य एकदम विचारशून्य होकर कभी नहीं रहता। वह कभी इस प्रकार विचार करता है, जिसमें तर्क विश्वास को सहायता करता है और कभी इस प्रकार, जिसमें तर्क सन्देह को उद्रिक्त करता है। कबीरदास के 'पारख' का रहस्य समझने के लिए हम मनुष्य की समूची अनुसन्धित्सा को पाँच मोटे स्तरों में विभक्त करके देख सकते हैं। ये विचार साधारणतः पाँच बातों को केन्द्र करके चले हैं—(1) भौतिक तत्त्व, (2) प्राणतत्त्व, (3) मनस्तत्त्व, (4) बुद्धितत्त्व, और (5) अध्यात्मतत्त्व। पाँचों की दो-दो परिणतियाँ हुई हैं। जिस परिणति ने सन्देह को उद्रिक्त किया है, वह 'दार्शनिक मतवाद' का रूप धारण कर गयी है। इस प्रकार समस्त तत्त्वानुसन्धान इन दस मोटे विचारों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

सहज साधना में पाँच तत्त्व : इन पाँचों को सहज भाषा में इस प्रकार रखा जा सकता है—(1) विश्व की प्रपंच-विधायिका शक्ति बाहर है, (2) कुछ भीतर है, कुछ बाहर है, (3) केवल भीतर है, बाहर जो कुछ है, वह भीतर की छाया है, (4) बाहर भीतर एक ही है, और (5) बाहर तथा भीतर दोनों को लेकर और दोनों से अतिरिक्त कोई एक है।

इनका परिणाम : (1) भौतिक तत्त्व को ही सब कुछ का मूल माननेवाले सन्देह-परायण विचारक शरीर को एक मशीन-मात्र मानते हैं। भौतिक पदार्थों के संयोग से यह शरीर बना है। जब तक पुर्जे दुरुस्त है, तब तक यन्त्र भी चल रहा है। पुर्जे टूट जायेंगे, तो शरीर भी नष्ट हो जायेगा और उसी के साथ प्राण और आत्मा सभी कुछ विलीन हो जायेंगे। सबकुछ बाहर है, भीतर कुछ भी नहीं है। विश्वास-परायण विचारक के चित्त में जब यह बात आती है, तब वह जल-स्थल, आकाश-पर्वत, नदी-नाले, सबकुछ में अपूर्व दैवी शक्ति का अनुभव करता है। प्रत्येक शरीर-अवयव इन शक्तियों से अधिष्ठित और चालित है। सबकुछ बाहर है; पर सबकुछ में एक अतिप्राकृत शक्ति वर्त्तमान है। (2) भौतिक विज्ञान की उन्नति ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। दूसरे स्तर पर जाकर मनुष्य ने अनुभव किया है कि चेतन और जड़ दो वस्तुएँ हैं। चेतन प्राण-शक्ति की भीतरी रचनात्मक शक्ति का विकास है। जड़ और चेतन से ही यह जगत्-प्रपंच बना है। विश्वास-परायण विचारक ने जड़ पदार्थों के साथ-साथ ही नाना प्रकार के देव-देवी, भूत-पिशाच आदि की कल्पना की। यह विश्व-ब्रह्माण्ड नाना प्राणवान (असुर) शक्तियों से भरा हुआ है। सो, यद्यपि भीतर भी कुछ सत्य है, परन्तु बाहर और भी जबर्दस्त नियन्तृ-मण्डली बैठी है। (3) मनुष्य इससे भी ऊपर उठा। यह जगत्-प्रवाह वस्तुतः मनुष्य-मन की अपेक्षा से ही सत् है। मनुष्य का भीतर ही बाहर की कल्पना करता है। जगत्-मानस-प्रवाह की कल्पना है। मन स्वयं क्षणभंगुर है और उसके द्वारा कल्पित जगत् तो क्षणिक है ही। जो कुछ है, वह मनुष्य का चित्त है। विश्वास-परायण मनुष्य ने जब इस सत्य का अनुभव किया, तब उसने इस रहस्य के नियन्ता परमात्मा को मनुष्य रूप में कल्पना की। मनुष्य के रूप में ही भगवान् लीला करते हैं। सभी धर्मों में इस बात को इस प्रकार कहा गया कि मनुष्य स्वतः भगवान् की प्रतिकृति है। वस्तुतः मनुष्य का चित्त भीतर ही भीतर सबकुछ का स्रष्टा है। (4) किन्तु यह भी बाह्य है। मनुष्य के पास मन से भी सूक्ष्म यन्त्र है। वह बुद्धि है। बुद्धि से उसने जगत् के नाना सम्बन्धों पर विचार किया कि भीतर और बाहर एक है, एक ही अद्वैत तत्त्व। यहाँ आकर विश्वास और तर्क आपाततः 'एक' हो गये। दोनों ने घूम-फिरकर यह निष्कर्ष निकाला कि भीतर और बाहर एक ही अद्वैत तत्त्व है। यह अतीन्द्रिय है; पर बुद्धि-ग्राह्य है। लेकिन यह आपात ऐक्य वस्तुतः 'ऐक्य' नहीं है।

ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता : यदि ज्ञेय को ही प्रधान मान लिया जाय और ज्ञान

को उसका परिणाम समझा जाय, तो यह जड़ाद्वैत होगा। तर्क-परायण विचारक इसी अद्वैत तक पहुँचेगा। परन्तु यदि ज्ञान को प्रधान मान लिया जाय और ज्ञेय को उसका परिणाम माना जाय, तो यह चेतनाद्वैत होगा। विश्वास-परायण विचारक इसी नतीजे पर पहुँचेगा। परन्तु इन दोनों में ही जो बात उपेक्षित है, वह ज्ञाता है। ज्ञान और ज्ञेय में से कोई एक प्रधान है और दूसरा उसकी अभिव्यक्ति है, इस बात को जाननेवाला तत्त्व इन मतों में उपेक्षित रह जाता है। ऊपर जितने भी मत गिनाये गये हैं, उनमें इस ज्ञातृ-तत्त्व की उपेक्षा हो गयी है। जो यह सब अनुभव कर रहा है, वही वस्तुतः समस्त सत्यों का सत्य है। उसे बाहर नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्पष्ट ही वह भीतर अनुभूत हो रहा है। फिर केवल भीतर भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बाहर का जगत् भी स्पष्ट ही उसके अनुभव का विषय है। कबीर ने कहा है :

भीतर कहूँ तो जगमग लाजैं, बाहर कहूँ तो झूठा।
भीतर-बाहर सकल निरन्तर चेत-अचेत दुइ पीठा।

सो, चेतन और अचेतन उस एक परम-तत्त्व के दो पीठ हैं। वह बाहर और भीतर दोनों को अंग बनाकर वर्तमान है।

यह तत्त्व अनुभवगम्य है। नाना प्रकार के संयम और वैराग्य से प्रतिष्ठित चित्त से ही इसका साक्षात्कार होता है। वह जड़ और चेतन से परे है। उसे पोथी पढ़ने से नहीं जाना जा सकता। वह राग-द्वेष से मलिन चित्त में उसी प्रकार प्रतिभात नहीं होता, जिस प्रकार मलाच्छन्न मुकुर में मनुष्य की प्रतिकृति नहीं दीखती।

तीन विचारधाराएँ : जिसे 'वास्तविकता' कहा जाता है, वह क्या है ? मोटे तौर पर तीन प्रकार के विचार इस दृश्यमान् जगत् की वास्तविकता के बारे में मिलते हैं—(1) प्रथम यह कि जो कुछ दिख रहा है, वह सत्य है, वह वास्तव है। इस विचार के पोषक अपने को यथार्थवादी कहा करते हैं। यह जो जड़ जगत् है, वह सत्य है, वह वास्तव है, यथार्थ है। प्राण, मन और बुद्धि इसी के क्रमिक विकास हैं। मनुष्य की बुद्धि पर्याप्त विकसित हो चुकी है। उसे इस जगत्-प्रपंच को देखने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हैं, जो असल में मस्तिष्क के स्नायुओं के ही प्रतिवर्द्धित रूप हैं, जिसे अंग्रेजी भाषा में 'प्राउटप्रोथ' कहते हैं। इन पाँच सूक्ष्म यन्त्रों के द्वारा मनुष्य शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-मय जगत् का पता पाता है। किन्तु कठिनाई यह है कि भौतिक विज्ञान के द्वारा हमने यह जाना है कि इस जगत् को जैसा हम देख रहे हैं, वह थोड़ी-सी विवेचना के बाद ही अवास्तव मालूम होता है। जिसे श्रवणेन्द्रिय (कान) नहीं है, उसके लिए शब्द की कोई सत्ता ही नहीं। आँख में यदि विकार आ जाय, तो जो रंग सबको नीला दिखता है, वह विकार-ग्रस्त आँखवाले को पीला दीख सकता है। नीला रंग सबको एक ही समान नीला नहीं दीखता। यह एक औसत कामचलाऊ धारणा-मात्र है। शब्द को उष्णता (स्पर्श) में और उष्णता को रूप में बदल देना तो

आज विज्ञान के बायें हाथ का खेल है। जगत् जैसा दीख रहा है, वह औसत (नार्मल) मनुष्य की कामचलाऊ धारणा-मात्र है। इस कामचलाऊ धारणा को सत्य, वास्तव या यथार्थ कहने में भौतिक विज्ञान झिझकता है। सचाई कुछ और है, जो इन आपात दृश्यमान् इन्द्रिय-विषयों के अन्तराल में है। ज़रा-सा तरंगों के हेर-फेर से शब्द स्पर्श बन जाता है; स्पर्श रूप बन जाता है। दृश्यमान् जड़-जगत् की सचाई केवल बात की बात है। तो सच क्या है? जड़-तत्त्व का स्वभाव, उसका सहजात कोई धर्म है, जिसे हम जान नहीं पाये। इसलिए जड़-तत्त्व को ही यथार्थ और वास्तव माननेवाले थोड़ी दूर तक ले जाकर हमें अँधेरे में छोड़ देते हैं। वे कहते है कि अभी तक हमें इतना ही मालूम है। उसके बाद क्या है, खोजना चाहिए। है जरूर, मगर जब मनुष्य की बुद्धि और भी विकसित होगी, तभी हम उसे जान सकेंगे। अभी और खोजो, और, और। कब इस अनुसन्धान-कार्य की समाप्ति होगी, कोई नहीं जानता। शायद कभी नहीं होगी। सचाई खोजने से मिल ही जायेगी, उसकी कोई गारण्टी नहीं है। पर मनुष्य चुप नहीं बैठेगा, वह खोजता जायेगा, खोजता जायेगा। खोजने में मनुष्य की मनुष्यता है। वह अवलान्त यात्री होकर ही धन्य होता है। जड़-तत्त्ववादी यह नहीं बताता कि इस खोजने की जो दुर्दम्य लालसा है, वह क्यों है। क्या इस उन्मत्त अभिसार-यात्रा का कोई लक्ष्य नहीं है? क्या मालूम? प्रिय का नाम नहीं, रूप नहीं, पता नहीं और वह है भी कि नहीं, यह भी नहीं मालूम; पर अभिसार चल रहा है। अभिसार ही अभिसार की चरितार्थता है। जड़-तत्त्ववादी से अधिक आदर्शवादी कौन है? हाय, हाय, कितनी गहराई से यह प्रेमलिप्सा उद्भूत है!

दूसरा विचार यह है कि सबसे बड़ी सचाई यह नहीं है कि यह दृश्यमान् जगत् यथार्थ है, जड़-तत्त्ववादी भी मानता है कि यह जैसा दीख रहा है, वैसा नहीं है। निश्चित रूप से सिर्फ दो बातें सत्य हैं। पहली यह कि कोई जानने-वाला है, देखनेवाला है, अनुभव करनेवाला है; दूसरी यह कि यह जो ज्ञाता है, उसके कुछ विचार है, धारणाएँ है, ज्ञान है। ज्ञाता है और ज्ञेय है, परन्तु ज्ञेय की यथार्थता विवाद का विषय है। ज्ञाता की जो धारणाएँ हैं, उसी में ढलकर ज्ञेय प्रतिभात हो रहा है। असल में ज्ञेय (जगत्) के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ज्ञान या 'आइडिया' विवाद का विषय नहीं है। ये लोग अपने को 'आइडियलिस्ट' कहते है और हिन्दी में इसी का प्रतिशब्द आदर्श-वादी है। दृश्यमान् जगत् हमारी रचना है, हमारी धारणाओं का बण्डल है। इन विचारकों के कई समूह हैं। कुछ ज्ञाता को ही मुख्य मानते हैं; कुछ ज्ञान को ही बहुमान देते हैं; कुछ ज्ञाता और ज्ञान को निरन्तर प्रेरणा देनेवाली एक सत्ता की कल्पना करते हैं और कुछ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में अभिव्यक्त होनेवाले परात्पर अव्यक्त तत्त्व की वकालत करते हैं। परन्तु सबका विश्वास है कि मनुष्य का भाग्य किन्हीं बाह्य तथ्यों पर अवलम्बित नहीं है, बल्कि अपने ही विचारों

और धारणाओं के अधीन है। जब मानव-चित्त अपने उल्लास के चरम विन्दु पर आता है, तब वह इसकी सचाई अनुभव करता है। त्याग, तप, परोपकार, सेवा, पर-दुःख कातरता इसी आदर्शवादी विचारधारा की देन हैं। मनुष्य में ये हैं, और इनके लिये किन्हीं बाह्य कारणों से उत्पन्न कष्ट और व्यथा को वह उपेक्षणीय समझता है। यही इस बात का सबूत है कि विचार या ज्ञान ही वास्तव सत्य है। धार्मिक भावापन्न व्यक्ति आदर्शवादी होता है। वह कहता है कि मनुष्य में ज्ञान की जो दुर्दम लालसा है, अनुसन्धान के लिए जो अक्लान्त यात्रा है, वह वास्तव में अनन्त ज्ञान-रूपा परात्पर शक्ति की लीला-मात्र है। वह लक्ष्यहीन अभिसार-यात्रा नहीं है, किसी अज्ञात चिन्मय की मोहन वंशी की पुकार है, लक्ष्य है, लक्ष्य का इंगित भी है और उसे पाया भी जा सकता है। अज्ञात चिन्मय की यह पुकार संसार का सबसे बड़ा यथार्थ है। वही इस जगत् को विचारों, धारणाओं और अनुभूतियों के माध्यम से रूपायित कर रहा है। ज्ञान, ज्ञाता का ही नामान्तर है।

तीसरा मत उन लोगों का है, जो किसी मानव-निरपेक्ष परात्पर तत्त्व को विशेष बहुमान नहीं देते। हम जो कुछ देख रहे हैं, जो कुछ समझ रहे हैं, जो कुछ अनुभव कर रहे हैं, वह मानव-गृहीत सत्य है। मनुष्य-निरपेक्ष कोई परात्पर सत्य है या नहीं है, यह जानने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है। जड़-तत्त्व, जैसा हमको प्रतिभात हो रहा है और बौद्धिक स्तर पर उसकी मूलगामिनी अन्तरालवर्तिनी शक्ति का जो रूप हमें दिखायी दे रहा है, सब मानव-गृहीत सत्य हैं। मानव-मस्तिष्क के अभाव में वह वैसा ही दिखेगा या नहीं, कौन जानता है? ईश्वर, धर्म, नैतिकता, सब मनुष्य की पहुँच के भीतर के सत्य हैं, निरन्तर अनुसन्धान द्वारा सचाई को खोजने की दुर्दम लालसा और इस सारे प्रयत्न-जाल के मूल में इसे प्रेरणा देनेवाली किसी परात्पर शक्ति पर अहेतुक विश्वास—ये सब मानव सत्य हैं। इसके अतिरिक्त कुछ है या नहीं है, यह कहना असम्भव है। जो लोग ऐसा कुछ खोजने या जानने का दावा करते हैं, वे अपनी ही सीमाओं में दौड़ते हैं और आत्मलुब्ध प्रेमी की भाँति अपनी ही तस्वीर पर प्राण निछावर कर रहे हैं। ईश्वर का कोई मनुष्य-निरपेक्ष रूप हो भी, तो हमें नहीं मालूम। ये लोग एक प्रकार के अविश्वासी ही हैं, लेकिन उनका अविश्वास उनके अत्यन्त दृढ़ विश्वास का कवच है, अभिसार भी है, अभिसार-यात्रा भी है, अव्यतिकूल वंशी की मोहन ध्वनि भी है; पर सब मनुष्य का भावगृहीत सत्य है; मनुष्य-निरपेक्ष गुणातीत, भावातीत कुछ भी नहीं है। जिसे 'ऐब्सोल्यूट ट्रू्थ' कहा जाता है, वह केवल बात की बात है। हो भी, तो हम कुछ उसके बारे में कह नहीं सकते; क्योंकि हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है।

सबार उपर मानुष सत्य ताहार उपर नाइ।

इस प्रसंग में मुझे तैत्तिरीय उपनिषद् की एक कहानी याद आ रही है। बड़ी सुन्दर कहानी है, और बड़े काम की भी।

भृगुवल्ली की कहानी : भृगु ने अपने पिता वरुण से कहा कि 'भगवन्, मैं ब्रह्मज्ञान पाना चाहता हूँ।' पिता ने तप करने की आज्ञा दी। कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने आविष्कार किया कि अन्न ही ब्रह्म है। पिता ने फिर तप करने को कहा। पुत्र ने दुबारा तप करके पता लगाया कि प्राण ही ब्रह्म है। फिर तप और फिर खोज—मन ही ब्रह्म है। फिर तप, फिर खोज—विज्ञान ही ब्रह्म है। पिता सन्तुष्ट नहीं हुए। फिर तप। अब की बार पिता ने सन्तुष्ट होकर पुत्र से सुना कि आनन्द ही ब्रह्म है—आनन्द अर्थात् अध्यात्म-तत्त्व। इस प्रकार अन्न (भौतिक तत्त्व), प्राण-मन-विज्ञान (बुद्धितत्त्व) और आनन्द (अध्यात्म-तत्त्व), ये पांच ज्ञान के स्तर हैं। उपनिषद के ऋषि ने बड़े सहज ढंग से इस तत्त्व को समझाया है। यह जो अन्तिम सत्य है, वह परम्परा-समागत धर्मग्रन्थ और रूढ़ आचारनिष्ठा पर विश्वास रखनेवाले श्रद्धालु को मान्य नहीं होता; क्योंकि अनुभव करनेवाले की अनुभूति-शक्ति का क्या ठिकाना? इस प्रकार अनुसन्धान का मार्ग ग्रहण करनेवाला जिस स्थान पर सन्देह का सागर पार कर विश्वास-परायण बन जाता है, वहीं विश्वास के रास्ते चलनेवाला सन्देहवादी बन जाता है। वह अनुभव के मार्ग को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है और आप्त वाक्यों पर अधिक निर्भर हो जाता है। परन्तु दोनों के मध्य में कोई मार्ग होना चाहिए। मुझे लगता है कि सन्त लोग जिसे 'अनभै साच' पन्थ कहते हैं, उसमें इस समस्या का समाधान है। मैं धीरे-धीरे उसी की ओर अग्रसर हो रहा हूँ।

पर-तत्त्व क्या है ? : पर-तत्त्व, जो जड़ और चेतन के रूप में अभिव्यक्त होता जा रहा है, यही योगियों का शिव-तत्त्व है और वेदान्तियों का ब्रह्म है। किस प्रकार यह निर्गुण, निःस्पन्द, सच्चिदानन्द स्वरूप परतत्त्व एक तरफ अनेक जड़ पदार्थों में अभिव्यक्त हो रहा है और दूसरी तरफ समस्त स्थावर जंगमात्मक प्राणिजगत् में अभिव्यक्त हो रहा है, यही वास्तविक प्रश्न है। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, पर चलता नहीं, साँस नहीं लेता, सोचता नहीं, समझता नहीं, बोलता नहीं, बल्कि निश्चेष्ट निःस्पन्द होकर वर्तमान है—केवल 'है'-मात्र है—वह जड़ भी उसी परतत्त्व का अभिव्यक्त स्थूल ठोस रूप है और यह जो कुछ साँस ले रहा है, हिल रहा है, चल रहा है, बढ़ रहा है, कर रहा है, सोच रहा है और समझ रहा है—जो है भी और जी भी रहा है—जो 'चेतन' है—वह भी, उसी पर-तत्त्व की अपेक्षाकृत सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। पहला केवल 'सत्' रूप है, और दूसरा 'सत्' रूप भी और 'चित्' रूप भी। पर-तत्त्व सत् रूप भी है, चित् रूप भी है और साथ-ही-साथ उसका एक और भी रूप है और उसी रूप के लिए यह सम्पूर्ण सत्ता है, और सम्पूर्ण चेतना है। वह उसका आनन्द-रूप है। उपनिषदों में कहा है कि आनन्द से ही भूत-मात्र की उत्पत्ति होती है। आनन्द से ही वे निकलते हैं और आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं। जब तक कुछ रस न मिले, तब तक कोई कुछ काम करने में प्रवृत्त भी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी में यह सच्चिदानन्द विद्यमान है; इसीलिए प्रत्येक प्राणी कुछ-न-कुछ रचना करने में आनन्द पाता है,

रस पाता है। जहाँ कहीं भी निर्मल ग्रानन्द है, वहीं सच्चिदानन्द ग्रपने शुद्ध रूप में उल्लसित हो उठता है। स्पष्ट ही, सृष्टि रचना में भी उसे 'रस' मिलता है; क्योंकि वह स्वयं 'रस' रूप है।

सर्जनेच्छा : ग्रब यह बात बिल्कुल ही समझ मे नही ग्रानेवाली है कि जो निश्चेष्ट है, निर्गुण है, वह सृष्टि कैसे करता है ग्रौर क्यों करता है। क्या उसे कोई ग्रभाव है? ऋषियो ने कहा है, उसे ग्रकेले ग्रच्छा नही लगता—'स एकाकी नाऽरमत'। इसलिए उसके मन मे इच्छा हुई कि मैं एक हूँ, ग्रनेक होऊँ—'एकोऽहं बहुस्याम्'। क्यों उसके मन मे इच्छा हुई, कौन बतायेगा? प्रसादजी ने इच्छा को 'ग्रभाव की चपल बालिका' कहा है। परन्तु जिसे कोई ग्रभाव नही, जो केवल भावरूप ही है, उसके चित्त मे यह प्रथम इच्छा, प्रथम सिसृक्षा कैसे हुई, यह बडा कठिन प्रश्न है; परन्तु हुई ग्रवश्य। मैंने ग्रारम्भ मे ही बताया है कि ग्राधुनिक विचारक भी दूसरे रास्तों से चलकर मनुष्य की इस इच्छा-शक्ति की विजय-गाथा को स्वीकार करते हैं। यह पर-तत्त्व की ग्रपर-तत्त्व मे बदलने के लिए जो व्याकुलता है, जो ग्रपने को द्विधा करके रमण करने की लालसा है, वही समस्त सृष्टि के मूल में है। उसे सिसृक्षा कहिए, माया कहिए, शक्ति कहिए—नाम में क्या रखा है; वह उसके स्वभाव में है। स्वभाव ग्रर्थात् ग्रपना होना, ग्रपनी सत्ता। निश्चय ही यह शक्ति उसके स्वभाव में ही है।

सृष्टि का स्फुरण : नाथ योगियों का कहना है कि इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है, तब इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। वेदान्ती लोग उसे 'ग्रपरं ब्रह्म' कहेंगे। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा ही शक्ति है। ग्रब इस ग्रवस्था मे परम शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते है—शिव ग्रौर शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच ग्रवस्थाग्रों से गुजरती हुई स्फुरित होती है—(1) परम शिव की ग्रवस्था—मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, ग्रौर प्रायः स्फुरित होने की उत्क्रान्त ग्रवस्था का नाम 'निजा' है। इस ग्रवस्था में शिव ग्रपने ग्रव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शरीर मे विशिष्ट होकर रहा करते है। शिव की इस ग्रवस्था का नाम 'ग्रपरं पद्म' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (2) स्फुरण की ग्रोर उन्मुख होती है, फिर (3) स्पन्दित होती है, फिर (4) सूक्ष्म ग्रहंता (मैं-पन ग्रर्थात् ग्रलगाव का भाव) से युक्त होती है, ग्रौर ग्रन्त में (5) चेतनशीला होकर ग्रपने ग्रलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये ग्रवस्थाएँ क्रमशः परा, ग्रपरा, सूक्ष्मा ग्रौर कुण्डली कही जाती हैं। इन ग्रवस्थाग्रों में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन ग्रौर परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पाँच ग्रवस्थाग्रों से गुजरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुण शिव के रूप मे प्रकट होते हैं ग्रौर शक्ति भी पाँच ग्रवस्थाग्रों से ग्रग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है। इसी की इच्छा

से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्व-प्रपंच की उत्पत्ति, पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्मतम तत्त्व हैं। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुई है।

सीमा और असीम : मैं समझता हूँ, आप कुछ-कुछ ऊबने लगे हैं। सोचते होंगे, यह कैसा थका देनेवाला लेखा-जोखा है; मगर यह अनुभवगम्य धर्म है। नाथ-पन्थी लोग इसे स्वसंवेद्य ज्ञान कहते हैं। हर विचारशील व्यक्ति इसको स्वयं समझ सकता है। इससे भी अधिक जटिल सृष्टि प्रक्रिया आप योग और तन्त्र-ग्रन्थों में पायेंगे। कई बार ऐसा भी लगेगा कि वे एक-दूसरे के विरोधी हैं। परन्तु यदि आप थोड़ा विचार करेंगे, तो मालूम होगा कि साधारण जीवन में अनुभूत तथ्यों का ही सूक्ष्म विवेचन है। यहाँ दो तत्त्वों को समझाया गया है। एक असीम में परिव्याप्त बन्धनच्छेदी तत्त्व है, दूसरा सीमा में सिमटनेवाला बन्धन-रूप। विशुद्ध गति की कल्पना कीजिए। यदि ग्रह-मण्डल में कोई ग्रह विशुद्ध वेग से छूट सकता, तो सरल रेखा में बढ़ा चला जाता; परन्तु उस पर नियन्त्रण है। वह एक ही साथ अबाध गति के साथ भी जुड़ा है और फिर सीमा के बन्धन से भी नियन्त्रित हो रहा है। नियन्त्रण का रूप कुण्डलित है। एक से अनेक होने की इच्छा सीमा को सूचित करती है; इसीलिए उसका नाम कुण्डली दिया गया है। यदि इस बात की ओर आपकी दृष्टि न हो, तो कोई और नाम भी दे सकते हैं। कुण्डली रूप है, तत्त्व का याथार्थ्य नहीं। उसके एक गुण को—जो निस्सन्देह उसका प्रधान गुण है—यह नाम दे दिया गया है। फिर किस प्रकार बीज अंकुर के रूप में बदलता है, इस बात को सोचते जाइए। प्रत्येक प्रक्रिया का कुछ नाम है। आप चाहें, तो और भी कई प्रकार की प्रक्रियाओं को सोच सकते हैं। चाहें, तो जो ऊपर बताया गया है, उसे भी कम करके सोच सकते हैं। तन्त्र-शास्त्र में प्रत्येक प्रक्रिया का दैवी रूप में उल्लेख है। आगे चलकर आपको उसका थोड़ा-सा परिचय मिलेगा। मेरी प्रार्थना है कि आप इस जटिलतर विधान के वर्णन से ऊबने न लगें। सोचने पर यह बहुत कठिन नहीं जान पड़ेगा, कम-से-कम मेरा तो यही विश्वास है।

शिव और जगत् : यह स्पष्ट है कि शिव ही अपनी सिसृक्षा-रूपा शक्ति के कारण इस जगत् के रूप में बदल गये हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है, वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया से गुजरता हुआ बना है, जिस अवस्था में से यह समूचा ब्रह्माण्ड बना है। सबमें वही तत्त्व ज्यों-के-त्यों हैं। परन्तु सत्त्व, रज, तम, काल और जीव (अर्थात् प्राण-शक्ति) की अधिकता और न्यूनता के कारण उनमें भेद प्रतीत हो रहा है। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं को असत्य नहीं समझना चाहिए। वे सभी सत्य हैं। जितनी नाड़ियाँ या द्वार या आधार मनुष्य में हैं, और निरन्तर विकास-प्रक्रिया के जारी रहने पर हो सकने की सम्भावनाएँ हैं; उतनी ही समस्त ब्रह्माण्ड में और उतनी ही ब्रह्माण्ड के समस्त परमाणु में हैं। भेद यही है कि सत्त्व, रज, तम, काल और जीव के आधिक्य और न्यूनत्ववश वे कहीं अविकसित

हैं, कहीं अर्द्धविकसित है, कहीं पूर्ण विकसित है। इसीलिए गोरक्ष मत मे प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है, वह सभी पिण्ड मे है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक है : पिण्ड मानो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। गोरक्षनाथ का योग-मार्ग साधना-मूलक है। मनुष्य-शरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गयी है और बताया गया है कि मनुष्य के किस-किस अंग मे ब्रह्माण्ड का कौन-सा अंश है—पाताल कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है, साधना-मार्ग के तीर्थ कहाँ हैं, गन्धर्व, यक्ष, उरग, किन्नर, भूत, पिशाच आदि के स्थान कहाँ है। चौरंगीनाथ की एक छोटी-सी पुस्तक 'प्राणसंकली' पायी गयी है। इसमें विस्तारपूर्वक समझाया गया है कि मनुष्य-शरीर के कौन-कौन-से अंग ब्रह्माण्ड की किन-किन वस्तुओं के समशील हैं। इस प्रकार की और भी अनेक रचनाएँ हैं। सबमें समान भाव से दिखाया गया है कि ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु मानव-शरीर मे किसी-न किसी रूप मे विद्यमान है; तफसील में अन्तर मिलेगा। एक ही बात को कोई पर्वत कहेगा, तो कोई द्वीप। इस पर न जाइए। इसका सिर्फ यही मतलब है कि ब्रह्माण्ड ही पिण्ड मे सिमट गया है। मनुष्य-शरीर में वह सबसे अधिक स्पष्ट है। परन्तु यह तथ्य प्रत्येक अणु-परमाणु में है। केवल विभिन्न गुणो और काल तथा जीव-शक्ति की मात्रा में अल्पता और अधिकता होने के कारण उनमे विभेद दिखायी देता है। मनुष्य-शरीर अधिक विकसित और श्रेष्ठ होने के कारण समस्त जटिलताओं को कुछ-कुछ बता देता है। परन्तु तथ्य यही है कि ब्रह्माण्ड मे जो कुछ है, वही पिण्ड मे भी है—'ब्रह्माण्डेऽस्ति यत्किंचित् तत् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा'। यह बहुत बड़ा सिद्धान्त है। सन्तों ने भी इसे मान लिया है—सिद्धान्त रूप में। कबीरदास ने कहा है—'यह घट भीतर सात समुन्दर, याही में नौलख तारा।' खैर।

शिव और शक्ति : शाक्त लोग शक्ति को ही जगत्-कर्त्री के रूप मे स्वीकार करते हैं। यह किसी खास पक्ष पर बल देने के कारण हुआ है। सभी दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। जो लोग नहीं मानते, वे भी किसी एक पक्ष पर ही बल देते है। कहते है, कर्तृत्व जो शिव का है, शक्ति तो उसकी निर्वाहिका-मात्र है। उसी को प्रधान कर्त्री और उपास्य क्यों माना जाय? जगत् के मुख्य कर्त्ता और नियन्ता तो शिव हुए, शक्ति तो उनकी सहायिका-भर है; फिर इस सहायिका को उपास्य क्यों माना जाय? इस प्रकार के तर्क में इतना तो स्वीकार ही कर लिया गया है कि सृष्टि की जो प्रक्रिया बतायी जा रही है, वह उन्हे मान्य है। केवल बल देने का प्रश्न है। रामेश्वर भट्ट ने 'परशुराम कल्पसूत्र' की टीका (6।1) में इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उसका सार-मर्म यह है कि क्षिति, जल, आदि कार्यों का कोई-न-कोई कारण होना चाहिए; कारण के बिना ये उत्पन्न नहीं हो सकते। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए ही शिव और शक्ति की कल्पना है। वेदान्ती लोग भी ब्रह्म की एक शक्ति स्वीकार करते है। चित्स्वरूप ब्रह्म का धर्म भी चित्स्वरूप ही होना उचित है। वेदान्ती लोग ऐसा

न मानकर गलती करते हैं। वे चिद्रूप ब्रह्म की शक्ति माया को 'जड़-स्वभावा' मानते हैं। वे लोग कहते हैं कि यही माया जगत् का उपादान है, इसलिए यह समूचा जगत् जड है। शक्ति-आगमों में यह बात नही मानी गयी। न मानने का कारण बहुत संगत है।

धर्म और धर्मी का स्वभाव-भेद नहीं हो सकता : शाक्त लोग मानते है, और उनका विश्वास है कि उनकी इस मान्यता मे किसी का मतभेद नही हो सकता कि धर्मी और धर्म में अभेद होता है, इसलिए चेतन ब्रह्म की शक्ति भी चेतन होगी। ब्रह्म धर्मी है, शक्ति उसका धर्म। फिर भी व्यवहार मे धर्मी और धर्म में भेद मानना ही पड़ता है। तात्त्विक दृष्टि से वेदान्तियों के 'परं ब्रह्म' और शाक्त साधकों के 'पर-शिव' मे कोई अन्तर नही है। शिव धर्मी है, शक्ति धर्म। जिस प्रकार धर्मी चन्द्र और धर्म चन्द्रिका में तात्त्विक अन्तर नहीं है, दोनों एक हैं, उसी प्रकार शिव और शक्ति भी अभिन्न हैं—'अन्तरं नैव जानीमः चन्द्र-चन्द्रिकयोरिव'। परन्तु धर्मी शिव, और धर्म शक्ति, अभिन्न होने पर भी व्यवहारानुरोध से भिन्नवत् मान लिये जाते हैं। शिव (पर-शिव) रूपातीत, गुणातीत, शून्यरूप, निरालम्ब-स्वभाव हैं, इसीलिए उनका स्वरूप निर्धारण अशक्य है। उपासना के लिए यह 'पर-शिव' उपयुक्त नहीं है। उनके स्वरूप से अभिन्न और फिर भी भिन्न-रूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। इस उपासना के द्वारा परम शिव के साथ शक्ति का (और इसीलिए समस्त जगत् प्रपंच का) अभेद ज्ञान ही साधक का चरम लक्ष्य है।

लेकिन शक्ति-साधकों के इस मत को सन्तों ने ज्यों-का-त्यों नही माना। कबीरदास के भजनों से इतना तो पता चल जाता है कि वे 'रघुनाथ की माया' को चेतन तत्त्व मानते हैं और शिव और विष्णु की शक्ति के रूप में भी स्वीकार करते हैं; किन्तु सब मिलाकर वे इसे मति भ्रष्ट करनेवाली विकृत-रूपा शक्ति ही स्वीकार करते हैं। क्यों ऐसा हुआ है, इस पर विचार यहाँ नही करेंगे। प्रसंग आयेगा और हम इस पर सोचने-विचारने का अवसर भी पायेंगे।

लक्ष्य : शिव शक्ति का सामरस्य : स्पष्ट है कि प्रत्येक पिण्ड मे प्रत्येक अणु-परमाणु में, यह शक्ति विद्यमान है। जगत् का प्रत्येक प्राणी उसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान के रूप में अनुभव करता है। ब्रह्माण्ड के रग-रग मे परिव्याप्त यह शक्ति मानव-देह मे कुण्डलिनी के रूप मे स्थित है। नाथ-मार्गी साधक इस शक्ति की उपासना का प्रधान साधन पिण्ड अर्थात् काया को ही मानता है। यों तो सभी प्राणी और अप्राणी शक्ति के आवास हैं, किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नही है। लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य-रूप सहज समाधि। समस्त प्राणियों में सर्वाधिक सत्त्वगुणी मनुष्य है। मनुष्य का शरीर योग-सिद्धि का उत्तम साधन है। परन्तु इसको पाने-मात्र से योग-सिद्धि नहीं होती। गोरक्षनाथ ने कहा है कि जो योग-सिद्धि का अभिलाषी यही नहीं जानता कि उसके शरीर मे छः चक्र क्या और कहाँ हैं, षोडश आधार कौन-कौन हैं, दो लक्ष्य क्या

हैं, पाँच व्योम क्या वस्तु हैं, वह कैसे सिद्धि पा सकता है। फिर एक खम्भेवाले, नौ दरवाजोंवाले और पाँच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीर-रूपी घर को जो नही जानता, उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है? इसको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है! इसलिए इस मानव-शरीर को तो जानना ही होगा। मनुष्य का यह शरीर ही समस्त सिद्धियों का आश्रय है।

मानव शरीर को महत्त्व देने का यह एक रूप है। किन्तु केवल शरीर ही नही, मनुष्य की वाणी, उसका प्राण, उसका मन, उसका बिन्दु—सब अपार अनन्त शक्ति के आश्रय हैं। किसी की भी साधना से परम प्राप्तव्य की प्राप्ति हो सकती है।

मानव-देह का महत्त्व : इसका दूसरा रूप भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि मध्यकाल मे भारतीय साधना के साहित्य ने यह स्वीकार कर लिया था कि परम तत्त्व की जो परा-शक्ति है, वह जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, उसी प्रकार पिण्ड मे भी व्याप्त है। इस सृष्टि के अणु-परमाणु में परा-शक्ति व्याप्त है। मनुष्य-देह मे वह सबसे अधिक जाग्रत है, अन्य योनियों में कम जाग्रत है या एकदम सुप्त है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में त्रिपुटीभूता यह शक्ति ही 'त्रिपुरा' कहलाती है। देवताओं के भीतर भी वह पूर्ण रूप से जाग्रत नही है; क्योंकि देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप है। वे भोग-योनि मे हैं, उन्हें सिर्फ भोगने की शक्ति है। वे जिस कार्य के लिए उद्दृष्टि हैं, उससे अधिक या कम की उनमे इच्छा भी नहीं होती, क्रिया भी नही होती। अग्नि जला सकती है, उसमें अन्य प्रकार के कार्य—जैसे भिगो सकने—की इच्छा भी नहीं होती, क्रिया तो होगी ही कहाँ से। इसीलिए कभी-कभी ग्रन्थों में यह कहा जाता है कि देवताओं के कुण्डलिनी नहीं होती। नहीं होती का अर्थ है पूर्ण स्फुरित नही होती, सुप्त रहती है। केवल मनुष्य की इच्छा, क्रिया और ज्ञान की त्रिधारा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त है। इसीलिए परात्पर पुरुष को भी जब कुछ करना होता है, तब उसे नर-देह धारण करनी पड़ती है। देह तो वह और भी धारण कर ले सकता है, पर नर-देह में उसका पूर्णावतार होता है। बिना नर-देह धारण किये परात्पर देवता भी कोई लीला नही कर सकते। उन्हें जब-जब धर्म की हानि से जगत् की रक्षा करनी होती है, अभिमानवती आसुरी शक्ति का उच्छेद करना होता है, तब-तब नर-देह धारण करनी पड़ती है :

जब-जब होइ धरमकै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा। नासहिं असुर हरहिं भवपीरा॥

मानव-देह की महिमा की यह दूसरी महत्त्वपूर्ण परिणति है। इन दो विचारों ने मध्ययुग के उत्तरकालीन साहित्य को अपूर्व महिमा से मण्डित किया है। आगे हम इस क्षेत्र में अपने भक्ति-साहित्य की अद्‌भुत देन का कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

शब्द-साधना

'साधो सबद साधना कीजे'

मनुष्य का यह पिण्ड अनेक शक्तियो का आश्रय है। वाक्, मन, प्राण, शुक्र और कुण्डलिनी-जैसे चचल, किन्तु शक्तिशाली तत्त्वो का आश्रय होने के कारण यह अन्य समस्त ज्ञात-पिण्डो की अपेक्षा श्रेष्ठ है। चपल घोड़े पर सवारी करना बड़े जोखिम का काम है। जो सधा हुआ सवार है, वह उस चपल अश्व से अपना लक्ष्य सिद्ध करता है, जो अनाडी है, वह गिरकर चकनाचूर हो जाता है। घोड़ों को खेलाना और उनकी सहायता से बडी-बडी लड़ाइयो को जीतना कुशल साधक का काम है। योगी इन्ही चपल तत्त्वो से मैदान मारता है, अपने चरमलक्ष्य तक पहुँचता है और सदा इन पर सयम की लगाम लगाये रहता है। जिसे साधन-मार्ग नही मालूम, वह इन्ही चपलो के चक्कर मे पड़कर पतित हो जाता है। बौद्ध-साधिका लक्ष्मीकरा ने कहा था कि यह मनुष्य-रूपी जन्तु जिन बातों से बँधता है, उन्ही से मुक्ति भी पाता है—'···येनैव बध्यते जन्तुस्तेनैव हि विच्युते'। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता मे मन को बहुत ही दुर्निग्रह और चंचल बताकर कहा है कि इसे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश मे किया जा सकता है। जो बात मन के बारे मे सत्य है, वही अन्य चपल तत्त्वों के बारे मे भी ठीक है। यहाँ हम शब्द-साधना पर विचार करेगे। यह वाक् इन्द्रिय का विषय है। आपात दृष्टि से शब्द बाहर की वस्तु है, उसे ग्रहण करनेवाला इन्द्रिय 'वाक्' भीतर स्थित है, पर यह आपात दृष्टि ही है।

कबीरदास और निर्गुण-सम्प्रदाय के अन्य सन्तो की रचनाओ मे शब्द-साधना पर इतना अधिक लिखा गया है कि केवल साधारण पाठक ही नही, विज्ञ जन भी ऊब जाते हैं। यह 'शब्द की डोर' और 'सुरति की सेज' या रज्जु कुछ इस प्रकार से और इतने प्रकार से स्मरण की गयी है कि नीरस ही नही, निरर्थक कथनी के रूप मे ग्रहण की जाने लगी है। एक बार उसकी अनमिल और अटपटी बातें पढकर मैं एक जमाने मे सोचता था कि यह अनपढ गँवार लोगों की बेमतलब की बातें हैं। अब मेरे विचार बदल गये है। यह तो मैं दावा नही करता कि मैं सब अटपटी बातों का अर्थ निश्चित रूप से समझने में समर्थ हो गया हूँ; परन्तु इतना अनुभव करने लगा हूँ कि समझ में न आना अपनी कम जानकारी-

का फल अधिक है, बेतुकी अनमिल बात होने का कम। बात यह है कि सन्तों के पहले नाथ और शाक्त-साधकों में मन्त्र, जप, योग, समाधि, नाडी-विज्ञान, प्राण तत्त्व आदि का बहुत विशाल और गम्भीर साहित्य बन चुका था और बड़ी भारी साधना-परम्परा स्थापित हो चुकी थी। उस परम्परा की यदि ठीक उपलब्धि हो, तो बहुत-सी बातें स्पष्ट हो जायें। दुर्भाग्यवश हमारे देश में इस प्रकार का अध्ययन-प्रयास नहीं के बराबर ही हुआ है। इधर विद्वानों का ध्यान इस ओर गया अवश्य है, परन्तु जितनी मात्रा में यह साहित्य आलोचित हुआ है, वह थोड़ा ही है। मुझे उसके एक अंशमात्र का ही परिचय है। परन्तु इतना समझने में कोई भी अड़चन अब नहीं रह गयी है कि सन्तों ने इस साधना-परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण किया है और अपने ढंग से उसे प्रकट किया है। पुरानी परम्परा से थोड़ा परिचय हो जाये, तो सन्तों की विशिष्ट देन भी समझ में आ जायेगी। इसीलिए मुझे थोड़ी भूमिका प्रस्तुत करनी पड़ेगी। नीरस कथनी से ग्रहण करने के प्रयास में कुछ और नीरस वस्तुओं की चर्चा कर देना मुझे उचित जान पड़ता है।

शब्द-साधना की प्राचीनता : कभी-कभी ईसाई विद्वानों ने यह बताने का यत्न किया है कि शब्द-साधना का मूल सिद्धान्त सन्त कवियों ने, विशेषकर कबीर ने, अप्रत्यक्ष भाव से ईसाई-साधना से ग्रहण किया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् ग्रियर्सन तक ने एक बार इस तरह की बात कही थी। यद्यपि संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ पण्डित डॉ. ए. बी. कीथ ने बता दिया था कि शब्द-साधना ईसाइयों की अपनी विशेषता नहीं है, उसका अस्तित्व वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है और ग्रीस आदि देशों में ईसा मसीह के बहुत पूर्व शब्द-साधना सिद्धान्त रूप में गृहीत हो चुकी थी, तथापि कुछ विद्वान् अब भी ऐसा विश्वास पोषण करते हैं कि शब्द-साधना का कुछ-न-कुछ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ईसाई साधना से अवश्य है। वस्तुतः 'शब्द' का समस्त शक्तियों का आश्रय होना बहुत प्राचीन काल में 'सुमेरियन' और 'बेबीलोनियन' धर्म-सम्प्रदायों में प्रचलित था। इस पुराने इतिहास को कुछ लोग ईसा मसीह के कई हजार वर्ष पूर्व ले जाना चाहते हैं। वस्तुतः सुमेरियन और बेबीलोनियन सभ्यताओं के अध्ययन के लिए जो सामग्री प्राप्त हुई है, उसमें से अधिकांश अब भी ऊहापोह का ही विषय है; परन्तु इतना बहुत-कुछ निर्विवाद है कि अनेक वैदिक ऋषियों की भाँति सुमेरियन और बेबीलोनियन ऋषि भी यह मानते थे कि सृष्टि का मूल तत्त्व जल था। वैदिक ऋषि जब कहता है कि 'आपो वा इदमग्रमासीत्' तब वह बहुत-कुछ सुमेरियन और बेबीलोनियन सन्तों के ही समान अपना विश्वास प्रकट करता है। इस प्रकार ईसा मसीह से हजारों वर्ष पहले सुमेरियन और बेबीलोनियन सभ्यताओं में सृष्टि का मूल तत्त्व जल स्वीकार किया गया था। सुमेरियन अवशेषों से जान पड़ता है कि वे लोग विश्वास करते थे कि जल की भी बीज-शक्ति ('इनिम') या शब्द है। जो लोग आदिम मनुष्यों की मनोवृत्ति के आधार पर धार्मिक और दार्शनिक विश्वासों

का मूल खोजने का प्रयत्न करते हैं, वे स्वीकार करते हैं कि प्राचीन सुमेरियन सभ्यता में 'मुम्मु' (उच्च ध्वनि) शब्द मेघ-गर्जन का वाचक है और वह जल के अधिष्ठातृ देवता की शक्ति ही अधिष्ठातृ देवता की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार जल के भीतर भी शब्द-शक्ति काम करती है। शब्द ही जल के भीतर वह बीज-शक्ति है, जो समस्त जगत् को रूपायित कर रही है। 'उद्' शब्द, जो मूलतः सुमेरियन सभ्यता में साँस और तेज हवा का वाचक था, जल के अधिष्ठातृ देवता के साथ जुड़कर उसका वाचक हो गया था। संस्कृत में 'उद्' शब्द जल का ही वाचक है। अत्यन्त प्राचीन काल से इस शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में होता आया है। अंग्रेजी के 'वाटर' शब्द में भी इस 'उद्' शब्द का अवशेष बताया जाता है। लैटिन का 'उन्द' गाथिक में 'वत्-ओ' हो जाता है, हाई जर्मन में 'वाजर' हो जाता है और आधुनिक अंग्रेजी में 'वाटर' हो जाता है। बहने के अर्थ में 'उन्दात्' प्रयोग ऋग्वेद में पाया जाता है, जो लैटिन 'उन्द' के निकट है। इस प्रकार जल के अर्थ में 'उद्' या 'उन्द' का प्रयोग संसार-भर में फैला हुआ है। सेमेटिक भाषाओं का 'मुम्मु' शब्द, जो आवाज का वाचक था, धीरे-धीरे ग्रीक इतिहास-लेखकों की भाषा में जल-देवता (अप्सू) और तियामत (सामुद्रिक जल की देवी) के पुत्र-रूप में स्वीकार किया गया और जल-देवता के साथ उसको घुला दिया गया। इस प्रकार जल से सृष्टि उत्पन्न करने के मूल सिद्धान्त को और उसकी बीज-शक्ति 'शब्द' को बहुत दीर्घकाल से दूर-दूर तक माना जाता रहा है। शब्द जल की चित् शक्ति है, उसकी बुद्धि है, जो समस्त दृश्य जगत् की सृष्टि करती है। ग्रीक लेखकों ने लेखन-कला के देवता 'नेबो', जो 'एंकी' का पुत्र था, को 'मुम्मु' माना है। इसी प्रकार बेबीलोनियन पुरोहितों के हाथ पड़कर 'मुर्दुक' भी 'एंकी' का पुत्र और 'मुम्मु' का प्रतिरूप मान लिया गया। सुमेरियन और बेबीलोनियन विश्वास का जो कुछ पता चला है, उसके अनुसार किसी वस्तु की सत्ता उसके 'रूप' पर निर्भर है। रूप दैवी मानसी-धारणा का मानव-जाति के रूप में प्रत्यक्षीकरण है अर्थात् 'रूप' 'शब्द' का ही प्रत्यक्ष विग्रह है। उदाहरण के लिए 'घट' शब्द घट-रूप को प्रकट करता है, जो दैवी मानसी धारणा है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो कुछ ज्ञान है, वह अभिव्यक्ति है और जो कुछ सत्ता है, वह इन्द्रिय ग्राह्य सत्य नहीं, बल्कि मानसी धारणा है। जब तक यह दैवी धारणा किसी देवचित्त में आविर्भूत नहीं होती, तब तक वस्तु प्रत्यक्ष रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित नहीं हो सकती। मूलतः समस्त जड़-चेतन वस्तुएँ जल-देवता की मानसी धारणा-मात्र हैं और उन्हीं की मानसिक क्रियाओं से वे प्रत्यक्ष होती हैं। इसीलिए 'मुम्मु' या शब्द विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त मानसी धारणा यानी चित्-शक्ति का प्रतीक है। बेबीलोनिया में प्रचलित धार्मिक विश्वास का यही स्वरूप है।

यवन (ग्रीक) दार्शनिकों ने बहुत-सी बातें अपने पूर्ववर्ती बेबीलोनियन ऋषियों से ग्रहण कीं। ग्रीक दार्शनिक 'थेल्स' ने इसी सिद्धान्त के आधार पर जल

को सृष्टि का मूल तत्त्व स्वीकार किया था, ऐसा माना जाने लगा है। थेल्स और उनके बाद के दार्शनिक 'एनक्सिमेण्डर' और 'एनेक्सिमेनस' आदि ने बेबीलोनियन विश्वासों को तर्कसम्मत दर्शन का रूप दिया और माना कि सृष्टि का सार तत्त्व चित्-शक्ति ही है। मेरे लिए यह कहना कठिन है कि यह बात कहाँ तक विश्वास योग्य है; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन् ईस्वी से बहुत पूर्व ग्रीस में 'शब्द' को सृष्टि का मूल हेतु स्वीकार किया गया था। 'पार्टिजर' ने भारतीय पुराणों के अध्ययन से अनुमान किया था कि भारतीय आर्यों का सम्पर्क सन् ईस्वी से सैकड़ों वर्ष पूर्व असीरिया आदि पश्चिमी देशों से हो चुका था। सृष्टि के मूल तत्त्व-विषयक वैदिक ऋषियों की धारणाएँ वहाँ निश्चय ही पहुँच चुकी होंगी। ज्ञान की वर्त्तमान अवस्था में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि शब्द-तत्त्व-विषयक सिद्धान्त बहुत प्राचीन काल से संसार के बहुत बड़े भाग मे व्यापक रूप से विद्यमान था। वैदिक साहित्य मे इसका सर्वाधिक निखरा हुआ और साधनात्मक रूप प्राप्त होता है। वस्तुतः शब्द का मूल तत्त्व स्वीकार किये बिना 'मुम्मु' सम्बन्धी सारा विश्वास अन्धविश्वास के समान दिखायी देगा। भारतीय सन्तों के अध्ययन के लिए इस देश की परम्पराओं मे ही प्रचुर सामग्री विद्यमान है। हजारों वर्ष से शब्द-साधना का अत्यन्त परिष्कृत, युक्तिसम्मत और दार्शनिक रूप उपलब्ध होता है। इसकी तुलना मे अन्यान्य देशो मे प्राप्त प्राचीन सामग्री खण्डित और विवादग्रस्त है। बहुत थोड़ी सामग्रियों के आधार पर विद्वानो ने अटकल मे काम लिया है। देखा जाय, भारतीय दृष्टि से शब्द-साधना का क्या अर्थ हो सकता है।

शब्द-साधना, मन्त्र-तत्त्व, नाम-जप और अजपा-जप परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं। 'शब्द' या 'नाद' शब्द का क्या अर्थ है, मन्त्र और देवता किस अर्थ में प्रयुक्त होते है, परमार्थतः मन्त्र और नाम मे क्या सम्बन्ध है, इत्यादि प्रश्न सन्त-साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए जानने योग्य है। फिर तो मन्त्र की इस विशाल और जटिल साधना को सन्तो ने किस प्रकार सहज-साधना मे रूपान्तरित किया है, यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी। इसलिए मन्त्र-तत्त्व से ही अपनी बात शुरू करूँगा। इस तत्त्व के स्पष्ट होने पर 'सुरति' और 'लौ' की बात समझने की कोशिश की जायेगी। प्रसिद्ध कबीरपन्थी सन्त रामसिंह साहब ने कहा है कि वस्तुतः निरति, सुरति और शब्द कहने-भर के लिए तीन है, अन्ततोगत्वा सब एक मे ही विलीन हो जाते है :

सब्द सुरति औ निरति ये कहिबे को है तीन।
निरति समानी सुरति मे सुरति सब्द मे लीन।।

स्पष्ट ही 'शब्द' मुख्य और अन्तिम बात है। तो फिर इसी को पहले समझा जाय।

वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्द : शब्द दो प्रकार के होते है, वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द दो वस्तुओं के आघात से उत्पन्न होता है, और ऐसा

आहत या चोट खाकर पैदा हुआ शब्द यदि वर्णों या अक्षरों में सुस्पष्ट उच्चरित और समन्वित न हो, तो किसी अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकता। जो शब्द आहत ध्वनि नहीं है, अनाहत है, वह ब्रह्मरूप कहा गया है; क्योंकि वह शाश्वत है। सन्तो की बोली मे वही अनहद-नाद है। अनहद यद्यपि अनाहत शब्द का ही अपभ्रंश है, तथापि सन्तों की भाषा में इसमें एक और भी अर्थ जोड़ दिया गया है। अनहद अर्थात् जो सीमा से परे है, जो देश और काल की सीमा के अतीत है। आहत ध्वनि क्षणस्थायी होती है, हदों में बँधी रहती है। किन्तु अनहद नाद अनाहत तो है ही, सीमातीत भी है। अनहद हद से परे है। सन्तो ने इस प्रकार अनेक शब्दो मे नये अर्थ भरे हैं। 'मरजिया' वह है, जो मर कर जीता है, प्राणों की बाजी लगाकर समुद्र मे गोता लगाता है और मोती निकाल लाता है। साधक यदि मरजिया हो, तो भी उसे सिद्धि मिल सकती है। किन्तु मध्यकाल के सन्तों ने मर्जी या कृपा शब्द के सहारे इसमें नया अर्थ भी जोड़ा है। मरजिया ही साधक होता है—प्राणों की बाजी लगाकर कठोर साधना करने से और गुरु की या परमेश्वर की मर्जी या अनुग्रह प्राप्त करके। इस तरह सन्तों के अर्थ-दान के दर्जनों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अनभै : हमने 'अनभै सांच पन्थ' की चर्चा पहले की है। 'अनभै' अर्थात् अनुभव। अनुभवैकगम्य मार्ग को 'अनभै पन्थ' कहते हैं। परन्तु कबीर ने और उनके अनुयायियो ने इसमें एक और अर्थ जोड़ा है—अनभै अर्थात् भयरहित। जिस मार्ग मे विचरण करनेवाले को भय नही रहता। इस प्रकार जो अनुभवैक-गम्य मार्ग है, उसमें भय या आशंका नही रहती। पुराने अनुभव शब्द में इस प्रकार निर्भय या निराशंक भाव को जोड़ दिया गया है। केवल अनुभव में ही नही, छूटा 'भव' शब्द को भी 'भै' बनाकर उसमें भी 'भव' अर्थात् जन्म-मरण-धर्मा संसार और भय अर्थात् मानसिक विचार-रूपी शत्रुओं की आशंका और उससे स्खलन-पतन की आशंका का भाव जोड़ दिया गया है। इस प्रकार मामूली-सा 'भै' शब्द व्यापक अर्थों का प्रकाशक बन गया है :

सतगुर सांचा सूरिवां, सबद जु वाह्या एक।
लागत ही "भै" मिलि गया, पड्या कलेजे छेक॥

अस्तु।

सुच्छम वेद : अब अनुभवगम्य मार्ग वस्तुतः वही है, जिसे नाथ-पन्थी लोग स्वसंवेद्य ज्ञान कहते हैं। स्वसंवेद्य ज्ञान अर्थात् जिसे साधक स्वयं अनुभव कर लेता है। यह परसंवेद्य ज्ञान से उल्टा है। परसंवेद्य वह है, जो कि किसी अन्य व्यक्ति के कहने के आधार पर मान लिया गया हो। सन्तों के पास आते-आते स्वसंवेद्य शब्द 'सुसंवेद' के रूप में बदल गया था। वस्तुतः नाथ-पन्थी हिन्दी-रचनाओं में 'सुसंवेद' शब्द आ गया था। किस प्रकार सुसंवेद 'सुच्छंवेद' बना, और कैसे 'सुच्छंवेद' 'सूक्ष्मवेद' बन गया, यह अर्थ-विकास शास्त्र के विद्यार्थी के लिए कुतूहल और मनोरंजन का विषय होगा। यहाँ हम उस प्रपंच में नहीं जायेंगे; परन्तु इतना

कहना प्रासंगिक है कि सुच्छम या सूक्ष्मवेद कबीरदास की पारख वाणी है; वही टकसार वाणी या प्रामाणिक वाणी है—टकसार अर्थात् टकसाली। इस सुच्छम वेद के सामने पुराने वेद स्थूल है। इसीलिए ब्रह्मा के बनाये वेदों को इन मौला लोगों ने स्थूल वेद करार दिया। जब सुच्छम है, तब स्थूल भी होना ही चाहिए। इसप्रकार इन निरक्षर सन्तों में अर्थदान की अद्‌भुत शक्ति है। ऐसे दर्जनों उदाहरण दिये जा सकते हैं। सुरति है, निरति है, निरंजन है, सहज सुन्न है, रवसम है और भी अनेक हैं। हमने अपने 'कबीर' नामक ग्रन्थ मे कुछ शब्दों की चर्चा की है। अभी तो अनहद की चर्चा के हद मे ही महदूद रहना अच्छा है। अस्तु। कबीर ने शब्द का माहात्म्य समझाते हुए कहा है :

सब्दै काया जग उतपानी, सब्दै केरि पसारा।
कहै कबीर जहँ सब्द होत है, भवन भेद है न्यारा॥

वर्णात्मक शब्द : अब, जो वर्णात्मक शब्द है, वह वाक्य, पद और अक्षर-भेद से तीन प्रकार का होता है। निरर्थक तो यह भी हो सकता है; लेकिन समझ-बूझकर यदि बोला जाय, तो इसका अर्थ होता है। मीमासको के मत से शब्द अनादि है, अनन्त है, शाश्वत है। नैयायिक ऐसा नही मानते। लेकिन उनकी बात अभी छोड़िए। वर्णात्मक शब्द भी एक प्रकार की आहत ध्वनि ही है। जिह्वा, तालु, इत्यादि का जब आघात होता है, तब यह उत्पन्न होता है। किन्तु वर्णात्मक शब्द के पीछे मन की कोई विचारधारा होती है। ध्वनि पहले भी थी और बाद मे भी रहेगी। उच्चारित होने के बाद वह ध्वनि उसी प्रकार प्रकट होती है, जिस प्रकार दीपक जला देने पर अन्धकार से भरा घर प्रकाशित होता है। दीपक उस घर के दिख जाने का कारण अवश्य है; पर इसका मतलब यह नही हुआ कि दीपक न होता, तो घर भी न होता और दीपक के बुझ जाने पर घर भी बुझ जायेगा। दीपक का होना-न-होना घर की सत्ता का नियमन नही करता।

स्थूल शब्द और सूक्ष्म शब्द : जिस प्रकार मनुष्य का शरीर सकारण है और उसमें स्थूल और सूक्ष्म भेद होते हैं, उसी प्रकार शब्द के भी स्थूल और सूक्ष्म भेद होते हैं। शास्त्रकारों ने शब्द की चार अवस्थाएँ या भाव बताये हैं, जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहलाते हैं। महाविन्दु के विस्फोट के पहले 'परा' नाम की अवस्था होती है। मूलाधार में कुण्डलिनी मे यह शब्द वर्त्तमान रहता है; जब यह गतिशील होता है, तब उसमें ऐसा स्पन्दन होता है, जो किसी विशेष अर्थ का सूचक नही है, केवल स्पन्दन मात्र है। उस 'सामान्य स्पन्द' को पश्यन्ती कहते हैं; इसका स्थान मूलाधार से मणिपूर चक्र तक है। यही इसका मन से संयोग होता है। ये दोनो अवस्थाएँ

निःस्पन्द भाव
परा-वाक्

शब्द-ब्रह्म के ईश्वर-रूप की अवस्थाएँ हैं। पुराने वैयाकरण परा-वाक् की चर्चा नही करते; क्योंकि उसमे स्पन्द या गति नहीं है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि वैयाकरणों के मत से शब्द ब्रह्ममय पश्यन्ती का

सामान्य
स्पन्दमयी पश्यन्ती रूप ही आत्मतत्त्व है : 'शब्द ब्रह्ममयं पश्यन्ती रूपमात्मतत्त्व-

मिति वैयाकरणाः' ('प्रत्यभिज्ञा,' पृष्ठ 43)। अभिनव गुप्त ने भी कहा है : 'ननु पश्यन्त्येव परं तत्त्वमिति जरद्वैयाकरणा मन्यते' ('प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी,' द्वितीय भाग, पृ. 191)—'जरद् वैयाकरण' अर्थात् पुराने वैयाकरण। सम्भवतः भर्तृहरि ने 'काव्य-प्रदीप' (1.144) मे जो अयी वाक् के लिए पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी की बात कही थी, वही अभिनव गुप्त के मन मे थी।

कुण्डलिनी : इस प्रसंग में कुण्डलिनी और चक्रों की जो चर्चा आयी है, उससे सम्भवतः आप परिचित हैं। मैंने पहले बताने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार शिव की आदिसिसृक्षा क्रमशः स्फुरण की पांच अवस्थाओं से गुजरती हुई कुण्डली या कुण्डलिनी रूप में व्यक्त हुई है। यह शक्ति समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को रूपायित कर रही है। जो कुछ दिख रहा है, वह उसी महाशक्ति की स्फुरणा का परिणाम है। वह एक ओर जहां समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, वहीं प्रत्येक पिण्ड मे भी व्याप्त है। प्रथम रूप में वह महाकुण्डलिनी कहलाती है और दूसरे रूप में कुण्डलिनी। सो, यह कुण्डलिनी उस शक्ति का नाम है, जो प्रत्येक पिण्ड में वर्तमान है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मानव-शरीर मे पायु और उपस्थ के बीच मे जो एक त्रिकोण चक्र है, जिसमे एक स्वयम्भू लिंग है, उसे साढे तीन वलयों में वेष्टित करके कुण्डलिनी अधोमुख स्थित है। नाना साधनाओं से साधक जब उसे उद्बुद्ध या जाग्रत करता है, तब वह मेरुदण्ड के मध्य में स्थित सुषुम्ना नामक नाड़ी के मार्ग से ऊपर को उठती है और कमल के आकार के छः चक्रों को भेदन करती हुई सातवें सहस्रार चक्र में मिलित होती है। इस मिलन को 'सम-रसीकरण' या सामरस्य कहते हैं। जिन छः कमलाकार चक्रों को कुण्डलिनी भेद करती है, वे भिन्न-भिन्न आकार के है। आगे इन चक्रों की स्थिति को मैंने विस्तारपूर्वक समझाने की कोशिश की है। यहां इतना-भर याद रखने से काम चल जायेगा कि इन चक्रों के दलों की सम्मिलित संख्या पचास है और प्रत्येक दल पर संस्कृत वर्णमाला के एक-एक अक्षर की कल्पना की गयी है।

कुण्डलिनी : सूक्ष्म शक्ति : परवर्ती काल के निर्गुणमार्गी सन्तों ने तो इन चक्रों की खूब चर्चा की है, परन्तु मूलतः यह शाक्त और नाथपन्थी सन्तों की कल्पना है। कबीरदास ने तो स्पष्ट रूप से कुण्डलिनी का उल्लेख नहीं किया है; परन्तु इतना निश्चित है कि उन्हें इस तत्त्व से पूर्ण परिचय था। माया को उन्होंने कभी-कभी नागिन कहा है, जो कुण्डलिनी को सर्पिणी कहने के समान है। वस्तुतः कबीरदास की और अन्य निर्गुणमार्गी सन्तों का शब्द-साधना को समझने के लिए शाक्त और शैव साधकों के मन्त्रतत्त्व की जानकारी बहुत सहायक है। शाक्त साधकों की भाषा मे जो स्वयम्भू लिंग, सर्पिणी, कमल इत्यादि इन्द्रियग्राह्य पदार्थों की चर्चा है, उनके स्थूल अर्थों पर नहीं जाना चाहिए। यहां शक्ति के विभिन्न रूपों को इस प्रकार इन्द्रियग्राह्य रूप मे उपस्थित किया गया है, जिससे साधारण बद्ध-बुद्धि का मनुष्य उसको सहज ही ग्रहण कर सके। परन्तु शाक्त साधकों ने बार-बार सावधान किया है कि वस्तुतः ये बातें सूक्ष्म शक्ति-संचालन

की ही स्थूल अभिव्यक्ति है।

अब इस सूक्ष्म विधान को समझने के लिए उन स्थूल रूप में अभिव्यक्त तत्त्वों की चर्चा करना आवश्यक है। यद्यपि यह बडा जटिल और थका देनेवाला विधान है, तो भी इसकी चर्चा करनी ही पड़ेगी। इससे मन्त्र-तत्त्व, नाम-तत्त्व और शब्द-साधना का स्वरूप समझ मे आयेगा और यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि सन्त-साधकों ने कितने जटिल विधान को सहज भाव से हृदयंगम किया है और उसे समझाने का प्रयत्न किया है।

वाक् का रहस्य : अर्थग्रहण में मन के दो धर्म : मन्त्र और नाम को समझने के लिए फिर हम वाक् के रहस्य की ओर लौटते हैं। मध्यमा वाणी और उसका अर्थ, दोनों सूक्ष्म है और सूक्ष्म या लिंग शरीर से सम्बद्ध है। किसी अर्थ के ग्रहण करने में मन दो काम करता है। उसका एक अंश तो सूक्ष्म शब्द के साथ एकाकार होता है और दूसरा अंश बाह्य वस्तु के रूप में आकार ग्रहण करता है। यही सूक्ष्म अर्थ है। इस प्रकार सूक्ष्म शब्द और सूक्ष्म अर्थ मन के ही दो प्रतिरूप हैं। और भी स्पष्ट शब्दो मे कहा जाय, तो सूक्ष्म शब्द और सूक्ष्म अर्थ, ग्राहक और ग्राह्य रूप मे मन की ही अभिव्यक्ति है। सूक्ष्म शब्द ग्राहक और सूक्ष्म अर्थ ग्राह्य है। दोनों ही सूक्ष्म शरीर के अधीन हैं।[1]

1. **लिंग शरीर :** सांख्यवादी पुरुष और प्रकृति के संयोग से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। पुरुष विशुद्ध चेतन-स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। प्रकृति सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से पच्चीस तत्त्व उत्पन्न हुए और यह पंचविंशति तत्त्वात्मक जगत् दृष्टिगोचर होता है। पच्चीस तत्त्वों को सांख्यवादी लोग चार मोटे विभागों में बाँट लेते हैं—(1) प्रकृति, (2) प्रकृति-विकृति, (3) विकृति, और (4) न-प्रकृति-न-विकृति। चौथा तो पुरुष है, जो न प्रकृति ही है और न विकृति ही। बाकी तीन मे प्रकृति तो अनादि ही है। प्रकृति से महान् या बुद्धि-तत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहंकार और उससे पाँच 'तन्मात्र' (शब्दतन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूपतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो 'महान्' या बुद्धि-तत्त्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहंकार की प्रकृति भी। इसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमश महान् और अहंकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंचतन्मात्र और पंचमहाभूतादिकों की प्रकृति भी हैं। यही कारण है कि सांख्यशास्त्री इन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। इस तरह महान्, अहंकार और पंचतन्मात्र के सात प्रकृति-विकृति हुए। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, रसना, नाक) और पाँच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पाँव, जीभ, पायु, उपस्थ) हैं। इन दस इन्द्रियों, मन और पाँच महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) को विकृति कहते हैं। इन्हीं पच्चीस तत्त्वों से सारी सृष्टि बनी है। किन्तु वेदान्ती लोग प्रकृति और उसके विकार स्वरूप 23 पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता नही मानते। उनका मत है कि वस्तुतः एक पर-ब्रह्म ही सत्ता है। हम अज्ञानवश इस नाम-रूपात्मक जगत् को वास्तविक समझने लगे हैं।

उपनिषदों में कहा गया है कि मृत्यु के समय आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी जाता है। बृहदारण्यक में बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राण, श्रोत्र,

→

मध्यमा : शब्द और अर्थ : सृष्टि के आदि में मध्यमा शब्द ही प्रकट होता है। उस समय उसका कोई बाह्य अर्थ नहीं होता। मध्यमा शब्द वह मानसिक गति है, जो किसी वस्तु की धारणा बनाती है और मध्यमा अर्थ स्थूल बाह्य वस्तु की मानसिक छाप है। इस प्रकार मध्यमा शब्द और मध्यमा अर्थ, ज्ञाता और ज्ञेय या ग्राहक और ग्राह्य रूप में सूक्ष्म शरीर के विषय हैं।

पश्यन्ती वाणी : इनका कारण वह पश्यन्ती वाणी है, जो सामान्य स्पन्द के रूप में उठकर विशिष्ट अर्थ के प्रकटीकरण के लिए प्रवृत्त होती है। वह सामान्य स्पन्दरूपा पश्यन्ती वाणी निःस्पन्द अर्थात् गतिहीन परा-वाणी से उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्थूल वैखरी वाणी के पूर्व सूक्ष्मरूपा मध्यमा वाणी और उसकी हेतुभूता पश्यन्ती वाणी है, जो बाहर दिखायी नहीं देती। इस प्रकार मन्त्र का वह स्थूल रूप, जो अक्षरात्मक है, शब्द का स्थूल और मूर्त्त रूप है, जो वैखरी वाणी द्वारा प्रकट होता है। उसका सूक्ष्म रूप मध्यमा वाणी का विषय है। सूक्ष्म शरीर में मध्यमा वाणी स्वप्न अवस्था के समान है और परा-वाणी सुषुप्ति अवस्था के समान। इसीलिए पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी को क्रमशः सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्था कहते है।

सूक्ष्म शब्द क्या है? : मानसिक अवस्था का जो सूक्ष्म अर्थ है, वह एक प्रकार का संस्कार या छाप है। जब मनुष्य जाग्रत अवस्था में जाता है, तब वह सुषुप्ति अवस्था के बाद की (जो एक अस्थायी विस्मृति की अवस्था है) उन छापों या संस्कारों के सहारे पुरानी बातों को स्मरण करता है। इन संस्कारों का कारण क्या है? क्योंकि संस्कार जब कार्य है, तब उसका कारण होना ही चाहिए। इसका कारण है शब्द या नाम। घट शब्द के उच्चारण से एक प्रकार का अर्थ, जो जगत् में घट पदार्थ है, उसका चित्र सामने आ जाता है। हिरण्यगर्भ अवस्था में शब्द, संस्कार के रूप में, मानस-मूर्त्तियों का निर्माण करता है, इसीलिए सारा जगत् शब्द और अर्थ—नाम और रूप—है।

→ पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, अति तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सबकुछ लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है (बृहदारण्यक 4, 4, 5)। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा के साथ-साथ बुद्धि, मन, प्राण और समस्त धर्मों में तथा तन्मात्र-गण बँधे होते हैं। सांख्यकारिका में करीब-करीब इन सब बातों को एक शब्द में लिंग शरीर कहा गया है (सांख्यकारिका 40)। बताया गया है कि प्रकृति के विकार-स्वरूप तेईस तत्त्वों में अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, बाकी अठारहों तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्त्व उसके साथ-साथ लगे होते हैं।

इस लिंग शरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समावेश है, उनमें बुद्धि-तत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे कर्म कहते हैं, सांख्यवादी उसी को बुद्धि का 'व्यापार', 'धर्म' या 'विकार' कहते हैं। इसी को सांख्यकारिका में 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल में गन्ध और कपड़े में रंग लगा रहता है, उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग शरीर में लगा रहता है (सांख्यकारिका 40)।

चक्र-अक्षर का सूक्ष्म रूप : पहले ही कहा गया है कि शाक्त और नाथ-साधकों ने बताया है कि छः कमल के आकार के चक्र हैं, जिनको भेद करके कुण्डलिनी सातवें चक्र सहस्रार में पहुँचती है। इन छः चक्रों के पचास दल हैं और प्रत्येक पर संस्कृत वर्णमाला का एक-एक अक्षर है। अक्षर स्थूल नहीं हो सकते; क्योंकि वैखरी वाणी में जो स्थूल अक्षर उच्चारित होते हैं, वे कण्ठ-ताल्वादि के स्पर्श से स्फुट होते हैं। इसलिए चक्रों के अक्षर स्थूल-अक्षर नहीं हो सकते; वे सूक्ष्म-अक्षर हैं। शाक्त और नाथ-योगियों की भाषा में इन सूक्ष्म-अक्षरों को मातृका कहते हैं।

चित्-शक्ति ही परा-वाक् : जो चित्-शक्ति है, वह स्वरूपतः नि:स्पन्द है और पर-शब्द या परा-वाक् से अभिन्न है। जब वह गतिशील होती है, तब पहले सामान्य स्पन्द के रूप में और फिर विशेष स्पन्द के रूप में और अन्त में स्पष्टतः उच्चरित शब्द के रूप में क्रमशः स्पष्ट होती जाती है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहकर वस्तुतः यही कहा जाता है कि आरम्भ में चित्-स्वरूप नि:स्पन्द शक्ति पहले सामान्य स्पन्द के रूप में, फिर विशेष स्पन्द के रूप में और अन्त में स्थूल स्पष्ट शब्द के रूप में प्रकट होती है, अर्थात् चित् या चैतन्य शक्ति के रूप में आन्दोलित होकर शब्द और अर्थ के रूप में व्यक्त होती है। शब्द का यह व्यष्टि रूप है। समष्टि रूप में वह पहले से ही वर्त्तमान रहता है। यह शब्द और उसके द्वारा गृहीत सूक्ष्म अर्थ सर्जनशील समष्टि-चित् में प्रतिफलित होकर व्यक्तिगत अनुभवों की छाप या संस्कार का हेतु बनता है। इस प्रकार जो स्थूल-अक्षर हम लोग नित्य

मातृका

बोला करते हैं, वह सूक्ष्म वर्ण या मातृका से उद्भूत होता है। इसलिए मातृका को बीजरूपा कहा जाता है। यदि सूक्ष्म वर्ण अन्तर के चक्रों में विन्यस्त किये गये हों, तो ठीक ही है; परन्तु यह बात फिर भी विचारणीय रह जाती है कि तत्तद्दलों पर तत्तद् अक्षरों का ही विन्यास क्यों किया गया है। जैसे मूलाधार में, जो सबसे नीचे है, जिसमें चार दल हैं, संस्कृत वर्णमाला के व्यंजनों के आखिरी चार अक्षर ('ह' को छोड़कर) अर्थात् व, श, ष, स विन्यस्त है। इसका क्या अर्थ है? एक-एक अक्षर को एक-एक कमल-दल पर विन्यस्त करने का कारण तो समझ में आता है; किन्तु विशेष-विशेष दलों पर विशेष-विशेष अक्षरों के रखने का क्या अर्थ है? फिर इन चक्रों के बीज और वाहन हैं, उसका भी क्या अर्थ हो सकता है? यदि हम इस विधान को विस्तारपूर्वक जाँचें, तो निस्सन्देह प्रत्येक बात का एक सुचिन्तित कारण मिल जायेगा। परन्तु कठिनाई यह है कि सारा विधान जटिल दार्शनिक और साधनात्मक प्रक्रियाओं का उलझा हुआ रूप है। इसलिए हम बहुत ब्योरेवार विवरणों में नहीं जायेंगे। यथासम्भव संक्षेप में इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। कई जगह मुझे स्वयं यह विधान दुर्बोध लगा है। मैंने यथासम्भव इस विषय के प्रामाणिक विद्वानों, जैसे आर्थर एवलेन, सतीशचन्द्र विद्याभूषण आदि की सहायता ली है। तो,

यह समझने का प्रयत्न किया जाय कि इन साधकों के मन में अक्षर-विन्यास का क्या उद्देश्य था; अर्थात् इस बात पर विचार किया जाय कि विभिन्न आकार के चक्रों के कमल-दलों पर विशेष-विशेष अक्षर ही क्यों रखे गये।

मुझे भय हो रहा है कि आपको मैं पारिभाषिक शब्दों के मरु-कान्तार में भटकाने का अपराध कर रहा हूँ। मेरी धारणा है कि बड़ी बात तो सीधे ही समझायी जा सकती है। यह जो इतना आडम्बर है, वह निश्चय ही इसलिए नहीं है कि सीधी बात अधिक उलझा दी जाय। सो, सीधी बात यह है कि शब्द या नाद जो मनुष्य के भीतर अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, वह जब स्थूल रूप में प्रकट होता है, तब पद और पदार्थ के रूप में अलग-अलग हो जाता है। 'घट' एक पद है; इसका अर्थ घड़ा नामक वस्तु है; पद का अर्थ होने के कारण ही वह पदार्थ है। पदार्थ अर्थात् पद का अर्थ। लेकिन यदि बाहर प्रकट न करके आप 'घट' शब्द का मन-ही-मन चिन्तन करें, तो 'घट' पद और 'घट' पदार्थ की अलग-अलग प्रतीति तो होगी, लेकिन वहाँ 'पद' और 'पदार्थ' अलग-अलग विद्यमान नहीं होंगे, एकमेक होंगे। और भी भीतर पद और पदार्थ होंगे तो अवश्य, पर उनकी अलग प्रतीति भी नहीं होगी। और, और गहराई में वह पद विशुद्ध निःस्पन्द गतिहीन शब्द मात्र ही होगा। बात इतनी-सी ही है। ओष्ठ, दन्त, कण्ठ, तालु आदि से उच्चरित शब्द और उनके अर्थ स्थूल हैं। 'दस घड़े' का जो स्थूल अर्थ है, उसको रखने के लिए बहुत स्थान चाहिए। लेकिन मन-ही-मन अगर दस घड़ों की बात सोचें, तो स्थान की कमी की कोई आशंका नहीं होगी; क्योंकि वहाँ अर्थ स्थूल न होकर सूक्ष्म रहेगा। वह केवल रहेगा; लेकिन स्थान नहीं घेरेगा। मन्त्र और कुछ नहीं, मनःसंयोग है। केवल मुख से कहे शब्दों में मन का संयोग कम ही रहता है। कभी-कभी तो एकदम नहीं रहता। पर गहराई में अन्तस्तल की गुहा में केवल 'अर्थ' रहता है। वह 'होता है', इसलिए उसे 'भाव' कहा जाता है। मूलाधार से लेकर कण्ठ तक जो चक्रों की कल्पना है, उसी में ये शब्द के स्फुट अक्षर निवास करते हैं। अगर ये वहाँ न होते, तो वह आप-ही-आप मन में नहीं आ जाते। हम लोग जिस भाषा में सोचते हैं, उसमें कुल पचास ध्वनियाँ मानी गयी हैं; इसलिए इन पचासों का स्थान मन में अवश्य है। जिस भाषा में चालीस ध्वनियाँ होंगी, उसके बोलनेवाले के मन में चालीस अक्षर होंगे। जिसकी भाषा में सौ ध्वनियाँ होंगी, उसके मन में सौ अक्षर होंगे। भारतीय साधक पचास ध्वनियों में ही सोचते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि में 6 कमलों के पचास दल हैं। चीनी साधक इसी रास्ते सोचता, तो कदाचित् बहुत अधिक दलों की कल्पना करता। सो, सारे प्रपंच का सीधा अर्थ यह है कि हमारी भाषा में जो अक्षर हैं, ये केवल मुँह से ही नहीं निकलते, मन में भी रहते हैं। और, और भी गहराई में ये अव्यक्त होकर रहते हैं। यह बात बहुत अधिक सोचने की अपेक्षा नहीं रखती। इसका ब्योरा देते समय शास्त्रकार को पारिभाषिक शब्द बनाने ही पड़ेंगे, नहीं तो कुछ अधिक गहराई में जाना सम्भव न हो सकेगा। इस

लाचारी के कारण ही शास्त्रकार पारिभाषिक शब्दों का जाल तैयार करता है। यह जान-बूझकर श्रोता को उलझाने के उद्देश्य से ऐसा नहीं करता है।

अब थोड़ा और सोचा जाय। कण्ठ के नीचे जहाँ हम मन-ही-मन सोचते हैं, सब अक्षर, सब शब्द और सब शब्दों के अर्थ हैं, यह तो समझ में आ जाता है। अब, यदि बार-बार हमें इसी बात को कहने की जरूरत पड़े, तो क्या हम बार-बार लम्बे लम्बे वाक्य बोलेंगे ? इन लम्बे वाक्यों का जो अर्थ है, उसका एक नाम दे देना ही उचित होगा। 'मध्यमा' वाक् वही नाम है। अब, मध्यमा में जब सभी अर्थ हैं, तब फिर यह शून्यवत् प्रतीयमान आकाश, निरन्तर प्रकाश-रश्मियों में कम्पमान तेज, चंचल-धारियों में बहमान वायु, तरल प्रवाह में ढरकनेवाला जल और ठोस आधार देनेवाली धरित्री भी उसमें है। ये भी तो अर्थ ही हैं। किसी-न-किसी पद के अर्थ होने के कारण ही तो ये पदार्थ हैं और पाँच तत्त्वों से बाहर पदार्थ रह ही कहाँ जाते हैं ? देवता से दानव तक कौन ऐसा है, जो पद या शब्द का अर्थ न हो ? कौन ऐसा है, जो शब्द की पकड़ से निकल जाय ? रूप, रंग, स्पर्श सब इस शब्द की 'लेज' या रज्जु में बँधे हैं। यदि आप सोचते हैं और समझते हैं कि मन में सब अक्षर हैं, उनसे बने सब शब्द हैं, उन शब्दों से बँधे हुए सब अर्थ हैं और फिर कल्पना करते हैं कि 6 चक्रों में ये अक्षर बैठा दिये जायें, तो आपको अर्थों की भी बात समझनी होगी, पाँचों तत्त्वों का सन्निवेश करना होगा; देवता, दानव, डाकिनी, जो कुछ भी आपने सोचा है, सबका स्थान निश्चित करना होगा। हमारे देश के साधकों ने सचमुच ऐसा किया है, इनका विन्यास बहुत सोच-समझकर बड़े अभिनिवेश के बाद किया है। सब बताने का मेरा इरादा नहीं है, मगर इतना तो बता ही देना चाहता हूँ कि षट्चक्र में केवल अक्षरों के विन्यास की कल्पना-मात्र से काम नहीं चलेगा। अगर ये अक्षर कुछ अर्थ बताते हैं, कुछ विषय के निर्देश करते हैं, कुछ शक्तियों को अभिव्यक्त करने के माध्यम हैं, तो फिर चक्रों में इन बातों का विधान करना नितान्त युक्तियुक्त है। यही कारण है कि तन्त्र-ग्रन्थों में इन सब बातों का विचार किया गया है। आप उनके विस्तृत ब्यौरे को अगर श्रद्धापूर्वक समझने का प्रयत्न करेंगे, तो लगेगा कि वह कितना सुचिन्तित, व्यवस्थित और युक्तियुक्त है। इसीलिए थोड़ी शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग आवश्यक होगा।

बीज का उदाहरण : इस प्रकार प्रत्येक चक्र में अलग-अलग तत्त्व और उनके बीज-मन्त्र होते हैं। ये वस्तुतः तत्त्वों के बीज हैं; क्योंकि ऐसा कहा गया है कि तत्त्व बीजों से उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि जो बीज-मातृका स्थूल रूप में उच्चरित होती हैं, उसके सूक्ष्म रूप को जो शक्ति उत्पन्न और चालित करती है, वही उन तत्त्वों का हेतु है। उदाहरण के लिए, मणिपूर चक्र का तत्त्व अग्नि है और बीज-मन्त्र 'रं'। इसका अर्थ यह हुआ कि अग्नि जिन शक्तियों का सम्मिलित बाह्य रूप है, उन्हीं शक्तियों से जो सूक्ष्म शब्द बनता है, उसी का स्थूल अर्थात् वैखरी शब्द-रूप यह 'रं' अक्षर है। जो

व्यक्ति मानसिक रूप से और कण्ठ-ताल्वादि के स्पर्श से स्थूल रूप में किसी वस्तु के वास्तविक नाम का उच्चारण करता है, वह नामी को भी अस्तित्व मे ले आता है। शर्त यह है कि उच्चारण के समय रचनात्मक शक्ति का संयोग अवश्य होना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि केवल 'रं' अक्षर के उच्चारण-मात्र से मन्त्र का कार्य नहीं होता; केवल उच्चारण जीभ और ओठो का संचालन-मात्र है। इसीलिए मन्त्र को प्रबुद्ध होना चाहिए। मन्त्रशास्त्रियों की भाषा मे इसे 'मन्त्र-चैतन्य' कहते है। इस मन्त्र-चैतन्य के प्राप्त होने से ही साधक मन्त्र को क्रियाशील बना सकता है।

नाम से नामी

इस प्रकार 'रं' नामक वैखरी शब्द, ध्वनि के सहारे उस चित्शक्ति का स्थूलकाय है, जो मन्त्र-साधक को अग्नि को वश मे कर लेने की शक्ति देता है। इस प्रकार वह रचनात्मक विचार, जो वक्ता द्वारा उच्चारित स्थूल-अक्षरों के मूल मे होता है, मनुष्य को नाना सिद्धियों से समृद्ध बनाता है। शाक्त साधको के अनुसार इस समूची सृष्टि के मूल मे भी निर्माता अर्थात् ईश्वर का शब्द था। जिस प्रकार विशाल ब्रह्माण्ड मे शब्द, कोटि-कोटि शब्द, शक्तियो के रूप मे उद्बुद्ध हो रहा है, उसी प्रकार स्थूल छोटे पिण्ड मे भी प्रकट हो रहा है। जो साधक शब्द के सूक्ष्म रूप के साथ इस विश्वव्यापी रूप की चेतना ले आता है, वही मन्त्र को क्रियाशील बना सकता है। ईश्वर अर्थात् अपर शिव की यह रचनात्मक शक्ति ही समस्त विचारो का उत्स है। प्रत्येक व्यक्ति शिव रूप है और जितनी मात्रा मे वह इस बात का अनुभव कर सकता है, उतनी मात्रा में वह शिव की शक्ति को भी प्राप्त कर लेता है। विभिन्न देवता शिव की विभिन्न शक्तियों के ही रूप है। मन्त्र के द्वारा इन देवताओं को उद्बुद्ध किया जा सकता है।

शक्ति ही मन्त्र-चैतन्य है

मन्त्र और देवता : मन्त्र और देवता वस्तुत. शब्द और अर्थ या नाम और नामी हैं। मन्त्र और देवता शब्द और अर्थ के मिलित रूप है।[1] जप के द्वारा देवता को जगाया जा सकता है। जप को शाक्त साधको ने उस क्रिया के समान माना है, जो शयान व्यक्ति को जाग्रत करने मे होती है। जप मे जो मन्त्र उच्चरित होता है या जिस देवता के नाम का जप किया जाता है, वह उस देवता का ही वाचक होता है। इस प्रकार नाम शब्द है और देवता अर्थ। कहते है कि अधरोष्ठ शक्ति है और उत्तरोष्ठ शिव; और दोनों के संघर्ष से ही मन्त्र-देवता की उत्पत्ति होती है।

1. देखिअहिं रूप नाम आधीना।
रूप ग्यान नहिं नामविहीना।।
रूपबिसेष नाम बिनु जानें।
करतलगत न परहिं पहिचानें।।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।
उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।।
—रामचरितमानस

इसीलिए कहीं-कहीं देवता को साधक का पुत्र कहा गया है।

उत्पादित देवता : यह उत्पादित देवता 'पर' देवता अर्थात् देवता का नित्य शुद्ध-बुद्ध रूप नहीं है, बल्कि साधक द्वारा उत्पादित और साधक के हितार्थ विनियुक्त और कार्य सम्पन्न करके पुनः तिरोभूत हो जानेवाला व्यक्तिगत देवतामात्र है।

परम साधना : यदि कोई साधक सूर्यदेवता को मन्त्र द्वारा उत्पन्न करे, तो इसका मतलब सिर्फ यही है कि उस साधक के लिए तत्काल देवता की शक्ति, रूप ग्रहण करके आती है और प्रार्थित कार्य को सम्पन्न करके महान् सूर्य-शक्ति में विलीन हो जाती है। यह परम शक्ति नहीं है और इसीलिए यह साधना भी परम साधना नहीं है। परम साधना तो वह है, जब कि परम शिव को उद्बुद्ध किया जाय। परम शिव तो निःस्पन्द अर्थात् गतिहीन है। उससे सामयिक हित की क्षणभंगुर सहायताएँ नहीं ली जा सकतीं। कहने का मतलब यह कि वस्तुतः साधक का चैतन्य ही मन्त्र देवता के रूप में कार्य करता है और निरन्तर अभ्यास के द्वारा साधक इस चैतन्य को विश्वव्यापी चैतन्य के साथ जितना ही अधिक अभिन्न अनुभव करता है, उतनी ही अधिक सिद्धि प्राप्त होती है। फिर इसका मतलब यह भी हुआ कि सभी मन्त्र मनुष्य के शरीर में बिन्दु रूप में वर्तमान हैं। नियमानुसार परिपूर्ण जप के द्वारा संस्कार जाग्रत होते हैं और वर्ण बिन्दु के सामने प्रकट होता है। इस प्रकार यह भी कह सकते हैं कि मन्त्र जीव के वे संस्कार हैं, जिनके अर्थ उनके बिन्दु से अभिव्यक्त होते हैं और

जीव के संस्कार : जो उस अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। मन्त्र जिज्ञासा का

मन्त्र तात्पर्य यह हुआ कि अपने विचारों को केन्द्रित और प्रबुद्ध करो और इच्छा-शक्ति को जाग्रत करो। मन्त्र-साधना इसी का शास्त्र और गुरु द्वारा निर्दिष्ट सुगम मार्ग है। आगम में भी कहा है कि,

हृदि स्थं सूर्य नाम नैवेद्यमुदके हृदः।
पादोदकं च निर्माल्यं मस्तके धार्यं शिवस्मृतः॥

अर्थात् वह शक्ति स्वयं अच्युत परमात्मा रूप बन जाता है, जिसके मुख में उसका नाम है और हृदय में रूप है। बिना रूप के नाम का ध्यान [illegible] नहीं है।

शब्द-ब्रह्म : शब्द और शब्दार्थ का जो मूल है, वही शब्द-ब्रह्म है। यह वेदान्तियों के पर ब्रह्म और शाक्तों के पर शिव से अभिन्न है। [illegible] शब्द-ब्रह्म अपनी उस प्रकृति से भिन्न होता है, जो बिन्दुरूपिणी है, [illegible] करने के लिए उत्तरदायी है। जब इस बिन्दुरूपिणी प्रकृति से शब्द-ब्रह्म [illegible] होता है, तब विभिन्न शब्द और अर्थ के [illegible] उत्पन्न होते हैं। [illegible] की अधिकता हो जाती है, [illegible] यह जो [illegible] है, [illegible]

प्रक्रिया के भीतर से अग्रसर होता रहता है और व्यक्त शब्द और अर्थ का हेतु बनता है।[1] अर्थात् ब्रह्म जो है, वही व्यापक शब्द-रूप है, जो अखण्ड है, अव्यक्त है और जो नाद-बिन्दु-मय है। अर्थात् जो सृष्ट्युन्मुख परम शिव के प्रथमोल्लास का स्वरूप-मात्र है।[2] इस प्रकार दर्शन-शास्त्र में जिसे अव्यक्त परा-चित्-शक्ति कहते हैं और भक्ति-शास्त्र में जिसे 'सगुण ब्रह्म' कहते हैं, इन दोनों का गतिशील सम्मिलित रूप है। शक्ति ही जब अव्यक्त प्रकृति द्वारा चालित होती है अर्थात् जो निर्गुण और सगुण ब्रह्म का क्रियात्मक रूप है, वही शब्द का वास्तविक रूप है। 'हठयोग प्रदीपिका' में बताया गया है कि जो कुछ नाद रूप में सुनायी देता है, वही शक्ति है क्योंकि वह व्यक्त है; और जो तत्त्व से परे है, निराकार है, आकार-रूप में व्यक्त नहीं हुआ है वह सब शिव है। जहाँ तक आकाश का विस्तार है, जहाँ तक शब्द की प्रवृत्ति है, जो निःशब्द है, उसे श्रुतियों में परब्रह्म परमात्मा कहा गया है।[3]

अव्यक्त नाद, नाद-मात्र

नाद और बिन्दु : तो, सूक्ष्म शब्द या नाद, पर ब्रह्म की इच्छा का रूप है। बीज ज्ञान का और बिन्दु क्रिया का स्वरूप है। सीधी भाषा में यों समझाया गया है कि निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त। उपाधियुक्त चैतन्य से उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों के संयोग से विश्व में जो एक विक्षोभ होता है, वही नाद है और उस विक्षोभ का क्रियाशील होना ही बिन्दु है। इस नाद और बिन्दु में सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त विशेषताहीन नाद और बिन्दु का ही ग्रहण होना चाहिए। इसी बात को समझाने के लिए इन्हें पर नाद और पर बिन्दु कहा जाता है। कभी-कभी लोग परम नाद और परम बिन्दु भी कह देते हैं। इन्हीं से अपर या विशेषतायुक्त नाद, बीज और बिन्दु उत्पन्न होते हैं, जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं। अर्थात् अपर नाद इच्छा है, बीज ज्ञान है और अपर बिन्दु क्रिया है। इन्हीं से त्रिदेव अर्थात् रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार तन्त्र का निर्गुण शिव कबीरपन्थ के सत्य पुरुष के बराबर है, सगुण शिव निरंजन पुरुष है और शक्ति आद्या शक्ति है। नाद ही स्वसंवेद्य यानी कबीरदास की वाणियों के निर्मलवेद के समान है और बिन्दु उसकी क्रिया।

सन्तों के साहित्य में इन सभी प्रपंचों का आभास मिल जाता है। 'राम' का जो जप है, वह केवल मुख से उच्चरित होकर सार्थक नहीं होता। सुमिरन और

1. तेन शब्दार्थरूपविशिष्टस्य शब्दब्रह्मत्वमवभासते।
2. राघव भट्ट ने 5-12 में लिखा है कि 'सृष्ट्युन्मुखपरमशिवप्रथमोल्लास मात्रखण्डोऽव्यक्त-नादबिन्दुमय एवं व्यापको ब्रह्मात्मकः शब्दः।'
3. यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वर
यावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रव
निःशब्दं यत् परब्रह्म स ब्रह्मात्मेति गी

जप में अन्तर है। सुमिरन नाम के साथ नामी के गुणों का स्मरण भी है। वह सूक्ष्म चिद्रूप की उपलब्धि है। वह मन्त्र-चैतन्य का ही नामान्तर है। सन्तों ने शब्द-तत्त्व के मूल को खूब अच्छी तरह समझा था। उन्होंने परम तत्त्व के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने की सहस्रों अवस्था-विशेषों की कल्पना नहीं की (उसका क्या हिसाब करना, जिसका कोई अन्त नहीं; हिसाब तो उसका करना चाहिए, जिसका हिसाब मिल सके! फिर मन्त्रों के अनेक बीज और तत्त्वों के चक्कर में वे नहीं पड़े)। परवर्ती काल के अनुयायी उनकी माया नहीं काट सके, परन्तु वह दूसरा इतिहास है। क्यों कबीरदास आदि सन्तों की सहजीकृत साधना फिर जटिल रूप धारण करने लगी और क्यों उन साधनाओं में परस्पर-विरोधी तत्त्वों का मिश्रण हुआ, यह अलग से कही जाने योग्य कहानी है। यहाँ प्रकृत यह है कि कबीर आदि महाप्राण साधकों ने मन्त्र-साधना तथा नाम और नामी के मूल भाव को ही पकड़ा था। उन्होंने मन्त्र-चैतन्य को कभी नहीं भुलाया। कहते हैं :

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जनि बीसरे, छीलर देखि अनन्त॥

जिह्वा पर मन्त्र और हृदय में ध्यान। यही मन्त्र को जाग्रत करने की ठीक प्रक्रिया है। नाथ और शाक्त साधकों ने इसी बात पर जोर दिया था। लेकिन अनेक देवताओं और शक्तियों की 'उत्पादिका वाक्' स्वरूप मन्त्रों का उन्होंने बड़ा विकट जाल प्रस्तुत किया, सिद्धियों का तारतम्य निश्चित किया; छोटी सिद्धि के लिए स्थूलतर साध्य को अलग-अलग विस्तार से समझाया। कबीर, नानक, दादू आदि श्रेष्ठ साधकों ने मूल तत्त्व को, मूल शक्ति को, मूल नाम को और मूल उद्देश्य को सामने रखा। अनन्त छीलरों का हिसाब करने के बेकार परिश्रम को उन्होंने अनावश्यक समझा, प्रतिवाद किया, प्रत्याख्यान किया और बार-बार स्मरण दिलाया कि सुमिरन के लक्ष्य अनेक नहीं हैं, एक है। वह एक अगाध अपरम्पार हरि-समुद्र है। संस्कृत वर्णमाला के अनुसार बीज और मन्त्रों की कल्पना भी कल्पना ही है और एकदेशी तो है ही। वाणी के वैखरी रूप को पकड़कर यदि चलना है, तो उस परा-वाक् तक तो पहुँचो, जिसका ग्राहक और ग्राह्य वह स्वयं है। बीच में कहीं रुको मत, थको मत, उलझो मत। स्थूल वाक् की साधना करते-करते उसी मूल स्रोत तक पहुँचो, जहाँ स्थूल से स्थूलतर रूप में अभिव्यक्त होती हुई वाणी इस वैखरी रूप में प्रकट हुई।

यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र : मन्त्र-चैतन्य के इस सिद्धान्त को यदि हमने ठीक पकड़ लिया, तो बहुत-सी और बातें आसान हो जायेंगी। मन्त्र-साधनावाले अनेक प्रकार के यन्त्रों की भी साधना करते हैं। अनेक प्रकार की टेढ़ी-सीधी लकीरों के यन्त्र को देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति हैरान होकर सोचता है कि यह क्या ऊल-जलूल प्रयास है। क्या कहीं इन ज्यामितिक आकृतियों की कोई आध्यात्मिक व्याख्या हो सकती है? क्या इन जन्तरों के ताबीज पहनने से कोई सिद्धि मिलती है? मगर जैसे 'छू मन्तर' वाले अधकचरे मन्त्रों ने मन्त्र-तत्त्व को समझने में

को भूल जाता है और आनन्द के मूल उत्स 'चेतन' को, जो सही अर्थों में गम्भीर गुरु है, पकड़ लेता है। आनन्द-मूल चैतन्य को पकड़ सकना ही सुमिरन है :

साधो, सुमिरन सो कह्या, जिहि सुमिरण आपा भूल।
दादू गहि गम्भीर गुरु, चेतन आनन्द-मूल ॥

सच्चा सुमिरन वह है, जिसमें प्राण, श्वास, सुरति सबका मुख 'राम' की ओर हो जाय। जो-जो बाह्य विषय की ओर ले जानेवाले साधन हैं, वे सब जब अन्तर्मुख हो जाते हैं, तब वह ब्रह्म धाम या शून्य धाम मिलता है, जहाँ साधक को अस्ति-नास्ति की, भाव-अभाव की, है-ना की चेतना ही नहीं रहती। चैतन्य जहाँ मन्त्रार्थ के साथ एकमेक हो जाता है, वही ब्रह्म-सुख का निज धाम है :

प्राण कवल मुखि राम कहि, मन पवना मुखि राम।
दादू सुरति मुखि राम कहि, ब्रह्म सुनि निज ठाम ॥

बड़ी ही स्पष्ट और दीप्त भाषा में दादू ने कहा था कि राम नाम ही समस्त मन्त्रों का मन्त्र है। केवल चैतन्य के सम्पर्क के होते ही राम नाम सब मन्त्रों से बढ़कर सिद्ध हो जाता है। उन्होंने और भी कहा था कि यह केवल बात की बात नहीं है, उनका देखा हुआ—अनुभूत—सत्य है :

दादू अविचल मंत्र, अमर मंत्र, अखै मंत्र,
अभै मंत्र राम मंत्र निज सार ॥
सजीवन मंत्र, सवीरज मंत्र, सुन्दर मंत्र,
सिरोमणि मंत्र, निर्मल मंत्र, निराकार।
अलख मंत्र, अकल मंत्र, अगाध मंत्र,
अपार मंत्र, अनंत मंत्रराया।
नूर मंत्र, तेज मंत्र, जोति मंत्र,
प्रकास मंत्र, परम मंत्र पाया।
उपदेश देख्या (दादू गुरू राया)।

ऐसी महिमा है इस मन्त्रराज की। पर नाम जैसे-तैसे नहीं लेना चाहिए। चैतन्य के साथ मनःसंयोग अत्यन्त आवश्यक है। तभी वह आदि, मध्य और अन्त में एकरस होकर साधक को परम प्राप्तव्य तक पहुँचाता है :

नाँव लिया तब जानिए चेतन मन रहै समाइ।
आदि अन्ति मधि एकरस, कबहूँ भूलि न जाइ ॥

सो, मनःसंयोगपूर्वक की गयी शब्द-साधना ही सन्तों की भाषा में 'सुमिरन' है। ऐसे ही सुमिरन में मनुष्य अपने परम प्रेयान् से एकमेक हो रहता है। हमने ऊपर देखा है कि स्थूल वैखरी वाणी का अर्थ स्थूल जगत् के पदार्थ हैं। सूक्ष्म मध्यमा वाणी के अर्थ मानसिक जगत् के पदार्थ हैं। सूक्ष्म मध्यमा वाणी के अर्थ मानसिक रूप में प्रतिफलित स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म रूप है। इस वाणी में मन ही दो रूपों में विभक्त होकर शब्द या उसके अर्थ को या नाम या उसके रूप को ग्रहण करता है। यद्यपि यह सूक्ष्म होता है, तथापि स्पष्ट एवं व्यक्त होता है। वैखरी वाणी

के शब्द और अर्थ की अपेक्षा इसके शब्द और अर्थ का व्यवधान कम होता है। पश्यन्ती वाणी में यह व्यवधान और भी कम हो जाता है; क्योंकि पश्यन्ती वाणी में केवल स्पन्द-मात्र होता है। वहाँ शब्द और अर्थ, दोनों ही सूक्ष्मतर अव्यक्त रूप में होते हैं। इस प्रकार इस वाणी में दोनों का व्यवधान लगभग तिरोहित हो जाता है; वे बहुत-कुछ 'कहियत भिन्न न भिन्न' के रूप में हो जाते हैं। परा वाणी में यह व्यवधान एकदम तिरोहित हो जाता है। वहाँ जो सुमिरन करने-वाला है वह, और जिसका सुमिरन करता है वह, एकमेक हो जाते हैं। दोनों में कोई भेद नहीं रहता। इसी भाव को बताने के लिए कबीर ने कहा है :

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि॥

और,

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ॥

इसी बात को दृष्टि में रखने के कारण इन भक्तों के साहित्य में वह जटिल विस्तार नहीं मिलता, जो सिद्धिकामी साधकों के साहित्य में इतना प्रमुख होकर आया है। इस चैतन्य स्मरण का ही यह परिणाम है कि कबीर आदि सन्तों ने शब्द की बाण या तलवार से तुलना की है। जो स्मरण चित्त की रचनात्मिका शक्ति के सहारे किया जाता है, अर्थात् जिसमें नाम के साथ नामी को भी निरन्तर याद किया जाता है, वह कभी निर्जीव रूढ़ि बनकर नहीं रह सकता; क्योंकि उसके साथ-साथ सत्य को जानने और असत्य को त्याग करने की प्रक्रिया चलती रहती है। जिसमें मानसिक संयम, वैराग्य और विवेक नहीं है, वह इस प्रकार के सुमिरन को सह नहीं सकता। उसकी चोट सँभालना सबके वश की बात नहीं। कबीरदास ने अपने स्वाभाविक फक्कड़पने के साथ कहा है कि 'ज्यों-ज्यों मैं भगवान् का स्मरण करता हूँ, त्यों-त्यों तीर लगने की व्यथा अनुभव होती है; परन्तु इस चोट से भागनेवाले कोई और होंगे।' यह कबीर ही है, जो इस चोट को सह रहा है :

ज्यों ज्यों हरिगुण साँभलों, त्यूँ त्यूँ लागै तीर।
लागैं पै भागा नहीं, साँहणहार कबीर॥

पूछा जा सकता है कि शाक्त-साधकों में या नाथ-साधकों में इस प्रकार चोट की बात तो कहीं नहीं आती। सन्त-साधकों ने बार-बार इस चोट, व्यथा या मर्म की बात क्यों कही? इसमें क्या कोई रहस्य है या कोई नयी बात है? जैसा कि हमने ऊपर देखा है कि सन्त-साधकों ने उस मूल तत्त्व को ग्रहण करने में कहीं गलती नहीं की है, जो उनके पूर्ववर्ती साधकों का चरम विवेच्य और परम लक्ष्य था। उनकी देन इतनी अवश्य है कि उन्होंने उस जटिल व्यवस्था को सरल बनाया है और 'छीलरों' के मोह को छोड़कर मूल स्रोत में ही अवगाहन करने का मार्ग दिखाया है। परन्तु इतना ही नहीं है। उन्होंने उस जटिल विवेचना को केवल

सहज और मूलगम ही नहीं बनाया, उसमें नवीन प्रेम-रस को भी जोडा है। नाम या मन्त्र का जप केवल सिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं है, केवल अद्वैत रस की उपलब्धि के लिए ही नहीं है, बल्कि वह उसमे भी बडी चीज है; वह प्रेम-साधना है। सुमिरन केवल मन्त्र-जप नही है, न छोटी-मोटी सिद्धियों को प्राप्त करने के उद्देश्य से उद्भावित ही है। वह परम प्रेम-स्वरूप आनन्दकन्द के साथ प्रीति-लीला है, उसमें विरह की व्याकुलता है, मिलन की आकाक्षा है और एकमेक हो जाने का उन्माद है :

बासुरि सुख नां रैंणि सुख, ना सुख सपने माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सौं, ना सुख धूप न छाँहि॥
बिरहिनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीउ का, कब रे मिलैंगे आइ॥

इसीलिए शब्द व्याकुलता का वाहक है। कबीर जो इस शब्द की मार को सह सके हैं, वह इसलिए कि उनमें यह प्रेम था। प्रिय द्वारा निक्षिप्त वाण को प्रेमी ही सिर-आँखों चढ़ा सकता है। कुछ भी हो, है तो वह प्रिय का। तुमने कल जिस वाण से मारा था, उसी से आज भी मारो; क्योंकि वह मेरे मन मे बस गया है, उसके बिना शान्ति नही, चैन नही—

जो सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सरि बिनु सचु पावो नही॥

और,

बिरह भुवंगम पैंसि करि, किया कलेजे घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावे त्यूं खाव॥

इस प्रकार नाम-जप और सुमिरन को कबीरदास ने प्रेम-भक्ति का साधन बनाया है। यह मन्त्र-साधना की महिमामयी परिणति है। उन्होंने उन सारी जटिल साधनाओं को अच्छी तरह से आत्मसात् किया है। मन्त्र या शब्द-साधना का सारा क्रम उन्हें हस्तामलक की भाँति स्पष्ट था। अनहद शब्द की चिन्तना के लिए किस प्रकार पंच प्राण की साधना की जाती है और त्रिकुटी सन्धि मे गगन ज्योति दिखायी देने लगती है और किस प्रकार वहां सूर्य, चन्द्र और पवन को बाँधकर निमज्जित कर दिया जाता है, उन्हें सब मालूम है। उन्होने अनुभव किया था कि ऐसा करने से मन स्थिर हो जाता है, सहस्रार कमल प्रकाशित हो उठता है और उस कमल मे निरंजन ज्योति दिखायी देती है। उन्हे आसन और मुद्राओं की साधना का बहुत अच्छा परिचय था, परन्तु वे मूल तत्त्व को पकड़ने के पक्षपाती थे। वे सहज लक्षण को ग्रहण करके इन उपाधियों को छोड़ देने की सलाह देते हैं; वे हीरा और मणियों के मूल्य से पुष्प और पत्र का मूल्य अधिक समझते हैं; क्योंकि हीरा और मणि का मूल्य आरोपित है और पत्र और पुष्प के मूल्य स्वयंसिद्ध हैं। जहां पत्रों और पुष्पों को हीरा और मणि समझा जाता है, वहीं

सहज तत्त्व निवास करता है और वहीं त्रिभुवन-धनी आसन जमाकर विराज-मान होते हैं :

ऐसा ध्यान धरो नरहरी, सबद अनाहद च्यंतन करी।
पहली खोजों पंचे बाई, नाद ब्यंद ले गगन समाई।
गगन ज्योति तहाँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवना मेलो बंधि।
मन स्थिर होइ त कँवल प्रकासै, कँवला माँहि निरंजन बासै।
सतगुरु संपत खोलि दिखावै, निपुण होइ तो कहाँ बतावै।
सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसण दिढ निद्रा पुनि साधि।
पुहुप पत्र जहँ हीरा मणी, कहै कबीर तहाँ त्रिभुवन धणी ॥

इस प्रकार बौद्धों, शाक्तों और शैवों की साधना-पद्धति में जो सिद्धियों को प्राप्त करने का आडम्बर है, अनेक प्रकार की यन्त्र-तन्त्र की जटिल साधनाओं का विधान है, उसके मूल और वास्तव सत्य को कबीर और उनके अनुयायियों ने दृढ़ता से पकड़ लिया है और सिद्धियों के पीछे भागने की मनोवृत्ति का तिरस्कार किया है। परन्तु इतना करके ही वे विरत नहीं हुए। उन्होंने इस शब्द-साधना को प्रेमभक्ति के साथ जोड़ दिया है; इस प्रकार जो साधना नीरस और जटिल थी, उसे सरस और सहज बना दिया है। सन्तों की यह बड़ी देन है।

सुरति और निरति

'सुरति निरति परचा भया'

इसके पूर्व मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार मन्त्र-तत्त्व के मूल सिद्धान्त को सन्तों ने पकड़कर उसे सहज प्रेम का रूप दिया था। यह पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है और इसे ठीक से समझ लिया जाय, तो परात्पर तत्त्व को अनायास ग्रहण किया जा सकता है। पूर्ववर्ती तान्त्रिक परम्परा में इस मूल तत्त्व का बड़ा विपुल और जटिल साहित्य मिलता है। उसमे शक्ति के असंख्य केन्द्रों को सिद्ध करने का रहस्य बताया गया था। सन्त-साधकों ने बहुत सहज भाषा में उसे लोकग्राह्य बनाया है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में यह उनकी बड़ी भारी देन है। इस देन का महत्त्व वही समझ सकता है, जिसने उस विपुल साहित्य को आंशिक रूप से भी देखने का अवसर पाया है। योग और तन्त्र-साधना के साहित्य में पिण्ड-ब्रह्माण्डैक्य के सिद्धान्त ने अनेक रूप ग्रहण किये हैं। कुछ का, विशेषकर हठयोग-सम्बन्धी सिद्धान्तों का, व्यापक प्रभाव सन्तों की वाणी में मिल जाता है। सन्तों ने किस प्रकार नीरस और जटिल प्रक्रियाओं के स्तूप को सरस प्रेममय साधना का रूप दिया है, उसका सामान्य परिचय हमने पीछे दिया है। यहाँ थोड़ा और विचार करना है। हठयोग की जटिल साधना-पद्धति का थोड़ा परिचय कराये बिना आगे बढ़ना कठिन है; इसलिए मैं यहाँ फिर आपको कुछ अटपटी-सी लगनेवाली साधना-प्रक्रिया की शुष्क चर्चा में उलझाने की अनुमति चाहता हूँ। जब तक इस प्रकार की चर्चा नहीं होती, तब तक सन्तों के सहज धर्म का महत्त्व नहीं समझा जा सकेगा।

रहा है, जो कुछ इन्द्रिय ग्राह्य है और जो कुछ उसे उद्‌भासित कर रहा है, वह सब परा-संविद् या सनातन चित्-शक्ति का विलास है :

सत्वे सत्वे सकलरचना संविदेका विभाति ।
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति ।
ग्रासे ग्रासे बहुलतरला लम्पटा संविदेका ।
भासे भासे भजति भवता बृहिता संविदेका ।

—'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह,' 4.39

चिद्‌वादी सिद्धान्त : पिछली शताब्दी के कई यूरोपीय दार्शनिकों ने अनेक प्रयोगों के बाद इसी प्रकार की एक चित्-शक्ति की लीला का सन्धान पाया था। वे अपने को 'वाइटलिस्ट' या चित्तत्त्ववादी कहते रहे। बर्गसां, नित्शे, इउकेन आदि दार्शनिक विभिन्न भाषाओं में इस एक तत्त्व की महिमा घोषित करते रहे। उनके ब्यौरे में अन्तर है; लेकिन इस मूल सत्य को उन्होंने प्रचारित किया है कि एक विश्वव्यापिनी चिदात्मिका शक्ति ही अपने-आपको नाना रूपों और चेष्टाओं में अभिव्यक्ति देती आ रही है। हमारे देश के शाक्त साधकों ने न जाने कब से इस सत्य का साक्षात्कार किया था। ब्रह्माण्डव्यापिनी इस परा-संविद् को किसी भी स्तर पर पकड़िए, वह सम्पूर्ण रूप से पकड़ में आ जायेगी। वही परा-शक्ति परात्पर परतत्त्व तक पहुँचाने की सहायिका होती है। हठयोगियों ने उसे शारीरिक चेतना के स्तर पर पकड़ा था। भीतर से बाहर की ओर क्रमशः अभिव्यक्त होनेवाली इस शक्ति को यदि बाहरी स्तर पर पकड़ना मंजूर है, तो धारा को उलटने की जरूरत होगी। जिसे बाहर पकड़ा गया है, उसके सहारे क्रमशः अन्तर और अन्तरतर के स्तर पर पकड़ने की प्रक्रिया ही धारा का उलटना है। पिछले अध्याय में शब्द-ब्रह्म की साधना के प्रसंग में हमने देखा था कि मूल निःस्पन्द परा-वाक् किस रूप में क्रमशः पश्यन्ती और मध्यमा, और फिर वैखरी वाणी में अभिव्यक्ति पा रही है। यदि उसे वैखरी वाणी के स्तर पर पकड़ा गया, तो क्रमशः उलटे मार्ग से चलकर मध्यमा, फिर पश्यन्ती और फिर अन्त में परा-वाक् के स्तर पर पहुँचा जा सकता है। और यह परा-वाक् परा-संविद् का ही रूप है। परा-संविद् अर्थात् पर-शिव की शक्ति। दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है :

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीमश्चंद्रचन्द्रिकयोरिव ।

—'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' 4.37

हठयोगी की साधना : हठयोगी इस चेतना को शारीरिक स्तर पर पकड़ने का प्रयास करता है। निर्गुण या गुणातीत शिव को वह धारा के विरुद्ध चलकर पकड़ने का प्रयास करता है। उसकी यह यात्रा बड़ी कठिन है। वह भावावेश को इस क्षेत्र में त्याज्य समझता है। वह सच्चे अर्थों में निर्मम ज्ञानमार्गी है। विकट है उसकी गमनोत्कण्ठा। हाय, उसने कभी सोचा नहीं कि इतने विकट मार्ग में

अग्रसर होने की ललक उसमें क्यों आयी ! अभिसार है, पर पता नहीं क्यों है ! थोडा धैर्य धारण करके उसकी अभिसार-यात्रा की सूखी कहानी सुनें, तो आपको अचरज होगा। कोई नही जानता कि क्यों परात्पर परम शिव के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ। परन्तु वह इच्छा उत्पन्न हुई थी। इच्छा परा-संविद् के विकास का नाम है। जहाँ चित्-शक्ति पूर्ण विकसित नहीं है, वहाँ इच्छा भी नही है। पर यह हमारी सीमित दृष्टि का सत्य है। परम शिव की रहस्यमयी इच्छा का हेतु खोजना हमारे वश की बात नहीं। योगी भी नहीं जानता। जो हो, वे गुणातीत परम शिव सगुण शिव और सगुण शक्ति के रूप में अभिव्यक्त हुए और सृष्टि-प्रपंच शुरू हो गया। क्यों हुआ, यह हमारी पहुँच के बाहर की बात है।

योग के विभिन्न रूप : संक्षेप में ऐसा समझा जा सकता है कि जो निर्गुण या गुणातीत ब्रह्म है, वह सृष्टि-क्रिया की ओर उन्मुख होने पर सगुण ब्रह्म का रूप धारण करता है। इसी को 'पर-बिन्दु' कहते हैं। यह अव्यक्तावस्था में रहता है और इसमें शिव और शक्ति तत्त्व पृथक्-पृथक् प्रतिभात नही होते। किन्तु दोनों व्यक्त रूप में वर्त्तमान रहते हैं। लेकिन वे अब मूल के अव्यक्तावस्था से व्यक्त होने की ओर प्रवृत्त हुए रहते हैं। इसी अवस्था का नाम परा-वाक् है। बिन्दु मे उसका स्थान मूलाधार चक्र मे है। साधारणतः योग के चार रूप हैं—*मन्त्र-योग, हठ-योग, लय-योग और राज-योग। ब्रह्म साक्षात्कार के विभिन्न उपाय* हैं। ये साधनाओं के विभिन्न मार्ग हैं, जिनसे चित्त की बौद्धिक और भावात्मक प्रक्रियाएँ या वृत्तियाँ नियमित होती हैं। इन चारों भागों के आठ अंग हैं, जिन्हें शास्त्र में अष्टांग योग कहा गया है। प्रत्येक योग का लक्ष्य एक ही है; परन्तु कहा जाता है कि उनकी साधना-पद्धतियों के भिन्न होने से फल-प्राप्ति में शीघ्रता या निरापत्ता का तारतम्य है। जो समाधि मन्त्र-योग से सिद्ध होती है, उसे महाभाव कहते हैं। और हठ-योग द्वारा सिद्ध समाधि को महाबोध और लय-योग वाली को 'महालय' तथा राज-योग या ज्ञान-योग से सिद्ध समाधि को 'कैवल्य' समाधि कहते हैं। राज-योग और लय-योग मे बौद्धिक प्रक्रियाएँ ही प्रधान होती हैं। उसमें चिन्तन और निदिध्यासन द्वारा मनोवृत्तियों को संयमित करने का विधान है। मन्त्र-योग मे जप, पूजा और उपासना की प्रधानता है। हठ-योग में प्राणायाम की साधना और शारीरिक व्यायाम पर अधिक जोर है। परन्तु प्रत्येक योग में दूसरे योग की कुछ-न-कुछ प्रक्रियाएँ अवश्य ग्रहण की गयी हैं। ज्ञान-योगी या राज-योगी के यहाँ कुण्डलिनी का कोई महत्त्व नही है, क्योंकि वह बौद्धिक संयम द्वारा समाधि प्राप्त कर लेता है; पर हठ-योगी कुण्डलिनी की सहायता लेता है, क्योंकि उसके मत मे सहस्रार चक्र मे शक्तिरूपा कुण्डलिनी' के साथ अखण्डज्योति शिव का मिलन होना है और वस्तुतः यही स्वरूप-ज्ञान है।

योग की इस साधना का इतिहास बहुत पुराना है। कितना पुराना है, यह कहा सकना कठिन है। हमारा इतिहास जहाँ तक हमें घसीटकर पीछे ले जाता

है, वहां तक योग-साधना की परम्परा प्राप्त होती है। पर यह इतिहास कितनी दूर तक हमें ले जा सकता है? बहुत कम दूर। मोहेन्-जो-दरो और हरप्पा के अवशेष उसके अन्तिम छोर हैं। योग वहां भी मिलता है और इंगित करता है कि यही आरम्भ नहीं है; और भी है, और भी। पर वहां तक पहुँचने का साधन कहां है?

पातंजल योग-सूत्रों में योग-साधना और तत्ववाद का बहुत सुन्दर विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है कि योग-साधना का बहुत सुन्दर विशाल साहित्य रहा होगा। इस ग्रन्थ ने परवर्ती योगमार्गों को निरन्तर प्रेरणा दी है। इसलिए संक्षेप में इसकी उन बातों को जान लेना आवश्यक है, जो प्रासंगिक हैं।

योग का लक्ष्य : योग-दर्शन सम्पूर्ण शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करता है—हेय, हेय-हेतु, हेय-हान और हानोपाय। दुःख और दुःखजनक पदार्थ हेय है और चूंकि अविद्या ही इस हेय वस्तु को जीव के सामने उपस्थित करती है और जीव गलती से उन्हें 'भोग्य' और अपने को उनका भोक्ता समझकर उलझ जाता है, इसलिए यह जो भोग्य-भोक्ता-भाव-रूप संयोग है, वही हेय-हेतु है। स्पष्ट ही अविद्या के कारण यह संयोग सम्भव होता है, इसलिए वास्तविक हेय-हेतु तो अविद्या ही है और विवेक-ज्ञान ही इस हेय-हेतु के ज्ञान का उपाय है; क्योंकि उसी से आत्मा और अनात्मा का पार्थक्य ठीक-ठीक उपलब्ध होता है और अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम लक्ष्य है, यही कैवल्य है।

जब तक विवेक ख्याति नहीं हो जाती, तब तक योगांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है (2-28)। ये आठ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार तथा धारणा, ध्यान और समाधि। प्रथम पांच बाह्य है और अन्तिम तीन आन्तर। पहले संक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है।

पांच बाह्य योगांग : 1. बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्ति-संकोचन) को यम कहते है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना), ये यम है। इन यमों (संयमों) की विपरीत क्रियाओं—हिंसा, असत्य, स्तेय, वीर्य-क्षय, परिग्रह—को वितर्क कहते हैं। इनका फल दुःख और अज्ञान है। 2. वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पांच प्रकार के नियम बतलाये हैं – शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। 3. योग-साधन के लिए नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताये गये हैं। आसन अर्थात् हाथ-पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश। परवर्ती योगग्रन्थों में आसनों की अनेक संख्याएँ बतायी गयी हैं। परन्तु पातञ्जल दर्शन ने स्थिर और सुखकर आसन (2.46) को ही योग-साधन का प्रकृष्ट उपाय बताया है। 4. श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आबद्ध रखना (कुम्भक), फिर बाहर निकालना (रेचक), प्राणायाम

कहा जाता है। प्राण अर्थात् वायु के संयमन से मन का संयमन सहज हो जाता है। 5. शब्दादि बाह्य व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटाकर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना होता है। उस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क न होने से वे चित्त का सम्पूर्ण रूप से अनुसरण करते हैं। इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना सम्भव होता है।

तीन अन्तर योगांग : इन पाँच योगांगों की चर्चा करने के बाद सूत्रकार ने दूसरा पाद समाप्त कर दिया है। बाकी तीन योगांगों का वर्णन विभूतिपाद नामक तीसरे पाद में किया है। ये पाँच बहिरंग साधन है, क्योंकि कार्य-सिद्धि से इनका बाहरी सम्बन्ध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांग साक्षात् सम्बन्ध से कार्य-सिद्धि के हेतु है, इसलिए अन्तरंग साधन कहे गये हैं। इन तीनों को एक ही नाम 'संयम' दिया गया है। तीनों का एक ही साथ नाम देने का अभिप्राय यह है कि ये तीनों जब एक विषय का आश्रय करते होते है, तभी योगांग होते है, अन्यथा नहीं। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नहीं कह सकते। सो नाना विषयों मे विक्षिप्त चित्त को बलपूर्वक किसी एक ही वस्तु (जैसे, श्रीकृष्ण की मूर्त्ति) पर बाँधने को धारणा कहते हैं। 'धारणा' से जब चित्त कुछ स्थिर हो जाता है, तब उस विषय की एकाकार चिन्ता (प्रत्ययैकतानता) को 'ध्यान' कहते हैं (3.2) और यह ध्यान जब निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्य-सा होकर ध्येय विषय के आकार मे आभासित होता है (अर्थ-पात्र-निर्माण), तब समाधि कहा जाता है (3.3)। प्रथम पाद मे जिस सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई है, वह समाधि इससे भिन्न है। वह साध्य है, यह साधन है; वह फल है, यह उपाय है। उस स्थूलग्राह्य, सूक्ष्मग्राह्य, ग्रहण और गृहीता भेद से अवलम्बित समाधि की अवस्था में 'संयम' (ध्यान, धारणा, समाधि) का विनियोग करना होता है। जहाँ तक सम्प्रज्ञात समाधि का सम्बन्ध है, वहीं तक योग के आठ अंगों मे से पाँच बहिरंग और तीन अन्तरंग हैं। असम्प्रज्ञात समाधि के लिए तो आठों बहिरंग हैं। जब मनुष्य समाधि की दशा में नहीं होता अर्थात् जब वह व्युत्थान दशा मे होता है तब उस समय दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा जिन विषयों का अनुभव करता है, ये स्वयं नष्ट हो जाने के बाद भी अपना संस्कार छोड़ जाते हैं और इसीलिए वे संस्कार निरन्तर स्मृति उत्पन्न करते रहते हैं। व्युत्थान अवस्था की भाँति समाधि अवस्था मे भी संस्कार रहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में यद्यपि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं, तथापि संस्कार रहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध मे भी एक प्रकार का संस्कार पैदा होता है। व्युत्थान दशावाले संस्कारों को 'व्युत्थानज' और निरोध दशावाले संस्कारों को 'निरोधज' कहते हैं। इन दोनों का द्वन्द्व जारी रहता है। जो प्रबल होता है, वही विजयी होता है। दीर्घ साधना के बाद साधक

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि

के निरोधज संस्कार प्रबल होकर व्युत्थानज संस्कारों को दबा पाते हैं। इस अवस्था को ग्रन्थकार ने 'निरोध परिणाम' कहा है (3.9)। यहाँ आकर योगी को नाना भाँति की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। स्वर्ग के देवतागण उसे नाना भाव मे प्रलुब्ध करते हैं। कच्चे योगी इसमे भटक जाते है, पर सच्चे योगी विचलित नही होते। वे उन विभूतियों के दर्शन मे विस्मित भी नही होते, चचल भी नही होते, और प्रलुब्ध भी नही होते।

हठयोग में इनका प्रयोग : हठयोग की साधना स्थूल शरीर पर होती है। वह क्रमशः सूक्ष्म शरीर को प्रकाशित करती है। कहा जाता है कि 'ह' का अर्थ सूर्य है और 'ठ' का चन्द्र। दोनो के योग को हठयोग कहते हैं। इसकी अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं। कहा गया है कि सूर्य इडा है और चन्द्र पिंगला। इन दोनो के सामरस्य से सुषुम्ना के मध्य मे स्थित ब्रह्म नाड़ी के मार्ग से उद्बुद्ध कुण्डलिनी सहस्रार मे स्थित अखण्डज्योति-रूप शिव से मिलती है। फिर यह भी कहा गया है कि नाभि-मूल मे सूर्य-स्थान है और तालु के ऊर्ध्व देश मे ब्रह्मरन्ध्र के पास चन्द्र-स्थान। चन्द्रमा से बराबर अमृत झरता रहता है और सूर्य उसको बराबर सोख लिया करता है। अनेक यौगिक प्रक्रियाओं के द्वारा इन परस्पर-विरोधी क्रियाओं का शमन होता है और योगी अजर-अमर हो जाता है, किन्तु षट्चक्र-निरूपण की टीका मे वचन इस प्रकार है :

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
रज्जुबद्धो यथा श्येनं गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
तथा चैतौ विसंवादे संवादे संत्यजेदिमम।

अर्थात् अपान प्राण को और प्राण अपान को इस प्रकार खींचता रहता है, जैसे कोई बाज को रस्सी में बाँधकर उड जाने पर भी पुनः खीचता है। इनमें परस्पर विरोध रहता है। जब तक यह विसंवाद है, तब तक जरा है, मरण है, व्याधि है। यदि यह विसंवाद दूर हो जाय, तो फिर वह समाधि सिद्ध होती है, जिसमें पिण्ड स्थित वायु और ब्रह्माण्ड-स्थित वायु की अर्थात् व्यष्टि-प्राण और समष्टि-प्राण की एकता सिद्ध होती है। स्थूल शरीर मे विकारों का नाश सूक्ष्म शरीर को प्रबल और निर्विकार बनाता है और इस प्रकार मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है।

मन-प्राण-वायु : ब्रह्माण्ड में व्याप्त अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत के पिण्डस्थ प्रतीक मन, प्राण और वायु हैं। वस्तुतः ये तीनों एक हैं, इसलिए किसी एक को वश मे करने से बाकी सब वश में हो जाते हैं। इस तरह प्राणायाम की साधना से योगी मानसिक समाधि भी प्राप्त करता है और ऊर्ध्वरेता भी हो जाता है। वैसे तो प्राणायाम प्रत्येक योग में थोड़ा-बहुत स्वीकृत है, क्योंकि अष्टांगों में से एक यह भी है; परन्तु यह जहाँ और योगों में सहायक है वह हठयोग मे मुख्य है।

हठयोग की सात प्रक्रियाएँ : हठयोग की साधना में सात [illegible]
1. शोधन, जो षट्कर्मों द्वारा किया जाता है, 2 दृढ़ता, जो आसनों

है, 3. स्थिरता, जो मुद्राओं द्वारा सिद्ध होती है, 4. धैर्य, जो इन्द्रिय-संयम या प्रत्याहारों द्वारा सिद्ध होता है, 5. लघुता या लाघव, जो प्राणायाम से सिद्ध होता है, 6. प्रत्यक्ष, जो ध्यान के द्वारा सिद्ध होता है, और 7. निर्लिप्तत्व, जो समाधि में प्राप्त होता है और जो अन्तिम लक्ष्य है। जो लोग वात, पित्त और कफ आदि विकारों से ग्रस्त है, उन्हें षट्कर्मों के द्वारा आत्म-शोधन करना पड़ता है; किन्तु जिन लोगों को ऐसे विकार नहीं हैं, उनके लिए षट्कर्मों की साधना आवश्यक नहीं।

षट्कर्म : षट्कर्मों में प्रथम है धौति अर्थात् धोना। अन्तर-धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलधौति। इसमें अन्तर-धौति चार प्रकार की होती है : 1. वातसार, अर्थात् वायु पेट में ले जाकर फिर उसको निकालना है। 2. वारिसार, शरीर में पानी भरकर फिर उसको वायु-मार्ग से निकाल देना है। 3. वह्निसार में नाभिग्रन्थि को मेरुदण्ड से स्पर्श कराते हैं और इस प्रकार संघर्ष से उष्णता उत्पन्न करते हैं। इसके बाद बहिष्कृत करने की प्रक्रिया होती है, जिसमें साधक काकिनीमुद्रा द्वारा शरीर में वायु भर लेता है और आधे पहर तक वायु को शरीर में रोके रहता है और इस प्रकार सारे शरीर से वायु को निकालकर उसको एक प्रकार की बुहारी देता है। इसी प्रकार और धौतियों के भी अनेक प्रकार हैं।

वस्ती का स्थान षट्कर्मों में दूसरा है। यह शुष्क-वस्ती और जल-वस्ती के रूप में, दो प्रकार की होती है। जो जल-वस्ती है, उसमें योगी नाभि तक पानी में जाकर उत्कटासन में बैठता है और अश्विनी मुद्रा से मल-मार्ग का संकोचन और प्रसरण करता है। या फिर वह पश्चिमोत्तानासन में बैठकर नाभि के नीचे के मल को नाना भाव से संचालित करता है। नेति एक प्रकार की वस्ती है, जिसको नासारन्ध्र में लगाकर नाकों को साफ किया जाता है। लौलकी में योगी पेट को एक सिरे से दूसरे सिरे तक संचालित करता है। त्राटक में योगी अपलक भाव से तब तक देखता है, जब तक आँसू नहीं निकलता। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस क्रिया से दिव्य-दृष्टि तक प्राप्त हो जाती है। कपाल भाति में तीन प्रकार की प्रक्रियाएँ हैं। वातक्रमण में तो वायु के अन्तर्ग्रहण और बहिर्निष्कासन का प्रयत्न होता है। व्युत्क्रम में नासा से पानी ले जाकर मुँह से बाहर किया जाता है और उत्क्रम में मुख से पानी ले जाकर नासा-रन्ध्र से बाहर कर दिया जाता है। इन्हीं प्रक्रियाओं से हठयोगी शरीर को शुद्ध करता है।

आसन : षट्कर्म करने के बाद हठयोगी आसन की साधना करता है और इसके द्वारा दृढ़ता प्राप्त करता है। आसन शरीर के विशेष भाव में स्थित करने की प्रक्रिया का नाम है। सभी आसन बैठकर ही नहीं किये जाते। कुछ पीठ से, कुछ पेट से और कुछ हाथ से भी किये जाते हैं। 'हिरण्य-संहिता' का कहना है कि जितने जीव हैं, उतने आसन हो सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि चौरासी लाख योनियों के चौरासी लाख आसन। 'शिव-संहिता' में चौरासी आसन बताये गये हैं, जिनमें चार को उत्तम माना है। ये 1. सिद्धासन, 2. उग्रासन, 3. स्वस्तिकासन और 4. पद्मासन हैं। कुछ हठयोगी चार और आसनों को श्रेष्ठ आसनों में गिनते हैं; ये चार हैं :

1. बद्धपद्मासन, 2. त्रिलोकासन, 3. मयूरासन, और 4. भुजंगासन। इनमें मुक्त-पद्मासन और बद्ध-पद्मासन साधारणतः अधिक प्रचलित हैं। इन आसनों के साथ मुद्राओं का भी अभ्यास किया जाता है। तन्त्रों में कुछ विशेष प्रकार के आसनों की चर्चा आती है। इसमें मुण्डासन, चितासन और शवासन है। इनका अभ्यास भय को जीतने के लिए किया जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि पतंजलि ने आसनों की चर्चा इतने विस्तार से नहीं की। उनके शास्त्र में आसन पर बहुत अधिक जोर नहीं दिया गया। जो हो, आसन का महत्त्व तो उन्होंने स्वीकार किया ही है। वस्तुतः आसन मानसिक सन्तुलन के लिए सहायक होता है, लेकिन हठयोगी अनेक प्रकार के आसनों का विस्तार करता है। इन आसनों में से कुछ तो ऐसे है, जो केवल कसरत मात्र है। उनसे मानसिक सन्तुलन कितनी दूर तक सुरक्षित होता है, यह कहना तो बहुत कठिन है; लेकिन इतना सत्य है कि अनेक आसन शारीरिक और मानसिक स्वस्थता अवश्य देते हैं, क्योंकि उनसे प्राणायाम और कुण्डली-जागरण में सहायता मिलती है।

मुद्रा : जैसा कि पहले कहा गया है, मुद्राओं की सहायता से स्थिरता आती है। हठयोग के ग्रन्थो मे मुद्रा शारीरिक स्थिति का नाम है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मुद्राओं के अभ्यास से अग्नि, जल और वायु के प्रकोप से रक्षा होती है। 'हिरण्य-संहिता' मे अनेक प्रकार की मुद्राएँ बतायी गयी है। इनमें कुछ इस कुण्डली योग के लिए श्रेष्ठ है। सिद्धासन में योगिनी मुद्रा द्वारा योगी हाथो से कान, आँख और मुख को इस प्रकार वन्द कर लेता है कि बाहरी कोई भी विषय अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श भीतर नहीं प्रवेश करता। अपनी एड़ियों से वह योनिकन्द (सेंटर आफ दि पैरीनियम) को इस प्रकार दबाता है, जिससे पायु-द्वार वन्द हो जाता है और पुरुषेन्द्रिय इस प्रकार भीतर घुस जाता है, जिसमे वह नारी-जननेन्द्रिय की तरह दिखायी देने लगता है। वह काकिनी मुद्रा द्वारा ओठों को काक-चंचु के समान बनाकर मृदुभाव से वायु को भीतर प्रवेश कराता है। इस मुद्रा के द्वारा प्राणवायु और अपानवायु का सम्पर्क होता है। और इस प्रकार षट्चक्रों पर ध्यान केन्द्रित करता हुआ प्रसुप्त कुण्डलिनी को 'हुं हं सः' मन्त्रद्वारा प्रबुद्ध करता है। इसमें 'हुं' जो है, वह कवच बीज है, यह काम अर्थात् सर्जनेच्छा और क्रोध अर्थात् तम-भाव का प्रतीक है और 'हं स.' 'सो' 'हं' का उल्टा रूप है, जिसमें प्रकृति और पुरुष के एकीकरण का भाव है। 'ह' सूर्य का भी प्रतीक है और 'सः' काम का प्रतीक है। इस प्रकार 'हुं हं स.' मन्त्र काम और क्रोध से, जो वस्तुतः एकरूप है, रक्षा प्राप्त करने की भावना का प्रतीक है। जाग्रत कुल-कुण्डलिनी सहस्रार मे शिव से मिलित होती है। इस प्रकार 'अहं स.' कहकर साधक वस्तुतः शिव और शक्ति की मिलितावस्था की अनुभूति प्राप्त करना चाहता है। अश्विनी मुद्रा पायु-प्रदेश के संकोचन और विस्तारण से शोधन-कार्य मे सहायक होती है और षट्चक्रभेदन के लिए अपान-वायु का नियन्त्रण करती है। शक्ति-चालन मे उदरस्थ पेशियों का बायें से

दाहिने ग्रोर दाहिने से बायें इस प्रकार संचालन किया जाता है, जिससे मेरुदण्ड मे सक्रियता ग्राती है ग्रौर कुण्डलिनी उद्बुद्ध होती है। सिद्धासन बाँधकर प्राण ग्रौर ग्रपान के सामरस्य मे यह प्रक्रिया सिद्धि प्राप्त करती है।

विविध मुद्राएँ : योनि-मुद्रा, शक्ति-चालन-मुद्रा के साथ ही की जाती है, किन्तु पहले शक्ति-चालन-मुद्रा का पूर्ण ग्रभ्यास हो जाना चाहिए। तभी योनि-मुद्रा का ग्रभ्यास सम्भव है। ग्रश्विनीमुद्रा के द्वारा पेट का ग्राखिरी हिस्सा संकुचित ग्रौर प्रसारित किया जा सकता है, जिससे वायु सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करने का मार्ग पाती है। कुम्भक साधकर 'हुं हं सः' मन्त्र का जप करते योगी कुण्डलिनी को सहस्रार तक उद्बुद्ध करता है ग्रौर उस ग्रवस्था में शिव-शक्ति-संगम की ग्रवस्था को ग्रनुभव करता है। उस ग्रवस्था में वह ध्यान करता है कि 'मैं ग्रानन्द रूप हूँ' ग्रौर 'मैं ब्रह्म हूँ'। महामुद्रा ग्रौर महावेध महाबन्ध ग्रासन में किये जाते है, ग्रौर तब फिर जालन्धर-बन्ध का ग्रभ्यास किया जाता है। जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है, तब प्राण सुषुम्ना-मार्ग से सचालित होता है ग्रौर इड़ा ग्रौर पिंगला निर्जीव हो जाती हैं। शास्त्र मे बताया गया है कि इस मुद्रा के ग्रभ्यास से मनुष्य जरा, मरण ग्रौर व्याधि को जीत लेता है। महावेध में योगी पहले महाबन्ध ग्रासन में बैठता है ग्रौर मनोयोग द्वारा प्राण की ऊर्ध्व ग्रौर ग्रधोगति को बन्द कर देता है ग्रौर हथेलियों के बल पर इस प्रकार ऊपर उठता है कि जिससे उसके दोनों स्फिक् पृथ्वी को ईषत् स्पर्श किये रहते हैं। इस क्रिया से इड़ा, पिंगला ग्रौर सुषुम्ना नाड़ियाँ सम्मिलित होती हैं ग्रौर प्राण सुषुम्ना-मार्ग से ऊपर उठता है ग्रौर शरीर मृतवत् निश्चेष्ट हो जाता है। इसके लिए ग्रौर भी ग्रासन ग्रौर बन्ध बताये गये है। खेचरी मुद्रा जिह्वा को लम्बा करने की प्रक्रिया है। इसमे जीभ इतनी बड़ी हो जाती है कि भ्रुवों के मध्य भाग को स्पर्श करने लगती है। फिर उसको कण्ठ की ग्रोर उलटते हैं ग्रौर श्वास-मार्ग को बन्द कर देते हैं। ऐसी ग्रवस्था मे योगी ग्राज्ञा-चक्र का ध्यान करता है ग्रौर उस सिद्धि को प्राप्त करता है, जिसमें ऊर्ध्व कुण्डलिनी समस्त ब्रह्माण्ड को विजय करती है। सारा ब्रह्माण्ड वस्तुतः पिण्ड मे ही है। इस मुद्रा के ग्रभ्यास से योगी समस्त जगत् से ग्रात्मा की एकान्तता ग्रनुभव करता है। शाम्भवी मुद्रा मे सिद्धासनासीन योगी ग्रपने चित्त को वृत्तियों से मुक्त रखता है।

आसनों का फल

बन्ध : मुद्राग्रों में ग्रनेक प्रकार के बन्ध भी सम्मिलित है, जो प्राणायाम के लिए ग्रावश्यक कहे गये हैं। इनमें तीन—उड्डियान, मूल ग्रौर जालन्धर प्रमुख हैं। इनके ग्रतिरिक्त महाबन्ध भी है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। उड्डियान बन्ध में प्रबल श्वास-प्रश्वास-क्रिया द्वारा फेफड़ों से प्राण-वायु निकालते हैं ग्रौर प्राण को सुषुम्ना-मार्ग मे प्रवेश करने के योग्य बनाते हैं। मूल मे प्राणवायु ग्रौर ग्रपानवायु को मिलित करके चालित किया जाता है f से एक का भीतरी स्वर सुनायी देता है। यह एक प्रकार का

और अपान अनाहत चक्र के नाद के साथ मिलकर हृदय-द्वार तक जाते हैं और वहाँ से आज्ञा-चक्र के साथ मिलित होते है। मूल बन्ध में पायु और उपस्थ के मध्यवर्ती प्रदेश में स्थित उस योनि को दबाते हैं, जिसमें स्वयम्भू लिंग है, जिसे साढ़े-तीन वलयों में वेष्टित करके कुण्डलिनी अधोमुख विराजमान है। पैरों से इस योनि को दबाया जाता है और अश्विनी मुद्रा के द्वारा अपानवायु को ऊपर खींचा जाता है। इसकी स्वाभाविक गति अधोमुख है। किन्तु मूलाधार में संकोचन-क्रिया के द्वारा इसे सुषुम्ना-मार्ग से ऊर्ध्वमुख चालित किया जाता है और प्राण से इसका मिलन कराया जाता है। नाभि के नीचे कोई अग्नि है, जो त्रिकोण मण्डल में विद्यमान है; वह अपानवायु से आहत होकर तेजी से सुलगती है और शरीर में अद्भुत उष्णता का संचार करती है। कहते हैं, इस उष्णता से कुण्डलिनी जाग्रत होती है और सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करती है।

जालन्धर बन्ध : कण्ठदेश में जहाँ विशुद्धाख्य चक्र है, वहाँ प्राण-वायु के संकोचन और प्रसारण द्वारा जालन्धर बन्ध सिद्ध होता है। इसमें ठुड्डियाँ दृढ़ता-पूर्वक कण्ठ मूल से सटकर हृदय-देश से लगभग चार अंगुल की दूरी पर रह जाती हैं। इस बन्ध से षोडश आधारबन्ध सिद्ध किये जाते हैं और तालु देश से जो अमृत झरता रहता है, वह भी रुद्ध हो जाता है और प्राण सुषुम्ना में लीन हो जाता है। जब कण्ठ-देश से प्राण नीचे की ओर चालित किया जाता है और मूलाधार से अपान जब ऊपर की ओर चालित किया जाता है, तब वायु सुषुम्ना-मार्ग में चालित होती है। इसी प्रकार महाबन्ध में भी प्राण को अन्य नाड़ियों से हटाकर सुषुम्ना-मार्ग में चालित किया जाता है।

प्रत्याहार : इस प्रकार जब स्थूल शरीर को शुद्ध और संयत बनाया जाता है, तब धैर्य-प्राप्ति के लिए प्रत्याहार की प्रक्रिया की जाती है। यहाँ से हठयोगी स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर को वश में करने की कोशिश करता है। यह योग-साधना का बहुत आगे बढ़ा हुआ रूप है। इसमें योगी को अपने इन्द्रिय और मन सब पर विजय प्राप्त हो गयी होती है।

प्राणायाम : प्राणायाम के द्वारा लघुता या लाघव प्राप्त होता है। हम लोग जो साँस लेते हैं वह स्थूल वायु है, वह प्राण-वायु का बाहरी रूप है। स्थूल वायु के नियमन से सूक्ष्म प्राण-वायु का भी नियमन होता है। इसी प्रक्रिया को प्राणायाम कहते है। प्राणायाम शब्द में आयाम शब्द का अर्थ दैर्घ्य, परिणाह और विशालता है; अर्थात् प्राण-वायु को लम्बा, फैला हुआ और विशाल बनाना इसका उद्देश्य है। स्थूल प्राण-वायु इड़ा और पिंगला नाड़ियों से चलता रहता है और सूक्ष्म प्राण-वायु सुषुम्ना-मार्ग से चालित होता है। यह सूक्ष्म प्राण शक्ति कुण्डलिनी के द्वारा षट्चक्र-भेदन में समर्थ होती है। शास्त्रों में प्राणायाम का बहुत विस्तार है और यह निर्देश है कि गुरु के आदेश के बिना इसे नहीं प्राणायाम का लक्ष्य करना चाहिए। लेकिन उस समूचे विस्तार का लक्ष्य एक-मात्र यही है कि प्राणवायु को सुषुम्ना में चालित किया

दाहिने और दाहिने से बायें इस प्रकार संचालन किया जाता है, जिसमें मेरुदण्ड में सक्रियता आती है और कुण्डलिनी उद्बुद्ध होती है। सिद्धासन बाँधकर प्राण और अपान के सामरस्य में यह प्रक्रिया सिद्धि प्राप्त करती है।

विविध मुद्राएँ : योनि-मुद्रा, शक्ति-चालन-मुद्रा के साथ ही की जाती है, किन्तु पहले शक्ति-चालन-मुद्रा का पूर्ण अभ्यास हो जाना चाहिए। तभी योनि-मुद्रा का अभ्यास सम्भव है। अश्विनीमुद्रा के द्वारा पेट का आखिरी हिस्सा संकुचित और प्रसारित किया जा सकता है, जिससे वायु सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करने का मार्ग पाती है। कुम्भक साधकर 'हुं हं सः' मन्त्र का जप करते योगी कुण्डलिनी को सहस्रार तक उद्बुद्ध करता है और उस अवस्था में शिव-शक्ति-संगम की अवस्था को अनुभव करता है। उस अवस्था में वह ध्यान करता है कि 'मैं आनन्द रूप हूँ' और 'मैं ब्रह्म हूँ'। महामुद्रा और महावेध महाबन्ध आसन में किये जाते हैं, और तब फिर जालन्धर-बन्ध का अभ्यास किया जाता है।

आसनों का फल

जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है, तब प्राण सुषुम्ना-मार्ग से सचालित होता है और इडा और पिंगला निर्जीव हो जाती हैं। शास्त्र में बताया गया है कि इस मुद्रा के अभ्यास से मनुष्य जरा, मरण और व्याधि को जीत लेता है। महावेध में योगी पहले महाबन्ध आसन में बैठता है और मनोयोग द्वारा प्राण की ऊर्ध्व और अधोगति को बन्द कर देता है और हथेलियों के बल पर इस प्रकार ऊपर उठता है कि जिससे उसके दोनों स्फिक् पृथ्वी को ईषत् स्पर्श किये रहते हैं। इस क्रिया से इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ सम्मिलित होती हैं और प्राण सुषुम्ना-मार्ग से ऊपर उठता है और शरीर मृतवत् निश्चेष्ट हो जाता है। इसके लिए और भी आसन और बन्ध बताये गये हैं। खेचरी मुद्रा जिह्वा को लम्बा करने की प्रक्रिया है। इसमें जीभ इतनी बड़ी हो जाती है कि भ्रुवों के मध्य भाग को स्पर्श करने लगती है। फिर उसको कण्ठ की ओर उलटते हैं और श्वास-मार्ग को बन्द कर देते हैं। ऐसी अवस्था में योगी आज्ञा-चक्र का ध्यान करता है और उस सिद्धि को प्राप्त करता है, जिसमें ऊर्ध्व कुण्डलिनी समस्त ब्रह्माण्ड को विजय करती है। सारा ब्रह्माण्ड वस्तुतः पिण्ड में ही है। इस मुद्रा के अभ्यास से योगी समस्त जगत् से आत्मा की एकान्तता अनुभव करता है। शाम्भवी मुद्रा में सिद्धासनासीन योगी अपने चित्त को वृत्तियों से मुक्त रखता है।

बन्ध : मुद्राओं में अनेक प्रकार के बन्ध भी सम्मिलित हैं, जो प्राणायाम के लिए आवश्यक कहे गये हैं। इनमें तीन—उड्डियान, मूल और जालन्धर प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त महाबन्ध भी है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। उड्डियान बन्ध में प्रबल श्वास-प्रश्वास-क्रिया द्वारा फेफड़ों से प्राण-वायु निकालते हैं और प्राण को सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करने के योग्य बनाते हैं। मूल में प्राणवायु और अपानवायु को मिलित करके चालित किया जाता है, जिससे एक प्रकार का भीतरी स्वर सुनायी देता है। यह एक प्रकार का कम्पन है। इस प्रकार प्राण

और अपान अनाहत चक्र के नाद के साथ मिलकर हृदय-द्वार तक जाते है और वहाँ से आज्ञा-चक्र के साथ मिलित होते है। मूल बन्ध मे पायु और उपस्थ के मध्यवर्ती प्रदेश में स्थित उस योनि को दवाते है, जिसमे स्वयम्भू लिंग है, जिसे साढे-तीन वलयों में वेष्टित करके कुण्डलिनी अधोमुख विराजमान है। पैरों से इस योनि को दवाया जाता है और अश्विनी मुद्रा के द्वारा अपानवायु को ऊपर खीचा जाता है। इसकी स्वाभाविक गति अधोमुख है। किन्तु मूलाधार मे संकोचन-क्रिया के द्वारा इसे सुषुम्ना-मार्ग मे ऊर्ध्वमुख चालित किया जाता है और प्राण से इसका मिलन कराया जाता है। नाभि के नीचे कोई अग्नि है, जो त्रिकोण मण्डल मे विद्यमान है; वह अपानवायु से वीजित होकर तेजी मे सुलगती है और शरीर मे अद्भुत उष्णता का संचार करती है। कहते है, इस उष्णता से कुण्डलिनी जाग्रत होती है और सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करती है।

जालन्धर बन्ध : कण्ठदेश मे जहाँ विशुद्धाख्य चक्र है, वहाँ प्राण-वायु के संकोचन और प्रसारण द्वारा जालन्धर वन्ध सिद्ध होता है। इसमे ठुड्डियाँ दृढता-पूर्वक कण्ठ मूल से सटकर हृदय-देश से लगभग चार अंगुल की दूरी पर रह जाती हैं। इस बन्ध मे षोडश आधारवन्ध सिद्ध किये जाते हैं और तालु देश से जो अमृत झरता रहता है, वह भी रुद्ध हो जाता है और प्राण सुषुम्ना मे लीन हो जाता है। जब कण्ठ-देश से प्राण नीचे की ओर चालित किया जाता है और मूलाधार से अपान जब ऊपर की ओर चालित किया जाता है, तब वायु सुषुम्ना-मार्ग मे चालित होती है। इसी प्रकार महाबन्ध मे भी प्राण को अन्य नाडियों से हटाकर सुषुम्ना-मार्ग में चालित किया जाता है।

प्रत्याहार : इस प्रकार जब स्थूल शरीर को शुद्ध और संयत बनाया जाता है, तब धैर्य-प्राप्ति के लिए प्रत्याहार की प्रक्रिया की जाती है। यहाँ से हठयोगी स्थूल शरीर को छोडकर सूक्ष्म शरीर को वश मे करने की कोशिश करता है। यह योग-साधना का बहुत आगे बढा हुआ रूप है। इसमें योगी को अपने इन्द्रिय और मन सब पर विजय प्राप्त हो गयी होती है।

प्राणायाम : प्राणायाम के द्वारा लघुता या लाघव प्राप्त होता है। हम लोग जो साँस लेते है वह स्थूल वायु है, वह प्राण-वायु का बाहरी रूप है। स्थूल वायु के नियमन से सूक्ष्म प्राण-वायु का भी नियमन होता है। इसी प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम शब्द में आयाम शब्द का अर्थ दैर्घ्य, परिणाह और विशालता है; अर्थात् प्राण-वायु को लम्बा, फैला हुआ और विशाल बनाना इसका उद्देश्य है। स्थूल ! ाण-वायु इड़ा और पिगला नाडियो से चलता रहता है और सूक्ष्म प्राण-वायु सुषुम्ना-मार्ग से चालित होता है। यह सूक्ष्म प्राण शक्ति कुण्डलिनी के द्वारा षट्चक्र-भेदन मे समर्थ होती है। शास्त्रो मे प्राणायाम का बहुत विस्तार है और यह निर्देश है कि गुरु के आदेश के बिना इसे नहीं

प्राणायाम का लक्ष्य करना चाहिए। लेकिन उस समूचे विस्तार का लक्ष्य एक-मात्र यही है कि प्राणवायु को सुषुम्ना में चालित किया

जाता है और सहस्रार मे उसका लय हो जाता है। सहस्रार में लय होने के पूर्व प्राणदेवता कुण्डलिनी, षट्चक्रों का भेदन करता है। जब प्राण सुषुम्ना-मार्ग में सचालित होता है, तब मन स्थिर हो जाता है और जब चित्त सुषुम्ना मे जाग्रत होता है, तब प्राण गतिहीन हो जाता है। राजयोग मे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा भी यही प्राप्त किया जाता है। राजयोग में अनेक मानसिक प्रक्रियाओं के रूप हैं, जबकि हठयोग मे वे सब प्राणायाम मे ही अन्तर्मुक्त हैं।

अजपा गायत्री : सभी प्राणी अजपा गायत्री का जप किया करते हैं। यह गायत्री श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया मे होती है। स-कार के साथ श्वास भीतर जाता है और अह-कार के साथ बाहर निकलता है। इसी को 'सोऽहं' वृत्ति कहते हैं; यही अजपा गायत्री है। दिन मे इक्कीस हजार छ सौ बार श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती है। अतएव इतनी ही बार अजपा गायत्री का जप होता है। साधारण प्रश्वास बारह अंगुल तक जाता है; लेकिन शयन, भोजन, संचरण, गायन इत्यादि के समय इसकी गति बढ जाती है और वह छत्तीस अंगुल की दूरी तक भी जा सकता है। क्लान्तिकर व्यायामो के समय इसकी गति में और भी तेजी आ जाती है। ऐसी अवस्था मे श्वास की गति अधिक से अधिक 96 अंगुल तक पहुँच सकती है। श्वास को भीतर ले जाने की क्रिया का नाम पूरक है और बाहर निकालने की क्रिया का नाम रेचक। इन दोनो से भिन्न श्वास की उस अवस्था को, जब वह भीतर रहता है, कुम्भक कहते है। 'घेरण्ड-संहिता' मे आठ प्रकार के कुम्भको की चर्चा है। वस्तुत हठयोग के ग्रन्थों मे प्राणायाम की प्रक्रिया का बहुत ही सूक्ष्म और विस्तृत विचार पाया जाता है।

नाड़ी-शुद्धि : नाड़ी शुद्धि भी हठयोग का अंग है। नाड़ी-शुद्धि के लिए हठयोगी कई वर्ष भी लगा सकता है। दो प्रकार की नाड़ी-शुद्धियाँ बतायी गयी हैं— निर्मन अर्थात् बीज मन्त्र के उपयोग के बिना और समन अर्थात् बीज मन्त्र के उपयोग के साथ। इसका भी ग्रन्थों में बडा विस्तार है और बताया गया है कि गुरु की सहायता के बिना इसका करना दुष्कर है। इस सारी प्रक्रिया के विस्तार मे जाने से हम बहुत अधिक उलझ जायेंगे, इसलिए इस प्रसंग को यहीं समाप्त किया जाता है।

ध्यान : 'घेरण्ड-संहिता' के अनुसार ध्यान तीन प्रकार का होता है— स्थूल, ज्योतिर्मय और सूक्ष्म। स्थूल ध्यान मे चित्त मे इष्टदेवता का ध्यान किया जाता है। उदाहरणार्थ, साधक ध्यान करता है कि उसके हृदय में महा-समुद्र है, इसके भीतर एक रत्नद्वीप है। इसके पुलिन देश मे रत्नबालुका फैली हुई है और चारो ओर कदम्बवृक्षो का घना जंगल है। जंगल के चारो ओर मालती, चम्पक, पारिजात तथा अन्य रंग-विरंगे सुगन्धित पुष्पो का जाल बिछा हुआ है। कदम्बवन के भीतर मध्य-स्थल मे कल्प वृक्ष है, जो फूल और फल के भार मे झुका हुआ है। इस वृक्ष के नीचे महार्ह मणियो के मण्डप मे सुन्दर दीया है, जिसमे उसके इष्टदेवता बैठे हुए हैं। यह देवता साधक का अपना

अन्तर-आत्मा ही है। साधक की प्रवृत्ति को देखकर गुरु इस देवता के रंग-रूप और वाहन का ध्यान बतायेंगे। यह एक कल्पना है। अपनी रुचि और संस्कारों से बनी हुई भावधारा के अनुसार इस प्रकार सैंकडों ध्यानों की कल्पना की जा सकती है। ज्योतिर्ध्यान में इस कल्पित देवता-मूर्त्ति में तेज का संचरण होता है। मूलाधार में सर्पिणी-रूपा कुल-कुण्डलिनी स्थित है। वही दीप-शिखा की भाँति जीवात्मा है। उसका ध्यान किया जाता है, या फिर भ्रूमध्य में प्रणवात्मक ब्रह्म का ध्यान किया जाता है, जो ज्योतिस्वरूप है। सूक्ष्म ध्यान शाम्भवी मुद्रा में कुण्डलिनी को लक्ष्य बनाकर किया जाता है। कहते हैं, जाग्रत कुण्डलिनी के ध्यान से आत्मा का साक्षात्कार होता है और अन्त में समाधि द्वारा निर्लिप्तत्व प्राप्त होता है फिर मुक्ति प्राप्त होती है।

छः प्रकार का समाधि-योग : 'घेरण्ड-संहिता' में छ: प्रकार के समाधि-योग की चर्चा है। पहला शाम्भवी मुद्रा से सिद्ध होनेवाला ध्यान-योग, दूसरा खेचरी मुद्रा द्वारा सिद्ध होनेवाला नादयोग, तीसरा कुम्भक प्राणायाम के द्वारा सिद्ध होनेवाला रसानन्द योग, जिसमें नाना प्रकार के नाद सुनायी पड़ते हैं। इसका नियमित अभ्यास करने से अनाहत ध्वनि सुनायी देती है और मन में एक प्रकार की अखण्ड ज्योति का साक्षात्कार होता है, जो अन्त में परमविष्णु के रूप में परिणत हो जाती है। चौथी लय सिद्ध-योग-समाधि योनि मुद्रा द्वारा सिद्ध की जाती है। इसमें साधक अपने को शक्ति, और परमात्मा को शिवरूप में देखता है और शिव के साथ मिलन में लोकोत्तर शृंगार-सुख का अनुभव करता है। वैष्णव साधकों की मधुरभाव की साधना से यह मिलता-जुलता है। पाँचवीं भक्ति-योग-समाधि है, जिसमें इष्टदेवता का ध्यान तब तक किया जाता है, जब तक साधक के अंग-अंग से आनन्द-गद्‌गद सात्त्विक भाव प्रकट नहीं होने लगता। उसके नेत्रों में अश्रु, शरीर में स्वेद, उत्कम्प तथा रोमांच होने लगते हैं। छठी समाधि का नाम राज-योग है। इसमें कुम्भक प्राणायाम के द्वारा साधक मन को मूर्च्छित करता है। इस अवस्था का नाम मनोमूर्च्छा है। सांसारिक विषयों से विरत करके वह अपने चित्त को भ्रूमध्य स्थित आज्ञा-चक्र में निबद्ध करता है और इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करता है।

'हठयोग-प्रदीपिका' के अनुसार हठयोग की साधना से शरीर स्वस्थ भी रहता है, इसमें लघुता या फुर्ती भी आती है, आँखों में ज्योति आती है, वीर्य का स्तम्भन होता है और नाड़ियों की शुद्धि होती है और इस प्रकार अन्तर की अग्नि प्रज्वलित होती है और अनेक प्रकार के नाद सुनायी देते हैं। यह नाद अनाहत चक्र से उत्थित होता है। यहीं से शब्दब्रह्म वायु द्वारा अभिव्यक्त होता है और बुद्धि से युक्त होता है। यह अभिव्यक्त नाद फिर विशेष स्पन्द की ओर उन्मुख होता है, जो मध्यमा वाक् के रूप में प्रकट होता है। जब तक यह नाद वैखरी वाणी के रूप में नहीं प्रकट होता, तब तक स्थूल इन्द्रियों द्वारा सुनायी नहीं देता; किन्तु योगी जब अनेक बन्धों और मुद्राओं से प्राण और अपान का

संगम करा लेता है, तब वही इन ध्वनियों को सुनने लगता है। यही प्राण और नाद आगे बढ़कर बिन्दु के साथ मिल जाते हैं।

नाद-योग : नाद-योग के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार की विधि बहुत जटिल है। किस प्रकार योगी मुक्तासन में बैठकर शाम्भवी मुद्रा की सहायता से दाहिने कान में आनेवाली ध्वनि सुनता है और किस प्रकार षट्मुखी मुद्रा और प्राणायाम की सहायता से उस ध्वनि को बन्द करके सुषुम्ना-मार्ग से उस ध्वनि को सुनने लगता है, ये सब प्रक्रियाएँ सिद्ध गुरु ही बता सकता है। नाद किस प्रकार ब्रह्म-ग्रन्थि को भेद करके शून्य में और फिर विष्णु-ग्रन्थि को भेदकर अतिशून्य में और फिर रुद्र-ग्रन्थि को भेद करके महाशून्य में इस ध्वनि को सुनता है और फिर किस प्रकार ब्रह्म-रन्ध्र को भेद करके निष्पत्ति अवस्था को प्राप्त होता है और किस प्रकार पहले गम्भीर और फिर भीनी-भीनी ध्वनि सुनायी देने लगती है और फिर किस प्रकार नाद-रूपी जाल में मन-रूपी मृग फँसकर मारा जाता है; यह सब जटिल साधना का विषय है। जब तक लय नहीं हो जाता, तब तक ध्वनि सुनायी देती है। इस लय को प्राप्त करने के लिए शास्त्र में समाधि की अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। मन्त्र-योग द्वारा भी यह निष्पन्न होती है।

लय योग : धारणा. नाद का सुनना प्रत्याहार और धारणा नामक अंगों में बताया गया है। मन्त्र-योग में मन्त्रों का जप प्रधान रूप से किया जाता है और हठयोग में प्राणायाम। इसलिए धारणा, लय योग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि प्राणायाम सभी साधकों के लिए आवश्यक नहीं है। हठयोग की बहुत-सी प्रक्रियाएँ केवल अभ्यास-नैपुण्य के लिए ही की जाती है। जो साधक इन अभ्यासों के बिना भी कुण्डली-शक्ति जाग्रत करने में दक्ष है, उनके लिए ये क्रियाएँ अनावश्यक है।

परमा कला नाद-शक्ति ही है : जैसा कि पहले ही बताया गया है, कुण्डलिनी मूलाधार में सुषुम्ना के प्रवेशमार्ग में, जिसे ब्रह्म-द्वार कहते हैं, अपना मुँह बन्द करके स्थिर रहती है। यह पायु और शिश्न के मध्यवर्ती चतुरंगुल प्रमाण योनि-कन्द में सो रही है। इसी कन्द से बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकली हुई ... जाता है कि कुल-कुण्डलिनी शब्द-ब्रह्म है और ... है। इसीलिए इसे मन्त्र-देवता कहते है और अ[illegible] ... भी कहते है। यह भी कहा जाता है कि वह इस[illegible] ... माता है, पर उसे किसी ने जन्म नहीं दिया। [illegible] ... वह चैतन्यरूपा है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त होने के कारण [illegible]

ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद्भासया भासते,
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्य प्रबोधोदया ॥

यह परमा कला नाद-शक्ति ही है। यही आदिशक्ति का रूप है। यह विद्या और अविद्या, दोनो शक्तियो को अपने वश मे रखती है।

इसी कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए आसनों, कुम्भकों, बन्धों और मुद्राओ का अभ्यास किया जाता है, ताकि प्राण-वायु सुषुम्ना-मार्ग मे प्रवेश करके ब्रह्म-रन्ध्र की ओर ऊपर उठे।

नाम सूक्ष्म, नामी स्थूल इस बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है कि पंच-महाभूतो मे से प्रथम दो, अर्थात् आकाश और वायु अभूत और बाकी तीन, अर्थात् अग्नि, जल और पृथ्वी भूत है। अभूतो मे आकाश प्रधान है और भूतो मे अग्नि। शब्द अर्थात् नाम आकाश का धर्म है और रूप अर्थात् नामी तेज का धर्म है। इसलिए नाम सूक्ष्म है और नामी स्थूल। इसीलिए 'हठयोग-प्रदीपिका' मे यह कहा गया है कि जो कुछ सुना जाता है, वह शब्द के रूप मे शक्ति ही है किन्तु परमेश्वर सब तत्त्वो से परे है, क्योंकि शब्द सूक्ष्म होने पर भी वस्तुत स्थूल अमूर्त तत्त्व का ही धर्म है। इस प्रकार शब्द-ब्रह्म सृष्टि-क्रिया मे प्रवृत्त होने के समय अपने को दो रूपो मे अभिव्यक्त करता है—प्रथम शब्द के रूप मे, जो पहले अनुभूति के ग्राहक के रूप मे चित्त मे स्पन्दित होता है और फिर इन्द्रियो के माध्यम से स्थूल शब्द के रूप मे प्रकट होता है, दूसरा अर्थ, जो शब्द द्वारा अनुध्यात रूप को मन मे उपस्थित करता है। ये दोनो ही उस चित्-शक्ति के कार्य है, जिसे वाक् देवी कहते है। यह वाक् ईसाई सन्तो के लोगोस या शब्द से मिलती-जुलती है। इसी बात को दृष्टि मे रख करके काली को पचास या कभी-कभी इक्यावन नरमुण्डो की माला धारण करनेवाली बताया गया है। ये पचास या इक्यावन मुण्ड संस्कृत-वर्णों की संख्या-मात्र है। काली वाक्-देवता का या मूल चित्-शक्ति का वह रूप है, जो उसकी कालगत प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है। पचास अक्षर उसी की अभिव्यक्ति हैं और महा-प्रलय के समय वे अक्षर उसी के स्वरूप मे लीन हो जाते है।

शब्दब्रह्म शब्दब्रह्म प्राणिमात्र मे स्थित चैतन्य के सिवा और कुछ नही है। यही चैतन्य शब्द और अर्थ के रूप मे अभिव्यक्त होकर जगत्-सृष्टि का हेतु है। यही चित्-रूपा शक्ति प्राणि-मात्र मे कुण्डली के रूप मे स्थित है और अपने आपको वर्णात्मक शब्द में अभिव्यक्त करती रहती है। 'शारदा-तिलक' मे कहा है

चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मति ।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदत ॥

मिथुन भाषा . शाक्त लोग प्राय. सृष्टि के लिए मिथुनपरक भाषा का प्रयोग किया करते हैं। चूंकि मूल मे परब्रह्म निश्चेष्ट और नि स्पन्द है केवल शक्ति सक्रिय होकर शब्द-ब्रह्म को उत्पन्न करती है, इसलिए इस क्रिया को स्थूल

मैथुनी सृष्टि की भाषा में प्रकट करने के लिए महाकाल और महाकाली की विपरीत रति का, जिसमें महाकाल निश्चेष्ट है और महाकाली सक्रिय है, रूपक बाँधते हैं। इसी प्रक्रिया को समझाने के लिए बिन्दु शब्द का प्रयोग किया जाता है।

विपरीत रति

बिन्दु शुक्र का प्रतिरूप है। यही बिन्दु प्रकृति या महाशक्ति के गर्भ में पालित होकर कुण्डली के रूप में प्रकट होता है।

सृष्टि का मैथुनी रूपक

पूरे रूपक को मानस-दृष्टि से समझने का ही प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः बिन्दु शक्ति की क्रियाशील होकर अग्रसर होने की अवस्था है। कुण्डली-शब्द मातृका का रूप है। इसीलिए तन्त्र-ग्रन्थों में कुण्डली को महामातृका सुन्दरी कहा गया है, जो इक्यावन वर्णों के रूप में कुण्डलित है। पहले ही बताया गया है कि मातृका स्थूल शब्द का सूक्ष्म रूप है।

एकवलया
कुण्डली (बिन्दु)
द्विवलया
त्रिवलया

कुण्डली में जब एक वलय या एक कुण्डल होता है तब वह बिन्दु कहलाती है, और जब उसमें दो वलय होते हैं, तब वह प्रकृति-पुरुष कहलाती है और जब उसमें तीन वलय होते हैं, तब इच्छा, ज्ञान और क्रिया-रूपिणी शक्ति या फिर सत्त्व, रज और तमस् गुण-त्रयी शक्ति कहलाती है। यहाँ तक वह सांख्यों द्वारा कहे हुए 'न-प्रकृति-न-विकृति' रूप में रहती है,

सार्द्धत्रिवलया

लेकिन जब वह साढ़े तीन वलयों में वलयित होती है, तब वह विकृति के साथ वास्तविक क्रियाशील होती है।

चतुर्वलया
(एकजटा)

जब वह चार वलयों से वलयित होती है, तब उसे एक-जटा देवी कहते हैं। 'शक्ति-संगम-तन्त्र' के उत्पत्ति खण्ड में इन वलयों की विस्तार से चर्चा की गयी है। जब वह इक्यावन वलयों से वलयित या कुण्डलित होती है, तब शक्ति-संगम-तन्त्र उसे श्रीमातृकोत्पत्ति-सुन्दरी कहता है।

पंचाशद्वलया

इस तरह सबसे निचले मूलाधार चक्र से वह ऊपर उठती है और क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाक् में अपने को अभिव्यक्त करती है। आरम्भ में वह परमा-कला अम्बिका रूपा परा-वाक् है। उस समय वह शान्त-स्वरूपा है। प्रथम क्रियाशील होने पर वह मानो रूप का साक्षात्कार करती है, इसीलिए उसका नाम पश्यन्ती है।

पश्यंती का अर्थ

जब पश्यन्ती रूप में होती है, तब वह इच्छा-शक्ति का प्रतीक है; क्योंकि उस समय ब्रह्म की उस इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें वह प्रथम सोचता है कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ।

अंकुश-रूपा
इच्छा-शक्ति

यही इच्छा-शक्ति बिन्दु में अंकुश-रूपा होकर विराजमान है। अंकुश-रूपा इसलिए कहा गया है कि वह स्पन्द की प्रथम अवस्था है। गति आने के पहले जो एक प्रकार की वक्रता होती है, जो प्राणि-मात्र में परिलक्षित है, उसी अवस्था को सूचित करने के लिए इस इच्छा-शक्ति को अंकुश-रूपा कहा गया है। इसीलिए इस शक्ति को वामा अर्थात् कुटिला अंकुश-रूपा भी कहते हैं। मध्यमा के रूप में अभिव्यक्त होने

वामा-कुटिला पर वह ऋजु रेखा के रूप में प्रकट होती है। यही ज्ञान-शक्ति का स्वरूप है। इस प्रकार इच्छा-शक्ति ज्ञान-शक्ति अंकुश-रूपा है और ऋजुरेखा-रूपा है। इसे ही ज्येष्ठा कहते है। वामा और ज्येष्ठा शब्द भी तान्त्रिकों के द्वारा प्रयुक्त ऐसे शब्द है,

ज्ञानशक्ति

जिनको साधारण गृहस्थ सहज ही हृदयगम कर सकता है।

ऋजु-रूपा

वामा शिव की वह शक्ति है, जिसमे यौवन का उद्रेक हुआ है और ज्येष्ठा वह शक्ति है, जो पति के साथ दीर्घ सम्पर्क के

ज्येष्ठा

बाद सहज हो गयी है। यह सृष्टि-प्रक्रिया की दो अवस्थाओं का नाम है। वामा मे लीला की वक्रिमता का प्राधान्य है, ज्येष्ठा में गृहिणी की ऋजुता का।

मातृका : इसी अवस्था मे वह मातृका का रूप ग्रहण करती है और उसमे विशेष स्पन्द होता है और वह वैखरी वाणी के रूप मे अभिव्यक्त होती है। इस अवस्था को क्रिया-शक्ति (जो रौद्री देवी है) कहते हैं। उसका रूप त्रिकोणात्मक है। वस्तुत: उसको शृंगारक अर्थात् सिंघाड़ा अर्थात् घन-त्रिकोण-रूपा कहा गया है। यह शब्द इसलिए प्रयुक्त जान पड़ता है कि यहाँ से लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई या गहराई इन तीनों दिशाओं की ओर गतिशील स्थूल सृष्टि का आरम्भ होता है। वस्तुत: शृंगारक कहकर संसार के तीनों डाइमेंशनों का उल्लेख कर दिया गया है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि मध्यमा मे स्थित ज्ञान-शक्ति-रूपा ज्येष्ठा शक्ति ही मातृका अर्थात् स्थूल अक्षरों के सूक्ष्म रूप की अभिव्यक्ति करती है, अर्थात् यह अन्तिम रौद्री देवी अर्थात् क्रिया-शक्ति स्थूल शब्दों की अभिव्यंजिका है। इसलिए कुण्डली को पचास या इक्यावन वाणी के रूप में कुण्डलित कहा गया है। षट्चक्रों में इन्हीं वर्णों की स्थापना की गयी है। उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी इन्हीं अक्षरों के वलय को छोड़कर सूक्ष्म परा-वाक् के रूप में प्रकट होती है। इसीलिए यह समस्त मन्त्रों की स्थूल और सूक्ष्म आधार है।

इन सब बातों का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि शाक्त साधकों की भाषा ऊपर से जितनी स्थूलार्थबोधिनी दिखती है, उतनी वास्तव मे है नहीं। अनेक देवताओं और उनकी शक्तियों के जो सहस्र-सहस्र ध्यान और धारणाएँ बतायी गयी हैं, वे क्रियाशील परा-शक्ति के विभिन्न रूप है। सच्चा साधक उसके कोटि-कोटि रूपों को देख और समझ सकता है। उन रूपों को स्थूल वैखरी भाषा में प्रकट करके वह दूसरे साधक की सहायता करता है। अपने द्वारा साक्षात्कृत तत्त्वों को उनके बीज के द्वारा मन्त्र-रूप मे भी परिणत कर सकता है। केवल कम पढ़े-लिखे अधकचरे लोग ही उन शब्दों द्वारा आनीत अर्थ को और उनके सूक्ष्म हेतु-तत्त्वों को जाने बिना उसे रटते रहते हैं। जो साधक उसके वास्तविक तत्त्वों को समझता है, उसके लिए परा-शक्ति के क्रियाशील होने की अवस्था की विभिन्न परिणतियों के सैकड़ों नाम और रूप क्या ध्यान की कल्पना हो या न हो, कोई मतलब नही रखते। यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि इस महान्

बौद्धिक और आध्यात्मिक तत्त्ववाद को भुलाकर उसकी स्थूल कल्पनाओं को ही धीरे-धीरे अधिक महत्त्व दिया जाने लगा और सारी साधना अर्थहीन जंजाल-जैसी दिखने लगी।

इसी से सन्त-साधकों ने इसे ग्रहण किया और सहारा दिया। सैकड़ों नाम और रूपों के प्रपंच को उन्होंने व्यर्थ घोषित किया और मूल तत्त्व को पकड़ने की कोशिश की—मूल तत्त्व अर्थात् वह गुणातीत शक्ति, जिसकी अभिव्यक्ति क्रमशः स्थूल से स्थूलतर तत्त्वों की ओर होती गयी। सन्तों ने सारे मन्त्र-जाल को समेटकर दो अक्षर के राम-नाम में निबद्ध कर दिया, और सारी यौगिक प्रक्रिया को सहज बनाकर सुरति या स्मृति तत्त्वों पर केन्द्रित किया। लय को उन्होंने रस्सी बनाया और सुरति या स्मृति को ढेकुली। इस प्रकार मन के द्वारा आनन्दरस को खींचने का रूपक बांधा गया, जिसकी सुरति-रूपी ढेकुली सहायता करती है .

सुरति ढेकुली लेज लौ, मनुआँ खींचनहार।

और सुरति और लय का नया अर्थ ?

सुरति-योग · जैसा कि मैंने पहले ही बताया है, सन्त लोगों ने बहुत-से पुराने शब्दों में नया अर्थ जोड़ा है। 'सुरति' शब्द पुराने स्मृति शब्द का अपभ्रंश है। स्मृति अर्थात् पुरानी बातों को याद करना। लेकिन इस स्मृति शब्द से जिस सुरति शब्द का विकास हुआ है, वह केवल स्मृति रूप नहीं है। उसमें प्रेम का भाव भी है। सुरति (सु-रति) केवल याद करने की बात नहीं है। याद तो किसी को कहीं भी किया जा सकता है। केवल स्मरण-मात्र से भक्त को सन्तोष नहीं हो सकता, स्मरण में प्रीति होनी चाहिए और रम जाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। सुरति में इस प्रीति के भाव पर जोर दिया गया है। निरति संसार से विरक्त होना है। जब तक बाह्य जगत् से वैराग्य न हो, तब तक अन्त स्थित परम प्रेयान् के साथ 'सुरति' नहीं चल सकती। निरति बाह्य विषयों के प्रति अनास्था और वैराग्य को सूचित करती है और सुरति आन्तर विषयों के प्रति आसक्ति। इस प्रकार स्मृति-वाचक सुरति शब्द में नवीन अर्थों को जोड़ा गया है। इसी प्रकार लय शब्द, जिसकी चर्चा हम लय-योग में कर चुके हैं, सन्तों की बोली में बदला है। लय शब्द का 'लौ' बन गया है। भव शब्द का तो 'मैं' बन गया, किन्तु लय शब्द का 'लौ'। स्पष्ट ही केवल ध्वनि-विकार-सम्बन्धी नियम यहाँ काम नहीं कर रहे हैं। लय शब्द को लौ के साथ जोड़ देने में कुछ रहस्य है। लौ अर्थात् दीप-शिखा। निवात निष्कम्प दीप-शिखा जिस प्रकार पूर्ण शान्त और ऊर्ध्वमुखी होती है, उसी प्रकार जब साधक अपने में आप ही विलीन होकर शान्त और स्थिर हो जाता है, उस अवस्था का नाम लय या लौ है। लौ शब्द में बाह्य विषयों की असम्पृक्तता का भाव भी आ गया है। इस प्रकार पुराना लय शब्द लौ बनकर उस विशिष्ट ध्यान का वाचक हो गया है, जो बाह्य विषयों से असम्पृक्त चित्त को प्रेमोन्मुख करता है। इसीलिए उसे

सुरति का सहायक माना गया है।

अब यदि एक बार शान्तिपूर्वक विचार कर देखा जाये, तो सुरति और लौ शब्द का अर्थ बहुत स्पष्ट हो जायेगा। शाक्त साधकों के जटिल रूप-विधान और मन्त्र-विधान के साथ इसकी तुलना करके देखें, तो स्पष्ट पता चलेगा कि जिस बात को वे लोग कहना चाहते हैं, उसी बात को सन्त लोगों ने भी कहा है; परन्तु उसे सहज ग्राह्य और सरस बनाकर। हृदय-गुहा में स्थित परम प्रेयान् की प्रीति के रस को जिस ध्यान से और जिस स्मृति से प्राप्त किया जा सकता है, वह सहज, सरस और समझ में आने योग्य है। नाथ-साधकों के साहित्य में भी यह शब्द आ जाता है और यद्यपि तत्त्वतः वह भी क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर जानेवाली स्मृति को ही सूचित करता है, तथापि कबीरदास द्वारा प्रयुक्त सुरति शब्द की स्निग्धता और प्रीति-भाव उसमें नहीं है।

बौद्ध शास्त्रों में सैंतीस बोधि पाक्षिक धर्मों की चर्चा आती है। शान्ति भिक्षुजी ने बताया है कि वसुबन्धु ने उनकी संख्या को दश के भीतर ही अन्त-र्भुक्त किया है। इन सैंतीसों में चार स्मृत्युपस्थान मुख्य हैं। अनुरुद्ध ने स्मृति के अन्तर्गत स्मृत्युपस्थानों को समझा है। ('अभिधम्मत्थ संग्रह' 7.34)। वसुबन्धु ने स्मृत्युपस्थानों को प्रज्ञा में गिना है (प्रज्ञा हि स्मृत्युपस्थितिः, 'अभिधम्म कोश' 6.68)। वसुबन्धु की दृष्टि ज्यादा पैनी है। स्मृत्युपस्थान स्मृति-रूप नहीं है, प्रत्युत स्मृति द्वारा उपस्थित प्रज्ञा या ज्ञान है। शरीर, मन, अनुभूतियों तथा संसार के आभ्यन्तरिक और बाह्य पदार्थों को बुद्धिवादी जो कुछ समझता है, उसको बराबर स्मृति द्वारा उपस्थित रखना, उन्हें न भूलना, बस इसी का नाम स्मृति का उपस्थान है। इसमें इस तरह दो वस्तुएँ हुईं—एक तो स्मृति और दूसरी स्मृति का विषय। यदि विषय को स्मृति से अलग कर दें, तो विषय-रहित स्मृति का कुछ भी मूल्य न रहेगा और कदाचित् इसीलिए विषय को प्रधान मानकर वसुबन्धु ने स्मृत्युपस्थानों को प्रज्ञा कहा है। अनुरुद्ध ने विषय को गौण मानकर स्मृत्युपस्थानों को स्मृति-रूप कहा है। 'महासति पट्ठान सुत्त' में ('बुद्धचर्या', पृ. 118) इनका बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। यहाँ बतलाया गया है कि काय, वेदना (अनुभूति), चित्त (मन) और धर्म (मानसिक और भौतिक जगत्) को किस प्रकार समझना चाहिए।

'बोधिचर्यावतार' में शान्तिदेव ने स्मृति-रज्जु का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। यह स्मृति-रज्जु सन्त-साधकों के सुरति-डोर शब्द का पूर्ववर्ती रूप है। शान्तिदेव ने कहा है कि चारों ओर से यदि चित्त-रूपी हस्ती स्मृति-रूपी रज्जु से बाँध लिया गया, तो फिर समूचा भय दूर हो जाता है, कोई भय नहीं रहता और सभी कल्याण प्राप्त हो जाते हैं :

बद्धश्चेच्चित्तमातंगः स्मृतिरज्वा समन्ततः।
भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम्॥

शान्तिदेव ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की है कि जो लोग अपने चित्त को स्थिर

रखना चाहते हैं, उन्हें स्मृति और सम्प्रजन्य की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए :

चित्तं रक्षितु कामाना मयैष क्रियतेऽञ्जलिः।
स्मृति च संप्रजन्यं च सर्वं यत्नेन रक्षत ॥

इस प्रकार यह स्मृति शब्द बहुत पुराना है और साधकों में इसका प्रयोग भी बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। लेकिन मध्य-युग के साधकों तक आते-आते उसमें कुछ विशेषता आ गयी है। कई प्रकार से उस प्रीतिस्निग्ध तत्त्व को समझाने का प्रयोग मिलता है। मूल-तत्त्व से अपरिचित रहने से ये बातें प्रहेलिका-जैसी लगने लगती हैं। उदाहरणार्थ, कभी तो यह कहा गया है कि निरति सुरति में विलीन हो जाती है और कभी यह कहा गया है कि सुरति निरति में विलीन हो जाती है। फिर प्रथम और द्वितीय सुरति की भी बात कही गयी है। मूल बात यह है कि साधक को उस पुरानी प्रक्रिया का स्मरण करना चाहिए, जिसमें सूक्ष्म शब्द क्रमशः स्थूल होता हुआ समस्त पद और पदार्थों में अभिव्यक्त हो रहा है। यही सुरति उस वास्तविक तत्त्व का साक्षात्कार करा सकती है। इसकी स्थिति यदि पहले स्वीकार कर ली जाय अर्थात् यह मान लिया जाय कि पहले बौद्धिक दृष्टि से उसे इन प्रक्रियाओं का साक्षात्कार होता है और फिर उसे जगत्-प्रपंच से वैराग्य होता है, तो कहा जा सकता है कि सुरति निरति में विलीन हो गयी; पर ऐसी अवस्था में परम-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता। केवल वैराग्य-मात्र पर्याप्त नहीं है। अन्तरतर में बैठे हुए परम-देवता के साथ जब तक प्रीति-सम्बन्ध का भाव उदित नहीं होता, तब तक सिंह-द्वार बन्द ही रहेगा और उस महाप्रेमिक के अन्तःपुर में प्रवेश करना कठिन ही रह जायेगा। इसीलिए सिंह-द्वार का खुलना आवश्यक है। यह दूसरी सुरति है :

सुरति समाणी निरत मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्यंघ दुवार ॥

इसी प्रकार यदि दूसरी सुरति को ही प्रधान मान लिया जाय, तो कहा जा सकता है कि सुरति निरति में प्रवेश कर गयी। सन्तों के साहित्य में इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत मिलेंगी, जिन्हें मूल तत्त्व के समझे बिना अटपटी, बेतुकी और निरर्थक मान लिया जा सकता है। अस्तु।

सुरति-योग : प्रेम-साधना : अब तक हमने योग-प्रथित साधनाओं का जो रूप देखा है, वह नाना भाव से एक ही विषय की ओर संकेत करता है। मनुष्य के प्राण (अर्थात् वायु), वाक्, मन और बुद्धि बहिर्मुख हैं; उन्हें अन्तर्मुख करके साम्यावस्था में ले आना ही योग है। संसार-भर के जीव इस बहिर्मुख प्रवृत्ति में उलझे हुए हैं। उस बहिर्मुखी प्रवृत्ति से उन्हें बचना है, तो धारा को उलटना होगा। जो बहिर्मुख है, वह अन्तर्मुख होने पर ही धन्य हो जाता है। सारा भ्रम-जाल और कर्म-कोलाहल इस बहिर्मुखी वृत्ति का परिणाम है। यही समस्त दुःख और क्लेश का हेतु है। इससे निरत होकर अन्तर्मुख होने की प्रवृत्ति का

नाम ही निरति है। अन्तर्मुखी वृत्ति निरति है और भीतर देखने का और मन और पवन को समरस में स्थित करने का नाम समाधि है। योगी यहीं आकर रुक जाता है। शुद्ध चैतन्य अपने को 'केवल' चैतन्य के रूप में उपलब्ध कर ले तो उसे 'कैवल्य' प्राप्त हो जाता है। परन्तु क्या सारी साधना का आडम्बर इतने के लिए ही है? क्या चित् का यह अहेतुक प्रोल्लास, जो मनुष्य को इतना कुछ करने के लिए उत्कंठित बनाता है, सिर्फ इसीलिए है कि समझ लिया जाय कि वह कुछ नहीं था? यह अकारण अहेतुक उल्लास किसी और गहरी बात की ओर इंगित नहीं करता? कब तक टिकेगी यह निराधार, निरर्थक समाधि? जन्म-मरण का यह चक्र, कर्म और भ्रम का यह जंजाल क्या इतना ही कमजोर है कि सिर्फ 'केवल' विज्ञान की उपलब्धि के बाद निरस्त-तेज हो जायेगा? सन्तसाधक कहता है कि यहीं रुकना खतरे से खाली नहीं। और गहराई में कोई प्रेमी है, उसे पहचानना आवश्यक है। उसे जब तक नहीं पहचाना जाता, तब तक योग अधूरा है। उन्मनि की डोरी टूटते ही फिर संसार का बन्धन नीचे की ओर खींचता है। 'सुरति' मूल रूप में स्मरण या स्मृति ही है, पर स्मृति किसकी? अन्तरतर में बैठे हुए किसी परम प्रियतम की? विरले ही योगी उसे पहचान पाते हैं। अगर निर्भय-निश्शंक भाव से उस भावावलम्ब और सावनावलम्ब परम प्राप्तव्य को पाना है, तो सुरति को प्रेम-रूपा बनाना होगा। अगर उस प्रिय की सुरति (स्मृति) से सुरति (सुरति-परमाप्रीति) नहीं प्राप्त होती, तो जन्म और मरण का भय बना रहेगा। निरति निराधार है, सुरति साधार है। निरति और सुरति का, या प्राण-मन को अन्तर्मुख करने का एक विशिष्ट लक्ष्य है। वह लक्ष्य है प्रिय-समागम। योग-साधना केवल पाँच इन्द्रियों, मन और प्राण के बहिर्मुख होने की रोक है। यही लक्ष्य है प्रिय-समागम। उस प्रिय की पुकार का ही फल है कि मनुष्य साधना-मार्ग की ओर अग्रसर होता है:

कर्म और मर्म संसार सब वस्तु है,
पीव की परख कोइ सन्त जानै।
सुरत और निरत मन पवन को पकरि कै,
गंग औ जमुन के घाट आनै।
पाँच को नाथ करि साथ सो-हं लिया,
अधर दरियाव का सुक्ख मानै।
कहै कबीर सोइ सन्त निर्भय भया,
जन्म औ मर्न का मर्म भानै।

सुरति-साधना स्थायी सिद्धि—प्रीति—प्रदान करती है।

लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। योग-साधना हमें शब्द और अर्थ की गहराई में ले जाती है। यह समूचा चराचर जगत् अर्थ है, पदार्थ है। उसके मूल में शब्द है। ठीक है, पर अर्थ क्या केवल अर्थ है? वह अपने-आपमें क्या कोई भाषा नहीं है? यह जो प्रातःकाल सूर्य की रश्मियाँ सोना बरसा देती

हैं, चन्द्र-किरणें शाम तक रजतधारा में धरित्री को स्नान करा देती है, ये क्या केवल अर्थ हैं ? ये क्या कुछ कह नहीं जाती ? किसके लिए यह आयोजन है ? इतना रंग, इतना रूप, इतना राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता, जो जगत् में प्रतिक्षण उद्भासित हो रही है, वह क्या निरर्थक अर्थ-मात्र है ? बीज जब अंकुर-रूप में फटता है, तब क्या चराचर में व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नहीं मिलाता रहता ? रात को आसमान में जो इतनी लालटेनें निकल पड़ती हैं, वे क्या निरर्थक हैं ? किसी को खोजने की व्याकुल वेदना क्या उनमें नहीं सुनायी पड़ती है ? कवि जो भाषा सुना करता है, वह क्या केवल पागल मन का विकल्प-मात्र है ? जो लोग अपने को विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान के अधिकारी घोषित करते हैं, वे क्या सबका ठीक-ठीक मतलब समझा सकते हैं ? कौन बतायेगा कि रम्य वस्तुओं के वीक्षण से, मधुर शब्दों के श्रवण से चित्त में पर्युत्सुकी भाव क्यों आ जाता है ? मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा हैं, इनका भी कुछ अर्थ है। जगत्, जो इतना रागमय है, छन्दोमय है, वर्णमय है, ध्वनिमय है, वह व्यर्थ है ? नहीं। 'व्यर्थ' अर्थात् अर्थ-शून्य, निरर्थक। इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरंग-साम्य का भी मतलब है। योगी नहीं बताता कि अन्तरतर से छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति जो इतना व्याकुल कम्पन उठा करता है, वह परा-शक्ति की किस विलास-लीला की अभिव्यक्ति है। गहराई में कहीं कुछ छूट गया है। हठयोग और नादयोग उसे नहीं बता पाते। कहीं-न-कहीं अनुराग-योग का भी व्याकुल कम्पन और आत्मनिवेदन मानव-हृदय के अन्तरतर में विलसित हो रहा है। वाल्मीकि को जब 'छन्द' का साक्षात्कार हुआ था, तब उन्हें यह व्याकुल वेदना अनुभूतिगम्य हुई थी। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता में उस वेदना को भाषा दी है। उसका कुछ अंश मैंने हिन्दी में रूपान्तरित किया है। मेरे अनुवाद में कविता का पूर्ण रस नहीं आ पाया है, पर वह जैसी भी है, आपके सामने उपस्थित करता हूँ। नारदजी को सम्बोधन करके वाल्मीकि मुनि ने कहा था :

"हाय, भाषा मनुज की है बँधी केवल अर्थ के दृढ़ बन्ध से,
चक्कर लगाती है सदैव मनुष्य को घेरकर। अविराम बोझिल
मानवीय प्रयोजनों से क्षीण हो आया गिरा का प्राण है,
उसके परिस्फुट तत्त्व देते बाँध सीमा में चरण को भाव के।
इस धूलितल को छोड़ बिल्कुल ही न उड़ सकती नवल संगीत-सम
उन अर्थ-बन्धनहीन अपने सप्त स्वर के सप्त पंखों को अबाध
पसार विपुल व्योम में निर्द्वन्द्व अपराधीन।
"प्रात:काल की यह शुभ्र भाषा वाक्य-बन्धन-रहित जो
प्रत्यक्ष किरणें हैं कि ये क्षण-मात्र में ही खोल देती इस जगत
के मर्म-मन्दिर-द्वार को, होता प्रकट त्रैलोक्य के नवनीत का भण्डार
और विभावरी आच्छन्न कर देती पलक गिरते अपार अनन्त जग

को शान्ति की निज ललित भाषा से, कि उसका वाक्यहीन
निषेध अपने मन्त्र-बल से शान्त कर देता जगत के खेद, दारुण
क्लान्ति, कठिन प्रयास, क्षण में भेद जग के मर्म, कोलाहल-जनित
काठिन्य को, लाता विपुल आभास शामक मरण का नर लोक
में। नक्षत्र की निश्चल गिरा निर्धूम अग्नि समान देती है स्वयं
की सूचना ज्योतिष्क-सूचीपत्र पर आकाश में, दक्षिण समीरण
की गिरा केवल तनिक विश्वास के बल पर जगाती है नवल आशा
निकुंज में, है बैठ जाती भेद दुर्गम दुर्ग पल्लव-राजि का
दुस्तर अरण्यान्त:पुरी में अनायास अबाध, यौवन की विजय गाथा
वहन करती सुदूर दिगन्त तक; वैसा सहज आलोक दुर्लभ है मनुज के
वाक्य में, इसमें कहाँ आभास सीमाहीन मिलता है, कहाँ वह
अर्थभेदी, अभ्रभेदी गीत का उल्लास, मिलता कहाँ आत्मविदीर्णकारी
तरलतर उच्छ्‌वास ?
"मानव वाक्य की इस जीर्ण काया बीच मेरा छन्द भर दे
एक नूतन प्राण, उसको अर्थ-बन्धन से छुडा ले जाय—ऊपर भाव के
स्वाधीन मोहक लोक में दृढ पक्षधारी अश्वराज समान द्रुत उद्दाम
शोभन वेग से, यह है हृदय की साध। मुनि, जिस तरह है यह
अग्नि की उद्दीप्त नौका नित्य अपनी गोद में ले सूर्य-मण्डल को
उतार रही नियत इस पार से उस पार विपुल व्योम सागर-बीच,
मेरा छन्द भी उस अनल-नौका सदृश ढोये विमल महिमा मनुज की
दिक्‌ प्रान्त से दिक्‌ प्रान्त तक। मैं दान करना चाहता हूँ
बद्ध मानव वाक्य को यह दीप्त गतिमय छन्द—ऐसा हो कि
यह उन्मुक्त होकर संवरण कर सके जग की क्षुद्र सीमा-राशि,
लेवे खींच इस गुरुभार पृथ्वी को गगन की ओर, ले फिर खींच
बन्धन-जड़ित भाषा को मनोहर भावरस की ओर जो है देवपीठ-
स्थली मानव-जाति की। जिस भाँति बांधा है महाम्बुधि ने
धरित्री को समावृत कर निरन्तर गान, अविरत नृत्य से, यह छन्द
मेरा भी उसी ही भाँति आलिंगन, जड़ित कर युग-युगान्तर को सहज
गम्भीर कलरव से प्रचारित करे मानव का अपार अतुल महिम्न स्तोत्र,
दे महनीय मर्यादा भुवन में इस क्षणस्थायी विरस नरजन्म को।
"हे देवदूत मुने, पितामह के चरण में यह निवेदन करो
मेरी ओर से, यह स्वर्ग से जो आ गयी है परमनिधि नरलोक को,
उसको न अब ले जायँ लौटा फिर वहाँ। वह जो अपरूप छन्द
हमको मिला, उसने देवता को है मनुज कर दिया, मैं चाहता
हूँ देवत्व पद पर उठा देना क्षुद्र मानव को, उठाना चाहता हूँ
इस धरा पर स्वर्ग का प्रासाद।"

है, चन्द्र-किरणें शाम तक रजतधारा में धरित्री को स्नान करा देती हैं, ये क्या केवल अर्थ हैं ? ये क्या कुछ कह नहीं जाती ? किसके लिए यह आयोजन है ? इतना रंग, इतना रूप, इतना राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता, जो जगत् में प्रतिक्षण उद्भासित हो रही है, वह क्या निरर्थक अर्थ-मात्र है ? बीज जब अंकुर-रूप में फटता है, तब क्या चराचर में व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नहीं मिलाता रहता ? रात को आसमान में जो इतनी लालटेनें निकल पड़ती हैं, वे क्या निरर्थक हैं ? किसी को खोजने की व्याकुल वेदना क्या उनमें नहीं सुनायी पड़ती है ? कवि जो भाषा सुना करता है, वह क्या केवल पागल मन का विकल्प-मात्र है ? जो लोग अपने को विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान के अधिकारी घोषित करते हैं, वे क्या सबका ठीक-ठीक मतलब समझा सकते हैं ? कौन बतायेगा कि रम्य वस्तुओं के वीक्षण से, मधुर शब्दों के श्रवण से चित्त में पर्युत्सुकी भाव क्यों आ जाता है ? मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा हैं, इनका भी कुछ अर्थ है। जगत्, जो इतना रागमय है, छन्दोमय है, वर्णमय है, ध्वनिमय है, वह व्यर्थ है ? नहीं। 'व्यर्थ' अर्थात् अर्थ-शून्य, निरर्थक। इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरंग-साम्य का भी मतलब है। योगी नहीं बताता कि अन्तरतर से छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति जो इतना व्याकुल कम्पन उठा करता है, वह परा-शक्ति की किस विलास-लीला की अभिव्यक्ति है। गहराई में कहीं कुछ छूट गया है। हठयोग और नादयोग उसे नहीं बता पाते। कहीं-न-कहीं अनुराग-योग का भी व्याकुल कम्पन और आत्मनिवेदन मानव-हृदय के अन्तरतर में विलसित हो रहा है। वाल्मीकि को जब 'छन्द' का साक्षात्कार हुआ था, तब उन्हें यह व्याकुल वेदना अनुभूतिगम्य हुई थी। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता में उस वेदना को भाषा दी है। उसका कुछ अंश मैंने हिन्दी में रूपान्तरित किया है। मेरे अनुवाद में कविता का पूर्ण रस नहीं आ पाया है, पर वह जैसी भी है, आपके सामने उपस्थित करता हूँ। नारदजी को सम्बोधन करके वाल्मीकि मुनि ने कहा था :

"हाय, भाषा मनुज की है बँधी केवल अर्थ के दृढ बन्ध से,
चक्कर लगाती है सदैव मनुष्य को घेरकर। अविराम बोझिल
मानवीय प्रयोजनों से क्षीण हो आया गिरा का प्राण है,
उसके परिस्फुट तत्त्व देते बाँध सीमा में चरण को भाव के।
इस धूलितल को छोड़ बिल्कुल ही न उड़ सकती नवल संगीत-सम
उन अर्थ-बन्धनहीन अपने सप्त स्वर के सप्त पंखों को अबाध
पसार विपुल व्योम में निर्द्वन्द्व अपराधीन।
"प्रात.काल की यह शुभ्र भाषा वाक्य-बन्धन-रहित जो
प्रत्यक्ष किरणें हैं कि ये क्षण-मात्र में ही खोल देती इस जगत
के मर्म-मन्दिर-द्वार को, होता प्रकट नैसोश्य के नवगीत का भण्डार
घोर विभावरी आच्छन्न कर देती पलक गिरते अपार अनन्त जग

मधुरोपासना

मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्

मधुरोपासना

मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्

सीमा और असीम की लीला

यह सारा व्यक्त जगत् सीमा और असीम की क्रीड़ा-भूमि है, शिव और शक्ति का लीला-निकेतन है और अगुण और सगुण का मिलन-क्षेत्र है। एक तत्त्व है, जो अनन्त की ओर गतिशील है। दूसरा तत्त्व है, जो उसको सीमा की ओर खींच रहा है। इसीलिए यह सारी सृष्टि रूपायित हो रही है। रूप क्या है? अरूप गतिमय असीम को सीमा में उपलब्ध करने का परिणाम। गति असीम है, तालों में बंधने पर वह सीमित हो जाती है। सीमा और असीम के इस द्वन्द्व को ही हम नृत्य के रूप मे उपलब्ध करते हैं; स्वर अनन्त है, छन्द उसको सीमा मे बांधने का प्रयत्न है। छन्द, लय, ताल इत्यादि के बन्धनों मे बँधा हुआ स्वर ही हमें काव्य और गान के रूप मे उपलब्ध होता है। इसी प्रकार शब्द असीम है, अपार है। अर्थ के द्वारा उसे हम भाषा में बांधने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ देखो, इस सीमा और असीम की केलि-लीला दिखायी दे रही है। मध्य-युग के सन्तों और भक्तों ने नाना भाव से इस तत्त्व को हृदयंगम किया है। किसी ने शिव-शक्ति के रूप मे, किसी ने प्राण-अपान के रूप मे, किसी ने चित्-अचित् के रूप में इस द्वन्द्व को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। जीव सीमा से बँधा हुआ है; वह प्रत्येक वस्तु को नाम और रूप की सीमा मे बांधकर देखना चाहता है, यही उसके लिए सहज है। भक्तों ने इसी अध्यात्म-तत्त्व को सहज भाषा मे कहने का प्रयत्न किया है। मनुष्य के इस शरीर मे वह ब्रह्माण्डव्यापी लीला चला करती है। इस ब्रह्माण्ड की इस विश्व-व्यापी लीला को ब्रह्म और माया, शिव और शक्ति, अलेख और लेख, राम और जानकी, कृष्ण और राधा की लीलाओं के रूप में ग्रहण किया गया है। जीव इन नाम-रूपों के माध्यम से अनाम और अरूप को स्मरण करता है और प्राप्त करता है। दूसरा रास्ता नहीं, यही सहज मार्ग है। इसी मार्ग से चलता हुआ साधक नाम और रूप के बन्धन से छूटकर स्वयंरूप हो रहता है।

विशुद्ध आनन्द की झलक : यह क्या कभी सम्भव है कि ब्रह्म या राम, जिसे योगी शिव कहता है, जिसे वह अरूप और अनाम तत्त्व मानता है, उसे

नाम और रूप के माध्यमों को छोड़कर अन्य किसी माध्यम से ग्रहण किया जा सके ? शायद नहीं। परन्तु अरूप तत्त्व किसी-न-किसी दिन उसे दिख अवश्य जाता है। माता प्यार से जब अपने पुत्र को चूमती है, तब विशुद्ध आनन्द की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनों में जब प्रिय को निश्शेष भाव से आत्मसमर्पण करने की लालसा दिख जाती है, तब इस रूप को आश्रय करके अगाध और अपार प्रेम-समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। विपत्ति में फँसे हुए असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को धधकती हुई अग्नि में, विस्फूर्जित तरंग वारि-धारा में या ऐसे ही किसी संकटापन्न स्थान में अनायास फेंक देने के उल्लास से चंचल हो उठता है, तब भगवान् के निर्मल-प्रेम रूप का परिचय प्राप्त होता है। प्रेम और स्नेह में, दया, माया और त्याग-तप में उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमें नित्य मिलता है। परन्तु रूप को आश्रय करके यह जो अरूप का प्रत्यक्षीकरण है, वह बड़ा ही क्षणिक होता है। हर उड़ान को धरती नीचे खींच लेती है, हर गति को सीमा अपने में समेट लेती है। यदि हम कमल के ठोस आधार के बिना भी उसकी प्रफुल्लता को हृदयगम कर लेते, तो उस अनन्त, अपार, रूपहीन, सीमाहीन, अनवच्छिन्न (एब्स्ट्रैक्ट) अरूप तत्त्व को भी सीमा की सहायता बिना अनायास पा जाते :

हदै छाँड़ि बेहद गया, हुवा निरन्तर बास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरखै निज दास।

अरूप तत्त्व : इस दोहे में कबीरदास ने उसी अनाम, अरूप की ओर इंगित किया है। फूल के बिना क्या प्रफुल्लता की कल्पना की जा सकती है ? सोचने से दिमाग में चक्कर आने लगता है। सूर्य के ठोस बिम्ब में जो ज्योति है, उसे क्या उस ठोस की कल्पना किये बिना ध्यान में लाया जा सकता है ? बड़ी कठिन साधना है ! जगत् में हम इस अनन्त ज्योति को, अनन्त प्रेम को, अनन्त प्रफुल्लता को देख अवश्य लेते हैं, परन्तु क्षण-भर में वह विलीन हो जाता है। किस रूप में वह 'अरूप परम तत्त्व' नहीं झलक जाता ? प्रत्येक पिण्ड में वह मनुष्य को किसी-न-किसी रूप में दिख अवश्य जाता है। जिस क्षण दिखायी देता है, वह क्षण मनुष्य-जीवन का सबसे सार्थक, सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे उत्तम क्षण होता है। खोजनेवाला यदि कुछ अभ्यास करे, तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा। सम्पूर्ण रूप तो उसी ज्योति से परिपूर्ण है। उस असीम को नित्य सीमा में देखा जा सकता है; देखने की दृष्टि होनी चाहिए :

दादू अलख अलाह का, कुछ ऐसा है नूर।
बेहद वाको हद नहीं, रूप-रूप सब दूर॥

सम्पूर्ण रूपों को परिपूर्ण करके वह वर्तमान है और सबसे ऊपर है। वेदों की भाषा में कहें, तो वह सबको व्याप्त करके भी सबसे दस अंगुल ऊपर रहता है—'स सर्वतस्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्'—सबको व्याप्त करके सबसे ऊपर। यह कहने की एक पद्धति मात्र है। इसका भाव वही है, जो कबीर ने कहना

चाहा था। यह रूप के छोटे-से अंश में झलक जानेवाली अनन्त सत्ता को अभिव्यक्त करने की एक शैली है।

प्रति क्षण, प्रति वस्तु में, प्रति क्रिया में उसे देखा जा सकता है। अभागे से अभागे मनुष्य के जीवन में कोई-न-कोई क्षण ऐसा आता है, जिसमें वह उस दिव्य ज्योति की झलक पा जाता है। प्रेम-स्निग्ध आचरण में उस महिमा की झलक मिल जाती है, कृतज्ञता के आँसू में वह अपार पारावार उमड़ आता है और प्रफुल्ल प्राणों में वह महासमुद्र हिलोरें लेते हुए देख लिया जा सकता है। परन्तु अज्ञ मनुष्य उसे हमेशा के लिए बाँध नहीं पाता। सब बन्धनों में विराजते रहने पर भी वह निर्बन्ध है, विराट् है, अरूप है।

क्यों नहीं उसे चिरकाल तक बाँधा जा सकता? कबीरदास ने बड़े दुःख से कहा था—हाय-हाय, साधक-रूपी प्रिया जिस प्रेमिक को नित्य व्याकुल होकर खोजती फिरती थी, वही सौन्दर्य और प्रेम का आश्रयस्थल आनन्द-मनोहर प्रिय उसे दिख गया। हाय री अभागिन, तू उसके चरणों में कैसे लिपट जायेगी? तेरे कपड़े तो गन्दे हैं और उस प्रिय का रूप निर्मल और पवित्र है, एक क्षण की हिचक और अनन्त काल का वियोग!—

जा कारणि मैं ढूँढता, सनमुख मिलिया आइ।
धण मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ॥

साधना आवश्यक है : यह जो ऊपरी आवरण की गन्दगी है, भीतर चित्त में जमी हुई मैल की किट्ट है, वही इस मिलन में बाधक है। साधना के द्वारा इसी मैल को दूर किया जाता है; अभ्यास के द्वारा चित्त की इसी गन्दगी को साफ किया जाता है; क्योंकि जिस समय वह दिखायी दे जाय और उसके चरणों की पग-ध्वनि सुनायी दे जाय, उस समय हिचक न हो। हिचक मानसिक और शारीरिक गन्दगी के कारण होती है। उसी को दूर करने के लिए नाना भाव के साधनों का अभ्यास किया जाता है। साधना का मतलब यह नहीं है कि जो परम प्रेयान् तत्त्व है, उसे कहीं बाहर से ढूँढा जाय। परम प्रेयान् तत्त्व तो भीतर भी है और बाहर भी। बाहर कल्पना करो, तो वह निरन्तर भीतर आने का प्रयास करता दिखेगा और भीतर कल्पना करो, तो वह निरन्तर बाहर प्रकाशित होता दिखायी देगा। कबीरदास ने कहा है -

मोको कहाँ ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।
खोजी होय तो तुरते मिलिहौं, पलभर की तालास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसो की स्वाँस में॥

—'कबीर', पृ. 230

परन्तु बाहर क्या, भीतर क्या? क्या वह परम प्रेयान् भीतर नहीं है? अवश्य है। कबीर ने कहा है कि यदि मैं कहूँ कि वह परम प्रेयान् भीतर है, तो

बाहर का समस्त जगत् लज्जित हो रहता है। क्या बाहर जो कुछ है, उसकी चरितार्थता नहीं है ? क्या वह केवल 'है' और उसका होना निरुद्देश्य है ? प्रेम ही तो जीवन को चरितार्थ करता है। क्या समस्त बाह्य जगत् उस प्रेम से वंचित है, या किसी का होना-मात्र लज्जा का विषय नहीं है ? होने की चरितार्थता किसी के लिए होने में है। किसके लिए ? उसी अनन्त असीम प्रेमी के लिए, जिसके प्रेम की झलक प्रत्येक पिण्ड में किसी-न-किसी रूप में दिख जाती है। सो, अपने भीतर ही उसे स्वीकार करना समस्त जगत् को लज्जित करने के समान है। समस्त जगत् की चरितार्थता को अस्वीकार करने के समान है। इसी प्रकार यदि कहा जाय कि वह सत्ता भीतर नहीं है, केवल बाहर ही है, तो अपने-आपको ही झूठा सिद्ध करना है।

नित्य निरन्तर उसकी पग-ध्वनि कानों को सुनायी दे रही है, किन्तु अपने ही चित्त की मलिनता के कारण कान रुद्ध हो जाते हैं। इसी बात को कहने के लिए रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि "अरे, तुम लोगों ने उसके चरणों की ध्वनि नहीं सुनी ? वह आता है, आता है, आता है" :

तोरा शुनिस नि कि शुनिस नि
तार पायेर ध्वनि, से ये आसे-आसे-आसे।

इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि भीतर नहीं है; यह झूठ है, यह अपने-आपकी चरितार्थता को अस्वीकार करना है। तो इस भाव को, इस बाहर और भीतर के भरने की स्थिति को, किसी सीमित वस्तु के आकार में देखा जा सकता है या पकड़ा जा सकता है ? कबीरदास का स्पष्ट उत्तर है—'नहीं'। वह दृष्टि का विषय नहीं है, मुष्टि का विषय भी नहीं। किन्तु यह प्रकट है कि कमल के ठोस आकार से भिन्न किन्तु उसी पर आश्रित, जो प्रफुल्लता है, वह गोचर है। निश्चित रूप से वह प्रकट है, पर उतना ही निश्चित रूप से आकार को छोड़कर अकल्पनीय है; अर्थात्, वह न तो इन्द्रियग्राह्य है और न मनोग्राह्य। वह समस्त चेतन और अचेतन में व्याप्त होकर और सबसे अलग होकर विद्यमान है :

ऐसा लो नहीं तैसा लो।
मैं केहि विधि कहौं अनूठा लो।
बाहर कहौं तो जग भय लाजै।
भीतर कहौं तो झूठा लो।
दृष्टि न मुष्टि, प्रगट अगोचर।
गुरु परतापैं दीठा लो॥

'गुरु प्रताप' से मतलब है उस तत्त्व को, जो किसी भी रूप में झलक गया है, नित्य शुद्ध-बुद्ध आनन्दमय चिर सुन्दर रूप के साथ एक-एक करके देखने की दृष्टि देनेवाला उपदेष्टा। निरन्तर अभ्यास और साधना के द्वारा यह दृष्टि प्राप्त होती है।

व्यापक संगति : जो व्यक्ति दीर्घ साधना और अभ्यास के द्वारा ऐसी दृष्टि प्राप्त कर लेता है, वह समस्त रूपों में उस मनोहर कान्ति को देखने लगता है। दूसरों की दृष्टि में जो विकृति है, उसकी दृष्टि में उसमें भी प्रकृत तत्त्व दिखायी देता है। दूसरों की दृष्टि में जो अवैध, असंगत, अनियमित आचरण हैं, उसमें भी उसे विधि, नियम और संगति दिखायी देने लगती है; और दूसरों की दृष्टि में जो सीमा से बँधा हुआ है, ठोस रूप है, उसमें भी उसे अरूप और असीम तत्त्व दिखायी देने लगता है। जिस दिन ऐसी परिस्थिति आ जाती है, उस दिन साधक का जीवन चरितार्थ हो जाता है। शाक्त साधकों की भाषा में कहें, तो शुचिस्मिता त्रिपुर-सुन्दरी, जिनके अंग-अंग से आनन्द की जोति छिटक रही है, जिनके प्रत्येक कटाक्ष-पात में स्नेह का पारावार उमड़ रहा है, जो आनन्दरूपा हैं, प्रसन्न हो जाती हैं :

यदा विकृतवस्तुषु प्रकृत दृष्टिरागच्छति,
ह्यधर्म इति धारणा भवति धर्मसंज्ञेऽन्वहम् ।
अरूपगुणिता समुल्लसति रूपधर्मात्मके,
प्रसीदति शुचिस्मिता त्रिपुरसुन्दरी सा तदा ।।

और इसी बात को यदि कबीरदास की भाषा में कहें, तो कहेंगे कि साधक घाट में अवघट देखता है और अवघट में घाट देखता है :

घट माँहे अवघट लह्या, अवघट माँहे घाट ।
कह कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ।।

सामरस्य : यह जो सीमा और असीम का द्वन्द्व है, वही सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। जिस दिन इस अरूप और रूप का परिचय हो जायेगा, जिस दिन इनका द्वन्द्व मिट जायेगा, दोनों समरस हो जायेंगे, वही परम चरितार्थता का दिन होगा। आपाततः विभिन्नता और जटिल रूपकों की कल्पना के अन्तराल में यह एक तत्त्व मध्य-युग के सभी भक्तों में दिखायी दे रहा है। इसी तत्त्व की उपलब्धि करने का साधन है समरसीकरण। नाथ-साधकों ने और शाक्त साधकों ने जो बात कही है, उसकी भाषा और साधना-प्रणाली में भेद है, फिर भी मूल तत्त्व वही है। अरूप और रूप, अर्थात् शक्ति और शिव जिस दिन समरस होकर एकमेक हो जायेंगे, उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टि-चक्र अपने-आप निश्शेष हो जायेगा। शक्ति कुण्डलिनी-रूप से देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार-रूप से इसी पिण्ड में स्थित हैं। नाथ-साधकों ने कहा है कि वह जन्म-जन्मान्तरों के मल से दबी हुई है। यह वही भाव है, जिसे कबीरदास ने 'घण मैली' कहकर प्रकट करना चाहा है। नाथ और शाक्त साधकों का विश्वास है कि यदि मनुष्य गुरूपदिष्ट मार्ग में स्थित रहकर उसकी बतायी विधियों से निष्ठापूर्वक आचरित ध्यान और धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोधकर पवित्र करे, तो वह परम पवित्र सुषुम्ना-मार्ग खुल जाय, जिसके ब्रह्म-रन्ध्र को ढककर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोयी हुई है।

वस्तुतः यह सृष्टि ही कुण्डलिनी है। वह दो प्रकार की है, स्थूल और सूक्ष्म। साधारणतः स्थूल-रूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं; अज्ञान के बोझ से दबे होने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते। सिद्धियाँ स्थूल कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती है, परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी परा-संवित् जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है, उसको पहचाने बिना परम-पद नहीं मिलता[1]। शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है, इसी को 'पिण्डब्रह्माण्डैक्य' भी कहते हैं—तब योगियों के परमकाम्य कैवल्य अवस्थावाली सहज समाधि प्राप्त होती है, जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह भी सब गुरु की कृपा से होता है, वेद-पाठ से नहीं, ज्ञान से भी नहीं, वैराग्य से भी नहीं। जो इस सहज समाधि-रूप परम विश्राम को पाना चाहे, वह अच्छे गुरु के चरण-कमलों की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति का सामरस्य ही :

अनुबुभूषति यो निजविश्रमं—
स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात् परम पदं
समरसीकरणं च न दूरतः॥

—सि. सि. सं. 558

यही सहज समाधि है। कबीरदास ने इसी को प्रकट करने के लिए कहा है :

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तें उपजी, दिन दिन अधिक चली।
जहँ जहँ डोलो सोइ परिकरमा, जो कुछ करो सो सेवा॥
जब सोवों तब करो दण्डवत, पूजों और न देवा।
कहों सो नाम सुनो सो सुमिरन, खाव-पियों सो पूजा।
गिरह-उजाड़ एक सम लेखो भाव न राखो दूजा।
आँख न मूदों कान न रूधों, तनिक कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानो हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारो।
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी।
कहै कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख सुख से कोइ परे परम पद, तेहि पद रहा समाई।

1. सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका॥
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता।
तस्या भेदं न जानन्ति मोहिताः प्रत्ययेन तु।
ततः सूक्ष्मा परासंविन्मध्यशक्तिर्महेश्वरी॥

—सि. सि. स. 4.30-32

सहज समाधि : अब इस सहज समाधि को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग हो सकते हैं। कुछ मार्गों की चर्चा हमने की है, परन्तु और भी सहस्रों मार्ग है। यदि इस मूल तत्त्व को ध्यान मे रखा जाय, तो किसी मार्ग के समझने में बहुत कठिनाई नही होगी। जब किसी मार्ग का अनुयायी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य विषयो की सीमा मे बँधी हुई किसी भी प्रक्रिया— मन्त्र, नाम, मूर्त्ति, ध्यान आदि—को अपने-आपमे ही चरम लक्ष्य मान ले, तो समझना चाहिए कि वह गलत रास्ते जा रहा है। मूल वस्तु है हृदयस्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप मे निरन्तर व्यक्त होते रहनेवाले परम प्रेयान् के वास्तविक, असीम, अनन्त रूप को जगत् में अभिव्यक्त होनेवाली अन्यान्य वासनाओं, क्रियाओं और कर्मों के साथ एकरूप करके देखने की योग्यता प्राप्त करना। बाकी सब साधन हैं। साध्य यही है। जिस साधन से भी यह स्थिति प्राप्त हो सके, वही स्वागत योग्य है। गुरु की कृपा से चित्त में उस परम प्रेयान् को पाने की व्याकुलता जग सकती है; परन्तु अनाडी गुरु साधन को ही साध्य बताकर मार्ग रुद्ध कर सकता है। इसलिए सहज-मार्ग तो यह है कि जब कभी संयोग या भाग्य से किसी रूप मे वह अरूप सौन्दर्य झलक जाय, उसी क्षण उसे ही अपना गुरु मान लिया जाय। मानव-गुरु इस वास्तविक गुरु को प्राप्त कराने में सहायक हो सकता है। गुरु रूप में वह तब आता है, जब क्षणिक दर्शन के बाद भी चित्त मे अद्भुत व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। जिस दिन यह व्याकुलता आ जाय, जिस दिन एक क्षण का वियोग भी असह्य हो उठे, उसी दिन सच्चा प्रेमोदय समझना चाहिए। साधारण व्यक्तियो के सच्चे प्रेम में भी यह क्षण-दर्शनजन्य व्याकुलता और उसकी तड़प दिखायी दे जाती है। फिर वह व्यक्ति तो धन्य है, जो इस तत्त्व में रमा हुआ है और जिसे साहचर्य ही अधिक और वियोग ही कम मिलता है। कालिदास ने अपने प्रसिद्ध 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी को देखकर पुरूरवा के चित्त में उत्पन्न हुई व्याकुलता से इस तत्त्व की ओर इंगित किया है। पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि "हे सुन्दरि ! दैवयोग से एक क्षण के लिए भी तुम जिस मनुष्य के अवन्ध्य नयनों के सामने उपस्थित हो जाती हो, वह भी तुम्हारे लिए व्याकुल हो जाता है। फिर जो सखियाँ निरन्तर साथ रहने के कारण ही स्नेहार्द्र हैं, उनकी तो बात ही क्या है" :

सहज-मार्ग

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथि स्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयोः।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्—
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः॥

इसी प्रकार की व्याकुलता जिस दिन पिण्ड-स्थित शोभा या प्रीति को देखकर ब्रह्माण्ड-स्थित शोभा और प्रीति के लिए उत्पन्न हो जाय, वही दिन धन्य होता है। इस विरह के बिना मनुष्य का जीवन निष्फल है। जिस हृदय मे यह

प्रेम-व्याकुलता नहीं है, वह है भी तो क्या, नहीं भी है तो क्या? वह श्मशान है। कबीर ने कहा है :

बिरहा बुरहा जिन कहौ, बिरहा है सुलतान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥

सच्चा गुरु इसी व्याकुलता को जगा देता है। इस प्रकार सांसारिक दृष्टि से जो व्यक्ति सुखी था, वह देखते-देखते असुखी और व्याकुल हो जाता है। यह सत्गुरु की कृपा है या कसकर मारा हुआ बाण? इस शब्द की चोट से गुरु जब मारता है, तब उसका बाण हृदय को आर-पार करके वेध देता है। यही व्याकुलता साधना का वास्तविक आरम्भ है। जिसे गुरु का बाण लग जाता है, वह व्यवहार की दुनिया से समाप्त ही हो जाता है। बड़ी जबरदस्त चोट होती है यह :

सतगुरु मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि,
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि।
मार्‌या है जे मरेगा, बिन सर थोथी भालि,
पड़्या पुकारे बिरछ तरि, आजि मरै कै काल्हि॥

इसी व्याकुलता से मनुष्य का जीवन चरितार्थ होता है। सहज-साधना इसी व्याकुलता को जगा देने से स्वयं अग्रसर होने लगती है।

सच्चे प्रेम से सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होती है। जिसे सच्ची व्याकुलता प्राप्त है, वह विधि-निषेध के बन्धन में नहीं बँधा रहता। लोक-लाज और शास्त्र के प्रति निष्ठा भी उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। सहज साधक के लिए यह प्रेम की बड़ी चीज है। किसी प्रकार का ऊपरी दिखावा मानसिक संकोच, प्रयत्न में झिझक, और उपलब्धि में हिचक इस सच्चे प्रेमिक को परिपूर्ण आत्म-समर्पण के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। वह सती भी क्या, जो लाज से चिता पर न चढ़ सके :

बिरहिनि थी तौ क्यों रही जली न पिव के नालि।
रहु-रहु मुगुध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि॥

प्रेमोदय : जिसके चित्त में प्रेमोदयजन्य व्याकुलता आ जाती है, उसका होना सार्थक हो जाता है। मनुष्य का होना, उसकी सत्ता, यही तो भाव है—भाव अर्थात् होना। भावों के आधार पर ही मनुष्य जीता है। भाव की चरितार्थता, जैसा पहले ही बताया गया है, किसी के लिए होने में है। जो 'होना' केवल होने के लिए है, केवल सत्ता-मात्र है, जो दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर अपने-आपको किसी के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित कर देने के लिए व्याकुल नहीं है, उसका होना व्यर्थ ही है। उससे तो न होना अच्छा :

कै बिरहिनि कूं मीच दे, कै आपा दिखराइ॥
आठ पहर का दाझणां, मोपै सह्या न जाइ॥

सगुण मार्गी वैष्णव साधकों ने इस प्रेम-साधना को एक दूसरा ही रूप दिया है। मूल तत्त्व यहाँ भी वही है—भगवान् की लीला। भगवान् केवल सत्तामय या

केवल चिन्मय नही है, चिन्मय रूप उसका एक अंग है, इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते है। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और रूप है, जो उसका ऐश्वर्यमय रूप है। इस ऐश्वर्यमय रूप को तत्त्ववेत्ता लोग परमात्मा कहते है; परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है, वह प्रेममय है। यही भगवान् पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किया करता है। अवतार के हेतु 'श्रीमद्भगवद्गीता' में साधुओं की रक्षा, दुष्टो का विनाश और धर्म की स्थापना को कहा गया है। इन तीन उद्देश्यों से भगवान् प्रत्येक युग मे सम्भूत होते हैं। सम्भूत शब्द का तात्पर्य यह है कि उनका सन्मय, चिन्मय और आनन्दमय रूप ठोस इन्द्रिय-ग्राह्य रूप को ग्रहण करता है। मध्यकाल मे इन तीन उद्देश्यों के अतिरिक्त एक और उद्देश्य भी स्वीकार किया गया है। वह है अपनी लीला-कीर्ति का विस्तार करके भक्तो पर अनुग्रह करने की इच्छा—'स्वलीला-कीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया', अर्थात् भगवान् अपनी लीला और कीर्ति का विस्तार करके भक्तों पर अनुग्रह करते हैं, इसीलिए इस प्रकार के अवतारों को 'लीला वपु' कहते है। लीला का कोई और प्रयोजन नही; लीला ही उसका प्रयोजन है। इसी लीला के द्वारा भगवान् भक्तों पर अनुग्रह किया करते है।

भाव : साधारण लोग भी कहते हैं कि भगवान् भाव के भूखे होते हैं। परन्तु, कम लोग जानते हैं कि इसका मतलब क्या है। भाव शब्द का अर्थ है सत्ता; जो है वही। फिर भगवान् भाव के भूखे है, इसका क्या मतलब हुआ ? वैष्णव प्रेम-साधना मे भाव का बड़ा महत्त्व है। सभी व्यक्तियो को अपनी प्रकृति का परिचय होना चाहिए। बिना अपने-आपको जाने मनुष्य अपने 'भाव' को नही जान सकता। मनुष्य का भाव वही है, जो वह वस्तुतः है। वस्तु-जगत् मे भीड़-भाड़ है, संघर्ष है और मनुष्य के लिए सब वस्तुओं का प्राप्त करना सब समय सम्भव नही है। यदि मैं चाहूँ कि राजा हो जाऊँ, हजारो भृत्य नाना भाँति से मेरी सेवा करते रहें, विशाल प्रासाद और सुवर्ण सिंहासन का अधिपति होऊँ, तो यह बात लगभग असम्भव है। इसके लिए न जाने कितना संघर्ष करना पड़ेगा और सब करने के बाद भी सफलता मिलेगी कि नही, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। नही मिलेगी, यही कहना ठीक है। परन्तु वस्तु-जगत् से हटकर यदि मैं भाव-जगत् मे प्रवेश कर लूँ और मन-ही-मन अपने को राजा समझ लूँ और कल्पना की दृष्टि से हजारो भृत्यो की सेवा ग्रहण करने लगूँ, विशाल प्रासाद के भीतर रत्नजटित सुवर्णसिंहासन पर बड़े-से-बड़े दरबार मे बैठ जाऊँ, तो इसमें कोई बाधा नही आ सकती, कोई संघर्ष नही करना पड़ेगा और यदि सचमुच कल्पना करने की शक्ति है, तो मुझे आनन्द तो पूरा मिलेगा, अधिक लाभ यह होगा कि वस्तु-जगत् के राजा को जितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती है, उतनी मुझे नही उठानी पड़ेगी। सच तो यह है कि भावों की इस दुनिया मे कोई कठिनाई है ही नही। इसमे एक ही खतरा है। यदि मैं अपने को पहचाने बिना ही इस प्रकार के काल्पनिक आनन्द मे प्रवृत्त हो जाऊँ, तो थोड़ी देर बाद मेरा स्वप्नलोक टूट जायेगा और सीधे

ही मैं वस्तु-जगत् में आ गिरूँगा। इसीलिए भाव-जगत् के साधक को अपनी प्रकृति को पहचानना पड़ता है। एक बार यदि यह प्रकृति समझ में आ गयी, तो भाव-जगत् का साधक कभी कष्ट अनुभव नहीं कर सकता। वह जो चाहेगा, वह उसके सामने सदा हाथ जोड़कर प्रस्तुत रहेगा। यह ठीक है कि मनुष्य का सम्पूर्ण रूप भाव-जगत् में विचरण नहीं कर सकता। उसका जड़-शरीर उसे स्थूल वस्तु-जगत् की ओर आकृष्ट करता रहता है। लेकिन जिसने भाव-जगत् की प्रधानता स्वीकार कर ली है, उसके लिए वस्तु-जगत् गौण हो जाता है। वह आवश्यकता से अधिक उसमें नहीं उलझता। उसके जीवन का अधिकांश सुख और आनन्द भाव-जगत् में ही प्राप्त होता है।

भाव की साधना : बताया गया है कि नियमित साधना और गुरु की कृपा से साधक जब अपनी प्रकृति पहचान लेता है, तब वह सहज ही अपने भाव को पकड़ने लगता है। वस्तु-जगत् में यदि उन भावों को स्थूल विषयेच्छा के साथ मिलाया जाय, तो कदाचित् वे अच्छे नहीं माने जायेंगे। किन्तु भाव-जगत् में इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। संसार के विधि-निषेध बाह्य जगत् को दृष्टि में रख-कर बनाये गये हैं। इन विधि-निषेधों की व्यवस्था करनेवाले धर्मशास्त्र वस्तु-जगत् की ऊपरली सतह की व्यवस्था को ही दृष्टि में रखकर नियमों का प्रवर्त्तन करते रहते हैं। परन्तु गहराई में जाने पर उनके ऊपर विधि-निषेधों और उनके ऊपर आधारित नैतिकता का कोई विशेष मूल्य नहीं है। जड़ वस्तुएँ, काल और देश दोनों की सीमाओं से बँधी रहती हैं। उनका संग्रह करने से उनके जीर्ण और नष्ट होने का भय बना रहता है और स्थान की कमी भी मालूम पड़ती है। परन्तु भाव-जगत् की वस्तुएँ इस प्रकार की सीमाओं से बँधी नहीं होतीं। इसी-लिए उनमें नैतिकता का वह मानदण्ड निर्णायक नहीं हो सकता है, जो वस्तु-जगत् में प्रचलित है। साधक की प्रकृति यदि ऐसी हुई, जो वस्तु-जगत् में घृणित और निषिद्ध मालूम पड़ती है, तो भी उसे अपने को छिपाना नहीं चाहिए; क्योंकि इस जगत् की सबसे बड़ी विपत्ति अपने को छिपाने में अथवा गलत समझने में ही है। इसलिए सावधानी से साधक को अपनी यथार्थ प्रकृति को पहचान लेना बहुत आवश्यक है। दुराव-छिपाव इस क्षेत्र में अनावश्यक भी है और भयानक भी।

आचार्यों ने बताया है कि भाव ही जब गाढ़ हो जाता है, तब रस बन जाता है—'भावः स एव सान्द्रात्मा रसत्वमधिगच्छति'।

भाव के गाढ़ होने का अपना क्रम है। सबसे पहले साधक को निरन्तर अपने यथार्थ भावों के अनुकूल वस्तुओं की कामना करनी होती है। ये वस्तुएँ इस भाव जगत् में अनायास उपलब्ध हो जाती हैं। कुछ दिनों तक इस प्रकार अनायास उपलब्ध हो जानेवाले पदार्थों से उत्पन्न सुख फीका पड़ जाता है। भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने बताया है कि इस प्रकार के आनन्द के फीका पड़ने का हेतु जीवात्मा की अपूर्णता है। उसे केवल आनन्द और सुख के साधन ही नहीं चाहिए

इन सुखों की प्राप्ति का साक्षी साथी भी चाहिए। जिस दिन साधक इस साथी की खोज करने लगता है, उस दिन उसे अपनी यथार्थ प्रकृति का दूसरा परिचय मिलता है। साथी ऐसा होना चाहिए, जो उसका निकटतम प्रिय हो। यह साथी भी भाव-जगत् में मिल सकता है। यह प्रिया-रूप में, मित्र-रूप में, माता-पिता के रूप में या पुत्र के रूप में या प्रेमी के रूप में कल्पित होता है। यह जो निकटतम साथी है, वही उसका परम प्राप्तव्य है। अपने स्वभाव के अनुसार इन अनेक प्रकार के साथियों में से किसी एक की अभिलाषा की जाती है। अभिलषित साथी ही वस्तुत: भगवान् हैं। भाव-जगत् में उसके आ जाने के बाद ही साधना परिपूर्ण होती है। इस भाव-साधना का भक्तों में बड़ा विस्तार है। ब्यौरे में ऐसी अनेक बातें मिलती हैं, जो ऊपर से परस्पर विरुद्ध-सी लग सकती हैं, पर विरोध वास्तविक नहीं है। भावों की कोई संख्या नहीं नियत की जा सकती और मनुष्य-स्वभाव को देखते हुए यह भी नहीं कहा जा सकता कि रुचि और संस्कार को ही 'इदमित्थं' कहकर गिन लिया जा सकता है। भक्तों की रुचि और संस्कार के अनुसार भाव अनन्त हो सकते हैं। कोई भक्त इस पक्ष पर जोर देता है, कोई उस पक्ष पर। फिर सम्प्रदाय में शिष्यगण उसे ग्रहण करते हैं। जब कोई तेजस्वी शिष्य होता है, तब वह अपनी अनुभूति के अनुसार किसी नवीन पक्ष पर बल देता है और साहित्य आगे बढ़ता है। अनेक वैष्णव-सम्प्रदाय भाव की अनन्त सत्ता का विश्लेषण और प्रचार कर गये हैं; परन्तु मूल बात सर्वत्र एक है। गौड़ीय वैष्णवों ने भाव-साधना का बहुत ही व्यवस्थित साहित्य बनाया था। अन्यान्य भाव-साधकों को भी इस साहित्य ने प्रभावित किया था। इधर राम-भक्ति की मधुर-साधना का भी विपुल साहित्य उपलब्ध हुआ है। डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने राम-भक्ति शाखा के रसिक सम्प्रदाय का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। उससे इस शाखा के विशाल साहित्य का जो रूप उद्घाटित हुआ है, वह चकित कर देने वाला है। रसिक शाखा के रामभक्त भी पाँच भक्ति-रसों को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि भगवान् का सम्पूर्ण विग्रह ही रसमय है। किसी-किसी महात्मा ने बारह रसों की भी कल्पना की है। इसी प्रकार अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भाव-साधना का विस्तृत साहित्य है। सारी बातों को यहाँ बताना सम्भव भी नहीं है, आवश्यक भी नहीं। व्यवस्थित और प्रेरक होने के कारण संक्षेप में गौड़ीय वैष्णवों के ग्रन्थों से कुछ सामग्री प्रस्तुत की जा रही है।

रागानुगा भक्ति : वैष्णव-शास्त्रों में इस साथी के प्राप्त होने के बाद की व्यवस्था को ही रागानुगा भक्ति कहा गया है। यह वैधी भक्ति से भिन्न प्रकार की होती है। जो नियम कर्त्तव्य-बुद्धि से स्थिर किये जाते है, उसे विधि कहते हैं। उसके निर्णय करने में शास्त्रकार बाह्य जगत् को दृष्टि में रखते हैं। भक्ति की उस अवस्था को, जिसमें बाह्य वस्तु-जगत् के नियमों के अनुकूल चलते रहने की प्रवृत्ति बनी रहती है, वैधी भक्ति कहते हैं। इसमें स्वभाव की चिन्ता कम होती है और समाज के नियामक शास्त्रकारों की व्यवस्था की अधिक। स्वभाव

से जो रुचि उत्पन्न होती है, उसे स्वाभाविक रुचि कहते है, और स्वाभाविक रुचि से जो मनोवृत्ति उत्तेजित होती है, उसे राग कहते हैं। कहने का अर्थ यह हुआ कि इष्ट वस्तु के प्रति जो स्वाभाविक तन्मयता है, वही राग है और राग जिसके प्रति धावित होता है, वही इष्ट होता है। साधना की प्रथम अवस्था मे भाव-जगत् मे भी अनेक वस्तुएँ इष्ट होती है; परन्तु द्वितीय अवस्था मे एकमात्र इष्ट वह साथी हो जाता है, जिसके बिना समस्त इष्ट समझी गयी वस्तुओं का आनन्द फीका पड़ जाता है। इस दूसरी अवस्था मे आनन्द-उपभोग का जो साथी है, वही प्रधान इष्ट हो जाता है। भगवान् और बद्ध जीव मे एक स्वभावगत पार्थक्य यह है कि भगवान् मे वैराग्य की प्रधानता होती है और जीव मे विषयासक्ति की। जड़ देह और जड विषयो के प्रति भी राग होता है। जब तक यह राग जडोन्मुख होता है, तब तक वह विषय-वासना कहलाता है; परन्तु ज्यों ही वह चिन्मुख होकर एकमात्र भगवान् को ही साथी मान लेता है, त्यो ही उसका यह राग प्रेम में बदलने लगता है। जड़-जगत् मे विधि और राग मे विरोध है, किन्तु चेतन-जगत् में अर्थात् भाव-जगत् मे इनमे कोई विरोध नही। जब साधक भाव-जगत् मे अपने परम इष्ट को प्राप्त कर लेता है, तब उसका भाव धीरे-धीरे भाव-जगत् की ही अन्यान्य वस्तुओं से हटकर अपने-आपको परिपूर्ण करनेवाले चिद्घन आनन्द सन्दोह भगवान् मे स्थिर हो जाता है। इसी स्थिर होने की प्रक्रिया को शास्त्रकारों ने सान्द्र (गाढ) होना कहा है। इसी अवस्था मे उस रस का परिपाक होता है, जिसका साधक भी प्रेम है और साध्य भी प्रेम है।

पाँच भाव : ऐसे कम भक्त है, जिन्हें गुरु की कृपा से, जन्म-जन्मान्तर के पुण्य-संस्कार से या भगवान की असीम अनुकम्पा से एकाएक प्रेम की प्राप्ति हो जाय। साधारणतः भगवत्-प्रेम के उदय होने के समय इस प्रकार का क्रम देखा जाता है—श्रद्धा, साधु-संग, भजन क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेम। जब प्रेमोदय हो जाता है, तब भक्त के चित्त के सभी विकल्प नष्ट हो जाते है और वह तीसरी बार निश्चित रूप से अपने स्वभाव को पहचान लेता है। शास्त्रकारों ने इन पाँच भावों के नाम इस प्रकार दिये है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन पाँच स्वभाव के भक्तो की रति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह रति ही स्थायी भाव है। इसके प्राप्त हो जाने के बाद अन्य किसी भाव के आने या न आने का प्रश्न ही नही रहता है। इस रति का नाम भिन्न-भिन्न स्वभाव के भक्तो मे क्रमशः शान्ति, प्रीति प्रेम अनुकम्पा और कान्ता या मधुरा पड़ता है। साहित्य-शास्त्र मे जो रस माने जाते है, वे जड़ोन्मुख होने के कारण यहाँ रस-रूप मे गृहीत नही होते। किन्तु जड़-जगत् मे जो स्थान शृंगार का है, वही चिद्-जगत् या भाव-जगत् में मधुर रस का है।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि रति के अतिरिक्त अन्य स्थायी भावों की साधना भाव-जगत् मे होती ही नहीं। वैष्णव शास्त्रियों ने अन्यान्य भावो को इसी का साधक बताया है। परन्तु यह भी सत्य है कि दूसरे भावों के [illegible]

से भी भाव-जगत् की साधना चलती है।

मधुर रस : प्रेमारुरुक्षु भक्त इस प्रकार भावुक की दशा से होता हुआ, प्रेमी की दशा मे पहुँचता है। यह प्रेम शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य-रूप से चार प्रकार का होता है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार भक्त को इन चार प्रकार के प्रेम का अधिकार है। अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ रस है मधुर। इस रस मे राधिका या चन्द्रावली के रूप से भक्त श्रीकृष्ण से प्रेम करता है। इनमे भी भगवान् की आह्लादिनी शक्ति होने के कारण राधिका श्रेष्ठ हैं। अधिकार-भेद से भक्त राधिका या चन्द्रावली की सखियों के भावानुसार कृष्ण-संग प्राप्त करेगा। ये सखियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—सखी, नित्य-सखी प्राण-सखी, प्रिय-सखी, और परमेष्ट सखी। इनके काम राधा या चन्द्रावली का पक्ष-समर्थन, प्रिय-समागम-करण, हास-परिहास आदि है।

भक्ति-रस और काव्य-रस : श्रीकृष्ण शृंगार-रस के सर्वस्व हैं। श्रीराधिका की कृपा के सिवा उस रस मे श्रीकृष्ण-प्राप्ति असम्भव है। इस जड-जगत् में दैनन्दिन क्रिया के साधन-रूप मे जड़ देह में वास करता हुआ भी भक्त भावना दशा में सिद्ध रूप में वास करता है। सखियो के नाम, रूप, वय, वेश, सम्बन्ध, यूथ, आज्ञा, सेवा, पराकाष्ठा, पाल्यदासी और निवास को अपने में चिन्ता करते हुए भक्तों के मन मे ललिता आदि सखियों का अभिमान पैदा होता है और वे उस रूप की अनुभूति की ओर अग्रसर होते हैं। आगे चलकर वे विशुद्ध माधुर्य रस के अधिकारी होते हैं। भक्तों के रस में और काव्य-रस मे भेद यह है कि भक्ति का रस चिन्मुख होता है; अर्थात् वह चित्-घन-विग्रह श्रीकृष्ण को आश्रय करके प्रकट होता है, किन्तु आलंकारिकों का रस जडोन्मुख। भेद की कुछ और भी बातें हैं। इस रस-व्यापार मे पाँच भाव होते हैं—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारी या व्यभिचारी भाव। स्थायी भाव नाम प्राप्त रति विभाव, अनुभाव, सात्विक तथा व्यभिचारी भावों से स्वाद्य होकर भिन्न-भिन्न पाँच स्वभावों को ग्रहण करती है, जिन्हें क्रमश: शान्त, दास्य, साख्य, वात्सल्य और मधुर स्वभाव कहते हैं। जब संसार से विरत होकर चित्तवृत्तियाँ भगवान् मुकुन्द के ज्योति-स्वरूप में लीन हो जाती हैं, तब उस समय भक्त शान्त रस का अनुभव करता है। सनक सनन्दन आदि भक्त इसी रस के रसिक हैं। केवल प्रेम ही रस के मूल में काम करता है। 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में कहा है कि कब वह दिन आयेगा, जब पर्वत की कन्दरा के किसी विशाल वृक्ष के कोटर में बैठकर कोपीन धारण करके, कन्द-मूल खाकर बारम्बार मुकुन्द नामक उस चिदानन्द ज्योति का ध्यान करते हुए क्षण-भर की तरह रात काट देंगे :

> कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपीकोडवसति-
> र्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः
> हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिध महः
> चिदानन्द ज्योतिः क्षणमिह हि नेष्यामि रजनीः ॥

प्रीति या दास्य रस मे दो भाव रहते है, सम्भ्रम का और गौरव का। इसमे भक्त सर्वात्मना अपने को श्रीकृष्ण का दास समझता है। इस माधुर्य मे भगवान् का प्रबल रूप ही प्रधान होता है। शास्त्र मे दास चार प्रकार के बताये गये है : 1. अधिकृत : इस श्रेणी मे ब्रह्मा, इन्द्र आदि आते है; 2. आश्रित . इस श्रेणी मे कालिनाग, बहुलाश्व आदि भक्त आते है; 3 पारिषद् : इस श्रेणी मे उद्धव, दारुक आदि आते हैं; 4 अनुग · इस श्रेणी मे सुचन्द, मण्डन आदि भक्त आते है।

सख्य भाव : सख्य रस मे वे भक्त आते है, जो उनके सखा थे। भक्त इन सखाओ का अभिमान करके भी भजन कर सकता है। श्रीकृष्ण के सखा कई प्रकार के थे। कुछ उनकी गैया चरा देते थे, कुछ चरवा लेते थे, कुछ उनका वेष सजाने के लिए पुष्प-चयन कर देते थे, कुछ सजा देते थे। कुछ विरहावस्था मे उनका मनोविनोद कर देते थे, और कुछ राधिका, चन्द्रावली-जैसी सखियो के मान करने पर उनकी सखियो को तर्क मे परास्त करके मिलन की भूमिका प्रस्तुत करते थे। शास्त्र मे इनको चार श्रेणियों मे बाँट लिया गया है . 1. सुहृद्, जो उम्र मे बड़े थे और श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव रखते थे; 2 सखा, जिनमें दास्यमिश्रित प्रेम था और जो उम्र मे छोटे थे, 3. प्रिय-सखा, जो श्रीकृष्ण के साथ कबड्डी और गुल्ली-डण्डा खेला करते थे, और अन्य केलियो के द्वारा उनका मनोविनोद करते थे; 4 प्रिय-नर्मसखा, जो भगवान् के आभ्यन्तरिक मर्म के साथी थे। इनमे चौथी श्रेणी के भक्तो का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

वात्सल्य और माधुर्य भाव : श्रीकृष्ण के बाल-रूप को माता-पिता की भाँति वत्सल भाव से प्रेम करनेवाले भक्त वात्सल्य-प्रेमी कहे जाते है। इस रस के आलम्बन श्रीकृष्ण बाल-रूप, मधुर-भाषी, आज्ञाकारी, सरल तथा मर्यादा-निर्वाहक है। इसके बाद मधुर रस है, जो भक्ति-शास्त्र की सर्वश्रेष्ठ साधना है। इस रस के आलम्बन है निखिल माधुर्य और श्री के स्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर। राधिका और चन्द्रावली दो प्रधान नायिकाएँ है, जिनकी सैकड़ों सखियाँ हैं; प्रत्येक सखी के अलग यूथ है, प्रत्येक यूथ की यूथेश्वरी है। विशाखा, ललिता, श्यामा, शैला, पद्मा, भद्रिका, तारा, विचित्रा, खंजनाक्षी, मनोरमा, मंगला, विमला, लीला, कृष्णा आदि सखियाँ यूथेश्वरी हैं। राधा और चन्द्रावली सुष्ठु कान्त-स्वरूपा है। सोलहों शृंगार से वे देदीप्यमान है, उनके रूप और शोभा की जगमगाहट के सामने अष्टमागलिक अलंकारो के सिवा बाकी द्वादश आभरण फीके पड जाते हैं। सुकुंचित केश, चंचल मुख-कमल, दीर्घ नेत्र, विशाल वक्षःस्थल, क्षीण कटि, आयत स्कन्ध, तरंगित त्रिवली, उद्भासित निर्मल नखज्योति, सुवृत्त बाहु, पद्माभ करतल—शोभा और श्री का लहराता हुआ समुद्र। फिर राधिका का तो क्या कहना!

श्रीराधा : पच्चीस गुण उनमे पाये जाते है—वे चारुदर्शना हैं, किशोरी हैं, चंचल-अपांगा, शुचिस्मिता, सौभाग्ययुक्ता, सुगन्धि से श्रीकृष्ण को उन्मादित

करनेवाली, संगीतज्ञा, रम्यवचना, नर्म-मर्मज्ञा, विनीता, करुणामयी, विदग्धा, चतुरा, लज्जाशीला, सुमर्यादा, धैर्यशालिनी, गाम्भीर्यशालिनी, सुविलासवती, परम उत्कर्षमयी, गोकुल के प्रेम मे ही जीनेवाली, परम यशस्विनी, गुरुओं पर परम स्नेह रखनेवाली, सखियो की प्रणयाधीना, कृष्ण-प्रियाओं में मुख्य हैं और श्रीकृष्ण सदा उनकी आज्ञा के वशवर्त्ती हैं।

सरस प्रेमोन्माद : भगवान् की इस लीला को आश्रित करके मध्यकालीन भक्तों मे सरस प्रेमोन्माद का नशा छा गया। भगवान् श्रीकृष्ण रसरूप हैं। यह भी माना गया कि वही एकमात्र पुरुष हैं और बाकी सब लोग स्त्री-भाव से ही उनका भजन कर सकते है। स्त्री-भाव अर्थात् निषेध-व्यापार-मूला शक्ति का भाव, जो अपने-आपको भगवान् श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही सम्पूर्ण भाव से निछावर कर देता है। फिर राधिका को ही उपास्य समझकर उन्हीं के सुख में अपना सुख मानने का अद्भुत व्रत भी एक श्रेणी के भक्तों मे है। सब मिलाकर मधुर रस की साधना ने उत्तरकालीन भक्ति-रस की साधना को बहुत ही मनोरम और हृदयंगम धर्म का रूप दिया। यहाँ भक्त भगवान् के लिए और भगवान् भक्त को पाने के लिए व्यग्र है, दोनों दोनो के बिना अपूर्ण हैं :

अपने अपने सुठि गेहन मे चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री,
अँगनान मे भीजत प्रेम भरे समयो लखि मैं बलि जाऊँ पै री।
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों, रँग है उमड़े दोऊ ठाँव पै री,
सखी कारी घटा बरसे बरसाने पै गोरी घटा नन्दगाँव पै री॥

यह मधुर रस की साधना सहज-साधना का अद्भुत विकास है। निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों को भी इसने प्रभावित किया था। कबीरदास मे भी—

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन,
आरती साज के चली है सुहागन पिय अपने को ढूंढन।

या फिर,

अँखड़ियाँ झाँई परी, पंथ निहारि निहारि,
जीभड़िया छाला पड़्या, नाम पुकारि पुकारि।
नैना नीझर लाइया, रहट बसै निसि जाम,
पपिहा ज्यो पिउ पिउ करो, कब रे मिलोगे राम॥

ऐसे मधुर भाव के पद प्राप्त होते हैं। वस्तुतः सहज-साधना ने नामस्मरण और ध्यान को प्रेम-भक्ति का अंग बना दिया। यदि यह प्रेम है, तो नाम-जप हो तो भी जीवन सार्थक है, न हो तो भी कोई चिन्ता नहीं। यह प्रेम ही परम प्राप्तव्य है। यही परम पुरुषार्थ है। शुष्क नीरस जप, आडम्बरपूर्ण मन्त्रानुष्ठान और कृच्छ्र-साधनामूलक योग सब इस प्रेम-साधना के सामने फीके हैं और व्यर्थ भी है। सूरदास ने कहलवाया है :

ऊधो प्रेम रहित योग निरस काहे को गायो।

इस प्रकार इस प्रेम-साधना के सामने अन्यान्य सब साधनाएँ नीरस और

फीकी हैं। अपने-अपने ढंग से भक्तों ने इसका बड़ा विस्तार किया है।

व्यक्ति और समाज : ततः किम्! ये साधनाएँ बहुत उत्तम हो सकती हैं, व्यक्ति भावविह्वल अवस्था में परम-पुरुष के चिन्मय और प्रेममय रूप का साक्षात् कर सकता है और विशुद्ध आनन्द की अवस्था भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु इससे समाज को क्या लाभ है! क्या इस साधना की पृष्ठभूमि में जो दर्शन है, वह हमारे सामूहिक उत्थान के लिए कुछ दे सकता है? मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो गलदश्रु भावुकता के साथ कह उठते हैं, 'वाह! भारतवर्ष की कितनी विपुल और विशाल साधना है!' क्या हुआ, जो दो-चार व्यक्ति परम-पद प्राप्त कर गये! संसार की समस्या तो इससे सुलझ नहीं जायेगी। आज भी सहस्रों व्यक्ति दाने-दाने को मुहताज हैं। आज भी रोग, शोक, अशिक्षा और कुशिक्षा के वात्याचक्र में कोटि-कोटि जनता भटक रही है। इनके उद्धार के लिए विशाल पैमाने पर काम करने के लिए जो सुविधा हमें जड़-विज्ञान ने दी है, क्या उसका इस तत्त्ववाद से कोई सामंजस्य है? क्या पिण्ड में ब्रह्माण्ड समझनेवालों की शब्द-साधना और सुरति-साधना ही देश की समूची जनता को अन्न और वस्त्र दे सकती है? क्या मतवाले मधुर भाव के साधकों की प्रेम-रस से स्निग्ध वाणी उन घावों की मरहम बन सकती है, जो दीर्घकालीन दरिद्रता और कुशिक्षा के कारण गहराई में प्रवेश कर चुके हैं? क्या 'भूखे भजन न होहिं गोपाला' बहुत सच्चा वाक्य नहीं है? मैं समझता हूँ कि हम न तो इस बात की उपेक्षा कर सकते हैं कि हमारा मुख्य प्रश्न इस समय कोटि-कोटि लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, और न हम यही भुला सकते हैं कि इस युग में जड़-विज्ञान ने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन दिये हैं। व्यक्ति-मानव की समस्याओं को हल करना आज पर्याप्त नहीं है। समाज-मानव की समस्या ही हमारे विचारकों को अधिक व्याकुल और चिन्तित बनाये हुए है। इसलिए यदि हम आज की दुनिया की इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, तो ये बड़ी-से-बड़ी साधनाएँ निरर्थक हैं। क्या होगा, इनकी चर्चा करके?

समाज-मानव का उद्धार

ठीक है। जड़-विज्ञान को हम छोड़ नहीं सकते; लेकिन यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिए कि हमारा मूल लक्ष्य मनुष्य का दुःख दूर करना है। आज सामूहिक मानव के उत्थान के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं, वह निस्सन्देह स्तुत्य हैं। परन्तु इन प्रयत्नों के पीछे कोई बड़ा तत्त्ववाद नहीं है। इसीलिए मनुष्य की सुख, सुविधा और सुरक्षा के नाम पर जो उत्पादन हो रहा है, वह जितना समस्या को हल करता है, उससे अधिक समस्या को पैदा करता है। बात यह है कि इसके मूल में ऐसी विचारधारा नहीं है, जो गहराई में जाकर ऊपरी सतह की समस्त हलचलों को एक निश्चित लक्ष्य की ओर ले जा सके। एक ही विश्वब्रह्माण्ड-व्याप्त मूल चित्-शक्ति समस्त प्राणि-जगत् में व्याप्त है। मनुष्य के रूप में इसी का सर्वोत्तम

विकास हुआ है। जो कुछ उस चित्-शक्ति के अनुकूल है, वह ग्राह्य है और जो कुछ उसके प्रतिकूल है, वह अग्राह्य है, अनाचरणीय है। मध्य-युग के सन्तों ने जटिल साधना-विधान को सहज बनाते समय उस मूल तत्त्व को ध्यान में रखा था। मनुष्य के विकास के अनेक स्तर हैं। ये सब वर्त्तमान मनुष्य को रूप देने में उपादान का काम कर रहे हैं। इन सन्तों के ग्रन्थों में आचरणीय और अनाचरणीय का विशद विचार है। जिनमें सामाजिक मंगल होता है और जिनसे व्यक्ति और समाज जड़िमा के मोह से मुक्त होते हैं, उनकी ओर इंगित

चिन्मूलक सिद्धान्त है। सारे आचरण-सिद्धान्त का मूल तत्त्व यह है कि जो आचरण चिन्मुख है, वह श्रेष्ठ है। जो प्रयत्न मनुष्य के बाह्य स्थूल अन्नमय कोष को सुखी बनाने के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे अच्छे हैं, बशर्ते कि मन्त्र-चैतन्य प्राप्त कर लिया गया हो। अर्थात् जो कुछ किया जा रहा हो, उसे निरन्तर यह समझा जाता रहा हो कि यह क्यों किया जाता है, उसका प्रभाव मनुष्य पर क्या पड़ता है और फिर जो प्रयत्न मनुष्य के अन्नमय, प्राणमय और ज्ञानमय कोषों को, जो क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं, सुखी बनाने के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे भी महत्त्वपूर्ण हैं, बशर्ते कि इन प्रयत्नों में भी मन्त्र-चैतन्य काम कर रहा हो। संक्षेप में, जो विचार और प्रयत्न केवल स्थूल जगत् को दृष्टि में रखकर किया जाता है, वह स्थूल होता है और द्वन्द्व और संघर्ष को पैदा कर सकता है। परन्तु जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह कोई नहीं कहता कि जड़-विज्ञान द्वारा प्राप्त सुविधाएँ मनुष्य को सुखी और समृद्ध नहीं बना सकतीं; किन्तु प्रयत्न जडोन्मुख नहीं होना चाहिए, चिन्मुख होना चाहिए। यदि जड़ ही लक्ष्य हो जायेगा, तो वह मनुष्य की वास्तविक मनुष्यता को ही दबोच देगा। मनुष्य का समस्त आहार-विहार, समस्त मन और प्राण चिन्मुख होकर सार्थक होता है, जडोन्मुख होकर अपने लिए और दूसरों के लिए कष्ट-कारक होता है। शरीर भी जड़-प्रकृति का विकार है, मन भी, बुद्धि भी। और बाह्य प्रकृति में दृश्यमान पदार्थ तो जड़ हैं ही। चित् के संयोग के द्वारा ही इनमें विभिन्न गुणों का विकास हो रहा है।

यान्त्रिकता का अभिशाप : इसलिए केवल इन्द्रियों के स्तर पर, मन के स्तर पर और बुद्धि के स्तर पर किये गये काम यद्यपि उत्तरोत्तर अच्छे होंगे, परन्तु अन्ततोगत्वा द्वन्द्व और संघर्ष ही पैदा करेंगे। आज मशीन केवल स्थूल रूप में ही हमारी सभ्यता को यन्त्र-चालित नहीं बना रही है, हमारे सामाजिक संघटन और बौद्धिक विवेचन भी यान्त्रिकता का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं। इसका कारण केवल जड़-तत्त्व को प्रधानता देनेवाली वृत्ति है। इसलिए सन्तों और भक्तों की वाणी का आज भी उपयोग है। वह मनुष्य पर मशीन के प्रभुत्व का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है कि जड़ोन्मुखी यान्त्रिकता नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज है। सिर्फ मानवतावाद एक अस्पष्ट और लक्ष्यहीन तत्त्ववाद है। चिन्मुखी मानवता का सिद्धान्त स्पष्ट और सोद्देश्य

विचारवाद है। यद्यपि सन्तों की वाणी में ठीक इन्हीं शब्दों में यह वाणी नहीं कही गयी है, परन्तु मन्त्र-तन्त्र की जटिल साधना को जिस प्रकार सहज-साधना में इन लोगों ने विकसित किया है, उसकी तर्क-संगत परिणति यही है। इसलिए समस्त मानवीय प्रयत्नों को यह विचारधारा एक स्पष्ट, सुचिन्तित और सुनिश्चित तत्त्ववाद (फिलासफी) देने में समर्थ है। यह आधुनिक जड़-विज्ञान पर आधारित मानवतावादी सिद्धान्त की पूरक है, विरोधी नहीं। इसीलिए मेरा विश्वास है कि इन मनीषियों के विचारों से आधुनिक विचारधारा समृद्ध और सशक्त हो सकती है।

तथास्तु।

विकास हुआ है। जो कुछ उस चित्-शक्ति के अनुकूल है, वह ग्राह्
कुछ उसके प्रतिकूल है, वह अग्राह्य है, अनाचरणीय है। मध्य-युग
जटिल साधना-विधान को सहज बनाते समय उस मूल तत्त्व को
था। मनुष्य के विकास के अनेक स्तर हैं। ये सब वर्तमान मनुष्य
उपादान का काम कर रहे हैं। इन सन्तों के ग्रन्थों में आचरणीय और
का विशद विचार है। जिनसे सामाजिक मंगल होता है और जिन
समाज जड़िमा के मोह से मुक्त होते हैं, उनके
चिन्मूलक सिद्धान्त है। सारे आचरण-सिद्धान्त का मूल तत्त्व
आचरण चिन्मुख है, वह श्रेष्ठ है। जो प्रयत्न
स्थूल अन्नमय कोष को सुखी बनाने के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे अ
मन्त्र-चैतन्य प्राप्त कर लिया गया हो। अर्थात् जो कुछ किया जा रहा
यह समझा जाता रहा हो कि यह क्यों किया जाता है, उसका प्रभाव
पड़ता है और फिर जो प्रयत्न मनुष्य के अन्नमय, प्राणमय और अ
जो क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं, सुखी बनाने के उद्देश्य से
महत्त्वपूर्ण है, बशर्ते कि इन प्रयत्नों में भी मन्त्र-चैतन्य काम कर
जो विचार और प्रयत्न केवल स्थूल जगत् को दृष्टि में रखकर
स्थूल होता है और द्वन्द्व और संघर्ष को पैदा कर सकता है। परन्
मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है, वह अधिक महत्त्
नहीं कहता कि जड़-विज्ञान द्वारा प्राप्त सुविधाएँ मनुष्य को सु
बना सकती; किन्तु प्रयत्न जडोन्मुख नहीं होना चाहिए, कि
यदि जड़ ही लक्ष्य हो जायेगा, तो वह मनुष्य की वास्तवि
दबोच देगा। मनुष्य का समस्त आहार-विहार, समस्त मन
होकर सार्थक होता है, जडोन्मुख होकर अपने लिए और
कारक होता है। शरीर भी जड़-प्रकृति का विकार है, मन
बाह्य प्रकृति में दृश्यमान पदार्थ तो जड़ हैं ही। चित् के सं
विभिन्न गुणों का विकास हो रहा है।

यान्त्रिकता का अभिशाप. इसलिए केवल इन्द्रियों
स्तर पर और बुद्धि के स्तर पर किये गये काम यद्यपि
परन्तु अन्ततोगत्वा द्वन्द्व और संघर्ष ही पैदा करेंगे। अ
रूप में ही हमारी सभ्यता को यन्त्र-चालित नहीं बना र
संघटन और बौद्धिक विवेचन भी यान्त्रिकता का रूप
इसका कारण केवल जड़-तत्त्व को प्रधानता देनेवाली
और भक्तों की वाणी का आज भी उपयोग है। वह म
का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है
नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज है। सिर्फ म
और लक्ष्यहीन तत्त्ववाद है। चिन्मुखी मानवता का

मध्यकालीन धर्म-साधना

मध्यकालीन धर्म-साधना

निवेदन

'मध्यकालीन धर्म-साधना' यद्यपि भिन्न-भिन्न अवसर पर लिखे गये निबन्धों का संग्रह ही है, तथापि प्रयत्न किया गया है कि ये लेख परस्पर-विच्छिन्न और असम्बद्ध न रहें और पाठकों को मध्यकालीन धर्मसाधनाओं का संक्षिप्त और धारावाहिक परिचय प्राप्त हो जाय। इसलिए कई लेखों में परिवर्तन कर दिया गया है और कई को एकदम नये सिरे से लिखा गया है। दो प्रकार के साहित्य से इन धर्मसाधनाओं का परिचय संग्रह किया गया है—(1) विभिन्न सम्प्रदाय के साधना-विषयक और सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ, और (2) साधारण काव्य-साहित्य। इन दो मूलों के उपयोग के कारण इस पुस्तक में आलोचित अधिकांश धर्म-साधनाएँ शास्त्रीय रूप मे ही आयी हैं। जिन सम्प्रदायों के कोई धर्म-ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं या जो साधारण काव्य-साहित्य में नही आ सकी है, वे छूट गयी हैं। लोकधर्म की चर्चा इस पुस्तक में यत्रतत्र आ अवश्य गयी है, परन्तु वह इस पुस्तक का प्रधान प्रतिपाद्य नही है।

मेरा विश्वास है कि जनपदों मे प्रचलित लोकधर्म की अनेक पूजा-पद्धतियाँ, देवता-मण्डलियाँ और धार्मिक विश्वासों की परम्परा दीर्घकाल से चलती आ रही हैं। शास्त्रीय धर्म-साधना के साहित्य से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। कहीं-कहीं पुस्तक में इस प्रकार के संकेत दिये गये है, परन्तु यह विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसके लिए अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार करके स्वतन्त्र पुस्तक लिखने की आवश्यकता है।

हमारे देश की धर्म-साधना का इतिहास बहुत विपुल है। विभिन्न युग की सामाजिक स्थितियो से भी इसका सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न समयो मे बाहर से आनेवाली मानव-मण्डलियों के सम्पर्क से इसमे नये-नये उपादान भी मिलते रहे हैं। धर्म-साधना की चर्चा करते समय इन सब बातों की चर्चा आवश्यक हो जाती है। इस पुस्तक मे बहुत थोड़ी बातों की चर्चा हो सकी है। फिर भी प्रयत्न किया गया है कि उत्तर भारत की प्रधान-प्रधान धर्म-साधनाएँ यथासम्भव विवेचित हो जायें और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि का भी सामान्य परिचय मिल जाय।

विषय की विशालता और गहनता के विषय में दो राय नहीं हो सकती और इस छोटी-सी पुस्तक में उनका बहुत सामान्य परिचय दिया जा सकता है, यह भी असन्दिग्ध ही है। मुझे कुछ और अवकाश मिलता तो इसका किंचित् मार्जन कर सकता, परन्तु अभी तो जितना बन पड़ा उतना ही पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ। सहृदय पाठक इसके दोषों और त्रुटियों के लिए क्षमा करेंगे, यह भरोसा मेरे मन में है। इसी आशा में इसे प्रकाशित करने का साहस कर रहा हूँ।

काशी
17 5 52

हजारीप्रसाद द्विवेदी

मध्ययुग या मध्यकाल

'मध्ययुग' या 'मध्यकाल' शब्द भारतीय भाषाओं में नया ही है। इस देश के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के किसी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। बहुत प्राचीनकाल से भारतवर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नाम के चार युगों की चर्चा मिलती है। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में भी इन शब्दों का प्रयोग मिल जाता है। धार्मिक मनोवृत्ति की प्रबलता या क्षीणता ही इस प्रकार के युगविभाजन के विश्वास का आधार है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कृत या सत्ययुग में धर्म की पूर्ण स्थिति थी। त्रेता में तीन-चौथाई रह गयी और द्वापर में आधी। कलिकाल में धर्म का प्रभाव और भी क्षीण हुआ और वह एक ही चरण पर खड़ा रह गया। अनेक विद्वानों ने महाभारत और पुराणों के अध्ययन से यह निर्णय करने का प्रयत्न किया है कि कलिकाल का आरम्भ किस समय से हुआ था। हिन्दू परम्परा के अनुसार कलिकाल राजा परीक्षित के राज्यकाल में आरम्भ हुआ था। यद्यपि हिन्दू-परम्परा इस काल को पाँच हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व से आरम्भ होना बताती आ रही है, तथापि नयी दृष्टि के पण्डितों ने आर्य राजाओं की वंशावली के आधार पर सन् ईसवी के एक सहस्राब्दक पूर्व से इस काल का आरम्भ माना है। साधारणतः इस काल के बाद राजाओं का उल्लेख पुराणों में भविष्यकालिक क्रिया के प्रयोग द्वारा किया गया है। यह माना जाता है कि कलियुग मे मनुष्यों की प्रवृत्ति पापकर्मों की ओर हो जाती है और उनका आयुबल क्षीण हो जाता है और ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यो मनुष्यों की पापाभिमुख प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। यद्यपि कलिकाल के दोष अनेक हैं, फिर भी उसमें एक बड़ा भारी गुण भी है। अन्यान्य युगो मे मानस-पाप का भी फल मिलता है, किन्तु कलियुग में मानस-पाप का फल तो मिलता ही नही, ऊपर से मानस-पुण्य का फल प्रचुर मात्रा में मिलता है। अनजान में भी यदि भगवान् का नाम ले लिया जाय तो मुक्ति हो जाती है। अजामिल, गणिका आदि इस प्रकार तर गये थे। भाव से हो, कुभाव से हो, क्रोध से हो, घृणा से हो, उत्साह से हो, आलस्य से हो, जैसे-तैसे भी भगवान का नाम ले लेने से इस युग मे मंगल ही होता है।

लेकिन इस विश्वास के अनुसार कलियुग अन्तिम युग है। आजकल के शिक्षित लोग जब मध्ययुग या मध्यकाल शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उनके कहने का अभिप्राय भारतीय परम्परा के युग-विभाग के अनुसार बीच में पड़नेवाले द्वापर या त्रेता युग से नहीं होता। वस्तुतः यह शब्द अंग्रेजी के 'मिडल एजेज' के अनुकरण पर बना लिया गया है। यूरोपीय इतिहास में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक अभ्युदय के पूर्व तक के काल को मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमीय विचारकों ने साधारणतः सन् 476 ई. से लेकर 1553 ई. तक के काल को मध्ययुग कहा है। हाल की जानकारियों से यह मालूम हुआ है कि इस प्रकार के नामकरण का कोई विशेष उल्लेख योग्य कारण नहीं था। असल बात यह है कि मध्ययुग शब्द का प्रयोग काल के अर्थ में उतना नहीं होता जितना एक खास प्रकार की पतनोन्मुख और जकड़ी हुई मनोवृत्ति के अर्थ में होता है। मध्ययुग का मनुष्य धीरे-धीरे विशाल और असीम ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का भाव छोड़ता जाता है तथा धार्मिक आचारों और स्वतःप्रमाण माने जानेवाले आप्त वाक्यों का अनुयायी होता जाता है। साधारणतः इन्हीं की बाल की खाल निकालनेवाली व्याख्याओं पर अपनी समस्त बुद्धि-सम्पत्ति खर्च कर देता है। यूरोपीय इतिहास के इसी युग में यह शास्त्रार्थ प्रबल रूप धारण करता है कि सुई की नोक पर कितने फरिश्ते खड़े हो सकते हैं।

इस काल की साधना का वैशिष्ट्य

प्रत्येक युग के साधक भगवान् के दो रूपों का अनुभव करते रहे हैं। एक तो उनका निर्गुण और निर्विशेष रूप है जो ज्ञान का विषय है। मनुष्य उसको ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि इस क्रिया के जितने भी साधन हैं उनके पहुँच की सीमा निश्चित है। जो समस्त सीमाओं से परे है वह केवल अनुमान और तर्क का विषय हो सकता है। यद्यपि इसमें सन्देह ही है कि बौद्धिक विवेचना के द्वारा उसका कितना अंश सचमुच ही स्पष्ट होता है। प्रत्येक युग का और प्रत्येक देश का साधक भगवान् के इस निस्सीम और अचिन्त्य गुण-प्रकाश रूप की बात जानता है। कैसे जानता है, यह बताना बड़ा कठिन है, क्योंकि जो असीम और अचिन्त्य है, उसको अनुभव करने के लिए कुछ इसी प्रकार के साधन की आवश्यकता है। मनुष्य-जीवात्मा में कुछ इसी प्रकार के धर्म विद्यमान है। वस्तुतः जब भक्त भगवान् के असीम अचिन्त्य गुण-प्रकाश रूप की बात करता है तो वह ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव की बात नहीं करता, मन द्वारा चिन्तित वस्तु की बात नहीं करता और बुद्धि द्वारा विवेचित पदार्थ की बात नहीं करता। वह इन सबसे भिन्न और सबसे अलग किसी ऐसे तत्त्व की बात कहता है जिसे उसकी अन्तरात्मा अनुभव करती है। वह सत्य है क्योंकि उसे भक्त सचमुच ही अनुभव करता है, लेकिन वह फिर भी ग्राह्य नहीं है, न तो वह मन-बुद्धि द्वारा ग्रहणीय है और न वाणी द्वारा प्रकाश्य।

जब कभी वह भक्त के हृदय में प्रकट होता है, तभी भक्त के हृदय की समस्त सीमाओं में बँधकर सगुण निर्विशेष रूप में ही व्यक्त होता है। यही भक्त का भाव-गृहीत रूप है।

इस प्रकार भगवान् के दो रूप हुए। एक तो वह जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते, व्याख्या नहीं कर सकते, विवेचना नहीं कर सकते। दूसरा वह जो भक्त के चित्त में भाव से प्रकट होता है और उसके समस्त मनोविकारों के बन्धन में बँधा रहता है। आधुनिक लेखक इस मनोवृत्ति के आधार पर ही इस युग-सीमा का निर्धारण करना चाहते हैं। जब वह कहते हैं कि पाँचवीं से सोलहवीं शताब्दी तक के काल को मध्ययुग कहने का कोई विशेष कारण नहीं है तो असल में वे यह बताना चाहते हैं कि इस काल में सर्वत्र यह पतनोन्मुख और जबदी हुई प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। फिर भी मध्ययुग का सीधा अर्थ काल ही हो सकता है, और इसीलिए पाँचवीं से सोलहवीं तक के समय को मध्ययुग कहना बहुत-कुछ रूढ़ हो गया है। भारतीय इतिहास के लेखकों में से किसी-किसी ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है और किसी-किसी ने मनोवृत्तिपरक अर्थ लेकर इस काल को अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक घसीटा है, क्योंकि भारतवर्ष में आधुनिक मनोवृत्ति का जन्म अठारहवीं शताब्दी के बाद ही होता है। इस अर्थ में प्रयोग करनेवाले विद्वानों की कठिनाई यह है कि जिस प्रकार आधुनिक मनोवृत्ति के जन्म का निश्चित समय मालूम है, उसी प्रकार मध्ययुगीन मनोवृत्ति के जन्म का भारतीय काल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप के देशों की तरह इस देश में भी मध्यकाल में एक जबदी हुई मनोवृत्ति का राज्य रहा है। काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, मूर्ति आदि जिस क्षेत्र में भी दृष्टि जाती है, सर्वत्र एक प्रकार की अधोगति का ही आभास मिलता है। इस सार्वत्रिक अधोगति का कारण इस देश की राजनीतिक स्थिति थी। कारण जो भी हो, मध्ययुग ह्रास का ही युग है। इसमें केवल एक बात में भारतवर्ष पीछे नहीं हटा। वह है भगवद्भक्ति का क्षेत्र। उत्तर-मध्य काल में बहुत बड़े-बड़े भक्त इस देश के हर हिस्से में पैदा हुए हैं। इनमें कितने ही बहुत उच्चकोटि के विचारक तत्त्वज्ञानी थे। परन्तु अधिकांश निरक्षर साधकों की ही प्रधानता रही। भारतवर्ष के इन भक्तों ने निश्चित रूप से दिखा दिया है कि साक्षर होने से ही कोई भगवद्भक्ति का अधिकारी नहीं हो जाता और निरक्षर होने मात्र से कोई उस महारस से वंचित भी नहीं हो जाता। भक्त की मनोवृत्ति के अनुसार कभी वह सखा रूप में, कभी प्रिय रूप में, कभी स्वामी रूप में और कभी अन्यान्य रूपों में प्रकट होता है।

मध्ययुग के भक्तों ने इस भाव-गृहीत रूप का बड़ा विशद वर्णन किया है। जो भगवान् अचिन्त्य है उसका कोई नाम-रूप नहीं होता। ज्ञानी लोग उसको आत्मा या ब्रह्म जैसे एक ही शब्द से समझा सकते हैं, क्योंकि उनके मत से मनुष्य की जीवात्मा परब्रह्म से अभिन्न है। परन्तु ऐसे परमात्मा का नाम भी क्या और

रूप भी गया ? कुछ ऐसे ही भाव को बताने के लिए मौजी कबीर ने कहा था—"उनका नाम कहन को नाही दूजा धोखा होय।" नाम रूप की अपेक्षा रखता है। जिस वस्तु का रूप नही होता उसका नाम भी नहीं होता। परन्तु मध्ययुग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। मध्ययुग की समस्त धर्म-साधना को नाम की साधना कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम जप के बारे में किसी को कोई सन्देह नही। इस अपार भवसागर मे एकमात्र नाम ही नौका रूप है। यद्यपि ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ भगवान् का वास न हो और मनुष्य का हृदय भी निस्सन्देह उसका आवास है। फिर भी जब तक वह नाम और रूप के साँचे में नही ढल जाता अर्थात् सगुण और सविशेष रूप मे नही प्रकट हो जाता तब तक वह ग्राह्य भी नही। इसीलिए भक्तों के नाम-स्मरण का स्पष्ट अर्थ है, भगवान् के भावगृहीत रूप का स्मरण। ब्रह्मसंहिता मे कहा है कि यद्यपि भगवान् का गुण और प्रकाश अचिन्तनीय है और सबके हृदय में रहता हुआ भी वह सबके अगोचर रहता है—कम लोग ही उसके हृदय-स्थित रूप को जान जाते हैं—तथापि सन्त लोग प्रेमांजन से विच्छुरित भक्ति-रूप नयनों से सदैव उसका दर्शन करते रहते हैं, अर्थात् जो अरूप होने के कारण दृष्टि का अविषय है उसे प्रेम के अंजन से अनुरंजित करके विशिष्ट बनाकर देखा करते हैं :

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽप्यवलोकयन्ति।
यं श्याम सुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

भगवान् का यह प्रेमांजनच्छुरित रूप भक्त की अपनी विशेषता है। यह उसे सिद्धिवादियों से अलग कर देता है, योग के चमत्कारो को ही सब कुछ माननेवालों से पृथक् कर देता है और शुष्क ज्ञान के कथनी-कथनेवालों से भी अलग कर देता है। *यह नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन भक्तों की अपनी विशेषता है।* यह बात बौद्ध और जैन साधकों मे नही थी, नाथ और निरंजन मत के साधकों मे भी नहीं थी और अन्य किसी शुष्क ज्ञानवादी सम्प्रदाय में भी नही थी। जप की महिमा का बखान इस देश में नया नही है। गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने 'यज्ञानांजप यज्ञोऽस्मि' कहकर जप की महिमा बतायी है, पर साधारणतः जप मन्त्र-विशेष का हुआ करता था। भगवान् के नाम को ही सबसे बड़ा मन्त्र मानना और उसी के जप को समस्त सिद्धियों का मूल मानना इस युग की विशेषता है, और इस विशेषता ने ही भगवान् के भावगृहीत रूप को इतना महत्त्व दिया है। भगवान् के सगुण रूप की उपासना के मूल मे यह भावगृहीत रूप ही है, अन्तर केवल इतना ही है कि भावगृहीत रूप भगवान् के पूर्वनिर्धारित किसी रूप को आश्रय करके होता है। इस प्रकार यद्यपि सूरदास के कृष्ण और हित हरिवंश के भावगृहीत रूप मे थोड़ा अन्तर हो सकता है, परन्तु है वह एक ही शास्त्र-समर्थित

श्रीकृष्ण के मधुर रूप पर आधारित। वस्तुतः निर्गुण कहे जानेवाले रूप मे भगवान् की उपासना करनेवाला भक्त भी भगवान् के इस भावगृहीत गुण-विशिष्ट रूप को ही अपनाता है। फिर भी उसकी विशेषता यह है कि उसका भावगृहीत रूप किसी पूर्वनिर्धारित और शास्त्र-समर्थित आकार को आश्रय करके नहीं होता।

मध्ययुग में इस भाव ने अनेक विचित्र रूपों मे अपने को प्रकाशित किया है। इसीलिए इस युग का साहित्य भक्ति के रस से अत्यन्त सरस हो गया है और भगवान् के भावगृहीत रूपों के वैचित्र्य के कारण अनेक रूपों मे प्रकट हुआ है। इस सरसता और वैचित्र्य के कारण ही इस युग का साहित्य इतना आकर्षक बना है।

धर्म-साधना का साहित्य

यूरोप के इतिहास के जिस काल को मध्ययुग कहा जाता है, उसके प्रारम्भिक शताब्दकों को भारतीय इतिहास का 'स्वर्णयुग' कहा जाता है। यद्यपि यह बात सम्पूर्ण रूप से तथ्य के अनुकूल नहीं कही जा सकती, तथापि इतना तो सत्य है ही कि भारतीय इतिहास में गुप्त नरपतियों का उत्कर्षकाल बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। सन् ईसवी की पहली शताब्दी से मथुरा के कुषाण सम्राटों के शासन सम्बन्धी चिह्नों का मिलना एकदम बन्द हो जाता है। इसके बाद के दो-तीन सौ वर्षों का काल अब तक भारतीय इतिहास का अन्धयुग ही कहा जाता रहा है। हाल ही में इस काल के अनेक तथ्यों का पता चला है, किन्तु धारावाहिक इतिहास लिखने की सामग्री अब भी पर्याप्त नहीं कही जा सकती। धीरे-धीरे विद्वान् *अन्वेषक कुछ-न-कुछ नये तथ्यो का संग्रह करते जा रहे है। यह 'अन्धकार युग'* शब्द भी यूरोपियन पण्डितों के दिमाग की ही उपज है। यदि राजाओं और राजपुरुषों का नाम ही इतिहास न समझा जाय तो इस काल को 'अन्धकार युग' नहीं कहा जा सकता। धर्म और दर्शन आदि के जो ग्रन्थ परवर्ती डेढ़ हजार वर्षों के इतिहास को प्रभावित करते रहे हैं, उनका बीजारोपण इसी काल मे कही हुआ था। 'मनु-स्मृति' का नवीन रूप सम्भवतः इसी काल की देन है। सूर्य-सिद्धान्त का पुराना रूप इसी काल मे बना होगा। अश्वघोष ने सम्भवतः इसी काल में अपनी नयी काव्यशैली का आरम्भ किया और परवर्ती नाटकों, प्रकरणो और अन्यान्य रूपको को प्रभावित करनेवाला भारतीय नाट्यशास्त्र भी इसी काल में लिखा गया था, तथा परवर्ती काव्यों को दूर तक प्रभावित करनेवाला वात्स्यायन

का 'कामसूत्र' इसी काल में सम्पादित हुआ था। हम आगे चलकर देखेंगे कि दर्शन और धर्म-साधना के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों और सम्प्रदायों की स्थापना इसी काल मे हुई। इस प्रकार परवर्त्ती भारतवर्ष को जो रूप प्राप्त हुआ, वह अधिकांश मे इसी काल की देन है।

सन् 220 ई. में मगध का प्रसिद्ध पाटलिपुत्र चार सौ वर्षों की गाढ़ निद्रा के बाद एकाएक जाग उठा। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसकी शक्ति लिच्छवियों की राजकन्या से विवाह करने के कारण बहुत बढ़ गयी थी, अचानक प्रबल पराक्रम के साथ उठ खड़ा हुआ और उत्तर भारत के विदेशियों को उखाड़ फेंकने मे समर्थ हो गया। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने और भी प्रचण्ड विक्रम का परिचय दिया। अनेक मदगर्वित सामन्तों और बलदर्पित शासकों का मान-मर्दन करके उसने उत्तर भारत को निष्कण्टक-सा बना दिया। उसका पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य पिता के समान ही प्रतापशाली सिद्ध हुआ। इसका सुव्यवस्थित साम्राज्य पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैला हुआ था। इस समय ब्राह्मण धर्म नया तेज और नया यौवन पाकर बड़ा शक्तिशाली हो गया।

वस्तुत: यूरोप के इतिहास में जहाँ से मध्ययुग का प्रारम्भ हुआ था वहाँ भारतीय इतिहास मे नवीन उत्साह और नवीन जोश का उदय हुआ। संस्कृत भाषा ने नयी शक्ति प्राप्त की और समूचे देश में एक नये ढंग की जातीयता की लहर दौड़ गयी। इस काल में राज्यकार्य से लेकर साहित्य, धर्म और सामाजिक विधि-व्यवस्था तक में एक विचित्र प्रकार की क्रान्ति का पता लगता है। पुराने शासक लोग राज-कार्य के लिए जिन शब्दो का व्यवहार करते थे, उन्हें छोड़ दिया गया। कुषाण नरपतियों ने जिस गान्धारशैली की मूर्त्तिकला को बहुत सम्मान दिया था, वह एकदम उपेक्षित हो गयी। वस्तुत: आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार, क्रियाकाण्ड सभी विषयों पर इस युग की अमिट छाप है। इस काल को और चाहे जो कहा जाय, पतनोन्मुखी और जवदी हुई मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता। जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निस्सन्दिग्ध रूप मे प्रामाणिक मानी जाती है उनका सम्पादन अन्तिम रूप में इस काल में हुआ था। जो काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिकाएँ गुप्त काल में रची गयीं, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त मुग्ध कर रही हैं। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए, वे सैंकड़ों वर्ष बाद आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं। इस काल को भारतीय उन्नति के स्तब्ध हो जाने का काल नहीं कहा जा सकता।

लेकिन विक्रम की छठी शताब्दी के बाद भारतीय धर्म-साधना में एक नयी प्रवृत्ति का उदय अवश्य होता है। इस समय से भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र मे उस नये प्रभाव का प्रमाण मिलने लगता है जिसे संक्षेप में 'तान्त्रिक प्रभाव' कह सकते हैं। केवल ब्राह्मण ही नहीं, जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी यह प्रभाव

स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। बौद्ध धर्म का अन्तिम रूप तो इस देश में तान्त्रिक ही रहा। दसवीं शताब्दी के आसपास आते-आते इस देश की धर्म-साधना बिल्कुल नये रूप में प्रकट होती है। निस्सन्देह यहाँ से भारतीय मनीषा के उत्तरोत्तर संकोचन का काल आरम्भ होता है। यह अवस्था अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही, उसके बाद भारतवर्ष फिर नये ढंग से सोचना आरम्भ करता है। सच पूछा जाय तो विक्रम की दसवीं शताब्दी के बाद ही भारतीय इतिहास का वह काल आरम्भ होता है जिसे संकोचनशील और स्तब्ध मनोवृत्ति का काल कहा जा सकता है। यह सत्य है कि मध्यकाल में कोई भी ऐसी प्रवृत्ति कठिनाई से मिलेगी जिसका बीजारोपण किसी-न-किसी रूप में पूर्ववर्ती काल में न हो गया हो। परन्तु धर्म-साधना का इतिहास जीवन्त वस्तु है और जब हम किसी प्रवृत्ति को नयी कहते हैं, तो हमारा मतलब केवल इतना ही होता है कि यह प्रवृत्ति कुछ विशेष ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से अत्यन्त प्रबल होकर प्रकट हुई थी।

एक विशिष्ट प्रवृत्ति

दसवीं शताब्दी के आसपास एक विशिष्ट मनोवृत्ति का प्राधान्य भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में स्थापित होता है, यद्यपि यह नयी नहीं है। कम-से-कम विक्रम की छठी शताब्दी से निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के रहने का प्रमाण मिलता है। विरोधी मतों को 'अवैदिक' कहकर हेय सिद्ध करना इस प्रवृत्ति का प्रधान स्वरूप है। छठी से लेकर दसवीं शताब्दी तक का भारतीय साहित्य बहुत विशाल है, तो भी धर्म-साधना के इतिहास की दृष्टि से वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अधिकांश में हमें साम्प्रदायिक ग्रन्थों पर निर्भर करना पड़ता है। यह उल्लेख योग्य है कि सभी धार्मिक सम्प्रदाय अपने ग्रन्थ नहीं छोड़ गये हैं। कुछ ने तो शायद ग्रन्थ लिखा ही नहीं और कुछ ने अगर लिखा भी तो वह प्राप्त नहीं हो सका। पुरानी पुस्तकों में इन सम्प्रदायों का कुछ-कुछ उल्लेख मिल जाता है। पर इन उल्लेखों से इनका कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता। बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों से जो कुछ पता चलता है, वह केवल अपूर्ण ही नहीं, भ्रामक भी है। सौभाग्यवश बौद्धों के एक बहुत बड़े सम्प्रदाय स्थविरवाद का पूरा साहित्य—जो लगभग तीन महाभारत के बराबर है—प्राप्त हो गया। अन्यान्य सम्प्रदायों के ग्रन्थ भी थोड़े-बहुत मिल गये हैं और चीनी तथा तिब्बती भाषा में अनेक ग्रन्थ अनूदित अवस्था में सुरक्षित हैं। विद्वान् लोग नये सिरे से इन ग्रन्थों को धीरे-धीरे प्रकाश में लाने का प्रयत्न करते हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों में उच्छेद-विनाश या अभाववाद को ही मुख्य बौद्ध सिद्धान्त मानकर खण्डन किया गया है। यदि बौद्ध ग्रन्थों का अन्य देशों से उद्धार न हो सकता तो हमें बौद्ध दर्शन की महिमा का कुछ भी पता न चल पाता। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्धों के नामकरण का रहस्य यह बताया गया है कि ये लोग विभाषा यानी

गड़बड़ भाषा के बोलनेवाले या बे-सिर-पैर की हाँकनेवाले बकवादी हैं, लेकिन असली रहस्य यह नहीं है। भला कोई सम्प्रदाय अपने को बकवादी क्यों कहेगा? असल में विभाषा शब्द का अर्थ है विशिष्ट भाष्य। यह विशिष्ट भाष्य चीनी भाषा में आज भी सुरक्षित है। संस्कृत में इस मत का प्रतिपादक ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ का पहले-पहल चीनी भाषा के टीका के आधार पर फ्रांसीसी में उल्था किया गया था। इस सामग्री के आधार पर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इसके मूल के उद्धार का प्रयत्न किया है और एक संस्कृत टीका भी अपनी ओर से जोड़कर इसे बोधगम्य बना दिया है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अनापशनाप बोलनेवालों' की कृति तो है ही नहीं, बहुत अधिक युक्तिसंगत और माननीय है।

शंकराचार्य ने शून्यवाद को 'सर्वप्रमाण विप्र निषिद्ध' कहकर उपेक्षा योग्य ही समझा था। कुमारिल भट्ट जैसे मेधावी आचार्य ने भी बुद्ध की अहिंसा आदि भली बातों को उसी प्रकार अग्राह्य बतलाया था जिस प्रकार कुत्ते की खाल में रखा हुआ दूध अमेध्य होकर अनुपयोगी हो जाता है। 'श्वदति निक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि' इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वस्तुतः बड़े-से-बड़े आचार्यों के खण्डनात्मक तर्कों और आक्रमणात्मक लेखों को देखकर भी विरोधी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं बनायी जा सकती। बौद्ध धर्म तो फिर भी जीवित मत है और उसके साहित्य के उपलब्ध हो जाने से इसके विषय में ठीक-ठीक धारणा बना ली जा सकती है। परन्तु ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय हैं जिनकी न तो किसी जीवित परम्परा का पता चलता है और न कोई साहित्य ही उपलब्ध हो सकता है। विरोधी मतवालों ने उनका थोड़ा-बहुत विकृत परिचय दिया है, परन्तु ऊपर के उदाहरणों को देखकर जान पड़ता है कि हम इन विकृत परिचयों के आधार पर विशेष अग्रसर नहीं हो सकते।

एक ऐसा सम्प्रदाय नीलपटों या नीलाम्बरों का था। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक जैन प्रबन्ध में इन दर्शनियों की चर्चा है। इनकी साधना-पद्धति के विषय में जितना कुछ कहा गया है, उससे लगता है कि ये लोग अत्यन्त निचली श्रेणी के भोगपरक धर्म का प्रचार करते थे। खाओ-पियो और मौज करो, यही उनका आदर्श था। पुरुष और स्त्री के जोड़े नग्न होकर एक ही नीले वस्त्र में लिपटे रहते थे। ऐसे ही एक जोड़े में राजा भोज की एक कन्या ने धर्म-विषयक प्रश्न किया जिस पर 'दर्शनी' ने उस वामलोचना को उपदेश दिया कि 'खाओ-पियो और मौज करो'। जो बीत गया सो कभी नहीं लौट सकता। अगर तुमने तप किया और कष्ट उठाया तो वह तुम्हारे लिए बिल्कुल बेकार है, क्योंकि वह जो गया सो गया। असल बात यह है कि यह शरीर जड़तत्त्वों का संघात-मात्र है, इसके आगे कुछ भी नहीं है :

'पिब खाद च वामलोचने यदतीतं वरगात्रि तन्न ते।
नहि भीरु गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥'

—'पुरातन प्रबन्ध', पृ. 19

राजा भोज को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने इस सम्प्रदाय का उच्छेद कर दिया। खोज-खोज करके नीलपटों के सभी जोड़े हमेशा के लिए समाप्त कर दिये गये। भारतीय साहित्य में इन नीलपटों की कोई चर्चा नहीं आती। इस विवरण से तो इनके विषय में घृणा ही उत्पन्न होती है। यह श्लोक पुराना है। 'सर्वदर्शनसमुच्चय' की टीका में इसे लोकायत मत के माननेवालों की उक्ति कहा गया है। सौभाग्यवश इस सम्प्रदाय का एक और भी विवरण का सिंहल (सीलोन) के 'निकायसंग्रह' से श्री राहुल सांकृत्यायन ने उद्धार किया है। यह कहानी भी राजा भोज के काल के कुछ ही पहले की है। कहा गया है कि राजा मतवलसेन, जिनका राज्यकाल 846-66 ईसवी है, के समय वज्र-पर्वत-निकाय का एक भिक्षु सिंहल में आया और वीरांकुर विहार में रहने लगा। उसके प्रभाव में आकर राजा ने वजिरिय (वज्रयान) मत को स्वीकार किया। इसी से लंका में रत्नकूट आदि ग्रन्थों का प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बाद के राजा ने यद्यपि वजिरिय के बारे में कुछ कड़ाई दिखायी, पर इन सिद्धान्तों के गोप्य रहने के कारण वे बचे ही रहे। राहुलजी का कहना है कि तिब्बत के रंगीन चित्रों में आतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) आदि भारतीय भिक्षुओं के चीवर के नीचे जो नीले रंग की एक जाकेट-जैसी चीज दिखती है, उसका कारण 'निकाय संग्रह' में इस प्रकार दिया हुआ है—जिस समय कुमारदास सिंहल में राज कर रहे थे, उन्हीं दिनों दक्षिण मथुरा में श्रीहर्ष नामक राजा का राज्य था। उस समय सम्मितीय निकाय का एक दुःशील भिक्षु नीला वस्त्र धारण करके रात को वेश्या के घर गया। उसके प्रातःकाल लौटने में देर हो गयी। जब विहार के शिष्यों ने उसके वस्त्र का कारण पूछा तो उसने उस नील वस्त्र की बड़ी महिमा बतायी। तभी से उसके शिष्य नीलवस्त्र का व्यवहार करने लगे। 'नीलपटदर्शन' में कहा गया है कि वेश्या, सुरा और काम, ये तीन ही वास्तव रत्न हैं, बाकी सब कांच के टुकड़े हैं। स्पष्ट ही नीलपट दर्शनियों का जो मत 'पुरातन प्रबन्ध' में उद्धृत किया गया है, वह इसी से मिलता-जुलता है। परन्तु यदि राहुलजी के वक्तव्य को ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि इन लोगों का सम्बन्ध वज्रयानियों से था। यह ध्यान देने की बात है कि सम्मितीय निकाय के जिन भिक्षुओं की ऊपर चर्चा आयी है, उनका महायान मत की स्थापना में बड़ा हाथ रहा है ('गंगा', पुरातत्त्वांक)। यह नीलपट सम्प्रदाय यदि वज्रयान से सम्बद्ध था तो निश्चय ही बड़ा शक्तिशाली था और उसका साहित्य एकदम खोया हुआ नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट ही यदि जैन प्रबन्ध का विवरण ही हमारे सामने होता तो इस मत के विषय में बहुत भ्रान्त धारणा बनी रहती। ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं जो गलत ढंग से उपस्थित हैं। कितनों ही का तो नाम भी नहीं बचा होगा।

कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनका साहित्य तो उपलब्ध नहीं है, पर परम्परा अभी बची हुई है। नाथमार्ग के बारह पन्थों में से प्रायः सभी जीवित हैं, पर जहाँ

तक मालूम है एक-दो को छोड़कर बाकी का कोई साहित्य नहीं बचा है। इन सम्प्रदायों के साधुओं और गृहस्थों में अपने प्रतिष्ठाता के सम्बन्ध में कुछ कथाएँ बची हुई है। किसी-किसी के स्थापित मठ और मन्दिर वर्त्तमान हैं, उनमें कुछ विशेष ढंग के अनुष्ठान होते हैं। इन लोक-कथाओं और अनुष्ठानों के भीतर से इन सम्प्रदायों की विशेषता का कुछ पता चलता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो अनुष्ठानों और लोक-कथाओं पर से उन पूर्ववर्त्ती मतों का भी पता चल जाता है जो या तो इन परवर्त्ती मतों के विरोधी थे या इन्हीं में घुलमिल गये हैं! आगे हम इस प्रकार के कई धर्ममतों का उल्लेख करेंगे। इसीलिए भारतीय धर्म-साधना का अध्ययन बहुत जटिल और उलझा हुआ कार्य है। इसे सुचारु रूप से करने के लिए केवल लिखित साहित्य से काम नहीं चल सकता। लोक-कथा, मूर्त्ति और मन्दिर, साधुओं के विशेष-विशेष सम्प्रदाय, उनकी रीति-नीति, आचार-विचार और पूजा-अनुष्ठान आदि की जानकारी परम आवश्यक है। परन्तु इस दृष्टि से बहुत कम काम हुआ है। जो कुछ हुआ है वह अधिकतर विदेशी विद्वानों के परिश्रम का फल है। इसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। यह ठीक है कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है परन्तु जो कुछ भी उन्होंने किया है वह हमारे काम तो आता ही है।

आस्तिक और नास्तिक

इस काल के धर्म को दो मोटे विभागों में बाँट लिया जा सकता है: आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक भी दो श्रेणियों के है। एक वे जो वेद को प्रमाण मानते हैं, दूसरे वे जो वेद से अपने मत के समर्थित या असमर्थित होने की परवा नहीं करते। ये नास्तिक तो नहीं हैं, पर वेद-विरोधी अवश्य हैं। मनु ने वेद-निन्दक को ही नास्तिक कहा है, परन्तु जैसा कि कुल्लूक भट्ट ने मनु की टीका में (4-163) इस शब्द की व्याख्या की है, नास्तिक शब्द का प्रचलित अर्थ था परलोक में विश्वास न करनेवाला। उन दिनों अपने विरोधी मतों को अवैदिक और नास्तिक कहकर लोकचक्षु में हीन सिद्ध करने की चेष्टा की जाती थी। सातवीं शताब्दी के बाद यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर प्रबल होती गयी। श्रीकृष्ण धूर्जटि मिश्र ने 'सिद्धान्त चन्द्रोदय' में छः नास्तिक सम्प्रदायों के नाम गिनाये हैं: (1) चार्वाक, (2-5) चार बौद्धमत अर्थात् माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक, तथा (6) दिगम्बर (जैन)। परन्तु भिन्न-भिन्न मत के ग्रन्थों की जाँच की जाय तो नास्तिकों की संख्या और अधिक होगी। जैमिनी विरचित मीमांसा और कपिल सांख्य भी इस अपवाद के शिकार हैं। इस प्रकार वेद माननेवाले निरीश्वर सम्प्रदाय भी हैं।

वेद को अन्तिम प्रमाण माननेवाले धर्ममतों और दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या एक-दो नहीं है। उत्तर मध्यकाल में वेदान्त के अनेक परस्पर विरोधी सम्प्रदाय हुए हैं। सब अपने को श्रुतिसम्मत मानते हैं। अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि अनेक परस्पर-विरोधी मत

ऐसे हैं जो एक ही श्रुति को अपना आधार मानते हैं। कभी-कभी तो एक ही वाक्य पर से ये लोग परस्पर-विरुद्ध अर्थों का समर्थन करते है। आगे चलकर इन विरोधों के परिहार की चेष्टाएँ हुई है। इसी प्रकार शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि अनेक धार्मिक सम्प्रदाय अपने-अपने मतों को वेद-प्रतिपादित बतलाते है। प्रायः ही विरोधी मतों को वेद-विरोधी कहकर हीन सिद्ध करने की प्रवृत्ति है। कूर्म पुराण में कापाल, लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पांचरात्र, पाशुपत आदि को अवैदिक बताया गया है। एक मजेदार बात यह है कि प्रायः ही शिवजी या स्वयं विष्णु भगवान के मुख से कहलवाया गया है कि उन्होंने असुरों को पथभ्रान्त बनाने के लिए मोह-शास्त्रों की रचना की थी। कूर्म पुराण के सोलहवें अध्याय मे कहा गया है कि शिवजी की प्रेरणा से विष्णु ने ही कापाल, लाकुल, वाम, भैरव आदि हजारों मोहशास्त्रों की रचना की थी।

चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः।
कापालं लाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम्।
पाञ्चारात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः।

शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य में पाशुपतों और महेश्वरों को बाह्य ही माना था (2-2-37)। स्वयं शंकराचार्य भी इसी आक्षेप के अधिकारी बने हैं। साख्य-प्रवचन भाष्य मे 'पद्मपुराण' के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये है जिनमें शिवजी ने पार्वती को सम्बोधन करके कहा है कि हे देवि, मायावाद बड़ा असत् शास्त्र है। मैंने ही कलियुग में ब्राह्मण का रूप धारण करके इस शास्त्र की रचना की है। इसमे मैंने श्रुतिवाक्यों का गलत अर्थ किया है और कर्म स्वरूप की त्याज्यता का प्रतिपादन किया है। सर्व कर्मों के परिभ्रंश को बताकर नैकर्म्य भावना का मैंने समर्थन किया है। वह प्रच्छन्न बौद्ध मत है :

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्ध मेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयन् लोकगर्हितम्।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते॥
सर्वकर्मपरिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते।
परमात्माजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते॥

उस काल के साहित्य से अनेक ऐसे उदाहरण खोजे जा सकते हैं। उत्तर-कालीन मध्ययुग में तो यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए एक भाष्य का होना अत्यन्त आवश्यक माना जाने लगा था। भाष्य या तो उपनिषदों पर या ब्रह्मसूत्र (बादरायण के वेदान्त सूत्र) पर या गीता पर होना चाहिए था। इनको 'प्रस्थानत्रयी' कहा जाता था। किसी सम्प्रदाय के पास तीनों के भाष्य हैं, किसी के पास दो के, और किसी-किसी के पास केवल एक का ही। उत्तर मध्ययुग में भाष्यहीन सम्प्रदाय अवैदिक समझ लिया जाता था। कहते हैं कि अपना भाष्य न होने के कारण अचिन्त्य भेदाभेदवादी गौड़ीय वैष्णवों को एक बार जयपुर में

कठिनाई में पड़ना पड़ा था। बलदेव विद्याभूषण ने पण्डित सभा में मोहलत माँगी थी और उपास्य मूर्ति की कृपा से अल्प काल ही में वेदान्तसूत्र पर भाष्य लिख डाला था।

वेद-विरोधी स्वर

एक ओर वेदों को एकमात्र अविसंवादी प्रमाण मानने की प्रवृत्ति जिस प्रकार तीव्र रूप धारण करती जाती थी, दूसरी ओर उसकी उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया भी चल रही थी। कितने ही तान्त्रिक मतों ने अपने को खुल्लमखुल्ला वेद-विरोधी सम्प्रदाय घोषित किया और दृढ़ कण्ठ से समस्त वैदिक मतों का प्रत्याख्यान किया। प्रतिक्रिया इतनी उग्र थी कि अत्यन्त सहज बात को भी वे लोग भड़कानेवाली भाषा में करते थे और हर प्रकार से वैदिक मार्ग का उलटा सुनायी देनेवाला वक्तव्य देते थे। सब समय उसका अर्थ उलटा होता नहीं था। वह बहुत-कुछ भड़कानेवाली भाषा में जान-बूझकर कहा जाता था, परन्तु उसका वास्तविक अर्थ उतना भड़कानेवाला नहीं हुआ करता था।

विक्रम की छठी शताब्दी के बाद जो तान्त्रिक प्रभाव भारतीय साधना के ऊपर पड़ा, वह परवर्ती काल के सन्तों या निर्गुणिया भक्तों की साधना के रूप में प्रकट हुआ। इस साहित्य का बीजारोपण विक्रम की छठी शताब्दी में ही हुआ और विक्रम की नवीं और दसवीं शताब्दी तक वह अंकुरित होता रहा। इसीलिए संक्षेप में इस काल की धार्मिक प्रवृत्तियों का परिचय दे देना आवश्यक है।

वस्तुतः विक्रम की छठी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के धार्मिक इतिहास को परिपूर्ण रूप देने के लिए जो सामग्री उपलब्ध है, वह विशाल होने पर भी पर्याप्त नहीं है। इस कार्य को सम्पन्न करने में अधिकांश साम्प्रदायिक ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, सभी धार्मिक साधक और सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों के उपस्थापक ग्रन्थ लिख ही गये हों ऐसी बात नहीं। ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे और [illegible], जिनका कोई ग्रन्थ बचा नहीं है। किसी सम्प्रदा[illegible] पर [illegible] रहा है, पर ग्रन्थ उनके अनुयायियों के द्वारा [illegible] हैं। [illegible] संख्या का अधिक होना किसी सम्प्रदा[illegible] नहीं है।

समसामयिक साधना-पद्धतियाँ

करती रहती है। इसलिए धार्मिक साधना के इतिहास में छोटी-बड़ी सभी प्रवृत्तियों का महत्त्व रहता है। कभी-कभी शुरू में अत्यन्त मामूली दिखलायी पड़नेवाली भावधारा लोकधर्म का अत्यन्त प्रबल रूप धारण करती हुई देखी गयी है। हमारे आलोच्य काल में तान्त्रिक साधना ने और योगाभ्यास ने बहुत प्रबल रूप धारण किया था। इस काल की धार्मिक साधना के अध्ययन के लिए हमें अधिकांश संस्कृत पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ता है। दक्षिण भारत की लोकभाषा में लिखे हुए भक्तिमूलक ग्रन्थ आगे चलकर जबर्दस्त दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना के कारण हुए हैं। इस तथ्य से यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि अन्यान्य धर्म-सम्प्रदायों और साधना मार्गों के विकास में भी लोकभाषा का हाथ रहा होगा। इस दृष्टि से जितनी पुस्तकें हमें मिलनी चाहिए, उतनी मिली नहीं हैं। फिर जो हैं भी, उन सबका उद्धार भी कहाँ हुआ है?

पांचरात्र साहित्य बहुत प्राचीन और विशाल है। यद्यपि इसके ग्रन्थों की आनुश्रुतिक संख्या 108 ही बतायी जाती है, तथापि दो सौ से भी अधिक संहिताओं का पता चला है। पर अभी तक कुल 13 संहिताएँ ही छपी हैं। उनमें भी नागरी अक्षरों में छः ही उपलब्ध हैं, बाकी तेलुगु या ग्रन्थलिपि में छपी है।[1] शैव आगमों और उपागमों की संख्या 198 बतायी जाती है, पर उनमें से बहुत कम मुद्रित हैं। यही बात धारणियों, स्तोत्रों तथा इसी श्रेणी के अन्य साहित्यों के लिए भी सत्य है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है। इस देश में आज जितनी जातियाँ बसती हैं, वे सभी सदा से आर्यभाषाभाषी नहीं रही हैं। उत्तर भारत में सर्वत्र जनसाधारण की भाषा आर्यभाषा बन गयी है। आर्यों के आने के पहले इस देश में ऐसी अनेक जातियाँ थीं जो आर्येतर भाषा बोला करती थीं। आर्यों के साथ इन जातियों का, किसी भूले हुए युग में, बड़ा कठोर संघर्ष हुआ था। असुरों, दैत्यों, नागों, यक्षों, राक्षसों आदि के साथ आर्यजाति के साथ कठोर संघर्ष की कहानियाँ हैं। उन्होंने धीरे-धीरे आर्यभाषा और आर्य-विश्वास को स्वीकार कर लिया। परन्तु उनके विश्वास और उनकी भाषा ने नीचे से आक्रमण किया तथा आर्यभाषा ऊपर से आर्य बने रहने पर भी उनकी भाषाओं और उनके विश्वासों से प्रभावित होती रही। उनके विश्वासों ने हमारी धर्म-साधना और सामाजिक रीति-नीति को ही नहीं, हमारी नैतिक परम्परा को भी प्रभावित किया। जैसे-जैसे वे जातियाँ आर्यभाषा सीखती गयीं, वैसे-वैसे उन्होंने आर्यों की

1. जयाख्य संहिता (गायकवाड़ सिरीज 54) के सम्पादक ने निम्नलिखित संहिताओं के नाम दिये हैं—अहिर्बुध्न्य संहिता (नागरी), ईश्वर संहिता (तेलुगु), कपिंजल संहिता (ते.), जयाख्य संहिता (नागरी), पाराशर संहिता (ते.), पद्मतन्त्र संहिता (ते.), बृहद् ब्रह्म संहिता (ते.+ना.), भरद्वाज संहिता (ते.), लक्ष्मीतन्त्र संहिता (ते.), विष्णुतिलक (ते.), प्रश्न संहिता (ग्रन्थ लिपि) और सात्वत संहिता (ना.)।

परम्परागत धर्म-साधना और तत्त्व-चिन्ता को भी प्रभावित किया। धीरे-धीरे समूचा उत्तरी भारत आर्यभाषी तो हो गया, पर आर्यभाषी बनी हुई जातियों के सम्पूर्ण संस्कार भी उनमें ज्यों-के-त्यों रह गये। यह ठीक है कि कुछ जातियों ने जल्दी आर्यभाषा सीखी, कुछ ने थोड़ी देर से और कुछ तो जंगलों और पहाड़ों की ऐसी दुर्गम जगहों में जा बसी कि आज भी वे अपनी भाषा और संस्कृति को पुराने रूप में सुरक्षित रखती आ रही हैं। परिवर्त्तन उनमें भी हुआ है, पर परिवर्तन तो जगत् का धर्म है। मोटे तौर पर हम कह सकते है कि विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्त्तित संवत् के प्रथम सहस्र वर्षों तक यह उथल-पुथल चलती रही और आज से लगभग एक सहस्राब्दी से कुछ पूर्व ही उत्तर भारत प्रायः पूर्ण रूप से आर्यभाषाभाषी हो गया। संस्कृत के पुराण ग्रन्थों से हम इन आर्येतर जातियों की सभ्यता और संस्कृति का एक आभास पा सकते है। 'आभास' इसलिए कि वस्तुतः ये पुराण आर्यदृष्टि से—तत्रापि ब्राह्मणदृष्टि से—लिखे गये है और फिर बहुत पुरानी बातें होने के कारण इन बातों में कल्पना का अंश भी मिल गया है। बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों के साथ इन पौराणिक कथाओं के मिलाने से कुछ बातें समझ में आ जाती है। पर यह तो हम भूल ही नही सकते कि ये अनुश्रुतियाँ भी विशेष दृष्टि से देखी हुई हैं। अस्तु, फिर भी जो सामग्री उपलब्ध है वह विपुल है, पर इतनी छितरायी हुई है कि सबके आधार पर कार्य करना कठिन है। इस विषय की मीमांसा बहुत कम हुई है। बड़ौदा, मैसूर, काशी, कलकत्ता, अड्यार आदि स्थानों से इधर बहुत अमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनेक ऐसे ग्रन्थों के अनुवादों का सन्धान मिला है जो मूल रूप में खो गये हैं। सुदूर सुमात्रा, जावा, बाली, थाई-देश आदि देशों के मन्दिरों में उत्कीर्ण लेखों से इनके विषय में अनेकानेक तथ्य उद्घाटित हुए हैं, पर अभी तक इन सबको मिलाकर मनन करने का प्रयास नहीं हुआ है।

श्री भाण्डारकर की प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज' इस विषय की पुरानी पुस्तक हो गयी है—यद्यपि अभी बहुत ज्ञातव्य बातो के जानने का आकर वही है। नेपाल में श्री हरप्रसाद शास्त्री के दिये हुए ग्रन्थ तथा बौद्ध गान और दोहे, श्रेडर की वैष्णव संहिताओं की महत्त्वपूर्ण मीमांसा; आर्थर एवेलेन की तन्त्रशास्त्रीय पुस्तकें, श्री गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित और सम्पादित शाक्त और नाथमत के लेख और ग्रन्थ तथा अन्य अनेक पण्डितों के प्रयत्न अभी छितरायी हुई अवस्था में हैं। इस क्षेत्र मे उल्लेख्य प्रयत्न फर्कुहर का 'ऐन आउट लाइन ऑफ दि रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया' ही है। परन्तु यह पुस्तक अधिकांश में साहित्यिक पैमाइश है। इधर हिन्दी में श्री बलदेव उपाध्याय, एम. ए., साहित्याचार्य ने 'भारतीय दर्शन' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है जिसमे अब तक उपेक्षित वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों के तत्त्वज्ञान का बड़ा विशद् विवेचन है। सब मिलाकर भारत के धर्म सम्प्रदायों के अध्ययन का प्रयत्न अभी बाल्यावस्था मे ही है।

पूर्व-मध्ययुग की विविध साधनाएँ

षष्ठ-दशम शतक के काल मे यज्ञयाग के स्थान पर देव-मन्दिरों की प्रधानता लक्षित होती है। पूर्ववर्त्ती के आर्ष-ग्रन्थों को आकर रूप मे स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ती पर दिखायी पड़ती है। वेद प्रामाण्य का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और विरोधी सम्प्रदायों को अवैदिक कहकर उड़ा देने की चेष्टा चरम सीमा तक पहुँच जाती है। दर्शन के क्षेत्र में भाष्यों और टीकाओं के सहारे और धर्म के क्षेत्र में पुराण, उपपुराण और स्तोत्रों के सहारे, आकर ग्रन्थों के सिद्धान्त के प्रचार की प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर से लेकर बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तक मे मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा आदि का प्रचार बढ़ता दिखायी देता है। प्रायः सभी सम्प्रदायों मे उपास्य देवों की शक्तियों की कल्पना की गयी है और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती पर दिखायी देती है। यह काल भारतीय मनीषा की जागरूकता, कर्मण्यता और प्रतिभागत उत्कर्ष का काल है। विशेष रूप से लक्ष्य करने की बात यह है कि इस काल में भारतीय धर्मप्रचारकों का दूर-दूर देशों से घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ता ही गया। बौद्ध धर्म के प्रचारकों का चीन से जो सम्बन्ध इस काल से पूर्व ही स्थापित हो चुका था, वह और भी दृढ़ होता गया और इस काल के चीन के दो अत्यन्त उत्साहपरायण, विद्याव्यसनी महापुरुष हुएन्त्सांग और इत्सिंग यात्रीरूप में इस देश में आये। ये लोग—विशेषतः हुएन्त्सांग—इस देश से बहुत बड़ी ग्रन्थराशि अपने साथ चीन ले गये, जिनमें से अधिकांश के चीनी भाषा में अनुवाद सुरक्षित हैं, यद्यपि वे मूल रूप में खो गये हैं। हुएन्त्सांग के जीवनवृत्त से पता लगता है कि अपने साथ महायान सूत्र के 224 ग्रन्थ, अभिधर्म के 192 ग्रन्थ, स्थविर सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म जातीय 14 ग्रन्थ, महासांघिक सम्प्रदाय के इसी श्रेणी के 15 ग्रन्थ, महीशासक सम्प्रदाय के तीनों श्रेणियों के 22 ग्रन्थ, काश्यपीय, धर्मगुप्त और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के भी इसी प्रकार के क्रमशः 17, 42 और 67 ग्रन्थ साथ ले गये थे। इस ग्रन्थराशि का उद्धार अभी नहीं हुआ है। विक्रम की छठी शती के मध्य या उत्तर भाग में बौद्धधर्म जापान पहुँचा और सातवीं-आठवीं शती में अन्यान्य देशों (तिब्बत, काम्बोडिया, सुमात्रा, जावा, स्याम और बाली आदि) में बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्मों का प्रवेश हुआ। इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्द्ध में समूचे पूर्वी देशों मे भारतीय धर्म पहुँच चुका था। स्वयं भारत ने भी इसी काल मे एक आर्येतर-धर्म को प्रश्रय दिया। मुसलमान नेताओं के भय से भागे हुए जरथुस्त्र धर्मवालों ने आलोच्य काल के पूर्वार्द्ध के अन्तिम वर्षों में इस देश में आश्रय पाया था। यह कहना अनुचित नहीं है कि यह काल जागरण, चिन्तन, कर्मण्यता और मानसिक औदार्य का है। परन्तु उसके बाद के काल में शिथिलता अधिक लक्षित होती

है। इस काल में भारत का विदेशों से सम्बन्ध उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है, इसलाम-जैसे नये शक्तिशाली और संघटित धर्म सम्प्रदाय से सम्पर्क होता है, टीकाओं और निबन्धों पर आश्रित होने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, शास्त्रीय मतवादों को लोकधर्म के सामने झुकना पड़ता है और अन्त में लोकधर्म प्रबल भाव से शास्त्रमत को अभिभूत कर लेते हैं।

आलोच्य काल में कुमारिल और प्रभाकर जैसे विख्यात मीमांसकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कर्ममीमांसा को नवीन शक्ति के रूप में ऊर्जस्वित किया; भुवन-विश्रुत आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके अद्वैतवाद ने प्रायः सभी वैदिक सम्प्रदायों को प्रभावित किया; सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र का उद्‌भव भी लगभग इसी काल में हुआ। सम्भवतः न्यायदर्शन पर लिखा हुआ 'वात्स्यायन भाष्य' इसी काल के आरम्भ में लिखा गया और 'न्यायवार्तिक' के प्रसिद्ध आचार्य उद्योतकर का जन्म तो निश्चित रूप से इसी काल में हुआ। प्रसिद्ध बौद्ध माध्यमिक आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इसी काल में 'माध्यमकावतार' और 'प्रसन्नपदा' (नागार्जुन की कारिका पर टीका) लिखी। इनका समय विक्रम की सातवीं शती का उत्तरार्द्ध है। शान्तिदेव, जिनका 'बोधिचर्यावतार' त्याग और आत्मबलिदान का अपूर्व ग्रन्थ है, इसी काल में हुए थे। विज्ञानवादियों के आचार्य चन्द्रगोमिन भी इसी समय में हुए और सामन्तभद्र और अकलंक-जैसे जैन मनीषी भी इसी काल में प्रादुर्भूत हुए। काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका, अलंकार आदि के क्षेत्रों में इस काल में जो प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हुए, वे पर्याप्त प्रसिद्ध हैं।

इस युग के धर्म विश्वास के मनन के लिए सबसे उपयोगी ग्रन्थ पुराण, आगम, तन्त्र और संहिताएँ हैं। परन्तु पुराणों के बारे में यह कहना कठिन है कि कौन-सा पुराण या उसका अंश-विशेष कब रचा गया। भारतीय साहित्य में पुराण कोई नयी चीज नहीं है। धर्मसूत्रों में और महाभारत में पुराणों की चर्चा आती है। 'आपस्तम्बीय धर्मसूत्र' में तो पुराणों के वचन भी उद्धृत हैं। मनोरंजक बात यह है कि प्रायः सभी मुख्य पुराणों में अष्टादश पुराणों की सूची दी हुई है अर्थात् प्रत्येक पुराण यह स्वीकार करता है कि उसकी रचना के पहले अन्यान्य पुराण बन चुके थे। इतना तो निश्चित है कि हमारे आलोच्यकाल के पूर्वार्द्ध के समाप्त होते-होते प्रायः सभी पुराण लगभग उसी स्वरूप को प्राप्त कर चुके थे जिसमें वे उपलब्ध हैं। उनमें प्रक्षेप परिवर्धन बाद में भी होता रहा है। परन्तु परवर्तीकाल में साम्प्रदायिक प्रवृत्ति की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि इन प्रक्षिप्त परिवर्धित अंशों को खोज निकालना बहुत कठिन नहीं है। उदाहरणार्थ, 'भागवत पुराण' को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बाद में आयी है और पद्मपुराणान्तर्गत पातालखण्ड का जो 'नरसिंह उप-पुराण' है उसमें यह प्रवृत्ति है। इसलिए हम उसे परवर्ती समझ सकते हैं। 'पद्मपुराण' के उत्तराखण्ड में और 'स्कन्दपुराण' के वैष्णवखण्ड में भी ऐसी ही प्रवृत्ति है, इसलिए इन्हें

तन्त्र प्रमाण और पञ्चदेवोपासना

हमने अपने आलोच्यकाल के पूर्वार्द्ध को तन्त्र प्रभाव का काल कहा है। 'तन्त्र' क्या है ? तन्त्र शब्द का शास्त्र सिद्धान्त, ग्रन्थ आदि भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। शैव सिद्धान्त के कायिक आगम में बताया गया है कि तन्त्र को तन्त्र इसलिए कहते है कि वह तन्त्र-मन्त्र समन्वित विपुल अर्थों का विस्तार करता है और साधको का त्राण भी करता है।[1] साधारण तौर पर समझा जाता है कि तन्त्र शाक्त ग्रन्थो का नाम है। परन्तु सभी प्रकार के आगमों को तन्त्र कहा गया है। ये आगम तीन श्रेणी के है—वैष्णव, शैव और शाक्त। व्यवहार में इन तीनों के अधिक प्रचलित नाम क्रमशः सहिता, आगम और तन्त्र है, परन्तु वस्तुतः इन तीनो का ही सामान्य नाम आगम और तन्त्र है। श्रीमद्भागवत मे पाञ्चरात्र या सात्वत संहिताओं को सात्वत तन्त्र कहा गया है।[2] आगमो में कुछ को वैदिक कहा जाता है और कुछ को अवैदिक। हमने पहले ही कहा है कि हमारे आलोच्य काल में किसी सम्प्रदाय को अवैदिक कहकर लोकचक्षु में उसे हीन प्रमाणित कर देने की प्रवृत्ति प्रबल थी। सम्भवतः जिस समय बौद्ध धर्म क्षीण-प्रभाव हो चुका था, नया ब्राह्मण धर्म पूर्ण पराक्रम से जाग उठा था और गुप्त नर-पतियों की छत्रच्छाया मे जब नयी राष्ट्रीय उमंग देश के कोने-कोने मे व्याप्त हो चली थी उस समय अपने को वैदिक प्रमाणित करना लोकदृष्टि में ऊँचे उठने का साधन था। हमने पहले ही देखा है कि जिन सम्प्रदायों का लोक मे प्रभाव था वे अपने को श्रुतिसम्मत सिद्ध कर रहे थे। और अन्य सम्प्रदायों को उसी उत्साह के साथ श्रुति विगर्हित बता रहे थे। 'कूर्मपुराण' मे कापाल, लकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पाञ्चरात्र, पाशुपत आदि को अवैदिक आगम बताया गया है। अवश्य ही पाशुपतों के दो भेद बताये गये है जिनमे से कापाल, लकुल, सोम और भैरव अवैदिक है, शेष वैदिक।[3]

1. तनोति विपुलानर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान्।
   त्राणं च कुरुते यस्मात्तन्त्रमत्यभिधीयते॥
   —सर जान उडरफ की 'शक्ति ऐण्ड शाक्त', पृष्ठ 18 पर उद्धृत
2. तेनोक्तं सात्वत तन्त्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिभाग्भवेत्।
   यत्र स्त्रीशूद्रदासानां सस्कारो वैष्णवः—भागवत
3. एव सबोधितो रुद्रो माधवेन मुरारिणा।
   चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः॥
   कापालं लाकुलं वाम भैरवं पूर्व-पश्चिमम्।
   पाञ्चरात्र पाशुपतं तथान्यानि, सहस्रशः॥
   —कूर्मपुराण, 16 अध्याय, पृष्ठ 184

→

शंकराचार्य ने पांचरात्र को अवैदिक ही समझा था।[1] स्वयं शांकरमत पर भी विरोधियों ने प्रच्छन्न बौद्ध और अवैदिक होने का आरोप किया था—'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च'। किसी आधुनिक पंडित ने 'आगम' (= आया हुआ) शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ देखकर अनुमान किया है कि इस नाम के शास्त्र वैदिक धर्म से बाहर से आकर घुस गये हैं। आगम का शास्त्रीय अर्थ यह नहीं है। आगम उन शास्त्र को कहते हैं जिनसे मोक्ष और भोग के उपाय समझ में आवें।[2] यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि अन्य सम्प्रदायों को अवैदिक कहना उस युग की प्रवृत्ति ही है। कहने मात्र से कोई धर्म वैदिक या अवैदिक नहीं हो जाता। आगमों में से भी सभी एक स्वर से अपने को वैदिक मानते हैं। शंकराचार्य ने 'शारीरक भाष्य' में पांचरात्र मत को वेदबाह्य माना है। पांचरात्र मत की चतुर्व्यूह कल्पना को, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी, उद्धृत करके उसे आयुक्त संगति बताया है।[3] उन्होंने पांचरात्रों के किसी शास्त्र से यह अनुश्रुति दी है कि चारों वेदों में परम श्रेय न पाकर शाण्डिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया था। ऐसा कहना प्रकारान्तर से स्पष्ट ही वेद की निन्दा करना है। रामानुजाचार्य ने 'श्रीभाष्य' में इसका उत्तर दिया है। उन आगमों के अनुयायियों ने, जिन्हें वेदबाह्य कहा गया है, अपने मत को वेदसम्मत सिद्ध किया है। वास्तविक तथ्य यह है कि इस युग की कोई भी चीज सर्वांगतः वेद की प्रतिध्वनि नहीं है, यद्यपि वेदों के प्रति पूर्ण सम्मान दिखाया गया है। धार्मिक साधना जीवन्त वस्तु है। वह वातावरण से अपने विकास के लिए पोषक द्रव्य संग्रह करती है। आगमों में भी ऐसा ही हुआ है। उनमें भी ऐसी बातें अवश्य हैं जो वेदों में या तो अस्पष्ट हैं या हैं ही नहीं। प्रधान आगमों में कुछ बातें सामान्य पायी जाती हैं जो इस युग की विशेषता है।

ऊपर आगमों में जो तीन भेद बताये गये हैं, उनके और भी उपभेद हैं।

→ अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकेऽस्मिन् विविधानि च।
वेदवादविरुद्धानि उक्तानि धनदेश्वर॥
वामं पाशुपतं सोमं लाकुलं चैव भैरवम्।
असेव्यमेतत्कथितं वेदबाह्यं तथेतरम्।
वेदमूर्तिरहं विप्र नान्यशास्त्रार्थवेदिभिः।
ज्ञायते मत्स्वरूपं तु मुक्त्वा वेदं सनातनम्।
स्थापयध्वमिदं मार्गं पूजयध्वं महेश्वरम्॥
[illegible]

वैष्णव आगम दो प्रकार के है—पाञ्चरात्र संहिताएँ और वैखानस संहिताएँ। शैवो के कई सम्प्रदाय है—माहेश्वर, लकुल, भैरव, कश्मीर शैव आदि, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। शाक्तो के भी नौ आम्नाय और चार सम्प्रदाय हैं—केरल, कश्मीर, गौड और विलास। भारतवर्ष मे बगाल और असम शाक्तो के प्रधान स्थान है, यद्यपि ये सारे भारत मे पाये जाते हैं। इनका सम्बन्ध उत्तर के शैवो से है, किसी समय कश्मीर मे जिनका प्राधान्य था। इन सभी सम्प्रदायों के आगमो मे थोडा बहुत अन्तर होते हुए भी समानता बहुत अधिक है। सभी आगम अपने-अपने उपास्य देव को परमतत्त्व के रूप मे स्वीकार करते है। देवता की शक्ति या शक्तियो मे और ईश्वर की इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति में विश्वास करते है, जगत् को परमतत्त्व का परिणाम मानते हैं; भगवान् की क्रमिक उद्भूति (व्यूह आभास) आदि का समर्थन करते हैं; शुद्ध और शुद्धेतर पर आस्था रखते है; माया के कोशकंचुक (पाञ्चरात्रों के 'संकोच' से तुलनीय) की कल्पना करते हैं, प्रकृति से परे परमतत्त्व को समझते है; आगे चलकर सृष्टिक्रम मे प्रकृति को स्वीकार करते हैं; सांख्य के सत्व, रज और तम गुणो को मानते हैं; भक्ति पर जोर देते है; उपासना मे सभी वर्णों और पुरुष तथा स्त्री, दोनो का अधिकार मानते है, मन्त्र, बीज, यन्त्र, मुद्रा न्यास, भूतसिद्धि और कुण्ड-लिनी योग की साधना करते हैं; चर्या (धर्मचर्या), क्रिया (मन्दिरनिर्माण आदि) का विधान करते है।[1] वस्तुत जैसा कि उडरफ ने कहा है, मन्त्र, यन्त्र, न्यास, दीक्षा, गुरु आदि तत्त्व जिसमे हैं वही तन्त्रशास्त्र है; और दृष्टि से सभी आगम-शास्त्र निश्चय ही तान्त्रिक प्रभावापन्न है। आगमो में विभेद अनेक हैं। पारि-भाषिक शब्द भी एक नही हैं, पर मूलस्वर सबका एक ही है। उडरफ ने ठीक ही कहा है कि मूल सुर इतना ऐक्यमय है कि पारिभाषिक शब्दों के भेद से कुछ बनता-बिगड़ता नही। पाञ्चरात्रो की भाषा में लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकोच कहे या शाक्तों की भाषा मे त्रिपुरसुन्दरी, महाकाली, तत्त्व और कंचुक कहे, इनमें कुछ विशेष भेद नही रह जाता।[2]

देखिए, सर जान वडरफ कृत 'शक्ति एण्ड शाक्त', पृष्ठ 23

वही, पृ. 24

पाञ्चरात्र और वैष्णव मत

पाञ्चरात्र मत के उपासको को भागवत कहते है। हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्द्ध की मुख्य घटना पाञ्चरात्र संहिताओं का अभ्युत्थान है। यह निर्णय करना कठिन है कि संहिताएँ कब और कहाँ लिखी गयी। श्रेडर ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति (इण्ट्रोडक्शन टु दि पाञ्चरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता) मे कहा है कि ईसवी सन् के पूर्व भी कई संहिताओ का अस्तित्व था। ईसा की आठवी शती के पूर्व लगभग दस-बारह संहिताएँ निश्चित रूप से लिखी जा चुकी थी। फर्कुहर का अनुमान है कि अधिक संहिताएँ छ सौ से आठ सौ ईसवी तक मे लिखी गयी है। श्रेडर का कहना है कि अधिकाश संहिताएँ उत्तर भारत मे बनी और बाद मे कुछ दक्षिण भारत मे भी बनी। इन संहिताओ की आनुश्रुतिक सख्या 108 बतायी जाती है, पर संहिताओ के जो भिन्न-भिन्न नाम गिनाये गये है, उनमे सामान्य नाम ग्यारह से अधिक नही है। श्रेडर ने 210 संहिताओ के नाम गिनाये है। उनके मत से जिनमे से सबसे प्राचीन ये है—पौष्कर, वाराह, ब्राह्म, सात्वत, जयाख्य, अहिर्बुध्न्य, पारमेश्वर, सनत्कुमार, परम, पद्मोद्भव, माहेन्द्र, काण्व, पाद्म और ईश्वर। हमारे आलोच्य काल मे ये संहिताएँ या तो बन चुकी थी या बन रही थी।

पाञ्चरात्र संहिताओ मे क्या है? शैव आगमो की भाँति इन संहिताओ मे भी चार विषयो का प्रतिपादन है—(1) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धो का निरूपण; (2) योग, अर्थात् मोक्ष के साधनभूत योग-प्रक्रियाओ का वर्णन, (3) क्रिया अर्थात् देवालय का निर्माण, मूर्त्तिस्थापन, पूजा आदि; और (4) चर्या अर्थात् नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्त्तियो तथा यन्त्रों की पूजापद्धति, पर्व-विशेष के उत्सव आदि[1] परन्तु बहुत कम संहिताओ मे चारों विषयों पर ध्यान दिया गया है। कुछ मे ज्ञान और योग का निरूपण तो नाम-मात्र को है; परन्तु क्रिया और चर्या का विस्तारपूर्वक निरूपण सभी मे हुआ है। 'पद्मतन्त्र' नामक संहिता मे सभी बातें है; पर योग के लिए ग्यारह, ज्ञान के लिए पैंतालिस, क्रिया के लिए दो सौ पन्द्रह और चर्या के लिए तीन सौ छिहत्तर पृष्ठ खर्च किये गये है।[2] इसी से संहिताओं का प्रधान वक्तव्य समझा जा सकता है। वस्तुत: क्रिया और चर्या ही संहिताओ के प्रिय और प्रधान विषय हैं और यही बात अन्यान्य आगमो के बारे मे भी सत्य है। इसीलिए संहिताओं को वैष्णवो का कल्पसूत्र कहा जाना ठीक है। शास्त्रीय विभाग को छोड दिया जाय तो संहिताओ मे तत्त्वज्ञान, मन्त्रशास्त्र, यन्त्रशास्त्र, मायायोग, योग,

1. देखिए, 'भारतीय दर्शन', पृष्ठ 460
2. देखिए, श्रेडरकृत 'इण्ट्रोडक्शन टु दि पाञ्चरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता', पृष्ठ 22

मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा-विधि, संस्कार (आह्निक), वर्णाश्रम और उत्सव इन दस विषयों का ही विस्तार है।[1]

पाञ्चरात्र मत का प्रसिद्ध और विशिष्ट मत चतुर्व्यूह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव), संकर्षण से प्रद्युम्न (=मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (=अहंकार) की उत्पत्ति होती है। शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस तथ्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में यही मत पाञ्चरात्रों में अधिक प्रचलित रहा होगा। सभी संहिताओं में यह सिद्धान्त नहीं पाया जाता। जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं, उस काल में पाञ्चरात्र संहिताएँ निश्चय ही पूजा और अन्यान्य व्रतादि अनुष्ठानों में प्रयुक्त रही होंगी। दक्षिण में इस समय भी बहुत से मन्दिरों में भागवत अर्चक है, और प्राचीन काल में और भी अधिक रहे होंगे। तमिल देश के अधिकांश मन्दिरों में पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुसार पूजा होती है, परन्तु अब भी ऐसे देवालय है जिनमें वैखानस संहिताएँ व्यवहृत होती है। कहते है कि रामानुजाचार्य द्वारा विरोध के कारण बहुत-से मन्दिरों से वैखानस संहिताओं का व्यवहार उठ गया और उनके स्थान पर पाञ्चरात्र संहिताओं का प्रचलन हुआ। तिरुपति के वेंकटेश्वर तथा कांजीवरम् के मन्दिरों में अब भी वैखानस संहिताएं व्यवहृत होती हैं। दोनों संहिताओं की अनुष्ठानविधि में पर्याप्त अन्तर है। अप्पय दीक्षित का कहना है कि पांचरात्र मत अवैदिक है, और वैखानस मत वैदिक। यह लक्ष्य करने की बात है कि वेंकटेश्वर के मन्दिर में, जहाँ आज तक वैखानस संहिताएँ व्यवहृत होती हैं, शिव और विष्णु दोनों की पूजा होती थी और दोनों देवताओं का समान आदर होता था। कहते हैं कि रामानुजाचार्य ने वहाँ विष्णु की पूजा की प्रधानता स्थापित की।[2] इससे यह अनुमान किया गया है कि रामानुजाचार्य के पूर्व भागवत अर्चक लोग दीर्घकाल से वैखानस संहिताओं का प्रयोग करते आ रहे थे। तमिल देश में इन भागवत अर्चकों की बारह वैखानस संहिताएँ पायी गयी हैं। भागवत मत की इन दो प्रकार की संहिताओं में यद्यपि चर्या और क्रिया का विस्तार ही अधिक है तथापि भक्ति पर निरन्तर जोर दिया गया है। वस्तुतः इन संहिताओं के मत से भगवान् के अनुग्रह से ही जीव के मल का नाश होता है[3] और

1. देखिए, वही, पृष्ठ 26
2. देखिए, फर्कुहरकृत 'ऐन आउटलाइन ऑफ दि रिलिजस लिटरेचर इन इण्डिया', पृष्ठ 181
3. एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः ॥ 28 ॥
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते ।
साह्यवता पचमी शक्तिविष्णु सङ्कल्परूपिणी ॥ 29 ॥
मलप्रहाणिका शक्तिः सा कृपा वैष्णवी परा ।
शक्तिपातः सः वै विष्णोरागमार्थैर्निगद्यते ॥ 30 ॥
समीक्षितस्तदा सोऽयं करुणावर्दरूपया ।
कथं साम्यं भवत्येन जीवो विष्णु समीक्षितः ॥ 31 ॥

—अहिर्बुध्न्य, संहिता, 14

वह उनकी कृपा से ही मुक्ति पाता है। इस भवजाल से मुक्त होने का उपाय निरीह होकर भगवान् की शरण मे जाना (न्यास) ही है, जो भगवान् के प्रति अनुकूलता के संकल्प, प्रतिकूलता के त्याग, रक्षकत्व मे विश्वास, गोप्ता या रक्षक रूप में वरण तथा आत्मसमर्पण और कार्पण्य (निरीहिता) से प्राप्य है। संहिताओ के अनुयायी द्विज के लिए यह आवश्यक था कि वह किसी योग्य गुरु से दीक्षा ले। इस दीक्षा मे पाँच बातें आवश्यक थी—(1) ताप (अर्थात् शंख, चक्र आदि की मुद्राओं को तप्त करके शरीर को चिह्नित करना), (2) पुण्ड्र (=तिलक), (3) नाम (नया नाम स्वीकार), (4) मन्त्र और (5) योग (पूजा)। भागवतो के दो मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—द्वादशाक्षर (ओंम नमो भगवते वासुदेवाय) और अष्टाक्षर (ओंम नमो नारायणाय)।

विक्रम की सातवी शती से लेकर दसवी शती तक तमिल देश मे ऐसे भक्त गायको का प्रादुर्भाव हुआ था जो भक्ति के उल्लास मे एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर तक भजन गाते फिरते थे। अपने इष्टदेव की मूर्ति का वियोग इनके लिए असह्य था। इन भक्तो मे शैव और वैष्णव दोनो थे। वैष्णवो मे दस आळवार सज्ञक अति प्रसिद्ध हैं। इनके भजनो मे रामायण, महाभारत और पुराण का प्रभाव अधिक बताया जाता है और संहिताओ का बहुत कम। शैव भक्तो मे से भी तीन बहुत प्रसिद्ध हैं और लक्ष्य करने की बात यह है कि इनके भजनों पर भी आगमो का प्रभाव कम है। इससे यह अनुमान किया गया है कि तमिल देश मे संहिताएँ और आगम दोनो ही बाद मे पहुँचे। आळवार लोग अस्पृश्यो को भी उपदेश देते थे और कई तो अस्पृश्य कही जानेवाली जातियो मे उत्पन्न भी हुए थे। ये लोग श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के आदिगुरु माने जाते है। इनके भजनो की प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है और मन्दिरो मे इनकी मूर्त्तियाँ पूजी जाती है। विक्रम की आठवी शती के पूर्व कई आळवार भक्त हो चुके थे। परन्तु इनके समय के विषय में अभी तक सर्वसम्मत मत स्थिर नही हुआ है। विक्रम की आठवी-नवी शती के आसपास अष्टाक्षर मन्त्र की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और लगभग इसी समय की दो ऐसी उपनिषदें उपलब्ध हुई हैं, जिनमे अष्टाक्षर मन्त्र की महिमा बतायी गयी है। ये हैं 'नारायण' और 'आत्मबोध' उपनिषद। आगे चलकर श्रीवैष्णवों में अष्टाक्षर मन्त्र मान्य हुआ था।

दस अवतारों की कल्पना बहुत पुरानी है, शायद बुद्ध से भी पुरानी। यद्यपि दस अवतारो में, बाद मे, बुद्ध का नाम भी आता है, तथापि 'नारायणीयोपाख्यान' में जिन दस अवतारों के नाम हैं उनमें से प्रथम अवतार हंस है तथा नवाँ और दसवाँ सात्वत और कल्कि।[1] इनमे बुद्ध का नाम नही है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अवतार की कल्पना बुद्ध से पहले की है। हमारे आलोच्य

1. हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोत्तम।
वाराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च॥ —शान्तिपर्व 339, 101

काल में 'नृसिंह पूर्व तापनीय' और 'नृसिंह उत्तर तापनीय' नामक दो उपनिषदों का प्रचार पाया जाता है। इनमें नृसिंह मन्त्र की महिमा है। इससे यह अनुमान किया गया है कि नरसिंहमत उन दिनों प्रतिष्ठित हो चुका होगा। पंचदेवोपासकों में नृसिंह और वराह की पूजा प्रचलित थी। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में नृसिंह की वन्दना है और उस युग की अनेक वराह मूर्तियाँ पायी गयी हैं। राम के अवतार को विशिष्ट उपास्य समझकर भी कोई सम्प्रदाय उन दिनों प्रतिष्ठित होना चाहिए। आलोच्य काल के पूर्वार्द्ध में 'राम पूर्व तापनीय' और 'राम उत्तर तापनीय' उपनिषदों का पता लगता है। 'अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संवाद' नामक इस काल की संहिता भी है जिसमें रामतत्त्व का बखान है। इस समय सूर्य और गणेश को प्रधान मानकर भी सम्प्रदाय अवश्य प्रतिष्ठित हुए होंगे। नेपाल में 'सौर संहिता' नामक पुस्तक की एक प्रति मिली है जो सं. 998 विक्रमी की लिखी हुई है। बाण के समकालीन कवि मयूर के 'सूर्यशतक' से भी पता चलता है कि सौर उपासना उन दिनों प्रचलित रही होगी। प्रसिद्ध जैन आचार्य मानतुंग के 'भक्तामर स्तोत्र' से भी सौर उपासना का पता चलता है। उड़ीसा के 'साम्ब पुराण' से साम्ब के द्वारा सूर्यपूजा के लिए मग या शाकद्वीपीय ब्राह्मणों को ले आने की बात है। अग्नि और गरुड पुराणों में भी सूर्य की उपासना का उल्लेख है। इसी प्रकार 'गणपति तापनीय-उपनिषद्' से गाणपत्य सम्प्रदाय का भी अनुमान होता है। वैसे गणपति की पूजा इस देश में बहुत पहले से ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

पाशुपत मत और शैवागम

हमारे आलोच्य काल में शैवों का पाशुपत मत अधिक प्रबल था। हुएन्त्साग ने अपने यात्रा-विवरण में इस मत का बार-बार उल्लेख किया है। बाणभट्ट के ग्रन्थों में पाशुपतों की चर्चा है और शंकराचार्य ने अपने 'शारीरक भाष्य' (2-2-37) में इस मत का खण्डन किया है। 'लिंगपुराण' से पता चलता है कि उस समय पाशुपत मत की शाखाएँ थीं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। तान्त्रिक पाशुपत लिंगतप्त चिह्न और शूल धारण करते थे, वैदिक पाशुपत लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे तथा मिश्र पाशुपत समान भाव से पंचदेवों की उपासना करते थे।[1]

1. तांत्रिक वैदिक मिश्र त्रिधा पाशुपतं शुभम्।
तप्तलिंगांकशूलादिधारणं, तांत्रिक मतम्। →

वामन पुराण (अध्याय 5) से 'शैव पाशुपत' कालामुख और कापाली जाति के पाशुपतों का पता चलता है।

हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्द्ध मे लकुलीश के पाशुपत मत और कापालिक सम्प्रदायो का पता चलता है। गुजरात मे लकुलीश पाशुपत का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका था, पर पण्डितों का मत है कि उसके तत्त्वज्ञान का विकास विक्रम की सातवी-आठवी शती मे हुआ होगा। यह मत इस समय तक मध्य और दक्षिण भारत मे फैल चुका था। ये लोग जीवमात्र को पशु कहते है, शिव पशुपति है। पशुपति ने बिना किसी कारण साधन या सहायता के इस जगत् का निर्माण किया है। पशुपति ही समस्त कार्यो के कारण है। दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति और परमैश्वर्यप्राप्ति—इन दो बातों पर इनका विश्वास था। कापालिक लोग वाम-मार्गी थे। सम्भवतः गृहस्थो मे इनके सिद्धान्तो का प्रचार नही था। भवभूति के 'मालती-माधव' में चामुण्डापूजक और अघोरघण्ट नामक कापालिक का वर्णन है। ये लोग मानव-बलि भी दिया करते थे।

अनुश्रुति के अनुसार शैवागमों की सख्या अट्ठाईस है और उपागमो की एक सौ सत्तर। कुछ पण्डित आगमों के बनने का स्थान उत्तर भारत (विशेषकर कश्मीर) बताते है। दक्षिण के शैव भक्तों की चर्चा हम ऊपर कर चुके है। जो तीन प्रसिद्ध शैव भक्त हो गये है, उनके नाम है—ज्ञान सम्बन्धर, अप्पर और सुन्दरमूर्त्ति। प्रथम दो भक्त विक्रम की सातवी शती के उत्तरार्द्ध मे हुए और अन्तिम आठवी-नवी शती मे। यद्यपि इनके भजनो मे आगमों की बात आ जाती है, तथापि मूलरूप से महाभारत और पुराणो से ही प्रभावित बताये जाते हैं। एक अत्यन्त प्रभावशाली कवि मणिवाचकर हुए है (विक्रम की दसवी शती) जो भाषा, भाव, तत्त्वज्ञान और काव्यमर्म के उत्तम जानकार थे। इनके विषय मे जो कुछ बातें हम नाना सूत्रों से जान सके हैं, उनसे विदित होता है कि ये तमिल शैवों के तुलसीदास कहे जा सकते हैं। इनकी रचनाओं मे आगम का प्रचुर प्रभाव है।

इस काल मे शैवों की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शाखा कश्मीर मे थी। इस शाखा की तत्त्वविद्या पर आगमो का प्रभाव है। शाखा के दार्शनिक मत को प्रत्य-भिज्ञा, त्रिक या स्पन्द कहते है, शिव, भक्ति और अणु या पशु, पाश और पति—इन तीनों का प्रतिपादन होने से इस मत को त्रिक कहते हैं। अनुश्रुति है कि शिवजी ने अपने शैवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धान्त के प्रचारार्थ इस मत को प्रकट किया और दुर्वासा ऋषि को इसे प्रचार करने का आदेश दिया। इस मत के मूल प्रवर्त्तक आचार्य वसुगुप्त विक्रम की आठवी शती

→ लिंगरुद्राक्षभस्मादि धारणं वैदिकं भवेत्।
रवि शंभु तथा शक्ति विघ्नेश च जनार्दनम्।
यजन्ति समभावेन मिश्र पाशुपतं हि तत्॥

—श्रीकर भाष्य में उद्धृत

में हुए होंगे। कहते हैं कि शिवसूत्र के सतहत्तर सूत्र महादेवगिरि की किसी शिला पर उत्कीर्ण थे। स्वप्न में शिवजी द्वारा आदेश पाकर वसुगुप्त ने उनका उद्धार किया था। इन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अपनी 'स्पन्द कारिका' की बावन कारिकाएँ लिखी। इनके दो शिष्य हुए : कल्लट और सोमानन्द। कल्लट ने त्रिक-दर्शन का और सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रतिपादन किया। सोमानन्द के शिष्य उत्पल थे और उनके प्रशिष्य थे प्रसिद्ध अभिनव गुप्त पादाचार्य। कई पण्डित इस परिणाम पर पहुँचे है कि शैवागमों में जितना अद्वैत मत है, उससे भी अधिक इस प्रत्यभिज्ञा मत में है।

हम पहले ही लक्ष्य कर चुके हैं कि पूर्वी भारत में फैले हुए शाक्तमत के साथ इस कश्मीरी शैवमत का सम्बन्ध था। पर इसका मतलब यह नहीं है कि शक्ति-पूजा शैवमत की इसी समय की निकली हुई एक शाखा है। कुछ विद्वानों ने इसी प्रकार समझाने की चेष्टा की है। यह सम्भव है कि शाक्तमार्ग शैवमार्ग की ही एक शाखा हो, परन्तु यह अनुमान का ही विषय है। जो तथ्य हमें उपलब्ध हैं, उनके आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हमारे आलोच्य काल में शाक्तमत शैवमत से अलग वैशिष्ट्य रखता है। 'कुब्जिकामततन्त्र' की एक प्राचीन प्रति गुप्तकालीन लिपि में लिखी हुई मिली है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'कुब्जिकामततन्त्र' हमारे आलोच्य काल के पूर्व विद्यमान था। संवत् 901 का लिखित 'परमेश्वरमततन्त्र' और उसी समय का 'महाकुलांगना विनिर्णयतन्त्र' प्राप्त हुआ है। बाणभट्ट की पुस्तकों से शाक्तमत के पृथक् अस्तित्व का समर्थन होता है। शैव आगमों की ही भाँति इन शाक्ततन्त्रों में अद्वैत स्वर ही प्रबल है। सम्मोहन-तन्त्र (अध्याय 8) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शक्ति और नारायण एक ही हैं। जो आदितारायण है वे ही परम शिव हैं, वे ही निर्गुण ब्रह्म है। आद्या ललिता महाशक्ति ने ही श्रीकृष्ण और श्रीराम का पुरुष-विग्रह धारण किया था (अध्याय 9) और मूर्ख लोग ही राम और शिव में भेद देखते हैं। शैव और शाक्त दोनों ही छत्तीस तत्त्वों में विश्वास करते हैं। आगे चलकर शैवों में नाथ, कापालिक, रसेश्वर आदि कई सम्प्रदाय हुए, जिनका तत्त्वज्ञान थोड़ा-बहुत भिन्न है, परन्तु सर्वत्र मूलस्वर अद्वैत-प्रधान है। 'कौलावलि-निर्णय' (21वें अध्याय) में शैव पद, विष्णुपद, हंसपद, निरंजनपद और निरालम्बन पद को एक ही परम पद का नामान्तर बताया गया है।[1]

'सम्मोहनतन्त्र' में बाईस भिन्न-भिन्न आगमों का उल्लेख है; जिनमें चीना-गम, पाशुपत, पाञ्चरात्र, कापालिक, भैरव, अघोर, जैन और बौद्ध आगमों की

1. एतस्या: परत: परात्परतरं निर्वाणयते पदम्।
शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्कलम्।
तद्विष्णो: परमित्युशन्ति सुधिय: केचित्पदं ब्रह्मण:।
काचहंसपदं निरंजनपदं केचित्...

पृष्ठ 140

भी चर्चा है। उस समय ये सभी मत प्रचलित रहे होंगे। बौद्ध तन्त्र की तो अनेक बातें प्रकाशित हुई हैं, पर जैनमत के तन्त्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' आदि ग्रन्थों से अनुमान किया जा सकता है कि हमारे आलोच्य काल में जैनमत में भी निश्चय ही तन्त्रों का प्रचार रहा होगा।

इस काल की समाप्ति के आसपास ही परम शक्तिशाली 'भागवत पुराण' का अभ्युदय होता है। उत्तरकालीन धर्ममत और साहित्य को इस पुराण ने अधिक प्रभावित किया है। इस काल का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'श्रीभाष्य' है। इन दोनों ग्रन्थों का प्रभाव उत्तरकालीन वैष्णव सम्प्रदायों पर बहुत अधिक पड़ा है। आगे चलकर पाञ्चरात्र संहिताओं, विष्णुपुराण और 'श्रीभाष्य' का आश्रय लेकर एक वैधमार्गी वैष्णव साधना विकसित हुई और दूसरी रागानुगामार्गी या आवेश और उल्लासमय भक्तिमार्गी साधना 'भगवान्' का आश्रय लेकर विकसित हुई। उत्तरकाल के वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय 'भागवत' को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। 'भागवत पुराण' श्रीकृष्ण के प्रेममूलक भक्तिधर्म का प्रतिपादक है। इस पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और अन्य अवतार अंशकला मात्र हैं। भगवान् के दो रूप हैं – निरवच्छिन्न चैतन्य निराकार रूप और सत्तावच्छिन्न चैतन्य साकार रूप। आगे चलकर 'भागवत' और संहिताओं के इन दो उत्सों से चार वैष्णव सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। ये चार हैं— श्रीवैष्णव, ब्रह्म, रुद्र और सनक। श्रीवैष्णव मत के आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत मत के, ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्य मध्व (आनन्दतीर्थ) द्वैत के, रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी और उनके अनुयायी वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत के और सनक सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क द्वैताद्वैत मत के प्रवर्त्तक हैं। चैतन्य सम्प्रदाय यद्यपि मध्वमत की ही शाखा है, पर उसका अपना विशाल साहित्य है और उसके तत्त्ववाद का नाम अचिन्त्य भेदाभेदवाद है। इस उत्तरार्द्धकाल की विशेषता है सम्प्रदायों का प्रौढ़ संघटन। भारतवर्ष में शायद ही इतने संघबद्ध रूप में सम्प्रदायों का कभी आविर्भाव इससे पहले हुआ हो।

दक्षिण में जब इस भक्तिमूलक वैष्णव धर्म का अभ्युदय हो रहा था, तब उत्तर में एक शक्तिशाली योगमत का प्रादुर्भाव हुआ। उसकी कहानी कहे बिना हमारे आलोच्य काल का इतिहास अधूरा ही रह जायेगा। आगे चलकर इस योगमार्ग का सम्बन्ध भक्तिमार्ग के साथ हुआ और कबीरदास के द्वारा दोनों के समन्वय से एक नवीन साधना-मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ। यह घटना हमारे आलोच्य काल के बाद की है। इसलिए उसकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी।

को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के सम्बन्ध में जनसाधारण की जैसी धारणा थी, उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव समझे गये हैं। इसी प्रकार पुष्पदन्त-विरचित महापुराण में अनेक स्थलों पर कापालिकों और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव योगी माना गया और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेख-योग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के 'मालती-माधव' नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध-भिक्षुणी श्रीपर्वत पर कापालिक साधन सीखने गयी थी। 'मालती-माधव' से जान पड़ता है कि वह कापालिक साधना शैव मत की थी। श्रीपर्वत उन दिनों का प्रसिद्ध तान्त्रिक पीठ था। वज्रयान का उत्पत्ति-स्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्रीपर्वत पर शैव, बौद्ध और शाक्त साधनाएँ पास-ही-पास फल-फूल रही थीं।

. बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में श्रीपर्वत को शाक्ततन्त्र का साधना-पीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालन्धर-पाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है, वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता से प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालन्धर और कानपा दोनों को अपनाया है। इसलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है, वह निस्सन्देह नाथमार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा सम्प्रदाय को अब भी पूर्ण रूप से गोरखनाथी सम्प्रदाय में नहीं माना जाता। उनका प्रवर्तित कहा जानेवाला एक उपसम्प्रदाय बामारग (=वाम मार्ग) आज भी जीवित है।

जैन मरमी

आठवीं-नवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध जैन मरमी सन्त हो गये हैं। उनकी अपभ्रंश की रचनाओं में वे सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं जो उस युग के बौद्ध,

→ एक्केण केवलमुमादइएण दिट्ठो,
मोक्खो धम्मं सुरअकेलि सुरारसेहिं ॥

—कर्पूरमंजरी, 1-22-24

कापालिक मत

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तान्त्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिव ज्ञेय हैं, उपास्य है—उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) है—'शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।' और इसी भाव को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने 'सौन्दर्य लहरी' में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हो तभी कुछ करने में समर्थ है, नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते।

शिवः शक्तयायुक्तो यदि भवतिशक्तः प्रभवितु।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

तान्त्रिक लोगों का मत है कि परम शिव के न रूप है न गुण और इसीलिए उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ है वे उनसे भिन्न हैं और केवल 'नेतिनेति' अर्थात् यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर शिव) केवल जाने जा सकते हैं, उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल ज्ञेय है। उपास्य तो शक्ति है। इस शक्ति की उपासना के बहाने भवभूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है। शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा का वर्णन करने के कारण यह अनुमान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परम शिव को निष्क्रिय-निरंजन होने के कारण केवल ज्ञानमात्र का विषय (ज्ञेय) समझते हो।

वस्तुतः दसवीं शती के आसपास लिखी हुई एक-दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है, वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटक में सोमसिद्धान्त नामक कापालिक का वर्णन है। कहा गया है कि वे मद्यपान करते है, स्त्रियों के साथ विहार करते है और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाटककार ने इनके मत

1. मन्तो ण तन्तो ण अ किं पि जाण,
झाण च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्ज पिबामो महिलं रमामो,
मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा,
मज्ज मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा,
कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो॥
मुत्ति भणन्ति हरि बह्ममुहादि देवा
झाणेण वेअपढणेण कदुक्किआए।

→

को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के सम्बन्ध में जनसाधारण की जैसी धारणा थी, उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव समझे गये हैं। इसी प्रकार पुष्पदन्त-विरचित महापुराण में अनेक स्थलों पर कापालिकों और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव योगी माना गया और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेख-योग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के 'मालती-माधव' नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध-भिक्षुणी श्रीपर्वत पर कापालिक साधन सीखने गयी थी। 'मालती-माधव' में जान पड़ता है कि वह कापालिक साधना शैव मत की थी। श्रीपर्वत उन दिनों का प्रसिद्ध तान्त्रिक पीठ था। वज्रयान का उत्पत्ति-स्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्रीपर्वत पर शैव, बौद्ध और शाक्त साधनाएँ पास-ही-पास फल-फूल रही थीं।

बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में श्रीपर्वत को शाक्ततन्त्र का साधना-पीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालन्धर-पाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है, वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता में प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालन्धर और कानपा दोनों को अपनाया है। इसलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है, वह निस्सन्देह नाथमार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा सम्प्रदाय को अब भी पूर्ण रूप से गोरखनाथी सम्प्रदाय में नहीं माना जाता। उनका प्रवर्तित कहा जानेवाला एक उपसम्प्रदाय वामारग (=वाम मार्ग) आज भी जीवित है।

जैन मरमी

आठवीं-नवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध जैन मरमी सन्त हो गये हैं। उनकी अपभ्रंश की रचनाओं में वे सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं जो उस युग के बौद्ध,

→ एक्केण केवलमुमादइएण दिट्ठो,
मोक्खो समं सुरअकेलि सुरारसेहिं ॥

—कर्पूरमंजरी, 1-22-24

शैव, शाक्त आदि योगियों और तान्त्रिकों के ग्रन्थ में प्राप्त होती हैं। बाह्याचार का विरोध, चित्तशुद्धि पर जोर देना, शरीर को ही समस्त साधनाओं का आधार समझना और समरसी भाव से स्वसंवेदन आनन्द का उपभोग—जिससे जीव निष्कंचुक होकर शिव हो जाता है—उस युग की साधना की विशेषताएँ हैं। अत्यन्त कट्टर जैन साधक भी भिन्न मार्ग से चलते हुए इसी परम सत्य तक पहुँचे थे। अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तान्त्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम-फिरकर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते हैं। जब जैन समाज के इन्दु कहते हैं कि देवता न तो देवालय में हैं, न शिला में, न चन्दन प्रभृति लेप्य पदार्थों में और न चित्र में—यह अक्षय निरंजन ज्ञानशिव तो समचित्त में निवास करता है :

देउण देउले णवि सिलए,
णवि लिप्पइ ण वि चित्ति।
अखय णिरंजणु णाणमउ
सिउ संठिउ समचित्ति॥

—परमात्मप्रकाश—123

तो यह भाषा वस्तुतः उस युग के अन्यान्य मतानुयायी साधकों की भाषा से भिन्न नहीं है। यह परम्परा बाद में कबीर आदि निर्गुण मत के साधकों में ज्यों-की-त्यों चली आयी है।

'सामरस्य भाव' उस युग की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। सभी साधक मार्ग इस शब्द का व्यवहार करते हैं। इनके अलग-अलग तत्त्ववाद हैं। उन्हीं से इन व्याख्याओं का पोषण होता है। पर परिमाण में व्यवहारतः सब एक हैं। शिव और शक्ति के विषमीभाव से ही शाक्त, शैव साधना के अनुसार यह सृष्टि-प्रपंच है। शिव की आदिसिसृक्षा ही शक्ति है। सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि की इच्छा। इच्छा अभाव का प्रतीक है। इसीलिए सृष्टि 'निषेध व्यापार-रूपा' है। तभी तक ये द्वन्द्व है जब तक शिव और शक्ति का मिलन नहीं हो जाता। 'सौभाग्य भास्कर' (पृष्ठ 161) में इसीलिए शिव और शक्ति के मिलन को, उनके न्यूनाधिकत्व के अभाव को सामरस्य कहा है। पिण्ड में मन का जीवात्मा में तिरोभूत हो जाना या एकमेक होकर मिल जाना ही यह सामरस्य है। जैन साधक जोइन्दु ने भी कहा है कि मन जब परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर जब मन से तो दोनों का समरसीभाव अर्थात् सामरस्य हो जाता है। इस अवस्था में साधक को पूजा और उपासना की आवश्यकता नहीं रहती। वह परम प्राप्तव्य को पा जाता है और फिर पूज्य-पूजक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है; क्योंकि जब जीव और परमात्मा में कोई भेद ही नहीं रहा तो कौन किसकी पूजा करे :

मणु मिलियउँ परमेसरहँ,
परमेसरउ वि मणस्सु।

वेहि वि समरस हूवाहँ
पुज्ज चढावउँ कस्म।
—परमात्मप्रकाश 1, 123, 2

शाक्त और शैव साधक मानते है कि चूँकि यह ज्ञान-ज्ञातृज्ञेयरूपा-सृष्टि एक-मात्र आदिशक्ति के कारण ही उत्पन्न हुई है, इसलिए इस समस्त परिदृश्यमान जगत् मे मेरुदण्ड के समान सबकुछ मे आधाररूप से वह शक्ति ही स्थित है, जो कुछ ब्रह्माण्ड मे है वह सब कुछ पिण्ड मे भी है। सत्व, रज, तम, काल और जीव के न्यूनत्व और अधिकत्व वश यह जगत् भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप मे दिखायी देता है। मनुष्य के शरीर मे जीवनी-शक्ति का चरम विकास हुआ है। शैवपन्थी भी यही विश्वास करते थे। 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' मे इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्माण्ड मे जो कुछ है वह सब पिण्ड मे वर्त्तमान रहता है :

ब्रह्माण्डवर्ति यत् किञ्चित्तत् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा।
— सि. सि. सा. 3-2

समरसी भाव ही सार साधना है। —मुनि रामसिंह : पाहुड दोहा 176

इसी भाव को कबीरदास ने कहा है कि "जो जो पिण्डे सोइ ब्रह्मण्डे।" यह मानवदेह ही साधना का सर्वोत्तम उपादान है। देवता कही बाहर नही है। नाना प्रकार की साधनाओं से जीव इसी पिण्ड में विद्यमान शिव के साथ अपना सम्बन्ध जोड सकता है। उस समय उसके मन से भेदबुद्धि एकदम तिरोहित हो जाती है। इसीलिए नाना भांति की यौगिक क्रियाओ से चित्त शुद्धि अपेक्षित है। जोइन्दु ने भी इसी चित्तशुद्धि पर जोर दिया है :

जोइय णिअ मणि णिम्मलए,
पर दीसइ सिव सन्तु।
अम्बरि णिम्मले घण रहिए
भाणु वी जेम फुरन्तु॥ (प. प्र. 1-129)

[हे योगी, अपने निर्मल मन मे ही शान्त शिव का दर्शन होता है। निर्मल घन-रहित आकाश में ही सूर्य चमकता है! सो, यह शिव कही बाहर नही है।]

शाक्त साधक के मत से ब्रह्माण्ड मे जो शक्ति है वही व्यष्टि शरीर मे स्थित होकर कुण्डलिनी है। शिव सहसार मे रहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति को उद्‌बुद्ध करने से मन स्थिर होता है। और कुण्डलिनी शक्ति उद्‌बुद्ध होकर परम शिव से जब मिलती है, तो वह समरस भाव उत्पन्न होता है जो साधक का अन्तिम लक्ष्य है। नाथमत के साधको का विश्वास है कि इस अवस्था मे पिण्ड और ब्रह्माण्ड का भेद जाता रहता है और साधक उस स्वसंवेदनरस का अनुभव करता है, जिसके आगे और किसी रस की स्पृहा नही रह जाती :

समरसकरणं वदम्यथाहं परमपदाखिल पिण्डयोरिदानीम्।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा-इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति॥
—सिद्ध-सिद्धान्तसार 7, 5, 1

'जठराधर संहिता' में इसी अवस्था के लिए कहा गया है कि इसमें मन, बुद्धि सवित्, ऊहापोह, तर्क-वितर्क सबकुछ शान्त हो जाते है :

यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति सत्ता सवित् पराकला।
ऊहापोहो न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥

और बौद्ध साधक सरहपाद ने इसी अवस्था के लिए कहा है—इस अवस्था में मन और प्राण उपरतिवृत्ति हो जाते है। इड़ा और पिंगला की गति रुक जाती है। इसमे न आदि-अन्त का ख्याल रहता है, न जन्म-मरण का भय और न अपने-पराये का ज्ञान; यही परम महासुख है :

जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि णाहि पवेश,
तहि वट चित्त विशाम करु सरहे कहिय उवेश।
आइ न अन्त न मज्झणहु, णहु भव णहु णिव्वाण,
एहु सो परम महासुह, णहु पर णहु अप्पाण।

जैन साधको के शास्त्रो मे परमात्मा का वही अर्थ नही है, जो शैव या अन्य वैदिक मतानुयायी साधको के ग्रन्थों में प्रकट है। जैन साधक अगणित आत्माओं में विश्वास करते है। ये आत्मा मुक्त होने के बाद परमात्मा हो जाते हैं। परमात्मा अगणित है, परन्तु उनके गुण एक-से है, इसलिए वे 'एक' कहे जा सकते है। यह पद ज्ञान से प्राप्त होता है और ज्ञान का साधन चित्त-शुद्धि है। वस्तुतः चित्त-शुद्धि के बिना मोक्ष नही हो सकता। चाहे जीव जितने तीर्थों मे नहाता फिरे और जितनी तपस्या करता फिरे, मोक्ष तभी होगा जब चित्त शुद्ध हो। जोइन्दु कहते हैं :

जहि भावइ ताहँ जाइ जीय, जं भावइ करि तजि।
केम्वइ मोक्खु ण अस्थि पर, चित्तइ शुद्धि णं जं जि।

—परमात्मप्रकाश 2, 70

[हे जीव, जहाँ खुशी हो जाओ और जो मर्जी हो करो, किन्तु जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं मिलेगा।]

दान करने से भोग मिल सकता है, तप करने से इन्द्रासन भी मिल सकता है, पर जन्म और मरण से विवर्जित पद पाना चाहते हो तो ज्ञान ही से वह मिल सकता है :

दाणि लब्भइ भोउ पर इन्दत्तणु वि तवेण।
जम्मण मरण विवज्जउ, पल्लब्भइ णणेण।

—परमात्मप्रकाश 2, 72

जब यह मोक्ष प्राप्त हो जायेगा तो जीव ही परमात्मा हो जायेगा। इस मत से शैव-शाक्त आदि साधकों के तत्त्ववाद में मौलिक अन्तर है। परन्तु व्यवहार में विशेष अन्तर नही पड़ता। शाक्त साधक भी यही कहता है कि यह जीव ही शिव है; क्योंकि जब तक शिव नाना मलो से आच्छन्न हैं, तभी तक वह शरीर के कंचुक में आबद्ध है। इस कंचुक से मुक्त होते ही जीव शिव हो जाता है। इसीलिए 'परशुरामकल्पसूत्र' में कहा है :

शरीरकंचुकितः शिवो जीवः निष्कंचुकः परम शिवः।

—परशुराम कल्प 1,3

ज्ञान से यह कंचुक दूर होता है और वह सामरस्य भाव प्राप्त होता है, जिसमें समस्त इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं और आत्मा आकाश की भाँति—शून्य की भाँति—अपने-आप ही में रम जाता है। यही स्वसंवेदनरस है। इसमें पाप और पुण्य का विलय हो जाता है। उस अवस्था में साधक शिवरूप हो जाता है। उस समय जैसा कि 'अवधूत गीता' में बताया गया है, साधक 'ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्' हो जाता है। यह शून्य-रूप-साधना या निर्विकल्पक समाधि, जिसमें आत्मा के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता और समस्त प्रकार के भोक्तृ-योग्य अनुभवों से स्वतन्त्र एक स्वसंवेदन—अपने ही आपको जानने का—रस अनुभूत होता है, उस युग के साधकों में समान रूप से पाया जाता है। जोइन्दु ने उल्लासपूर्वक कहा है कि बलिहारी है उस योगी की जो 'शून्य पद' का ध्यान करता है, जो 'पर'—परमपुरुष परमात्मा—के साथ समरसीभाव का अनुभव करता है, जो पाप और पुण्य के अतीत हो जाता है :

सुण्णउँ पउँ झायंताहँ वलि-वलि जोइवडाहँ।
समरसि भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउण जाहँ।

—प. प्र 2, 159

ब्रह्मदेव ने अपनी वृत्ति में 'पर' शब्द का अर्थ 'स्वसवेद—परमात्मा' किया है। जोइन्दु पाप और पुण्य के अतीत उस महायोगी पर वार-वार बलि गये हैं, जो उजाड़ को बसाता है, और बस्ती को शून्य करता है :

उव्वस वसिया जो करइ, वसिया करइ जु सुण्णु।
बलि किज्जहँ तसु जोइयहि, जासु ण पाउ ण पुण्णु॥

गुरु गोरखनाथ ने भी कुछ इसी स्वर में उस महायोगी की वन्दना की थी, जिसने बस्ती को उजाड़ किया, और उजाड़ को बस्ती बनाया है—जो धर्म और अधर्म से परे है, पाप और पुण्य से अतीत है। काम, क्रोध आदि विकारों की रंगस्थली यह काया ही सांसारिक दृष्टि से बस्ती है। इसे छोड़कर जब योगी का चित्त उस शून्य निरंजन स्थान पर पहुँचता है जहाँ समस्त इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं, तो योगी वस्तुतः उजाड़ को बसाता है :

कामक्रोध विकारभारभरितं पिण्डं जहात्यात्मना,
शून्ये व्योम्नि निरंजने च नियतं चित्तं दधात्यादरात्।
इत्थं शून्यमशून्यतां नयति यो पूर्णं च सच्छून्यताम्,
धर्माधर्मविवर्जितं तमनिशं वन्दे परं योगिनम्॥

वस्तुतः जैन साधक जब कहता है कि यह जीव ही परमात्मा है, शरीर में ही उसका वास है, वह केवल जड़ है जो शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी इस बात को नहीं समझ सकता, जो शैव या वैष्णव साधकों की ही भाषा में बोलता है :

सत्थु पढंतु वि होइ जडु, जो ण हणेइ वियप्पु
देहि वसन्तु वि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु ॥

परिणाम मे यह मुक्त आत्मा बहुत-से परमात्माओं में से एक होकर रहेगा या किसी एक ही परमात्मा में मिल जायेगा, यह साधारण जनता के लिए विशेष महत्त्व नहीं रखता। साधारण जनता मुक्ति तक की बात सोचती है। सो उस युग के सभी साधक नाना मार्गों से चलकर एक ही परम सत्य तक पहुँचे थे। वह परम सत्य यह है कि यह शरीर ही परमात्मा का आवास है, देवता कहीं बाहर नहीं है, विविध भाव से विषयीभूत तत्त्वों का सामरस्य ही वह स्वसंवेदन-रस है जिसके अनुभव से बढकर आनन्द दूसरा नहीं है। आत्मा इसी रस का अनुभव करके अपने परम-प्राप्तव्य को पा जाता है। यह जो चेला-चेलियों का ठाट-बाट है, पोथियों का ढूह है, इनके चक्कर में पड़ा हुआ जीव निस्सन्देह प्रसन्न होता है; परन्तु यह मोह है, परमपद का अन्तराय है। जो ज्ञानी है वह इनसे लज्जित होता है :

चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं,
तूसइ मूढु णिभन्तु ।
एयहं लज्जइ णाणियउ,
बंधहं हेउ मुणन्तु ॥

—प. प्र. 2-88

श्री रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला में 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' सुप्रसिद्ध विद्वान् आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर निकले हैं। दोनों ही ग्रन्थ जोइन्दु के लिखे हुए हैं। प्रो. हीरालालजी जैन ने इसके पूर्व ही रामसिंह के पाहुड़ दोहों का प्रकाशन किया है।

धर्मशास्त्र और धर्मसाधना

मध्ययुग के धार्मिक साहित्य को दो प्रकार से विभक्त करके विचार किया जा सकता है। स्मृतियों, उनकी टीकाओं, पुराणों और निबन्धों का साहित्य पुराने जमाने से ही 'धर्मशास्त्र' कहा जाता रहा है। फिर एक दूसरे प्रकार का साहित्य है जो साधकों को परम पुरुषार्थप्राप्ति की प्रक्रियाओं को बताते हैं। इनमें तन्त्र हैं, योग के ग्रन्थ हैं, भक्ति की पुस्तकें है और पुराणो के वे अंश हैं जो इन्हीं बातों की चर्चा करते हैं। मैंने सुविधा के लिए इस प्रकार के साहित्य का नाम 'धर्म-

साधना' का साहित्य रख लिया है। यद्यपि यह नाम सुभीते के लिए ही रखा गया है, पर यह बहुत दूर तक सार्थक भी है; क्योंकि इस श्रेणी का साहित्य व्यक्ति की साधना का ही सहायक है। धर्मशास्त्र सामाजिक आचार-विचारों और विधि-निषेधों की व्यवस्था करते हैं, वर्णों और आश्रमों के सामान्य और विशेष कर्त्तव्यों का निर्देश देते हैं, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के कर्त्तव्य-द्वन्द्व की मीमांसा करते हैं; जबकि धर्म-साधनावाले ग्रन्थ साधक के प्रतिपाल्य नियमों और अनुष्ठानों का विधान करते हैं, साधना के विविध स्तरों में कैसे अनुभव होते हैं और उनसे साधना-मार्ग में अग्रसर होने के या पिछड़ जाने के कौन-से लक्षण प्रकट होते हैं, इसकी विवेचना करते हैं। कभी-कभी धर्मशास्त्र और धर्म-साधना-साहित्य एक-दूसरे में इस प्रकार उलझे हुए मिलते हैं कि उनको अलग करना कठिन होता है। पर साधारणतः मध्ययुग का गृहस्थ हिन्दू धर्मशास्त्रीय मार्ग का अनुसरण करता था और विशेष-विशेष मार्ग के साधक तत्तत् सम्प्रदाय या मार्ग के साधना-ग्रन्थों के निर्देश पर चलते थे। साधारण गृहस्थ विविध तीर्थों में स्नान करने से पुण्यार्जन होने में विश्वास करते थे, वर्णाश्रम व्यवस्था में आस्था रखते थे, व्रतों और उपवासों में विश्वास पोषण करते थे। स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, कर्मफल, पितृश्राद्ध आदि में पूर्ण श्रद्धा रखते थे और मंगलकामना से सभी देवताओं और उपदेवताओं की पूजा किया करते थे। इस तीर्थ-व्रत-उपवासप्रधान, जाति-वर्णविश्वासी, सर्व-देवोपासक मत को एक शब्द में 'स्मार्त्त मत' कहते हैं। स्मार्त्त मत अर्थात् स्मृति निर्दिष्ट धर्म-व्यवस्था का पालन करने में कल्याण माननेवाला मत। इस प्रकार का मत कोई नयी बात नहीं है। महाभारतकाल में भी गृहस्थों का जो वर्णन है उससे कुछ इसी प्रकार के गृहस्थों का पता चलता है। महाभारत में भागवतों के परम उपास्य श्रीकृष्ण भी शंकर की स्तुति करते बताये गये हैं। फिर भी इन दिनों का प्रचलित विश्वास यह है कि इस स्मार्त्त मत की पुनःप्रतिष्ठा शंकराचार्य ने की थी। उन्होंने ही पञ्चदेवोपासना की पद्धति चलायी। जो हो, स्मार्त्त मत का सीधा अर्थ स्मृतियों की व्यवस्था को माननेवाला मत है। पुराण और महाभारत को भी स्मृतियों में गिना गया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि स्मृति और पुराण मुख्यतः गृहस्थों के सामाजिक और अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों और कर्त्तव्यों के प्रतिपादक शास्त्र हैं, इन्हीं को 'धर्मशास्त्र' कहते हैं।

धर्म-साधनाओं को भी दो मोटे विभागों में बाँट लिया जा सकता है—योग-मूलक-साधनाएँ और भक्तिमूलक-साधनाएँ। प्रथम श्रेणी की साधना में साधक का विश्वास अपने ऊपर होता है। इस शरीर को ही नाना भाव से आसन-प्राणायाम आदि के द्वारा संयत करके मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि परम प्राप्तव्य वस्तुतः इस शरीर से बाहर नहीं है। वह इसी में व्याप्त है। भक्तिमूलक साधना इससे भिन्न वस्तु है। ऐसा तो उसके अनुयायी भी मानते हैं कि परम प्राप्तव्य शरीर के भीतर ही है, पर इस बात पर वे बहुत अधिक जोर नहीं देते। भक्तिमूलक साधना का

साधक वस्तुतः अपने-आप पर कम और अपने परमाराध्य प्रेममय परमात्मा पर अधिक विश्वास करता है। अपने-आपको अत्यन्त तुच्छ समझकर परम प्रेममय भगवान् को सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण भक्ति की पहली शर्त है। अपने को निःशेष भाव से भगवान् के चरणों में उत्सर्ग कर देने का नाम ही भक्ति है। राजनीति की परिभाषा में समझना चाहें तो योगमार्ग गणतान्त्रिक धारणा की उपज है और भक्ति-मार्ग साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की देन है। भारतवर्ष में इन दोनों साधनाओं के बीज बहुत पुराने हैं, पर मध्ययुग में वे कुछ विशेष हो गये हैं। क्या और कितना विशेष हुए हैं, यही विचार्य है।

पहले योगमूलक साधना की बात ली जाय, भक्तिमूलक साधनाओं की चर्चा हम थोड़ा रुककर करेंगे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस मनुष्य-शरीर में—जो परम रहस्य का आगार है—कुछ अद्‌भुत शक्तिशाली बातें हैं। बहुत पुराने जमाने में चार वस्तुएँ बहुत शक्तिशाली मानी जाती रही हैं—मन, प्राण, बिन्दु (शुक्र) और वाक्। मध्ययुग में कुण्डलिनी एक पाँचवीं वस्तु है जो अत्यन्त शक्तिशाली तत्त्व स्वीकार की गयी है। इस प्रकार इस शरीर में ये पाँच बातें अनन्त शक्ति का स्रोत मानी गयी हैं। इनमें से किसी एक पर यदि साधक अधिकार जमा ले तो बाकी सब अनायास वश में आ जाते हैं। इन्हीं में किसी एक को अधिक और बाकी को कम महत्त्व देने के कारण विभिन्न योगमार्ग बने हैं। मन को वश में करने को प्रधान कर्त्तव्य बतानेवाला योग राजयोग कहा जाता है, प्राण को प्रधान रूप में संयत करने को कर्त्तव्य प्रतिपादित करनेवाला योग हठयोग कहलाता है, वाक् को संयत करने की विधि पर जोर देनेवाला योग मन्त्रयोग और जपयोग कहा जाता है, कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध करने को भी प्रधान कर्त्तव्य समझनेवाला योग कुण्डली योग कहलाता है। शुक्र को संयत और विनियुक्त करने के अनेक मार्ग हैं जो विभिन्न प्रक्रियाओं के कारण विभिन्न नाम ग्रहण करते हैं। वज्रयानी और ऊर्ध्वरेता साधक इस महाशक्ति के विनियोग और संयम की विशेष विधियों पर जोर देते हैं। इस प्रकार यह मार्ग इस शरीर के भीतर ही परम सिद्धि का सन्धान खोजता है।

इस प्रकार की साधना का सबसे प्रथम आरम्भ कब हुआ, यह कह सकना बड़ा कठिन है। न तो यह मध्ययुग की अपनी विशेषता है और न वैदिक परम्परा की। बौद्ध और जैन-जैसे वैदिक धर्म के विरोधी सम्प्रदायों में भी इसका मान है; पाशुपत और वाममार्ग जैसे वैदिकेतर सम्प्रदायों में भी यह योगपद्धति गृहीत हुई है। मोहन्-जो-दड़ो में ऐसी मूर्त्तियाँ मिली हैं जिनके ध्यान-स्तिमित नयन-मुद्रा को देखकर पण्डितों ने अनुमान किया है कि वहाँ की सभ्यता में—जो सम्भवतः आर्येतर सभ्यता थी—यह साधना अवश्य प्रचलित थी। योगमार्ग की ऊपर लिखी विशेषता को यदि ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो मूल संहिताओं के धर्म से—जिसे कभी-कभी बहुदेववाद कहा गया है,—यह बहुत भिन्न वस्तु है। मूल वैदिक संहिताओं का प्रधान धर्म इस शरीर के भीतर परम

प्राप्तव्य को प्राप्त करने पर अधिक जोर नहीं देता। एक बार सरसरी निगाह से इस प्रधान धर्म को देखने का प्रयत्न कर लेना उचित होगा।

वैदिक देवतावाद से इस साधना का अन्तर

वेदों में प्रतिपादित धर्म का स्वरूप क्या है? उसमें कितने ही लोगों ने अद्वैतवाद, कितनों ही ने एकेश्वरवाद और कितनों ही ने बहुदेववाद का सन्धान पाया। असल में समूचे वैदिक साहित्य में कोई एक ही धार्मिक या तत्त्व-ज्ञानात्मक एकरूपता नहीं है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के 1017 सूक्तों में भी किसी एक सामान्य मत का सन्धान पाना दुष्कर है। इन सूक्तों में अनेक ऋषियों के अनेक प्रकार के विचार ग्रथित हैं। ऐसे भी स्थान हैं जहाँ स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद की दृढ़कण्ठ से घोषणा की गयी है। बताया गया है कि एक ही महादेवता को ऋषियों ने नाना नाम से—अग्नि, यम, मातरिश्व आदि कहकर—नाना भाव से बताया है (ऋग्. 1. 164-46)। फिर कहा गया है कि आरम्भ में समस्त भूतों का अधिपति एकमात्र हिरण्यगर्भ ही था। उसी ने द्युलोक और भूलोक को धारण किया है, और कौन दूसरा देवता है जिसे हम हविस् अर्पित करें (ऋग्. 10-121)। इन तथा ऐसे ही मन्त्रों में बड़ी दृढ़ता के साथ एक महादेवता की उपासना ही पर जोर दिया गया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे मन्त्र कम हैं। अधिकांश मन्त्रों में अनेक देवताओं का उल्लेख मिलता है। साधारणतः देवताओं की संख्या तेंतीस बतायी गयी है। इनमें ग्यारह आकाश के, ग्यारह पृथ्वी के और ग्यारह जल के देवता कहे गये हैं (ऋग्. 1-139-11)। इन देवताओं की पत्नियों की भी चर्चा मिल जाती है (3-6-9)। वैतान सूत्र (15-3) में अग्नि की पृथ्वी, वात की वक्, इन्द्र की सेवा, बृहस्पति की धेना, पूषन् की पथ्या, वसु की गायत्री, रुद्र की त्रिष्टुभ, आदित्य की जगती, मित्र की अनुष्टुभ, वरुण की विराज्, विष्णु की पंक्ति और सोम की दीक्षा—ये देवपत्नियाँ बतायी गयी हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनमें रूपकीय कल्पना स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है, पर जो लोग मानते हैं कि तान्त्रिक शक्ति-कल्पना भारतीय धर्म-साधना में नयी चीज है, उनके विचार के लिए इनमें प्रचुर सामग्री भी है। ऐसा जान पड़ता है कि 33 देवताओं में सभी वैदिक देवता सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि अग्नि, सोम, मरुत्, अश्विनी, प्रातः, उषा, सूर्य आदि देवताओं का पृथक् उल्लेख भी है और कभी-कभी तो वैदिक कवि

उल्लास की अवस्था मे अत्युक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वह तेंतीस-देवताओं से सन्तुष्ट न होकर कहता है कि देवताओ की *संख्या 3339* है (ऋग्. 3. 3-9)। यह सब देखते हुए यही कहना पड़ता है कि वेदो में बहुदेववाद ही प्रधान धर्म है।[1]

बहुदेवाद का मतलब क्या है? यह शब्द अंग्रेजी के पालिथीज्म शब्द के तौल पर गढ लिया गया है। अंग्रेजी में पालिथीज्म शब्द का अर्थ निश्चित हो गया है। इस शब्द से एक ऐसे देवता-विधान का बोध होता है जिसमे बहुत-से छोटे-बड़े देवता—जिनका पदगौरव और मर्यादा तथा छोटा-बड़ा भाव निश्चित हो चुका रहता है—एक महादेवता के अधीन होते है। ग्रीस का बहुदेवता-विधान ऐसा ही है। इसका बड़ा देवता जियस या जूपिटर है। मैक्समूलर ने बताया है कि इस ग्रीक-विधान से वैदिक विधान का कोई साम्य नही है। केवल ग्रीक या रोमन देवता-विधान ही नही, वैदिक बहुदेववाद यूराल-अल्ताई या अमरीकी आदिम अधिवासियों या अफ्रीकी आदिम अधिवासियों के देवता-विधान से भिन्न है।[2] इस विधान का जो देवता जब उपासित होता है वही उस समय सबसे बड़ा देवता है। इन्द्र की उपासना के समय इन्द्र, अग्नि की उपासना के समय अग्नि और वरुण की उपासना के समय वरुण ही महादेवता है। यह एक प्रकार से स्वतन्त्र देवताओ का संघ है, जबकि ग्रीक और रोमन पालिथीज्म एक बडे सम्राट् के अन्तर्गत नाना मर्यादाओं के अधिकारी देवताओ का एक दरबार है। दोनो मे बड़ा अन्तर है। मैक्समूलर ने इसीलिए पालिथीज्म शब्द को भ्रामक बताया था और वैदिक बहुदेववाद के लिए एक नये शब्द के प्रयोग का सुझाव रखा था; यह शब्द है: हेनोथीज्म[3]—एक या एकैकदेववाद। उदाहरणार्थ, मैक्समूलर ने बताया है कि किस प्रकार ऋग्वेद मे द्यावापृथ्वी (=द्युलोक और भूलोक; आसमान और जमीन) की—समस्त देवताओ को धारण करनेवाला, सबके पिता-माता कहकर—, स्तुति की गयी है। बताया गया है कि आकाश और पृथ्वी के बीच मे जो कुछ है वह द्यावा-पृथ्वी का है, ये समस्त देवताओं को धारण करनेवाले है, परन्तु फिर यह भी बताया गया है कि इस द्यावा-पृथ्वी को इन्द्र ने बनाया है, इन्द्र ने ही उन्हें धारण किया है, इन्द्र के बल से ही ये बलीयमान हैं। केवल इन्द्र ही नही, अन्य देवताओं के बारे में भी इस प्रकार के विशेषण का प्रयोग है। द्यावा-पृथिवी के धारण करनेवाले वरुण भी हैं, सूर्य भी हैं, धाता भी है और विश्वकर्मा भी हैं। सो, इस देवता-विधान को बहुदेववाद नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः वैदिक ऋषि प्रकृति के तेजोमय रूप मे एक प्रकार की देवत्वबुद्धि रखते हैं। यह जो कुछ चर्म-चक्षुओं से दिख गया, वही चरम और परम नहीं है।

1. दे. मैक्समूलर : ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ. 143-45
2. वही, पृ. 145-46
3. वही, पृ. 147

इसके पीछे कुछ और है जो इसे तेज दे रहा है। नदी में जो प्रवाह-वेग है वह वहीं तक सीमित नहीं है, इस प्रवाह-वेग को वेगवती करनेवाली कोई शक्ति है। सूर्य को सूर्यता देनेवाला कोई अदृष्ट तेजोधर्मा देव है। 'देव' वस्तुतः उस तेज और चमक देनेवाले विशेषण का ही बोधक है। पश्चिमी साहित्य में बहुवचन में प्रयोग किये जानेवाले 'गॉड' का निश्चित अर्थ है। वह रूढ़ हो गया है। परन्तु वैदिक ऋषि देव शब्द का प्रयोग इस प्रकार के किसी रूढ अर्थ में नहीं करता। वह प्रकृति के तेजोदृप्त रूप से उल्लसित होता है, अपने उल्लास को किसी प्रकार की पूर्व-निर्धारित कल्पना से बाधित नहीं होने देता। वैदिक देवता-विधान को बहुदेववाद नहीं कहा जा सकता, यह तो पश्चिमी पण्डितों ने ही कहा है; पर उसने एक व्यापक शक्तिदात्री सत्ता का बोध होता है, यह बात न जाने क्यों स्वीकार नहीं की जाती। आखिर प्रत्येक देवता का महादेवता मान लिया जाना तभी तो सम्भव है जब देवता-देवता में भेद-बुद्धि का कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में अभाव होता है! कहीं-न-कहीं वैदिक मन्त्र-द्रष्टा के चित्त में यह बात जरूर थी कि यह जो कुछ तेजोमय दिख रहा है, वह किसी एक ही महासत्ता की शक्ति से शक्तिमान होने के कारण। कोई देवता बडा नहीं है, कोई देवता छोटा नहीं है, किसी की मर्यादा नीचे नहीं है। साक्षात्कार के समय जिसने भी साधक के चित्त में उल्लास का संचार किया वही बड़ा देवता है; क्योंकि अन्ततोगत्वा सभी तो एक ही परम देवता के रूप है। विद्वान् लोग उस 'एक' का ही अनेकानेक नाम देकर बताते हैं—'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' वस्तुतः यदि इस प्रकार का कोई भाव ऋषियों के चित्त में न होता तो इस प्रकार के देवता-विधान की कल्पना भी सम्भव नहीं थी। हेनोथीज्म नाम दे देने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता, उस मनोवृत्ति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे ऐसे देवता-विधान की कल्पना उद्‌भूत हो सकती है और ऊपर हमने जो कुछ कहा है उससे भिन्न और क्या समाधान खोजा जा सकता है!

प्रकृत यह है कि वैदिक ऋषि यद्यपि एक प्रकार से अद्वैत तत्त्व या 'एक' तत्त्व को स्वीकार करते है, परन्तु उनका जोर बाह्य जगत् में व्याप्त अनन्त शक्ति-स्रोतों की ओर है जिन्हें वे देवता कहते हैं। इसी समय, जबकि ये मन्त्र लिखे जा रहे थे, योग-मार्ग भी अवश्य जीवित था जो इस मानवशरीर को ही समस्त शक्तियों का मूल उत्स मानता था। परवर्त्ती काल में उपनिषदों मे यह विचार प्रधान होने लगा था कि सभी वैदिक देवता वस्तुतः मानवशरीर के विविध इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। इस प्रकार उपनिषदों के युग मे योगमार्ग धीरे-धीरे प्रधान भारतीय विचार का रूप धारण करता जा रहा था। ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक देववाद और योगमार्ग दो प्रकार की असमान परिस्थितियो में विकसित हुए थे और अन्त में एक-दूसरे को प्रभावित करने मे समर्थ हुए थे। योगमार्ग प्रधान रूप से गणतान्त्रिक व्यवस्था, वैराग्यवादी तत्त्वज्ञान और व्यक्तित्वप्रधान दृष्टि की उपज है; जबकि बहुदेववाद ऐसे समाज मे सम्भव है जिसे विजय पर विजय प्राप्त करने के कारण

जीवन उल्लासमय दीख रहा हो, जिसमें तेजस्विता पूरी मात्रा में हो और साथ ही जिसमें शिशु-जनोचित औत्सुक्य हो। क्रमशः इसमें सामन्ती मनोवृत्ति के चिह्न स्पष्ट से स्पष्टतर होते जाते हैं और विरोधी का उच्छेद काफी महत्त्वपूर्ण स्वर हो जाता है।

परन्तु हमारे आलोच्य काल से इन बातों का बहुत दूर का सम्बन्ध है। केवल मूल स्वर को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही यहाँ इस प्रसंग की कुछ विस्तृत अवतारणा की गयी है। महाभारत काल में योग-साधना सुसंस्कृत भारतीय विचारधारा का प्रधान अंग हो गयी थी और इस बात का निश्चित प्रमाण है कि बुद्ध-युग के साधकों का यह अति मान्य मत था।

योग-साधना की परम्परा

योग की यह साधना दीर्घकाल से चली आ रही थी। वह एकाएक नहीं आ गयी। बुद्ध किसी ऐसे तत्त्व को नहीं मानते थे, जो सब समय बना रहता हो—शाश्वत हो। उनके मत से 'आत्मा' नामक कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो सदा बना रहेगा। अश्वघोष ने एक बड़ा सुन्दर उदाहरण देकर इस बात को समझाया है। जैसे दीपक जब बुझ जाता है, तब न तो वह पृथ्वी में घुस जाता है, न अन्तरिक्ष में समा जाता है; न इस दिशा में जाता है और न उस दिशा में; तेल का क्षय हो जाने के कारण केवल शान्ति को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार पुण्यात्मा व्यक्ति जब निर्वाण को प्राप्त होता है, तो न तो वह पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में; न दिशा में और न विदिशा में; क्लेशों का क्षय होने से वह केवल शान्ति पा जाता है :

> "दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
> नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्
> दिशं न काचिद् विदिशं न काचिद्
> स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
> एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
> नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्
> दिशं न काचिद् विदिशं न काचिद्
> क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।"

इस प्रकार इस शरीर में जो चेतन दिखानेवाला तत्त्व है, वह तभी तक

संसार-प्रपंच मे पड़ा हुआ है, जब तक उसके क्लेशो का क्षय नही हो जाता। जगत् वस्तुत: दुःखरूप है, इससे छुटकारा पा जाना ही परम काम्य वस्तु है। छुटकारा मिल जाने के बाद छूटा हुआ पदार्थ चिरकाल तक बना रहता है या नही, यह व्यर्थ का प्रश्न है। भारतवर्ष मे दीर्घकाल से ऐसी साधना चली आ रही है, जिसमें इस जगत् को दुःखरूप माना गया है और उससे छुटकारा—मुक्ति—पाने को मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य या पुरुषार्थ माना गया है। अधिकाश साधनाएँ यह विश्वास करती थी कि छुटकारा वस्तुत: किसी ऐसे पदार्थ का होता है, जो छुटकारे के बाद बना रहता है—शाश्वत होता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराना योगमत कुछ इसी प्रकार का था। साख्य-मत भी बहुत पुराना है। योग का और साख्य का तत्त्ववाद एक ही है। पातञ्जल-योग मे ईश्वर को भी माना गया है, इसलिए साख्य-मत से—जिसमे पुरुष अनेक माने गये हैं, पर ईश्वर की चर्चा नही है—'सेश्वर सांख्य' कह दिया जाता है। कपिलकृत कहे जानेवाले साख्य-सूत्र परवर्ती हैं। साख्य का तत्त्ववादव्यापक पुराना ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण की 'साख्यकारिका' बतायी जाती है। पतञ्जलि ने योगमत और साधना को क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया था, उनका तत्त्ववाद साख्य से बहुत भिन्न नही है। बहुत प्राचीनकाल से लोग साख्य और योग का अभेद स्वीकार करते आये है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा था कि केवल बालबुद्धि के लोग ही साख्य और योग को अलग-अलग समझते है, पण्डित लोग ऐसा नही मानते। साख्य तत्त्ववाद का नाम है और योग उसकी प्रक्रिया का।

पतञ्जलि ने कब योगशास्त्र लिखा था, यह कुछ विवाद का विषय बन गया है। साधारण प्रसिद्धि यह है कि पतञ्जलि नाग थे और तीन शास्त्रो के कर्त्ता थे—व्याकरण-महाभाष्य, पातञ्जल-योगसूत्र, और संहिता। उन्होंने योगशास्त्र का प्रणयन करके चित्त के, व्याकरणशास्त्र की रचना करके वाक् के और चिकित्साशास्त्र की रचना करके शरीर के मल को दूर किया था—'योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन'। यदि यह सत्य है कि ये तीनो शास्त्र एक ही नागमुनि की रचना है, तो कहना पड़ेगा कि वह अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनमें से किसी एक शास्त्र के रचयिता को भी अवतारी पुरुष कहा जा सकता है। पतञ्जलि ने योगशास्त्र को बहुत ही युक्ति-संगत और क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया है! कुछ लोग इन सूत्रो मे क्षणिक-विज्ञानवाद की आलोचना देखकर यह मानने लगे है कि योगसूत्र नागार्जुन के बाद अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे रचा गया था। क्षणिक विज्ञानवादियो का प्रमुख सूत्रग्रन्थ 'लंकावतारसूत्र' है, जिसमे नागार्जुन की चर्चा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'लंकावतारसूत्र' से भी नागार्जुन का समय पुराना है।[1] इस प्रकार

1. दक्षिणापथ वेदल्या भिक्षुः श्रीमान् महायशाः
नागाह्वय. स नाम्ना तु सदसत् पक्षकारकः।

→

पतञ्जलि को तीसरी शताब्दी में घसीटना बहुत अधिक युक्ति-संगत नहीं है; फिर भी इस मत का यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझा गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी किसी-किसी पण्डित ने तीनों पतञ्जलियों की अभिन्नता में सन्देह प्रकट किया है।

जो हो, पतञ्जलि नामक आचार्य ने सन् ईसवी के आरम्भ होने के कुछ इधर-उधर योगसूत्रों की रचना की थी। ये सूत्र योग-मार्ग के क्रमबद्ध तत्त्ववाद और साधना-मार्ग का बहुत ही सुन्दर परिचय देते हैं। जो कार्य आचार्य रामानुज ने भक्ति के आधारभूत सिद्धान्तों के लिए कोई हज़ार-सवा हज़ार वर्ष बाद किया, वही योग के लिए पतञ्जलि ने किया। इसके पूर्व यह मतवाद साधना-प्रक्रिया के रूप में विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित था। वह धर्म-साधना अधिक और क्रमबद्ध दर्शन कम था। सम्भवतः सांख्य भी ईश्वर कृष्ण के पहले इसी प्रकार नाना धर्म-ग्रन्थों और आख्यान-ग्रन्थों में बिखरा पड़ा था। धर्म-साधना को क्रमबद्ध दर्शन का रूप इस देश में आज से कोई दो हजार वर्ष पहले मिलने लगा था। ऐसा क्यों हुआ ? कुछ ऐसे सामाजिक और अन्य कारण अवश्य रहे, जिनके फलस्वरूप धर्म-साधना क्रमबद्ध दर्शन का रूप बन गयी, या दूसरे शब्दों में कहें, तो साधारण जीवन से छनकर उपरले स्तर के बुद्धिवृत्ति के लोगों की चीज बन गयी। सामाजिक विचारों में कुछ ऐसा मन्थन जरूर हुआ कि तत्त्ववाद का मक्खन ऊपर उठ गया। जो तत्त्ववाद सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त था, वह केवल बौद्धिक विवेचना का विषय बन गया। यह कोई नयी बात नहीं है। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक भक्ति के तत्त्ववाद का नवनीत इसी प्रकार ऊपर उठता रहा और विविध भक्ति-सम्प्रदायों की धर्म-साधना के मेरुदण्ड-रूप तत्त्ववाद क्रमबद्ध दर्शन का रूप धारण करते रहे। अठारहवीं-शताब्दी के अन्त में कबीर-पन्थियों ने भी अपने महान् गुरु की शिक्षाओं को क्रमबद्ध दर्शन का रूप देना चाहा। गोस्वामी तुलसीदास का अत्यन्त मनोमुग्धकर काव्य भी परवर्ती काल में क्रमबद्ध दर्शन पाने का प्रयासी हुआ; पर लोकचित्त से वह इतना उलझा हुआ था कि उसका तत्त्ववाद का प्रयास बहुत सफल नहीं हो सका। महाप्रभु चैतन्यदेव के तिरोधान के बहुत थोड़े अर्से में ही उनका सम्प्रदाय 'अचिन्त्य भेदाभेद' नामक अभिनव दर्शन का अधिकारी हुआ। कहते हैं कि वृन्दावन के वैष्णव पण्डितों को किसी सभा में जब ललकारा गया कि चैतन्य-मत का कोई अपना वाद या भाष्य हो तो बताओ, तो बलदेव विद्याभूषण ने एक दिन की मुहलत लेकर रातों-रात भाष्य तैयार कर दिया। इस कहानी से इतना तो पता चल ही जाता है कि इस प्रकार का प्रयत्न बुद्धिजीवियों और अभिजात लोगों की स्वीकृति पाने के उद्देश्य से किया गया होगा।

--> प्रकाश्य लोके भवान महायानमनुत्तमा
प्रासाद भूमि मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्।

—लंकावतारसूत्र, पृष्ठ 286

धर्म-ग्रन्थों के आख्यानों से मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का संकलन करके जब क्रम-बद्ध दर्शन का रूप दिया जाता है, तो उसके मूल मे अभिजात-वर्ग का स्वीकृति-लाभ एक प्रधान कारण होता है। ऐसा जान पड़ता है कि ईसापूर्व की कुछ शताब्दियों में वैदिक और अवैदिक मतों का बड़ा घोर मन्थन हुआ था और भिन्न-भिन्न साधना-मार्गों के अनुयायियो को अपने-अपने मत को क्रमबद्ध दर्शन का रूप देने की आवश्यकता पड़ी थी। विविध सूत्र-ग्रन्थों ने उस आवश्यकता की पूर्ति की। साथ ही ऊपर-ऊपर तत्त्ववाद के बौद्धिक विवेचन का विषय हो जाने पर भी कम बुद्धिवृत्ति के लोग तत्त्ववाद-विहित साधना-प्रणाली से या तत्त्ववाद के आख्यानात्मक धर्म-ग्रन्थो से अपना काम चलाते रहे। विविध पुराणों मे विभिन्न दर्शनों के रूप प्राप्त होते है—वैदिक मतों के भी और बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतो के भी। इन पुराणों और आख्यान-ग्रन्थो की सख्या बहुत है। प्राय सभी सूत्र-ग्रन्थ अपने पुराने पुरस्कर्त्ताओ का उल्लेख करते है। यहाँ प्रकृत यह है कि योग-दर्शन ने जब एक निश्चित बौद्धिक तत्त्ववाद का रूप धारण किया, तो लोक-जीवन मे उसका केवल प्रक्रिया-प्रधान एक रूप रह गया होगा, जो कम बुद्धिवृत्ति के साधुओ मे प्रचलित होगा। गृहस्थों के लिए लिखे गये पुराणो और आख्यान-ग्रन्थों मे उसका वह पुराना रूप भी रह गया होगा, जो तत्त्ववाद और भक्ति तथा धर्म-साधना के मिश्रित रूप हुआ करते है। पातञ्जल-दर्शन बहुत ही सूक्ष्म और जटिल बौद्धिक शास्त्र के रूप मे प्राप्त होता है। वह साधारण जनता का नही, बल्कि उपरले स्तर के बुद्धिवृत्ति के लोगों का दर्शन है। कम बुद्धिवृत्ति के लोगों मे योग-मत का प्रक्रिया-प्रधान रूप बराबर बना रहा और मध्ययुग मे (जब संस्कृत की चर्चा अधिकाधिक जनसम्पर्क से दूर पड़ती गयी) उसने फिर देशी भाषाओं के माध्यम से आत्म-प्रकाश किया। संस्कृत में भी इस युग में पुस्तकें लिखी गयी; पर वे भी प्रधान रूप से प्रक्रिया-प्रधान ही थी।

पातञ्जल-योग-दर्शन मे समूचे शास्त्रार्थ को चार भागो में विभक्त करके समझाया गया है—(1) हेय, (2) हेय-हेतु, (3) हेय हान और (4) हानोपाय। जितने दुःख हैं और उन दु.खों को उत्पन्न करनेवाले जितने पदार्थ हैं, वे सभी हेय अर्थात् त्याग-योग्य है। फिर भी मनुष्य इन दुःखो को स्वीकार करता है। क्या कारण है? शास्त्र ने इसका कारण अविद्या बताया है। वस्तुतः किसी वस्तु का यथार्थ रूप, गुण और परिणाम न जानने के कारण ही जीव उसे गलत समझता है। इस गलती के कारण ही स्वयं अपने-आपको उसका भोक्ता मान लेता है और उन वस्तुओ को भोग्य मान लेता है। यह जो भोक्ता-भोग्य-भावरूप संयोग है, वही हेय-हेतु है। इस संयोग का कारण अविद्या या गलत ढंग की जान-कारी है। इसलिए वास्तविक हेयहेतु अविद्या को ही समझना चाहिए। अविद्या न हो, तो जीव हेय वस्तुओ को स्वीकार ही न करे, और हेय को स्वीकार न करे, तो उसे कोई दुःख भी न हो। इसलिए प्रधान समस्या है इस हेय-हेतु से छुटकारा पाना। कैसे छुटकारा मिले? स्पष्ट ही गलत जानकारी से बचने का उपाय है

सही जानकारी—ठीक ज्ञान, सही जानकारी अर्थात् विवेकख्याति। जब जीव जान जाता है कि आत्मा क्या है और अनात्मा क्या है, चित् वस्तु क्या है और जड़ वस्तु क्या है, दु:ख क्या है और दुःख से विरति क्या है, जब वह सत् और असत् का ठीक-ठीक विवेक करने लगता है, तभी अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम प्रतिपाद्य है और इसी का उपाय बताना शास्त्र का उद्देश्य है। हेय-हान का उपाय ही हानोपाय है। शास्त्र ने 'विवेकख्याति' के उपायों का विस्तृत विवेचन किया है। जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती, तब तक विविध योगांगों का अनुष्ठान करना पड़ता है। योगांग आठ हैं—पाँच बहिरंग और तीन अन्तरंग। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये पाँच बहिरंग हैं और ध्यान, धारणा और समाधि—ये तीन अन्तरंग हैं। इन्हीं आठों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होता है। समाधि सिद्ध होने से योगी चरम सिद्धि पा जाता है। योग-ग्रन्थों में इसके उपाय और महिमा दोनों की बहुत अधिक चर्चा है।

परन्तु मध्यकाल में लोक-भाषाओं में जो योग-सम्बन्धी पुस्तकें लिखी गयीं, उनमें हेय, हेय-हेतु, हेय-हान आदि की इतनी सूक्ष्म विवेचना नहीं की गयी। मुश्किल से भूले-भटके इन शब्दों को स्मरण किया गया होगा। संस्कृत में भी इस काल में जो हठयोग की पुस्तकें लिखी गयीं वे केवल प्रक्रिया ग्रन्थ ही हैं। इनमें आसन, प्राणायाम आदि के अनेक भेदों और विधियों की प्रचुर चर्चा है, ध्यान-धारणा की भी चर्चा है, पर यह स्पष्ट नहीं बताया गया है कि इनसे विवेक-ख्याति किस प्रकार होती है और होने से अविद्या क्यों दूर हो जाती है। पातञ्जल-दर्शन विचार-प्रधान दर्शन-ग्रन्थ है, जबकि मध्ययुग के हठयोगवाले ग्रन्थ प्रक्रिया-प्रधान हैं। परन्तु ज्ञान-मार्ग का प्रभाव उन पर है। यदि उत्तर-मध्यकालीन योग-ग्रन्थों का विश्लेषण किया जाय, तो बाह्य योगांगों पर उनका ध्यान अधिक केन्द्रित मिलेगा। फिर इन पाँचों पर समान रूप से जोर नहीं मिलेगा। पातञ्जल दर्शन ने बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्ति-संकोचन) को 'यम' कहा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना)—ये पाँच 'यम' हैं। गोरखनाथ की लिखी बतायी जानेवाली लोक-भाषा की पुस्तकों में किसी-न-किसी रूप में ये बातें आ जाती हैं, पर स्वर उनका नैतिक है। गोरखबानी में ब्रह्मचर्य, मधुर भाषण संयम और सत्य की महिमा इस प्रकार बतायी गयी है :

यत्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा।
गोरष कहे ते परतषि चूहड़ा॥
काछ का यती मुख का सती।
सो सत पुरुष उत्तमो कथी॥

यद्यपि इनका स्वर नैतिक है, पर उन्हें योग-साधना का आवश्यक कर्त्तव्य

माना गया। ज्ञान-चर्चा अधिकतर 'कथनी-प्रधान' है। एक ही बात को कई प्रकार से घुमा-फिराकर, चक्करदार बनाकर, आकर्षक रूप देकर कहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती गयी है। ब्रह्मचर्य-पालन को स्त्री-वर्जन, स्त्री-निन्दा आदि का रूप मिला है। ब्रह्मचर्य का जीवन न बिता सकनेवाले को अत्यन्त कठोर भाषा में स्मरण किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से उसे 'पसिया' (खस्सी, नपुंसक) तक कहा गया है और शिव और सती को भी इस लपेट में आ जाना पड़ा है। परवर्ती ग्रन्थों में इस बात पर कुछ नहीं कहा गया कि 'ब्रह्मचर्य' क्यों कर्त्तव्य है, केवल उसकी महिमा का वर्णन कर दिया गया है और उसके न पालन करनेवालों की खबर ली गयी है :

रांडी तज्या न पसिया जोवै
पुरुष तज्यां नहि नारी।
कहैं नाथ वे दोन्यू विनसे
घोपा की असवारी।
तो जुग रांड्या जोगेसुर ब्याह्या,
सिवसक्ती सूं फेरा।
जा पद मंदिर पुरुष बिलंब्या,
वहि मंदिर घर मेरा।

इसी प्रकार प्रत्येक 'यम' का रूप उत्तरोत्तर कथनी-प्रधान, कटु आलोचना-प्रवण और कभी-कभी खीझ से भरी गाली-गलौज के रूप में भी प्रकट हुआ है।

शास्त्र में इन यमों के विपरीत आचरण को 'वितर्क' कहा गया है। इसका फल दुःख और अज्ञान है। युक्तिपूर्वक बताया गया है कि क्यों यमों का पालन कर्त्तव्य है और क्यों वितर्कों से बचना आवश्यक है। इन वितर्कों के दमन और संयम की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पांच प्रकार के नियम बताये हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का ध्यान। परवर्ती लोक-भाषा के ग्रन्थों में इन सबकी कुछ-न-कुछ चर्चा है, पर स्वर नैतिक है और भाषा में कभी-कभी इनके विरुद्ध आचरणवालों के प्रति क्रोध का स्वर भी मिल गया है। आसन और प्राणायाम मध्यकाल के योग-ग्रन्थों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान अधिकार करते हैं। आसन और प्राणायाम शरीर-साध्य हैं, परन्तु प्रत्याहार मानसिक है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, इन बाहरी पदार्थों से इन्द्रियों को हटाकर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना पड़ता है। इस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क नहीं होने से वे (इन्द्रियगण) चित्त का पूर्ण अनुकरण करते हैं। इसी अवस्था का नाम प्रत्याहार है। शास्त्र में इन पांचों को बहिरंग साधन इसलिए बताया गया है कि इन पांचों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—का कार्य-सिद्धि से बाहरी सम्बन्ध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांगों का कार्य-सिद्धि से साक्षात् सम्बन्ध है, इसलिए उन्हें अन्तरंग साधन कहा गया है। इन तीनों को एक ही नाम

'संयम' से भी ग्रभिहित किया गया है। इनकी पारस्परिक एकता दिखाना ही इस एक नाम देने का उद्देश्य है। वस्तुतः जब ध्यान, धारणा ग्रौर समाधि एक ही विषय का ग्राश्रय करके होते है, तभी योगाग कहे जा सकते है। एक के ध्यान, दूसरे की धारणा ग्रौर तीसरे की समाधि को योग नही कहा जा सकता। नाना विषयो मे लगे हुए विक्षिप्त चित्त को किसी एक ही विषय पर केन्द्रित करने को धारणा कहते है; धारणा से जब चित्त कुछ स्थिर हो जाता है, तब ध्येय विषय की एकाकार चिन्ता होती है; ग्रौर जब यह ध्यान निरन्तर ग्रभ्यास के कारण स्वरूप-शून्य-सा होकर ध्येय विषय के ग्राकार के रूप में प्रतिभासित होता है, तो उसे समाधि कहा जाता है। शास्त्र ने सावधान कर दिया है कि यह ग्रन्तरंग ग्रौर बहिरंग भेद केवल सम्प्रज्ञात समाधि के लिए है, ग्रसम्प्रज्ञात समाधि के लिए तो सभी बहिरंग ही हैं।

ऐसा जान पडता है कि उत्तर-मध्यकाल में इन योगांगो को लोक-भाषा मे लिखने की परिपाटी दीर्घकाल से चली ग्राती हुई परम्परा का ग्रन्तिम रूप है। यह परम्परा लोक-भाषा मे थी ग्रौर लोकहित ही उसका प्रधान लक्ष्य था। धीरे-धीरे उसका नैतिक स्वर ही प्रबल होता गया ग्रौर साधनात्मक रूप मद्धिम पड़ता गया। निर्गुणियों ग्रौर निरंजनियो की वाणियों मे इनका यही नैतिक रूप बचा रह गया है। मध्यकाल के साहित्य के विश्लेषण से इस नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि जहाँ सन्त-साहित्य मे प्रधान रूप से यह नैतिकता-प्रधान स्वर ही जीवित रह सका, वहाँ विशुद्ध योगमार्गियो ने प्रक्रियावाले रूप को ही कसकर पकड़ रखा। साहित्य मे वह कम ग्राया, पर साहित्य को निरन्तर प्रभावित करता रहा। उधर विवेकख्याति पर जोर देनेवाले सम्प्रदायों ने उसके ज्ञानमूलक ग्रंश को ही कसकर पकड़ा। इस प्रकार एक ग्रोर तो प्रक्रिया-प्रधान योग-मार्ग साधना-विधि से ही चिपटता गया ग्रौर दूसरी ग्रोर मानस-शुद्धि से विवेकख्याति प्राप्त करने को सब-कुछ माननेवाले ग्रधिकाधिक 'कथनी'-प्रधान होते गये। 'कथनी' ग्रौर 'करनी'—ये दो मार्ग मध्यकाल मे बहुत स्पष्ट हो गये। गोरखनाथ ने 'करनी' को दुःखलभ्य या दुहेली कहा है ग्रौर 'कथनी' ('कहणि') को सुख-लभ्य या सुहेली बताया है; ग्रौर जो लोग करनी पर ध्यान न देकर कथनी को ही सब-कुछ मान बैठे, उन्हे यह कहकर उपहास का पात्र माना है कि जिस प्रकार सुग्गा पढता-लिखता है, पर बिल्ली उसे धर दबाती है, उसी प्रकार कथनीवाले पण्डित को माया धर दबाती है ग्रौर उसकी पोथी हाथ मे पडी ही रह जाती है।

"कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि बिन थोथी।
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई खाया, पण्डित के हाथि रह गई पोथी॥"

कोई यह मानने को तैयार नही था कि वह केवल कथनी करता है। दोनो ने दोनो पर कसकर ग्राघात किया है ग्रौर दोनों मे बार-बार सामंजस्य-विधान का भी प्रयत्न होता रहा। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रही कि सम्प्रदाय मे कुछ लोग जब पढ़-लिखकर पण्डित हो जाते थे, तब सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को

संस्कृतबद्ध करके उपरले स्तर में जाने का प्रयत्न करते थे और इस प्रकार लोक-भाषा की रचनाओं का सार छनकर ऊपर आ जाता था। यह भी होता था कि संस्कृत-ग्रन्थों की चुनी हुई बातें भाषा में ले आकर उनका तर्क-युक्तिरहित सार-भाग भाषा में आ जाता था, पर सब मिलाकर यह आन्दोलन जनता का ही बना रहा।

निर्गुण भक्तिमार्ग की आरम्भिक अवस्था ज्ञान की कथनी वाले मार्गों की परम्परा का ही अन्तिम रूप रही होगी। कबीर, दादू आदि के नाम पर पायी जानेवाली वाणियों के विश्लेषण से इस नतीजे पर ही पहुँचना सम्भव है। वस्तुत: इनकी साखियाँ आठ योगांगों के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखी गयी हैं। इन उपदेशों में ज्ञानप्रवण नैतिक स्वर ही प्रधान है, योग-सम्बन्धी स्वर गौण। इसी ज्ञानप्रवण नैतिकता-प्रधान योग-मार्ग के खेत में भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर लता उत्पन्न हुई, उसी का नाम निर्गुण भक्ति-मार्ग है।

सहज और नाथ सिद्ध

हमने देखा है कि इस काल में वेद को अन्तिम और अविसंवादी प्रमाण मानने का आग्रह बहुत अधिक था। परन्तु उस काल की यही एकमात्र प्रवृत्ति नहीं थी। एक दूसरा स्वर वेद-विरोधी भी था। छठी-सातवीं शताब्दी के बाद यह वेद-विरोधी स्वर अधिक स्पष्ट होकर प्रकट होता है। बौद्धों और जैनों में भी वेद-विरोधी स्वर पाया जाता है और वह काफी पुराना है। परन्तु यह नया स्वर कुछ भिन्न श्रेणी का है। इसमें सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान प्रभुसत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है। कभी-कभी तो इसमें अद्वैतवाद का स्वर बहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। ज्यों-ज्यों शताब्दियाँ बीतती गयी हैं, त्यों-त्यों इस विरोध का स्वर केवल दृढ़ ही नहीं कठोर भी होता गया है। क्या यह आर्येतर जातियों की देन है? क्या यह उन जातियों के मनीषियों की प्रतिक्रिया थी जो अब तक आर्यभाषा के माध्यम से नहीं कह सके थे? वाममार्गी तान्त्रिक और योगी तो उल्टी और धक्कामार भाषा में कहने के अभ्यस्त हो गये थे। विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा घटी नहीं। ये लोग अधिकाधिक उत्साह के साथ सीधी बात को भी उलटके जटिल और गुंथीली बनाकर और आक्रामक तथा धक्कामार बनाकर कहते गये। कहने का ढंग कुछ विचित्र-सा था। गोमांस-

भक्षण पाप है, यह सर्वविदित बात है; वारुणी पीना बुरी बात है, यह सभी जानते है; लेकिन हठयोगी यही कहेगा कि नित्य गोमांस-भक्षण करना चाहिए और वारुणी का पान करना चाहिए, क्योंकि यही विष्णु का परमपद है और यही कुलीन का परम कर्त्तव्य है।[1] यह भाषा स्पष्ट ही आक्रामक और धक्कामार है। इसका उद्देश्य भी शायद चिढ़ाना ही है, क्योंकि दूसरे ही श्लोक में स्पष्ट व्याख्या कर दी गयी है कि 'गो' जिह्वा का नाम है और उसे उलटकर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना ही गोमांस-भक्षण है। तालु के नीचे जो चन्द्रस्थान है उससे सोमरस नामक अमृत झरा करता है, वही तो अमर वारुणी है, उसे पाना बड़े पुण्य का फल है। दूसरी बात कहने के लिए पहलेवाले श्लोक की भाषा एकदम आवश्यक नहीं थी। जिह्वा को तालु में उलटने को गोमांसभक्षण कहना बिल्कुल अनावश्यक था। फिर भी ऐसी भाषा का प्रयोग किसी-न-किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही किया होगा। निर्दोष बातों को ऐसी भाषा में कहना जिससे वैदिक आचार में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति के चित्त में धक्का लगे, केवल यही सूचित कर सकता है कि इस प्रकार की बात कहनेवालों के मन में वैदिक आचार के प्रति श्रद्धा नहीं थी। तान्त्रिकों और हठयोगियों के साहित्य से इस प्रकार की बहुत सामग्री संग्रह की जा सकती है। कृष्णाचार्य ने जब कहा था "ऐक्कु न किज्जइ मंत न तंत, णिय घरणी लेइ केलि करंत" अर्थात् मन्त्र-तन्त्र सब बेकार हैं, केवल गृहिणी के साथ केलि करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है, तो वास्तव में वे यह कहना चाहते थे कि महामुद्रा की साधना से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि उन्होंने जप, तप सबकी व्यर्थता बतलायी है, परन्तु इसके लिए इस भाषा की आवश्यकता नहीं थी। इस बात को आसानी से सहज-सरल भाषा में कहा जा सकता था।

योगियों, सहजयानियों और तान्त्रिकों के ग्रन्थों से ऐसी उलटबाँसियों का संग्रह किया जाय तो एक विराट् पोथा तैयार हो सकता है। परन्तु हमें अधिक संग्रह करने की जरूरत नहीं। इस प्रकरण में जो प्रसंग उत्थापित किया जा रहा है, वही हमारे काम के लिए पर्याप्त है।

सहजयानियों में इस प्रकार की उल्टी बानियों का नाम 'सन्ध्या-भाषा' प्रचलित था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मत से 'सन्ध्या-भाषा' से मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आये और कुछ अस्पष्ट लगे, पर ज्ञान के दीपक से जिसका सब स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्या में 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ 'साँझ' मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाश के बीच की सन्ध्या की भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बतायी गयी है। किन्तु ऐसे बहुत-से विद्वान् हैं जो उक्त भाषा का यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पण्डित ने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्द का अर्थ सन्धिदेश की भाषा है।

1. हठयोगप्रदीपिका (3-46-48)

सन्धिदेश भी, इस पण्डित के अनुमान के अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहार की पूर्वी सीमा और बंगाल की पश्चिमी सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही निराधार है, क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बंगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं। महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा-भाषा' है, 'सन्ध्या-भाषा' नहीं। अर्थ अभिसन्धिसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्द को संस्कृत 'सन्धाय' (=अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्ध शास्त्र के किसी-किसी वचन ने सहजयान और वज्रयान में यह रूप धारण किया है। असल में, जैसा कि भट्टाचार्य महाशय ने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदों में से भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं, जिनमें सन्धा-भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाते हैं। परन्तु बौद्ध धर्म की अन्तिम यात्रा के समय यह शब्द और यह शैली अत्यधिक प्रचलित हो गयी थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

लेकिन अन्त तक यह विरोध कुछ कार्यकर नहीं हुआ। राजनीतिक और अर्थनीतिक कारणों ने मूल समस्या को धर दबोचा। ब्राह्मणमत प्रबल होता गया और इस्लाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों के रूप में विभक्त हो गया, तो किनारे पर पड़े हुए अनेक सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिन्दू समाज में शामिल होने का प्रयत्न करने लगे। कुछ सम्प्रदाय मुसलमान भी हो गये। दसवीं-ग्यारहवीं सदी के बाद क्रमशः वेदबाह्य सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवों ने भी ऐसा ही किया और शाक्तों ने भी। परन्तु कुछ मार्ग इतने वेदविरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों से नहीं हो सका; वे धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग-मार्ग में से ऐसे अनेक मतों का संगठन किया। हमने ऊपर देखा है कि गुरु, गुरुभाई और गुरु-सतीर्थ कहे जानेवाले लोगों का मत भी उनका सम्प्रदाय माना जाने लगा है। जालन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और कृष्ण-पाद के प्राप्य ग्रन्थों से उद्धरण देकर सिद्ध किया जा सकता है कि ये लोग वेदों की परवा करनेवाले न थे। इन सबके शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्म-साधना के इस उथल-पुथल के युग में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विचार इतने अधिक विभ्रष्ट थे कि वे किसी प्रकार के योग-मार्ग का अंग बन ही नहीं सकते थे, उन्हें उन्होंने स्वीकार नहीं किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए, वे निश्चय ही बहुत पुराने थे। एक सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जायगा कि आज भी उन्हीं सम्प्रदायों में मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत-से शैव, बौद्ध और

शाक्त सम्प्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिन्दू थे और न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश मे परिचित हुआ तो नाना कारणों से दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मसाधनामूलक दलों मे यह देश विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और वेदानुयायी शाक्त मार्ग थे, वे वृहत्तर ब्राह्मण-प्रधान हिन्दू-समाज मे मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों मे पाया होगा—(1) एक तो वे जो योग-मार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नही थे, (2) दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमो के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्ष-सम्मत योग-मार्ग के उतने नज़दीक नही थे। इनमें से जो लोग गोरक्ष-सम्मत मार्ग के निकट थे उन्हे उन्होंने योगमार्ग मे स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय आ गये जो गोरक्ष-नाथ के पूर्ववर्त्ती थे, परन्तु बाद मे उन्हें गोरक्षनाथी माना जाने लगा। धीरे-धीरे जब परम्पराएँ लुप्त हो गयी तो उन पुराने सम्प्रदायो के मूल प्रवर्त्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का विवाद समूचा स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काल-निर्णय के प्रसंग मे पण्डितो ने रचा है। तथाकथित शिष्यों के काल के अनुसार वह कभी आठवी शताब्दी के सिद्ध होते है तो कभी दसवी के, कभी ग्यारहवीं के और कभी-कभी तो पहली-दूसरी शताब्दी के भी!

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आश्रित नही है। कभी-कभी एकाध प्रमाण परम्पराओ के भीतर से निकल भी आते है।

गोरक्षनाथ और शिव द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की परम्परा स्वयमेव एक प्रमाण है; नही तो यह समझ मे नही आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवित-काल में ही अनेक सम्प्रदायो का संघटन करेगा। सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित होते है और गुरु की अनुपस्थिति में ही मतभेद उपस्थित होते हैं। गुरु के जीवितकाल मे होते भी है तो गुरु उन्हे दूर कर देते हैं। परन्तु प्रमाण और भी है।

'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' मे लिखा है (पृ. 419-20) कि धवलगिरि से लगभग 80-90 कोस की दूरी पर पूर्व दिशा मे वर्तमान त्रिशूल गंगा के प्रभव-स्थान पर्वत पर वाममार्गी लोगो का एक दल एकत्र होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढे। बहुत छानबीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथजी का यश चारों ओर फैल रहा है; यदि उनसे प्रार्थना की जाय कि वह हमें अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार कर लें तो हम लोगो का मत लोकमान्य हो जाय। इन्होने इसी उद्देश्य मे उन्हें बुलाया। सबकुछ सुनकर श्री गोरक्षजी ने कहा—'आप यथार्थ रीति से प्रचार कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं, अथवा प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर अपने अव-लम्बित मार्ग की वृद्धि करना चाहते हैं? यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य

सब झगड़ों को छोड़कर केवल योग-क्रियाओं से ही सम्बन्ध जोड़ लें; इसके अतिरिक्त यदि अपने (पहले से ही गृहीत) मत की पुष्टि करना चाहते तो हम यह नहीं कह सकते कि साधुओं का कार्य जहाँ गृहस्थ जनों को सन्मार्ग पर चढ़ा देना है, वहाँ वे उन विचारों को कुत्सित पथ में प्रविष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जायें।' वाममार्गियों ने—जिन्हें लेखक ने यहाँ 'कापाली' कहा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसलिए गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने मत को अपने मार्ग में स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का उदाहरण भी पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथजी जब गोरखबंसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आये तो वहाँ देवी काली से उनकी मुठभेड़ हो गयी थी। कालीजी को ही हारना पड़ा। फलस्वरूप उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय में शामिल हो गये। तभी से गोरक्षमार्ग में काली-पूजा प्रचलित हुई। इन दिनों सारे भारत के गोरखपन्थियों में काली-पूजा प्रचलित है। यह कथा 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में दी हुई है (पृ. 194-99)।

धर्म और निरंजन मत

इस बात का निश्चित प्रमाण है कि ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी में बिहार और काशी में बौद्धधर्म खूब प्रभावशाली था। उसके हजारों अनुयायी थे, मठ थे, विश्वविद्यालय थे और विद्वान् भिक्षुओं का बहुत बड़ा दल था। सन् 1193 ईसवी में कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बख्तियार ने नालन्दा और ओदन्तपुरी के विहारों और पुस्तकालयों को नष्ट किया। कहते हैं कि जब विजेता सेनापति ने स्थानीय लोगों से पुछवाया कि इन पुस्तकों में क्या है, तो बतानेवाला कोई व्यक्ति वहाँ नहीं मिला। सम्भवतः पहले से ही विद्वान् भिक्षु भागकर अन्यत्र चले गये थे। कदाचित् इसी साल बनारस भी जीता गया और सारनाथ का विहार और ग्रन्थागार नष्ट किये गये। यद्यपि सारनाथ का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त है तो भी ऐतिहासिक पण्डितों का अनुमान है कि वहाँ के पुस्तकागार और मठ को भी अचानक ही जला दिया गया होगा।[1] बौद्धों का धर्म प्रधान रूप से संघ में केन्द्रित था। इन संघों के छितरा जाने से गृहस्थ अनुयायियों का केन्द्रीय

1. सर चार्ल्स इलियट : हिन्दुइज्म : एण्ड बुद्धिज्म : ए हिस्टारिकल स्केच, जिल्द, 2, पृ. 112-13

अनुशासन टूट गया और वे धीरे-धीरे अन्य मतों में मिल गये। फिर भी बौद्ध-धर्म एकदम लुप्त नहीं हो गया। बंगाल और उड़ीसा में उसका जीवित रूप अब भी पाया जा सका है;[1] और बिहार के कुछ हिस्सों में वह बहुत दिनों तक बना रहा, इसका प्रमाण हम अभी पायेंगे।

तिब्बती ऐतिहासिक लामा तारानाथ का कहना है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण बौद्ध सन्त और विद्वज्जन चारों ओर छितरा गये। आज भी नाना स्थानों से बौद्ध-पुस्तकों के मिलते रहने से अनुमान होता है कि ये थोड़ा-बहुत साहित्य-रचना में भी संलग्न थे। कृष्णदास कविराज नामक बंगाली वैष्णव सन्त ने 1582 ई. में प्रसिद्ध पुस्तक 'चैतन्य चरितामृत' लिखी। चैतन्य महाप्रभु की मृत्यु 1533 ई. में हुई थी। 'चैतन्य चरितामृत' के अनुसार चैतन्यदेव जब द्रविड देश में गये थे, तो वहाँ आरकाट जिले के किसी स्थान पर एक बौद्ध विद्वान् से उनकी बातचीत हुई थी। यह शास्त्रचर्चा 1510 ई. के आसपास हुई होगी। इस घटना से अनुमान है कि ईसवी सन् की सोलहवीं शती में बौद्ध पण्डित दक्षिण में वर्तमान थे। तारानाथ ने लिखा है कि 1450 ई. में चेंगलराज नामक किसी राजा ने गया में बौद्ध मन्दिर बनवाया था।[2] पण्डित हरप्रसाद शास्त्री ने एक हस्तलिखित पुस्तक की चर्चा की है जिसका लेखनकाल 1711 ई. है (और जो सम्भवतः मूल रूप में 1699 ई. में लिखी गयी थी)। इसकी भाषा में 'भद्दी संस्कृत, भद्दी हिन्दी और भद्दी बिहारी' *भाषाओं की विचित्र खिचड़ी है।*[3] इसमें बुद्ध के अवतार ग्रहण करने की और सत्ययुग प्रवर्तित होने की बात लिखी हुई है। इसका नाम 'बुद्धचरित' है। इन सब बातों से पता चलता है कि बौद्धधर्म किसी-न-किसी रूप में दीर्घ काल तक जीवित रहा और अब भी किसी-न-किसी रूप में कहीं-कहीं जी रहा है।

1. (क) सर्वप्रथम महामहोपाध्याय प. हरप्रसाद शास्त्री ने 1895 ई. के 'जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल' में एक लेख लिखकर इस सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। बाद में सन् 1971 ई. में 'डिस्कवरी आफ लिविंग बुद्धिज्म इन बंगाल' नाम से एक पुस्तक भी प्रकाशित करायी। तब से अंग्रेजी और बंगला में इस विषय की बहुत चर्चा हुई है।
   (ख) श्री नगेन्द्रनाथ बसु ने 1911 ई. में मयूरभंज आर्कियालाजिकल सर्वे की रिपोर्ट में 'माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स' नाम से एक विस्तीर्ण अध्याय लिखा, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने उड़ीसा में जीवित आधुनिक बौद्धधर्म की ओर पहले-पहल पण्डितों का ध्यान आकृष्ट किया। हिन्दी में भक्तिमार्गी बौद्धधर्म' नाम से भारती भण्डार, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित।
   (ग) बिहार में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती से बौद्धधर्म जीवित था और बाद में चलकर वह कबीरपन्थ में मिल गया, इस बात का प्रमाण इस अध्ययन से मिलेगा। अभी तक इस विषय पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।
2. एनियट, पृ. 113-14
3. देखिए, लेखक का ग्रन्थ 'कबीर'।

सन् 1324 ई. मे तिरहुत के राजा को मुस्लिम ग्राक्रमण के कारण भागना पड़ा। वह ग्रपने साथ ग्रनेक ब्राह्मण पण्डितों को लेता गया। यद्यपि इसका राज्य दीर्घ काल तक स्थायी नही रह सका, पर उसके पश्चात् एक दूसरे हिन्दू राजा जयस्थिति ने पण्डितो की सहायता से समाज का स्तर-विभाजन कर दिया। उसने बौद्ध समाज को भी हिन्दुग्रो की भाँति नाना जातियों मे विभक्त कर दिया। उसने प्रत्येक जाति का पेशा ग्रौर उसकी सामाजिक मर्यादा भी तय कर दी। नेपाल में बौद्धधर्म बहुत प्राचीन काल से पहुँच गया था। ग्रशोक-काल से ही वहाँ इस धर्म के ग्रस्तित्व का प्रमाण पाया जाता है। सातवी शताब्दी के एक शिलालेख मे वहाँ सात शैव, छ बौद्ध तथा चार वैष्णव तीर्थों का उल्लेख है। सो, हिन्दू राजा ग्रौर समाज-व्यवस्थापको ने नये सिरे से मैदान के साथ नेपाल का सम्बन्ध बहुत दृढ किया। नेपाल-स्थित बौद्धधर्म मैदान के ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रभावित भी होता रहा ग्रौर उसे प्रभावित भी करता रहा। ग्राठवी-नवी शताब्दी मे बौद्धधर्म बडे वेग से तान्त्रिक साधना ग्रौर काया-योग की ग्रोर बढ़ने लगा। बाद मे शेष योगियो का एक सम्प्रदाय नाथ-पन्थ बहुत प्रबल हुग्रा, उसमे तान्त्रिक बौद्धधर्म की ग्रनेक साधनाएँ भी ग्रन्तर्भुक्त थी। इस बात से इसने मैदान मे बडा प्रभावविस्तार किया। इन योगियों से कबीरदास का सीधा सम्बन्ध था[1], फिर भी बीजक में नाना स्थानों पर बौद्धों की चर्चा ग्रा ही जाती है। इस बौद्धधर्म का स्वरूप केवल ग्रनुमान का विषय है। ऐसा जान पडता है कि उडीसा के उत्तरी भाग, छोटानागपुर को घेरकर रीवाँ से पश्चिमी बगाल तक के क्षेत्र मे धर्म या निरजन की पूजा प्रचलित थी, जिसके बारे मे ग्रनुमान किया गया है कि यह बौद्धधर्म का प्रच्छन्न (या विस्मृत) रूप था। बिहार के मानभूम, बगाल के बीरभूम ग्रौर बाँकुड़ा ग्रादि जिलों मे एक प्रकार के 'धर्मसम्प्रदाय' का पता लगा है। यह धर्म-मत ग्रब भी जी रहा है :

ग्रों यस्यान्तं नादिमध्यं न च करचरणं नास्ति कायो निनादम् ।
नाकारं नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मैव यस्य ।
योगीन्द्रध्यानगम्यं सकलदलगतं सर्वसंकल्पहीनम् ।
तत्रैकोऽपि निरञ्जनोऽमरवरः पातु मां शून्यमूर्तिः ॥

रमाई पण्डित के 'शून्यपुराण' मे धर्म को शून्य का रूप, निराकार ग्रौर निरंजन कहकर ध्यान किया गया है :

शून्यरूपं निराकारं सहस्रविघ्नविनाशनम् ।
सर्वपरः परदेवः तस्मात्वं वरदो भव ॥
निरंजनाय नम ॥

'धर्माष्टक' नामक एक निरंजन का स्तोत्र पाया गया है जिसको संस्कृत तो

1. देखिए लेखक का ग्रन्थ 'कबीर'

बहुत भ्रष्ट है पर उससे निरंजन के स्वरूप पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है।[1]

कुछ विद्वानों ने नये सिरे से इस शब्द के मूल स्रोत पर विचार किया है। कहा गया है कि 'धर्म' शब्द वस्तुतः आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणी की जातियों की भाषा के एक शब्द का संस्कृतीकृत रूप है। यह कूर्म या कछुए का वाचक है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बताया है कि दुल या दुली शब्द, जो अशोक के शिलालेखों में भी मिलता है और उत्तर-कालीन संस्कृत भाषा में भी गृहीत हुआ है और जो कछुए का वाचक है, आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा का शब्द है। सन्थाल आदि जातियों की भाषा मे यह नाना रूपों मे प्रचलित है। इन भाषाओं में 'ओम' स्वार्थक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम, दुलोम, दरोम का भी अर्थ कछुवा होता है। इसी शब्द का संस्कृत रूप धर्म है जो संस्कृत के इसी अर्थ के साथ गड़बड़ा दिया गया है। इस प्रकार धर्म-पूजा में कछुए का स्थान सम्भवतः सन्थाल-मुण्डा आदि जातियों के विश्वास का रूप है। कबीरपन्थ मे अब भी कूर्म-जी का सम्मान बना हुआ है, यद्यपि उनके दूसरे नाम 'धर्म' की इज्जत बहुत घट गयी है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि मुण्डा लोगों में रमाई पण्डित का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आगे चलकर इस निरंजन मत में इस्लाम का प्रभाव भी मिल गया था, पर वह यहाँ विवेच्य नही है। यहाँ इतना ही लक्ष्य करने की बात है कि पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में धर्म-पूजा एक जीवित मत है। उसके सबसे बड़े देवता निरजन या धर्म है। उन्हें रूप, वर्ण आदि के अतीत और शून्यरूप बताया गया है। इस पन्थ का अपना साहित्य है जिसे बंगाल मे धर्म-मंगल साहित्य नाम

1. ओं न स्थानं न मान न चरणारविन्द रेखं न रूप न च धातुवर्णं।
द्रष्टा न दृष्टि. श्रुता न श्रुतिस्तस्मै नमस्तेऽस्तु निरञ्जनाय।
ओ स्वेतं न पीतं न रक्त न रेतं न हेमस्वरूप न च वर्णकर्णं
न चन्द्रार्कवह्नि उदय न अस्त तस्मै नमस्तेऽस्तु निरजनाय।
ओ न वृक्षं न मूल न बीज न चाकुर शाखा न पत्र न च स्कन्ध-
पल्लव न पुष्प न गन्ध न फल न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरञ्जनाय।
ओ अधो न ऊर्ध्वं शिवो न शक्ती नारी न पुरुषो न च लिंगमूर्ति।
हस्तं न पाद न रूपं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरञ्जनाय।
ओं न पंचभूत न सप्तसागरं न दिशा विदेश न च मेरु मन्दिरं।
ब्रह्मा न इन्द्रं न च विष्णु रुद्रं यस्मै.
ओं ब्रह्माण्डखड न चंद्रदण्ड न कालबीज न च गुरु शिष्य।
न ग्रह न तारा न च मेघजाला तस्मै
ओ वेदो न शास्त्र सध्या न स्तोत्रं मन्त्रो न जाप्यं न च ध्यानकारणं।
होम न दान न च देवपूजा तस्मै.
ओ गम्भीरघोरं निर्वाणशून्य ससारसारं न च पाप-पुण्य।
विकृति न विकर्णो न देवदेव मम चित्त दीन तस्मै नमस्ते.॥

—धर्मपूजा-विधान, पृ. 77-78

दिया गया है। पण्डितों का अनुमान है कि धर्मपूजा बौद्धधर्म का भग्नावशेष है। कुछ दूसरे पण्डितों का अनुमान है कि धर्म या निरंजन देवता वस्तुतः आदि-वासियों के ग्रामदेवता हैं। बाद में जब राढ़भूमि और झारखण्ड में पाल राजाओं का दबदबा बढ़ा तो बौद्धधर्म बहुत सम्मानित हुआ और ग्रामदेवता भी बौद्ध रंग में रंग गये। निरंजन या धर्मदेवता भी बुद्ध के नये रूप में प्रकट हुए। जो हो, धर्म-पूजा में बौद्ध-प्रभाव है अवश्य।

कबीरमत में धर्मदेवता का अवशेष

संक्षेप में स्थिति यह है कि राढभूमि, पूर्वी बिहार, झारखण्ड और उड़ीसा में एक ऐसे परम देवता की पूजा प्रचलित थी (और कहीं-कहीं अब भी है), जिसका नाम धर्म (धर्मराय) और निरंजन या और जिस पर बौद्धमत का जबर्दस्त प्रभाव था। यह भी हो सकता है कि वह बौद्धमत का आरम्भ में प्रच्छन्न रूप रहा हो, पर बाद में विस्तृत रूप बन गया हो। कबीरमत को इस पन्थ से निबटना पड़ा था। विशेष रूप से कबीरपन्थ की दक्षिणी शाखा (अर्थात् धर्मदासी सम्प्रदाय) को इस प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मत को आत्मसात् करने का श्रेय प्राप्त है। इस सम्प्रदाय को माननेवालों पर अपना प्रभावविस्तार करने के लिए कबीरमत में उनकी समूची जटिल सृष्टि-प्रक्रिया और पौराणिक कथाएँ ले ली गयी थीं। केवल इतना सुधार सर्वत्र कर लिया गया था कि निरंजन के प्रभाव से जगत् को मुक्त करने के लिए सत्यपुरुष ने बार-बार ज्ञानीजी को इस धराधाम पर भेजा था। ज्ञानीजी कबीर का ही नामान्तर है।

इस प्रसंग में लक्ष्य करने की बात यह है कि जिस प्रकार उड़ीसा में बौद्ध-धर्म वैष्णवधर्म के रूप में आविर्भूत होकर भी ब्राह्मणों का कोपभाजन बना था, उसी प्रकार उन क्षेत्रों में भी हुआ था जो 'बीजक' के प्रचार-क्षेत्र में आते थे। 'विप्रमतीसी' में ब्राह्मणों के वैष्णव-विद्वेष का उल्लेख है :

हरि भक्तन के छूत लगायी।
....
विष्णुभक्त देखे दुख पाये।

'कबीरवानी' और 'अनुरागसागर' में कबीरदास के मुँह से कहलवाया गया है कि काल (निरंजन) कबीर के नाम पर बारह पन्थ चलायेगा, जो लोगों को कबीर की वास्तविक शिक्षाओं से वंचित रखकर उन्हें भ्रम के फन्दे में डाले

रखेगा। 'कबीरवानी' के अनुसार[1] इन बारह मतों में से तीसरे का नाम 'मूल-निरंजन' मत है। हमें किसी अन्य मूल से यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह 'मूलनिरंजन' मत क्या था। 'कबीरवानी' में केवल इसका नाम-भर दिया गया है। परन्तु 'अनुरागसागर' में इस पन्थ का कुछ विस्तृत वर्णन दिया गया है। यह वर्णन भी अस्पष्ट ही है। इससे ही पता चलता है कि काल का 'मनभंग' नामक दूत 'मूलकथा' को लेकर पन्थ चलायेगा और अपने पन्थ का नाम मूल-पन्थ कहेगा। वह जीव का 'लूदी' नाम समझायेगा और इसी नाम को 'पारस' कहकर प्रचार करेगा। 'भंग' शब्द का सुमिरन मुँह से कहेगा और समस्त जीवों को एक साथ पकड़कर रखेगा।[2] ऐसा जान पड़ता है कि कबीर-पन्थ की प्रतिष्ठा के बाद भी मूलनिरंजन सम्प्रदाय ने एक बार सिर उठाया था और उस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा कायम करनी चाही थी, जिसे कबीर-पन्थी साहित्य में कबीर-महिमा के प्रचार के लिए उपयोग में लाया गया है। परन्तु कबीर-पन्थी पुस्तकों से मालूम होता है कि इस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास करनेवाला यह मूलनिरंजन पन्थ अपने को कबीर मतानुयायी ही मानता था। जो हो, कबीर-साहित्य से इस विस्मृत, किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, मत का यत्किंचित परिचय मिलता अवश्य है।

कबीर-पन्थ की सृष्टि-प्रक्रिया विषयक पौराणिक कथा का संक्षिप्त विवरण लेखक ने अन्यत्र दिया है।[3] उसका पुनरुल्लेख यहाँ विस्तार-भय से छोड़ दिया जा रहा है। इससे हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :

1. कबीरपन्थ का एक ऐसा प्रतिद्वन्द्वी मार्ग था जिसके परम-देवता निरंजन थे। इस देवता के दूसरे नाम धर्मराज[4] और काल थे।

1. 'कबीरवानी', पृ. 46-47
2. चौथा पंथ सुनो धर्मदासा।
मनभंग दूत करै परकासा ॥
कथामूल लै पंथ चलावै
मूल पंथ कहि जग महिं आवै ॥
लूदी नाम जीव समुझाई।
यही नाम पारख ठहराई ॥
भग शब्द सुमिरन भाखे।
सकल जीव थाका गहि राखें ॥—'अनुरागसागर', पृ. 94-95
3. दे. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर,' पृ. 52-70
4. 'धर्मगीता' में महादेव दास ने कहा है कि जिस शून्य में महाप्रभु का वास है उसे ही बैकुंठ कहा जाता है।
शून्य थीर्म याहार शून्य भोगवासी,
न शोभे वचन रूप रेख नाहि किछि।
से आधार भुवने से प्रभुङ्कु आसन।
से स्थान सबुङ्कु शुद्ध बैकुंठ भुवन।—'माडर्न बुद्धिज्म,' पृ. 190

2. इस निरंजन का निवासस्थान उत्तर में मानसरोवर में था।

3. ब्रह्मा का चलाया हुआ ब्राह्मणमत इस निरंजन को समझ न सकने के कारण मिथ्यावादी और स्वार्थी हो गया। यह ब्राह्मणमत भी कबीरपन्थ का प्रतिद्वन्द्वी था।

4. निरंजन को पाने के लिए शून्य का ध्यान आवश्यक था।

5. उड़ीसा के जगन्नाथजी निरंजन के रूप हैं।[1]

6. द्वितीय, चतुर्थ और पंचम निष्कर्ष से अनुमान किया जा सकता है कि निरंजन बुद्ध का ही नाम था।

7. निरजन ने सारे ससार को भरमा रखा है—ऐसा प्रचार कबीरपन्थ को करना पड़ा था।

8. 'अनुरागसागर', 'स्वासगुंजार' आदि ग्रन्थों से केवल दो प्रतिद्वन्द्वी मतों का पता चलता है—निरंजन द्वारा प्रवर्तित निरजनमत और ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मणमत। तीसरा मत विष्णु द्वारा प्रवर्तित वैष्णवमत है। कबीरपन्थ के ग्रन्थ इस मत को कथंचित् अनुकूल पाते हैं।[2]

9. 'स्वासगुंजार' आदि ग्रन्थों मे प्राप्त यह कथा प्रायः उलझे हुए रूप में मिलती है जो इस बात का प्रमाण है कि यह किसी भूली पुरानी परम्परा का भग्नावशेष है।

इस प्रकार यद्यपि रचना की दृष्टि से बहुत-सी रचनाएँ परवर्ती हो सकती हैं, फिर भी उनसे अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड सकता है। कबीर-पन्थी साहित्य के अध्ययन के बिना जिस प्रकार धर्म और निरंजनमत का अध्ययन अधूरा रह जाता है, उसी प्रकार बंगाल, उड़ीसा और पंजाब आदि प्रान्तों के निरंजनमत का अध्ययन किये बिना कबीर-साहित्य का अध्ययन भी अपूर्ण रह जाता है। भारतीय साधना-साहित्य मे यह एक महत्त्वपूर्ण विरोधाभास है कि रचना-काल की दृष्टि से परवर्ती होने पर भी कभी-कभी पुस्तकें अत्यन्त पुरातन परम्परा का पता देती है। गोरक्ष सम्प्रदाय की अनुश्रुतियाँ, कबीरपन्थ के ग्रन्थ, धर्म-पूजा-विधान साहित्य यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत अर्वाचीन है तथापि वे अनेक पुरानी परम्पराओं के अवशेष हैं। समूची भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए इनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। लोकभाषाओं का अध्ययन साहित्य मे अनेक अधभूली, भूली और उलझी हुई परम्पराओं के सुलझाने मे अमूल्य सहायता पहुँचाता है।' भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी के लिए इनकी उपेक्षा हानिकर है।

1. ततः कलौ सप्रवृत्ते समोहाय सुरद्विषः।
   बुद्धनाम्नाऽञ्जनसुत कीकटेषु भविष्यति।—'भागवत', 1-2-24
2. 'कबीर मंसूर', पृ. 64

सन्त-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि

मध्यकाल का सन्त-साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक साहित्य है, परन्तु उसका धार्मिक रूप साधारण जनता के लिए लिखा गया है। इस विषय में तो किसी को मतभेद न होगा कि इस साहित्य में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की आलोचना की गयी है। दीर्घ-काल से प्रचलित धार्मिक विश्वासो, सामाजिक और वैयक्तिक आचरणों के मान तथा विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों पर या तो आक्रमण किया गया है, या उनके सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया है। यह विभिन्न सन्तों के उस तीव्र असन्तोष का फल है जो उन्हे सामाजिक परिस्थितियो के कारण अनुभूत हो रहा था। जिस कवि या लेखक के पास सचमुच ही कुछ कहने की वस्तु होती है, उसके व्यक्तित्व का यदि विश्लेपण किया जाय तो यह मालूम होगा कि समाज में प्रतिष्ठित रूढ़ियो मे वह कुछ ऐसी त्रुटि देख रहा है, जो उसे बुरी तरह से खल रही है। वह खलनेवाली बात का विरोध करता है और उसके स्थान पर कुछ ऐसी बातों को प्रतिष्ठित करना चाहता है जो उसके मन के अनुकूल होती हैं। इसलिए जो भी महापुरुष कुछ कहने लायक बात कहता है, वह किसी-न-किसी रूप मे सामाजिक परिस्थितियो से असन्तुष्ट होता है और किसी-न-किसी बात का प्रचार करना चाहता है। वह जो कुछ कहना चाहता है, उसकी उपादेयता पर ही उसके वक्तव्य का महत्त्व होता है। लेकिन उपादेयता क्या है, इस विषय मे नाना मुनियों के नाना मत हैं। हम अभी इस प्रश्न पर नही आना चाहते। आगे इस पर विचार करने का भी हमें अवसर मिलेगा। अभी इतना जान रखना आवश्यक है कि लेखक जब देने लायक कुछ देता है तो उसके चित्त मे कहीं-न-कही और किसी-न-किसी प्रकार की सामाजिक त्रुटि से उत्पन्न व्याकुलता अवश्य रहती है।

जिसे हम आजकल सन्त-साहित्य कहने लगे हैं, वह वस्तुतः निर्गुण भक्ति-मार्ग का साहित्य है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उत्तर भारत में भक्ति-मार्ग को रामानन्द ले आये थे और सौभाग्य से उन्हें कबीर-जैसा शिष्य मिल गया था। कबीर के अनुयायियो में यह दोहा प्रचलित है :

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
प्रगट किया कबीर ने सप्त दीप नव खण्ड॥

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में जो श्रीमद्भागवत माहात्म्य है, उसमे भक्ति के मुख से यह कहलवाया गया है कि मैं द्रविड़ देश मे उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बड़ी हुई, कहीं-कहीं महाराष्ट्र मे विहार करती हुई अन्त में गुर्जर देश मे आकर जीर्ण हो गयी। फिर घोर कलिकाल में पाखण्डियों ने मेरा सिर खण्ड-खण्ड कर दिया, और मैं अपने पुत्रों के साथ दुर्बल होकर क्षीण हो गयी। अन्त में वृन्दावन में मुझे नया रूप प्राप्त हुआ और यहाँ आकर युवावस्था मे मनोरम रूप प्राप्त करने

में समर्थ हो सकी :

उत्पन्ना द्राविडेचाहं वृद्धि कर्णाटके गता:
क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता:

कबीरपन्थियों में प्रचलित दोहे से श्लोक का इतना ही साम्य है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई थी और वहाँ से क्रमशः उत्तर दिशा को आयी। परन्तु द्रविड़ देश में जो भक्ति उत्पन्न हुई थी, उसका वही रूप नहीं है जो कबीर आदि निर्गुण सन्तों में प्राप्त होता है। इसका क्या कारण हो सकता है ? निःसन्देह यहाँ कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण द्रविड देश की उत्पन्न भक्ति ने उत्तर में आकर यह रूप ग्रहण किया। साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि उस भक्ति ने उत्तर भारत के दो श्रेणी के भक्तों मे दो रूप ग्रहण किये। जो भक्त ऊँची जातियो से आये थे उनमे उसने जो रूप ग्रहण किया, वह परम्परा-प्रचलित विश्वासों के प्रति उतने तीव्र और आक्रामक रूप मे नही प्रकट हुई जिस आक्रामक रूप में वह उन भक्तो में प्रकट हुई जो समाज की निचली श्रेणी की जातियों के भीतर से आये थे। प्रथम श्रेणी के भक्तो ने समाज मे प्रचलित शास्त्रीय आचार-विचार, व्रत-उपवास, ऊँच-नीच की मर्यादा को स्वीकार कर लिया। उनका असन्तोष दूसरी श्रेणी के भक्तों के असन्तोष से बिल्कुल भिन्न था। वे सामाजिक व्यवस्था से असन्तुष्ट नही थे। वे लोगों के भोगपरक भगवद्-विमुख [illegible]

किया था। तुलसीदास, सूरदास, आदि सगुणमार्गी भक्तों की वाणियों मे गणिका, अजामिल के तरने की चर्चा बार-बार आती है। पौराणिक विश्वास के अनुसार ये लोग उच्च कोटि का जीवन-यापन करनेवाले नही थे। लेकिन 'भाव कुभाव अनख आलसहूँ' किसी प्रकार इनके मुख से भगवान् के नाम निकल गये और वे तर गये। इन नामों का भक्ति-साहित्य में आना भक्तों के अत्यधिक वैयक्तिक दृष्टिकोण का परिचायक है, जिसमें केवल साधु उद्देश्य पर ही जोर दिया गया है। उस उद्देश्य का फल क्या होगा, इस पर ध्यान नहीं दिया गया।

दूसरी ओर निचली श्रेणी से आये हुए भक्तों मे सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र असन्तोष का भाव व्यक्त होता है, यद्यपि उनमें भी वैयक्तिक साधु-बुद्धि पर कम जोर नहीं दिया गया।

इतना तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष में दो प्रकार का अत्यन्त स्पष्ट सामाजिक स्तर था। एक में शास्त्र के पठन-पाठन की व्यवस्था थी और उनके आदर्श पर संगठित सामाजिक व्यवस्था के प्रति सहानुभूति थी, और दूसरे में सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र असन्तोष का भाव था।

यह अवस्था एक दिन की उपज नहीं थी। दीर्घकाल तक इसको खुराक मिलती रही। वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा इस देश में बहुत पहले से हो चुकी थी। नाना उतार-चढ़ावों के रहते वेद अन्त तक भारतीय जनता के परम आदर-श्रद्धा

के पात्र बने रहे। जैसा कि पहले कहा गया है, सन् ईसवी की छठी-सातवीं शताब्दी के ग्रास-पास एक विशेष प्रवृत्ति का परिचय इस देश में पाया जाता है। बहुत-से धर्ममतों को नीचा दिखाने के लिए उन्हें वेदवाह्य कह दिया जाता है। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती ही जाती है। बाद में किसी सम्प्रदाय को ग्रवैदिक कह देना, उसे लोक-दृष्टि में हेय बनाने का साधन बन गया। लेकिन एक ग्रोर प्रवृत्ति भी उन दिनों उतने ही उग्र रूप में पायी जाती है, जिसकी चर्चा बहुत कम हुई। इसमें वेदों को ही तुच्छ बताने की प्रवृत्ति है। सातवीं-ग्राठवीं शताब्दी के तान्त्रिकों में वेदविहित ग्राचार को हेय घोषित करने की प्रवृत्ति बहुत तीव्र है। बताया गया है कि ग्राचार सात प्रकार के होते हैं। पहला वेदाचार सबसे हेय ग्राचार है जिसमें वैदिक काम्य कर्म, यज्ञ-यागादि विहित है; दूसरा वैष्णवाचार है जिसमे निरामिष भोजन ग्रोर पवित्र भाव से व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य ग्रोर भजन-पूजन का विधान है। इससे थोड़ा ग्रच्छा शैवाचार है जिसमें यम-नियम, ध्यान-धारणा, समाधि ग्रोर शिव-शक्ति की उपासना का विधान है। इन तीनों ग्राचारों से श्रेष्ठ है दक्षिणाचार। इसमे उपर्युक्त तीनों ग्राचारो के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल मे भंग ग्रादि मादक वस्तुग्रों का सेवन ग्रोर इष्ट मन्त्रों का जप विहित है। लेकिन यद्यपि वैदिक से वैष्णव, उससे शैव ग्रोर शैव से दक्षिणाचार श्रेष्ठ है, तथापि ये सब पशु-भाव की ही साधनाएँ है; वीर-भाव के साधक के लिए पाँचवाँ ग्राचार वामाचार है जिसमें ग्रात्मा की वामा ग्रर्थात् शक्ति के रूप मे कल्पना करके साधना विहित है। उससे श्रेष्ठ ग्राचार है सिद्धान्ताचार, जिसमें मन को ग्रधिकाधिक शुद्ध करके यह वृत्ति उत्पन्न करने का उपदेश है कि संसार मे प्रत्येक वस्तु शोधन से शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेले तक मे कुछ भी ऐसा नही है जो परमशिव से भिन्न हो। पर इनमे सबसे श्रेष्ठ है कौलाचार, जिसमे कोई भी नियम नहीं है। स्पष्ट ही इस प्रकार के सोचनेवाले वैदिक ग्राचार मानते थे। कारण क्या है?

जिन दिनों निर्गुण भक्ति-साहित्य का बीजारोपण हुग्रा, उन दिनों ग्रनेक उथल-पुथल के बाद भारतीय जनता का स्तरभेद प्रायः स्थिर ग्रोर दृढ़ हो चुका था। मोटे तौर पर हम सन् ईसवी की चौदहवीं शताब्दी मे इस नवीन साधना का बीजारम्भ मान सकते हैं। इसके पहले के दो-तीन सौ वर्षों मे भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र मे काफी उथल-पुथल हुई थी। यद्यपि मुसलमानो का प्रवेश इस देश के एक भूभाग में सातवीं-ग्राठवी शताब्दी मे ही हो चुका था, तथापि प्रभाव-शाली मुस्लिम ग्राक्रमण दसवीं शताब्दी के बाद शु[illegible] यह बड़ा विकट काल था।

एक ग्रोर मुसलमान लो[illegible] के [illegible] ग्रोर
बौद्ध-साधना क्रमशः मन्त्र-तन्त्र[illegible] थी।
सन् ईसवी की दसवी शताब्दी[illegible]
स्थापित कर चुका था; फिर भी[illegible]

समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नहीं मानता था। यद्यपि इनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत प्रयत्न किया है कि उनके मार्ग को श्रुति-सम्मत मान लिया जाय, परन्तु यह सत्य है कि अनेक शैव और शाक्त समुदाय ऐसे थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य को एकदम नहीं स्वीकार करते थे। ऊपर हमने यह दिखाया है कि दसवीं शताब्दी के पहले उत्तर भारत में पाशुपत मत कितना प्रबल था। ह्वे नत्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में इस मत का बारह बार उल्लेख किया है। बाणभट्ट के ग्रन्थों में इसकी चर्चा आती है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों कट्टर वेदमार्गी इस सम्प्रदाय को वेदबाह्य मानते थे। शंकराचार्य ने इनके धर्म-विश्वास को 'वेदबाह्येश्वर कल्पना' कहा है। दसवीं शताब्दी के आस-पास ब्राह्मणमत क्रमशः प्रबल होता गया और इस्लाम के आने से एक ऐसा सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हुआ जिससे सारा देश दो प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों में विभक्त हो गया। अपने को या तो हिन्दू कहना पड़ता था या मुसलमान। किनारे पर पड़े हुए अन्य सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। पूर्वी बंगाल के वेदबाह्य सम्प्रदायों के ध्वंसावशेष कई धार्मिक सम्प्रदाय ऐसे थे जिन्होंने मुसलमानों को अपना त्राणकर्त्ता समझा था। ये समूहरूप में मुसलमान हो गये। पंजाब में भी नाथों, निरंजनों और पाशुपतों की अनेक शाखाएँ मुसलमान हो गयीं। गोरखनाथ के समय ऐसे अनेक शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो न तो हिन्दू थे, न मुसलमान। जो शैव और शाक्तमार्गी वेदानुयायी थे, वे वृहत्तर ब्राह्मण-प्रधान हिन्दू-समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। यह प्रयत्न अब भी जारी है। गोरखनाथ के सम्प्रदाय में अनेक बौद्ध, शैव, शाक्त सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हुए; परन्तु इस सम्प्रदाय के भी बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो गये। इनकी संख्या नितान्त नगण्य नहीं है। सन् 1921 ईसवी की जनगणना के अनुसार पंजाब में मुसलमान योगियों की संख्या इकतीस हजार से ऊपर थी। इस प्रकार बहुत-सी जातियाँ वृहत्तर हिन्दू-समाज में स्थान न पा सकने के कारण मुसलमान हो गयीं। मुसलमानों के आने के कारण हिन्दू-समाज में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति भी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हुई। उनकी जातिप्रथा अधिकाधिक कसी जाने लगी। छूत का भय और वर्णसंकरता की आशंका ने समूचे समाज को ग्रस लिया।

प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नयी जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थीं, तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार चलती जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज

अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाणग्रन्थ मानना पड़ा था, पर अपने लम्बे इतिहास में उन्होंने कभी भी किसी शास्त्र के सम्बन्ध में अवज्ञा या अवहेलना का भाव नहीं दिखाया। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, उन्होंने बड़े धैर्य के साथ समस्त शास्त्रों की संगति लगायी। सगुण भाव के भक्तों की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है। पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साहस में है। एक ने सबकुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया, दूसरे ने सबकुछ को छोड़ देने का असीम साहस।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या पाण्डित्य ही इस युग के विचारस्रोत को रूप नहीं दे रहे थे। कम-से-कम हिन्दी के भक्ति-साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अलंकार-शास्त्र और काव्य-गत रूढ़ियों से उसे एकदम मुक्त नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी वह वही चीज नहीं है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य है। विशेषताएँ बहुत हैं और हमें उन्हें सावधानी से जाँचना चाहिए।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकारशास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन आलंकारिकों ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जबकि किसी राजा या देवता-सम्बन्धी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद्विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत् के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है, केवल जड़-जगत् से मानसिक सम्बन्ध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़-जगत् के सम्बन्ध के ही स्थायित्व पर रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त-रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक सम्बन्ध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद्वि-षयक प्रेम को प्रधानता दी जाती। जो लोग शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंग में बारम्बार 'जड़-जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति-शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार हैं। इसीलिए विद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से सम्बन्ध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर भक्ति-शास्त्रियों का दावा है कि अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिए भगवत्प्रेम न तो इन्द्रियग्राह्य है, न मनोगम्य और न बुद्धिसाध्य। वह अनुभव

द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नही रह जाता। इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन-बुद्धि-स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विश्रमित होता है। भागवत में (11.2.36) इसीलिए कहा है :

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोमियद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेतत् ।

पर निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिए शास्त्र बहुत कम सहायक है। अब तक इनके अध्ययन के लिए जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नही है। हमें अभी तक ठीक-ठीक नही मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन लोकगीत, लोककथानक और लोकोक्तियाँ हैं; और उतने ही महत्त्वपूर्ण विषय है : भिन्न-भिन्न जातियों और सम्प्रदायों की रीति-नीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्ति-साहित्य के पढ़नेवाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है—विशेषकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों मे मौलिक अन्तर था। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा; एक के लिए पिण्ड ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिण्ड; एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुणधारा का वह साहित्य है जिसमें एक ओर कभी न झुकनेवाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ घरफूँक मस्तीवाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने-आपमें स्वतन्त्र नही है। इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तन्त्रमत की अनेक साधनाएँ और चिन्ताएँ आ गयी हैं तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वेदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्यकाल के निर्गुण कवियों के साहित्य में आनेवाले सहज, शून्य, निरंजन, नाद, बिन्दु आदि बहुतेरे शब्द, जो इस साहित्य के मर्मस्थल के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नही आ सकते, जब तक पूर्ववर्त्ती साहित्य का अध्ययन गम्भीरतापूर्वक न किया जाय। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बार-बार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता-जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इसका प्रयोग इस लहजे में किया है कि उससे ध्वनि

निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। ख-सम भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम' अवस्था कहा करते है। 'ख-सम' और 'गगनोपम' एक ही बात है। 'अवधूतगीता' मे इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते है जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नही होते, जो माया-प्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है और जो ज्ञानरूपी अमृतपान का परिणाम है। टीकाकारो ने 'ख-सम' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता' किया है। इस साहित्य मे वह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है, निर्गुण साधको के साहित्य मे उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आयी है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर-प्रयत्नो से साधित समाधि का बहुत आदर करते नही जान पडते। जो सहजावस्था शरीर-प्रयत्नों से साधी जाती है, वह ससीम है और शरीर के साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की ख-समावस्था को सामयिक आनन्द ही मानते थे। मूल वस्तु तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक-कान रूँधने की जरूरत ही नही होती, कन्था और मुद्रा-धारण की आवश्यकता ही नही होती। वह 'सहज समाधि' का अधिकारी होता है—सहज समाधि, जिसमे 'कहूँ सो नाम, सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा' ही है। अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिलाकर न देखने के कारण पण्डित लोग 'खसम' शब्द के इस महान् अर्थ को भूलते रहे हैं। मैंने उल्लिखित 'कबीर' पुस्तक मे विस्तृत भाव से इस शब्द के पूर्वापर अर्थ का विचार किया है और इसीलिए मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीरदास 'खसम' शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरबी अर्थ के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान मे रखते रहे हैं। मेरा विश्वास है कि नेपाल और हिमालय की तराइयों मे जहाँ-जहाँ योग मार्ग का प्रबल प्रचार था, वहाँ के लोकगीत और लोककथानकों से ऐसे अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकता है।

सामाजिक अवस्था का महत्त्व

पुस्तको मे लिखी बातों से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ में लेंगे उनमें प्रचुर कल्पना-

विषय का अध्ययन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस अध्ययन के अन्त मे आधुनिक जातियों की नामावली और उसका विश्लेषण भी सुविधा के लिए जोड़ रहे हैं।

इस महादेश के विशाल जन-समूह में आर्यों के बाद भी अनेकानेक जातियाँ उत्तर-पश्चिम की ओर से आकर इस देश मे बस गयी हैं। इनमें की अधिकाश जातियों ने वैदिक आर्यों के धर्म और समाज-विधान को आंशिक रूप मे स्वीकार कर लिया है। जिन पण्डितों ने नृतत्व-विज्ञान की दृष्टि से भारतीय जन-समूह का अध्ययन किया है, उन्होने लक्ष्य किया है कि इस समूचे जन-समूह में सात प्रकार के चेहरे पाये जाते है: (1) तुर्क-ईरान टाइप; जिसमे सीमान्त और बलूचिस्तान के बलूच, ब्राहुई, और अफगान शामिल है, जो शायद फ़ारसी और तुर्की जातियों के मिश्रण से बना है। (2) हिन्द-आर्य-टाइप; जिसमें पंजाब, राजस्थान और कश्मीर के क्षत्री, राजपूत और जाट शामिल है। (3) शक-द्रविड़ टाइप; जिसमे पश्चिम भारत के मराठे ब्राह्मण, कुनबी, कुर्गी आदि शामिल हैं, यह शक और द्रविड़ जातियों के मिश्रण से बना है। (4) आर्य-द्रविड टाइप; जिसमे उत्तरप्रदेश, कुछ राजस्थान, बिहार आदि प्रदेशों के लोग है। इनका उच्चतम स्तर हिन्दुस्तानी ब्राह्मणों से और निम्नतम स्तर चमारों से बना है। यह टाइप आर्य और द्रविड़ जातियो के मिश्रण से बना है। (5) मंगोल-द्रविड़ टाइप; जिसमे बंगाल-उड़ीसा के ब्राह्मण और कायस्थ तथा पूर्वी बंगाल और असम के मुसलमान हैं। यह शायद मंगोल-द्रविड़ और आर्य के मिश्रण से बना है। (6) मंगोल टाइप; जिसमे नेपाल, असम, बर्मा की जातियाँ हैं। (7) द्रविड़ टाइप, जिसमें गंगा की घाटी से लेकर सिंहल तक मद्रास, हैदराबाद, मध्यप्रदेश आदि की जातियाँ शामिल है (रिज़ली, 'पीपुल ऑव इण्डिया', पृ. 31-33)। अब यह स्पष्ट है कि यद्यपि हिन्दुओं के धर्मशास्त्र के नाम पर सिर्फ आर्यों के संस्कृत ग्रन्थ ही पाये जाते है; तथापि, समूची भारतीय जनता उन ग्रन्थों के प्रतिपाद्य से अधिक विस्तृत है। पहले वैदिक साहित्य से शुरू किया जाय।

न जाने कब से भारतवर्ष में यह प्रथा रूढ हो गयी है कि किसी भी विषय का मूल वेदों में खोज निकालने का प्रयत्न किया जाता है। आधुनिक शोधों से इस प्रथा को और भी बल मिल गया है। भारतीय समाज की सबसे जटिल और महत्त्वपूर्ण विशेषता—इस जातिभेद को भी वेदों से खोज निकालने का प्रयत्न किया गया है, पर इस विषय में बड़ा भारी मतभेद है। भारतीय पण्डितों मे तो इस विषय मे काफी मतभेद होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जातिभेदवाली प्रथा उनके लिए केवल पाण्डित्य-प्रदर्शी वाद-विवाद या समाजशास्त्रीय कुतूहल का विषय नही है, बल्कि एक ऐसी बात है जिसकी अच्छाई या बुराई उनके राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न है, किन्तु विदेशी पण्डित भी इस विषय में एकमत नही हैं। किसी-किसी के मत से इस प्रथा का कोई भी उल्लेख समूचे वैदिक साहित्य में नही है। पर दूसरों के मत से जाति-भेद का मूल बीज वैदिक साहित्य में वर्त्तमान है। वस्तुतः जाति-प्रथा का कोई एक मूल नही है। इसीलिए उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं के

मूल भिन्न-भिन्न स्थानों पर खोजने चाहिए। जहाँ तक वर्त्तमान लेखक ने अपने साहित्य को समझा है, वहाँ तक उसे यह कहने में संकोच नहीं कि वैदिक साहित्य में इस प्रथा के कुछ 'मूल बीज' जरूर वर्त्तमान हैं, परन्तु उस युग मे यह प्रथा धर्म और समाज का इतना जबर्दस्त अंग निश्चय ही नहीं थी। समस्त वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और धर्म गृह्य-श्रौत सूत्रों में शायद ही कहीं जाति शब्द का व्यवहार आधुनिक अर्थ में हुआ हो। यहाँ यह इशारा भी नहीं किया जा रहा है कि वैदिक साहित्य मे बराबर आनेवाले चार वर्णों के नाम को ही जाति-प्रथा का मूल रूप माना जाय, क्योंकि वर्ण और जाति को समानार्थक शब्द नहीं माना जा सकता। परन्तु यह कहने मे कोई संकोच नहीं कि वर्ण-व्यवस्था जातिभेद के बहुत-से लक्षणों के जटिल होने के लिए उत्तरदायी जरूर है। मूल संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों मे ब्राह्मण, क्षत्रिय या राजन्य, विश् या वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों का भूरिशः उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य जातियों की चर्चा तो नहीं है, पर प्रसङ्ग-क्रम से चाण्डाल, पौल्कस, निषाद, दास, शबर, भिषज्, रथकार और वृषल शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया गया है, जिससे जान पड़ता है कि ये चार वर्णों से बाहर है।

अगर हम जातिभेद के आधुनिक रूप का विश्लेषण करें, तो तीन प्रधान लक्षण स्पष्ट ही जान पड़ेंगे : (1) जन्म की प्रधानता, (2) छुआछूत, (3) अन्य जाति में विवाह-सम्बन्ध का निषेध। वस्तुतः इन तीनों बातों का कोई-न-कोई रूप वैदिक साहित्य में मिल जाता है। जन्म की प्रधानता को हम फिलहाल छोड़ते हैं, क्योंकि वह विवाह के प्रश्न से अत्यधिक सम्बद्ध है। यहाँ बाकी दो लक्षणों के विषय में चर्चा की जायेगी।

स्पृश्यास्पृश्य-विचार

छुआछूत का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि उनके चार मोटे-मोटे स्तर हैं; इन स्तरों के और भी कई परत हैं। चार मोटे स्तर ये हैं : (1) वे जातियाँ जिनके देखने से ऊँची जाति के आदमी का अन्न और शरीर दोषयुक्त हो जाते हैं, (2) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँची जाति के आदमी का शरीर तो अपवित्र जरूर है, (3) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँची जाति के आदमी का शरीर तो नहीं, पर पानी या घृतपक्व अन्न दोषयुक्त हो जाते है, और (4) वे जातियाँ जिनके छूने से पानी या घृतपक्व अन्न तो नहीं, परन्तु कच्ची रसोई

दोषयुक्त हो जाती है। वे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा प्रायः देखा गया है कि एक ही जाति, जो बंगाल में तीसरे स्तर में है, मद्रास में दूसरे और राजस्थान में चौथे में। इस पर से यह अनुमान करना बिल्कुल उचित ही है कि यद्यपि हिन्दू-शास्त्रों की प्रवृत्ति तज्जातियों के समूह को हमेशा के लिए स्थिर कर देना रही है, तथापि व्यवहार में कारणवश यह कठोरता कम या अधिक भी होती रहती है। इस तरह उदाहरणों को मूल में अन्यत्र दिखाने का प्रयास किया गया है। यहाँ प्रकृत बात है, वैदिक साहित्य में वर्णित छुआछूत।

यह प्रायः सर्ववादि-सम्मत मत है कि समूची संहिताओं और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इस प्रकार की छुआछूत का उल्लेख नहीं मिलता। धर्मसूत्रों में संसर्ग-दुष्ट, काल-दुष्ट और आश्रय-दुष्ट इन तीन प्रकार के दोषयुक्त अन्न को अभोज्य बताया गया है। इनमें आश्रय-दुष्टता में छुआछूत का कुछ आभास मिलता है। गौतम-धर्मसूत्र में संसर्ग-दुष्ट और काल-दुष्ट अन्न का वर्णन करने के बाद सूत्रकार ने दो और सूत्र लिखे हैं, जिनमें उन आश्रयों का उल्लेख है जिनके यहाँ अन्न अभोज्य हो जाता है ('गौतम-धर्मसूत्र' 17। 15-16)।

वशिष्ठ धर्मशास्त्र (14।104) में भी अभोज्यान्नों की एक लम्बी सूची दी हुई है। परन्तु उसी अध्याय में शास्त्रकार ने अनेक ऐतिहासिक उदाहरण दिये हैं (जैसे अगस्त्य मुनि का मृगया करने पर भी अपवित्र न होना) जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में इन नियमों के पालन में काफी शिथिलता थी। इसी प्रकार आपस्तंब धर्मसूत्र में भी ऐसे बहुत से कर्म और जीविकाएँ हैं, जिनके करनेवालों का अन्न अभोज्य बतलाया गया है। उक्त सूत्र में एक मनोरंजक बात यह है कि एक स्थान पर (2।6।189) ब्राह्मण के लिए क्षत्रियादि तीनों वर्णों का अन्न अभोज्य बताया गया है, फिर आगे चलकर दो बातें उद्धृत की गयी हैं। पहले (2।6।12) में कहा गया है कि 'सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्ज्यमित्येके' अर्थात् किसी-किसी आचार्य के मत से शूद्र को छोड़कर स्वधर्म में वर्त्तमान सभी वर्णों का अन्न ग्रहण किया जा सकता है, और दूसरे (2।6।13) में कहा गया है कि 'तस्यापि धर्मोपनतस्य' अर्थात् दूसरे आचार्यों का मत है कि शूद्र भी अगर अपना धर्मपालन करता हो तो उसका अन्न ग्रहणीय है। इन सूत्रों पर अगर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि सूत्र-काल में छुआछूत से अपवित्र होने की भावना दृढ़ ही होती जा रही थी, पर उसके विषय में नाना प्रकार के मतभेद तब भी वर्तमान थे। यह ध्यान देने की बात है कि इन सूत्रों में केवल अन्न के दुष्ट होने का ही उल्लेख है, अन्यान्य प्रकार के स्पर्शदोष, जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, उन दिनों उद्भावित नहीं हुए थे। ऐसा जान पड़ता है कि स्पर्शदोष शुरू में नहीं माना जाता था, बाद में माना जाने लगा; परन्तु वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग जब बन रहे थे, उन दिनों स्पर्शदोष की भावना जटिल नहीं हुई थी।

अन्तरजातीय विवाह

अब इसके दूसरे प्रधान लक्षण—अन्तरजातीय विवाह के विषय मे विचार किया जाय। वस्तुत: जातिभेद बतानेवाले प्राचीन दृष्टिकोण को समझने के लिए यह विषय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 'मनुस्मृति' मे लगभग छः दर्जन जातियों और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण आदि में शताधिक जातियों की उत्पत्ति वर्णो के अन्तरजातीय रक्त-सम्मिश्रण से ही बतायी गयी है। किसी-किसी आधुनिक नृतत्व-विज्ञानी ने भी कहा है कि भारतवर्ष की जातियो का मूल रक्त के सम्मिश्रण से ही हुआ है। प्रसिद्ध नृतत्वविद् रिजली का भी यही मत है। उन्होने इसी सिद्धान्त के आधार पर यह स्थिर किया है कि जो जाति जितनी ही ऊँची समझी जाती है, उसमे आर्य-रक्त का उतना ही आधिक्य है और जो जितनी ही छोटी समझी जाती है, उसमें उतना ही कम।

'मनुस्मृति' और उसके बाद के धर्मशास्त्र में जातियो को भिन्न-भिन्न वर्णों के प्रस्तार या 'परम्युटेशन-कम्बिनेशन' से उत्पन्न बताया गया है। इसका अगर विश्लेषण करें, तो मन्वादि-शास्त्रों के मत से निम्नांकित पाँच प्रकार से जातियाँ बनी हैं :

1. वर्णों के अनुलोम-विवाह-जन्य जातियाँ।
2. वर्णों के प्रतिलोम-विवाह-जन्य जातियाँ।
3. वर्णों की संस्कार-भ्रंशता-जन्य जातियाँ।
4. वर्णों मे से निकले हुए व्यक्तियों की सन्तानें।
5. भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तरजातीय विवाह-जन्य जातियाँ।

इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि वर्णों मे रक्त-मिश्रण हुआ है। शुरू-शुरू मे ऐसा विधान था कि उच्च वर्ण के लोग अपने-अपने वर्ण के अतिरिक्त निचले वर्णों की स्त्रियों से भी विवाह किया करते थे। 'मनुस्मृति' मे भी यह व्यवस्था है, पर साथ ही इस स्मृति मे ब्राह्मणादि वर्णों का शूद्रा-सहवास निषिद्ध भी बताया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि वर्ण-संकरता का जो दोष आगे चलकर बहुत विकट रूप धारण कर गया, वह शुरू मे ऐसा नही था। ब्राह्मणो और उपनिषदों में पिता के वर्ण के अनुसार पुत्र का वर्ण माना जाता था। वैदिक साहित्य मे इस प्रकार के अनुलोम विवाहोत्पन्न सन्तानों का जो पिता-वर्ण ही माना जाता था, इसके कई उदाहरण मौजूद है। प्रतिलोम विवाह के उदाहरण बहुत कम देखने में आते है।

किसी-किसी पण्डित ने पारस्कर और गोभिल के गृह्यसूत्रों मे से अन्तर-जातीय विवाह के प्रमाण निकाले हैं। परन्तु अन्तरजातीय विवाह का अगर प्रतिलोम विवाह भी अर्थ हो, तो यह वक्तव्य कुछ विवादास्पद हो जाता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (2-19-1) में कवस को दासी-पुत्र बताया गया है, पर इससे

उनके ब्राह्मण होने में कोई बाधा नहीं पड़ी। इस तरह 'पंचविंश ब्राह्मण' (14-6-6) में वत्स का शूद्र से उत्पन्न होना बताया गया है। जाबाला नामक दासी के पुत्र सत्यकाम को, जिसके पिता का कोई पता न था, हारीतद्रुम ने सत्यवादी देखकर ब्राह्मण-रूप में अपना शिष्य स्वीकार किया था, यह कथा बहुत प्रसिद्ध है (छान्दोग्य, 4-4-4)। शर्याति-पुत्री क्षत्रिय सुकन्या ने ब्राह्मण च्यवन से विवाह किया था, यह कथा न केवल महाभारत और पुराणों में पायी जाती है, वरन् 'शतपथ ब्राह्मण' (4-1-5-7) में भी कही गयी है। इसी प्रकार रथवती की पुत्री ने श्यावाश्व से विवाह किया था। (बृहद्देवता, 5-50)। इस प्रकार के अनुलोम विवाह की चर्चा कई जगह वैदिक साहित्य में आयी है, पर कहीं भी ऐसी ध्वनि नहीं है कि इन अनुलोम-विवाहों से उत्पन्न सन्तान किसी तीसरी जाति की हो जाती थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी पुस्तक में इस विषय के और भी बीसियों उदाहरण संग्रह किये हैं, पर ऐसा जान पड़ता है कि धर्म और गृह्यसूत्रों के काल तक आकर अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के सांकर्य से अन्य जाति के बन जाने की धारणा बद्धमूल होने लगी थी।

इन वर्णसंकर जातियों के विषय में जो शास्त्रीय विचार है, उससे प्रकट है कि यह संकरता तीन प्रकार की हो सकती है : (1) माता-पिता दोनों दो और शुद्ध वर्णों के व्यक्ति हों, (2) एक शुद्ध वर्ण और दूसरा वर्णसंकर हो, (3) दोनों वर्णसंकर हों। 'वशिष्ठ-धर्मशास्त्र' में दस वर्णसंकर जातियों की चर्चा है और 'गौतम-धर्मसूत्र' ने दो मत उद्धृत किये हैं—एक के अनुसार वर्णसंकर जातियाँ दस थीं और दूसरे के अनुसार बारह। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इन दोनों शास्त्र-वाक्यों में ऊपर बताये हुए तीन प्रकारों में से केवल पहले को लक्ष्य किया गया है। बोधायन ने जरूर इन तीनों प्रकार के वर्णसंकरों की चर्चा की है—पहली श्रेणी के ग्यारह, दूसरी के दो और तीसरी के भी दो।

हम इन जातियों की सूची देकर पाठकों को नीरस धर्मशास्त्रीय बखेड़ों में नहीं ले जाना चाहते। इनकी चर्चा केवल इसलिए की गयी है कि पाठक इस बात को अच्छी तरह मन में बैठा लें कि वर्णसंकरता की भावना धीरे-धीरे बलवत्तर होती जा रही थी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वैदिक साहित्य के अन्तिम अंश जिन दिनों बन रहे थे, उन दिनों समाज में स्पृश्यास्पृश्य और वर्णसंकरता के प्रति सतर्कता की भावना बढ़ रही थी। पर इससे उन हजारों जातियों और उनके ततोधिक आचारों के विषय में कुछ विशेष नहीं जाना जाता। आचार्य सेन ने नाना शास्त्रीय और अर्वाचीन प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि जातिभेद को वर्तमान रूप में आने देने की मनोवृत्ति आर्यों में अपने आर्येतर पड़ोसियों से आयी है।

इस महाजन-समूह का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए कई प्रकार के वर्गीकरण सुझाये गये हैं। रिज़ली ने इस प्रकार वर्गीकरण किया था : (1) वे जातियाँ जो किसी कबीले का परिवर्तित रूप हैं। आभीर जाति एक विशेष मानव-श्रेणी थी जो घूमती-घामती इस देश मे पहुँची। यहाँ आकर वह विशाल हिन्दू समाज की एक जाति बन गयी। इस प्रकार की जातियो की विशेषता यह होती है कि वे भीतरी मामलों में अपना विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन और रीति-नीति का निर्वाह करती रहती हैं, केवल आंशिक रूप से ब्राह्मण-श्रेष्ठता मान लेती हैं। विवाह, श्राद्ध आदि के अवसर पर ये ब्राह्मणो को बुलाती हैं। पर कभी-कभी इतना भी नही होता। डोम या दुसाध या भूमिज आदि जातियाँ ऐसी है जिन्होंने ब्राह्मण-श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया है, पर शायद ही उनके किसी अनुष्ठान से ब्राह्मणों का सम्पर्क हो। (2) कुछ ऐसी जातियाँ है जो विशेष प्रकार के कार्यों के करने के कारण एक विशेष श्रेणी की हो गयी है। भंगी, चमार, लुहार आदि जातियाँ वस्तुतः भिन्न-भिन्न व्यवसायो के कारण बनी हुई जान पड़ती है। ये जातियाँ हिन्दू समाज मे इतनी अधिक हैं कि कभी-कभी इसी आधार पर समूची जनता का विभाजन किया गया है। (3) कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो मूलतः कोई धार्मिक सम्प्रदाय थीं। अतीथ एक तरह के गृहस्थ संन्यासियो की जाति है। बंगाल के वोस्टम वैष्णव सम्प्रदाय के परिवर्तित जाति-रूप हैं। दक्षिण भारत के लिंगायत भी ऐसे ही शैव साधु हैं। (4) कुछ ऐसी जातियाँ है जो दो जातियो के मिश्रण से बनी हैं। यद्यपि आजकल प्राचीन शास्त्रकारों के द्वारा पुनः-पुनः व्याख्यायित वर्णसंकर जाति के सिद्धान्त को नही मानने का फ़ैशन-सा चल पड़ा है, तथापि ऐसी सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ हैं जो वस्तुतः ही दो जातियों के मिश्रण से बनी हैं। रिज़ली ने ऐसी जातियों की लम्बी सूची दी है। उदाहरणार्थ, मुण्डा जाति की नौ शाखाएँ हैं जिनके नाम है : खंगार-मुण्डा, खरिया-मुण्डा, कोकपत-मुण्डा, सद-मुण्डा, सवर-मुण्डा, करंग-मुण्डा, महिली-मुण्डा, नाववंशी-मुण्डा और ओरांव-मुण्डा। ये नाम ही सूचित करते हैं कि मुण्डा जाति के साथ इन जातियो का मिश्रण हुआ है। (5) ऐसी भी जातियाँ हैं जिन्हें राष्ट्रीय जाति या 'नेशनल कास्ट' कहा का सकता है। रिज़ली ने कहा है कि जिस देश मे किसी प्रकार की राष्ट्रीय भावना विद्यमान नहीं है, वहाँ 'राष्ट्रीय जाति' का होना विरोधाभास-जैसी बात है। परन्तु भारतवर्ष मे ऐसी जातियाँ पायी जाती है जो वस्तुतः एक राष्ट्रीय इकाई का भग्नावशेष है। नेपाल के नेवार ऐसी ही जाति हैं। इनमे कई ऊँची-नीची और मध्यवर्ती जातियाँ है और इनमें हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्म प्रचलित है। इसी प्रकार विदेशी पण्डितों ने पश्चिम भारत की मराठा जाति को भी एक राष्ट्रीय जाति माना है। (6) कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो वस्तुतः मूल निवासस्थान से

दूर जाकर बस गयी हैं। इसीलिए मूल जाति से उनका सम्बन्ध टूट गया है और इस प्रकार एक नवीन जाति के रूप में बदल गयी है। ऐसी जातियों का उदाहरण प्रत्येक प्रदेश में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। (7) फिर ऐसी भी जातियाँ हैं जो रीति-नीति का ठीक पालन न करने के कारण मूल जाति से अलग कर दी गयी हैं और इस प्रकार एक नयी जाति के रूप में बदल गयी हैं। इसी प्रकार की आचार-भ्रष्ट जातियों को मन्वादि धर्मशास्त्रों में व्रात्य कहा गया है। ऐसे व्रात्यों के यहाँ यजन-याजन करनेवाला ब्राह्मण प्रायश्चित्ती बताया गया है।

कभी-कभी विधवा-विवाह के प्रश्न पर एक ही जाति की दो शाखाएँ हो गयी हैं। जो शाखा विधवा-विवाह करती है, वह अधम और जो नहीं करती, वह उत्तम मानी जाती है। आधुनिक काल में देखा गया है कि छोटी जातियों में से कुछ-एक विधवा-विवाह की चलन बन्द करके ऊँची जाति होने का दावा करने लगी हैं।

इस प्रकार इस महादेश को जातियों के सैकड़ों स्तर हैं। नाना पण्डितों ने नाना भाव से इस अनन्य-साधारण भारतीय विशेषता का अध्ययन किया है। रिजली साहब ने अपने अद्भुत पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन के अन्त में इस जाति-भेद के सम्बन्ध में निम्नांकित नौ सिद्धान्त निश्चित किये थे। आचार्य सेन के ग्रन्थ के पाठ के इन सिद्धान्तों का सारांश इस प्रकार है :

1. इस देश के निवासियों की शारीरिक विशेषताओं के सात टाइप हैं (ऊपर देखिए), जिनमें केवल द्रविड़ टाइप ही विशुद्ध देशी टाइप है। हिन्द-आर्य, मंगोल और तुर्क-ईरानी टाइप प्रधानतः विदेशी हैं। बाकी तीन अर्थात् आर्य-द्रविड़, शक-द्रविड़ और मंगोल-द्रविड़ टाइप द्रविड़ जातियों के साथ विदेशी जातियों के मिश्रण से बने हैं।

2. इन विशेष टाइपों के बनने में भारतवर्ष के प्राकृतिक भाव से अन्य देशों से अलगाव का प्रधान प्रभाव रहा है। इस अलगाव का नतीजा यह हुआ है कि प्रत्येक आक्रमणकारी जाति अपने साथ बहुत कम स्त्रियों को ले आ सकी है और इसीलिए इस देश की स्त्रियों से विवाह करने को बाध्य हुई है।

3. इस नियम का एकमात्र अपवाद हिन्द-आर्यों का प्रथम दल रहा है।

4. भारतीय जन-समूह के सामाजिक संगठन में वे दोनों प्रकार की जातियाँ हैं, जिन्हें अंग्रेजी शब्द 'ट्राइब' और 'कास्ट'[1] से सूचित किया जाता है।

1. अंग्रेजी का 'कास्ट' (caste) शब्द उस भाषा में भी नया ही है। यह ठीक उसी वस्तु का द्योतक है, जिसे हम हिन्दी में 'जाति' शब्द से समझते हैं। इस शब्द की एक कहानी है। वास्को-डि-गामा के साथ जो पोर्तुगीज भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर आये, उन्होंने इस देश के निवासियों में यह विचित्र प्रथा देखी। इसे समझाने के लिए गोआ की कौंसिल की रिपोर्ट में castas या caste शब्द का प्रयोग किया गया था। यह शब्द लैटिन के castus शब्द से बनाया गया था और वंशशुद्धि के अर्थ में प्रयोग किया गया था। इस शब्द की व्याख्या से पोर्तुगीज यात्रियों ने छुआछूत की प्रथा को ही अधिक महत्त्व का

→

भारतीय जाति-विज्ञान के विदेशी आलोचकों ने 'ट्राइब' शब्द को इस प्रकार समझाया है—ट्राइब परिवारों या परिवार समूहों का एक ऐसा दल है, जो किसी एक ऐतिहासिक पुरुष या पौराणिक व्यक्ति या किसी विशेष टोटेम के सन्तान-रूप में अपना परिचय देता है। ये साधारणतः एक ही भाषा बोलते हैं, एक ही रीति-नीति का पालन करते हैं और एक विशेष प्रदेश को अपना मूल स्थान बताते हैं। एक ट्राइब का पुरुष या स्त्री दूसरी ट्राइब की स्त्री या पुरुष से विवाह कर सकता है, परन्तु 'कास्ट' में यह बात सम्भव नहीं है। एक 'कास्ट' का व्यक्ति दूसरी 'कास्ट' के व्यक्ति से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं कर सकता। पर ऐसा हो सकता है कि एक ही कास्ट के दो ऐसे कुल हों जो अपना मूलपुरुष दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को बताते हों। आभीर (अहीर) मूलतः एक 'ट्राइब' थी, जो अब 'कास्ट' में परिणत हो गयी है। 'ब्राह्मण' या 'बनिया' कभी भी 'ट्राइब' के रूप में नहीं थे। हिन्दी में 'ट्राइब' के लिए 'सगोत्र जाति' या 'कबीला' और 'कास्ट' के लिए सिर्फ 'जाति' शब्द का व्यवहार किया जा सकता है।

5. सगोत्र जाति और साधारण जाति दोनों ही अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह और अनुलोम-विवाह वाले उपविभागों में विभक्त पायी जाती हैं। अन्तर्विवाह, जहाँ एक जाति का व्यक्ति उसी जाति के व्यक्ति से विवाह करने को बाध्य है; बहिर्विवाह, जहाँ एक जाति का व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह करने को बाध्य है; और अनुलोम-विवाह, जहाँ एक जाति की स्त्री केवल अपने समान या उच्च वर्ण के पुरुष से विवाह करने को बाध्य है, निम्नतर वर्ण से नहीं।

6. बहिर्विवाहवाली जातियों में अधिकांश जातियाँ 'टोटेमिस्ट' हैं ('टोटेम' शब्द की व्याख्या के लिए आचार्य सेन की पुस्तक का पृष्ठ 105 देखिए)।

7. जातियों का वर्गीकरण केवल सामाजिक श्रेष्ठता के आधार पर किया जा सकता है, पर समूचे भारतवर्ष की जातियों के वर्गीकरण की कोई एक योजना नहीं बनायी जा सकती।

8. जातियों के सम्बन्ध में स्मृतियों और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं—अर्थात् जातियाँ संकरतावश या भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तर-जातीय विवाह के कारण बनी हैं—वे शायद ईरान से लिये गये हैं। यद्यपि इसका वस्तुस्थिति से कोई अधिक सम्बन्ध नहीं है, तथापि भारतवर्ष में यह सिद्धान्त सर्वत्र माना जाता है।

9. जातिभेद का मूल-अनुसन्धान एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान कठिन है। हम लक्ष्य किये गये तथ्यों की आंशिक समानता पर से केवल ऐसे

→ माना था। तब से यूरोप में 'जाति' शब्द के साथ छुआछूत की भावना का ही प्रधान रूप से सम्बन्ध माना जाता रहा है; यद्यपि जाति का छुआछूत की अपेक्षा विवाह और जन्म से अधिक घनिष्ठ और अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

अनुमान भिड़ा सकते हैं, जो कम या ज्यादा सम्भव जान पड़ते हैं। जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे निम्न तीन बातों पर अवलम्बित हैं : (क) कुछ-कुछ विशेष-विशेष जातियों के श्रेणी विभाग और विशेष-विशेष शारीरिक विशेषताओं (जिनके द्वारा मानव-मण्डलियो की वैज्ञानिक परख की जाती है) के सम्बन्ध पर; (ख) भिन्न-भिन्न रंगों की मिश्रित जातियों के विकास पर; और (ग) परम्परा-प्राप्त दन्तकथाओं पर।

किन्तु भारतीय जन-समूह का नृतत्त्व-विज्ञान की दृष्टि से किया गया अध्ययन कितना भी महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक क्यो न हो, वह है एकांगी ही। इस विशाल जन-समूह के बनने मे यहाँ के धर्म, आचार, रीति-नीति और सबके ऊपर इसके श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा रचित साहित्य का जबर्दस्त प्रभाव है। भारतीय जनता का अध्ययन करना हो तो उसके विराट् साहित्य, निरवच्छिन्न लोक-गाथाएँ, कला-कौशल, इतिहास-पुरातत्त्व आदि के साथ ही उसकी वहिर्भूमि और भाषाओं का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। जातिभेद की प्रथा देने में यहाँ की पारिपार्श्विक अवस्थाएँ भी उसे प्रभावित कर रही है।

अवतारवाद

अवतार की भावना मध्यकाल मे अत्यन्त प्रबल रूप में प्रकट हुई है, यद्यपि यह मध्यकाल की उपज नही कही जा सकती। वैदिक-साहित्य मे इसकी बहुत कम चर्चा मिलती है। दो देवताओं के अभेद के रूप मे ही जो लोग इसका बीज खोजते हैं, उनका मत बहुमान्य नही कहा जा सकता। ऐसा लगता है कि यह धारणा वैदिकोत्तर काल मे ही पुष्ट हुई है कि भगवान् मनुष्य का या मनुष्येतर जीव का पार्थिव रूप ग्रहण करके भक्तो का उद्धार करते है, धर्म की स्थापना और पापियों का संहार करते है। गीता में अवतार के ये ही उद्देश्य बताये गये हैं। इस विश्वास मे किसी आर्येतर संस्कृति का कितना हाथ है, यह कह सकना कठिन है। परन्तु इतना सत्य है कि बहुत धीरे-धीरे अवतारवाद ने समूचे आर्यावर्त्त के प्रधान विश्वास का रूप धारण किया है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान मे छः अवतारों की चर्चा है। ये छः हैं—वराह, नृसिंह, वामन, भार्गव राम (परशुराम), दाशरथि राम, और वासुदेव कृष्ण। इसके बाद ही एक और स्थल है, जहाँ दस अवतारो की चर्चा है। ऊपरवाले छः अवतारो के अतिरिक्त चार और अवतार ये बताये गये हैं—हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि। ऐसा अनुमान किया गया है कि

यह ग्रंश प्रक्षिप्त होगा (वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड माइनर सेक्ट्स, पृ. 59)। 'हरिवंश' में भी छः ग्रवतारों की ही चर्चा है। बाद में सभी पुराणो में ग्रवतारों की संख्या दस निश्चित मान ली गयी है। परवर्ती काल में नामो मे थोड़ा परिवर्तन होता रहा है, किन्तु साधारणतः संख्या दस ग्रवश्य रही है। ग्राजकल जो दस ग्रवतार माने जाते हैं उनमे मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध ग्रौर कल्कि की गणना है जो सम्भवतः सबसे पहले 'वराह पुराण' में मिलते है। 'ग्रग्निपुराण' में भी इनकी चर्चा है। 'भागवत पुराण' में तीन बार ग्रवतारों का उल्लेख है। प्रथम स्कन्ध के तृतीय ग्रध्याय मे बाईस ग्रवतारों के नाम देने के बाद पुराणकार ने कहा है कि भगवान् के ग्रवतार तो ग्रसंख्य हैं। इन बाईस ग्रवतारों मे नारद भी है जिन्होने नैष्कर्म्य स्थापक सात्वत मार्ग का उपदेश दिया था; सिद्धेश कपिल भी हैं जिन्होंने ग्रासुरि को साख्य ज्ञान सिखाया था; दत्तात्रेय भी है जिन्होने ग्रान्वीक्षिकी विद्या सिखायी थी; ऋषभ भी हैं जिन्होंने सर्वाश्रम-नमस्कृत धीरों के मार्ग को दिखाया था; ग्रौर बुद्ध तो हे ही;— इस प्रकार विभिन्न मतों के उपदेष्टा सभी ग्राचार्यों को भगवान् का ग्रवतार मान लिया गया है। द्वितीय स्कन्ध के सातवें ग्रध्याय में ब्रह्मा की स्तुति है जिसमे ग्रत्यन्त सुन्दर कवित्वपूर्ण भाषा मे ग्रवतारों की चर्चा है। इनकी संख्या तेईस है, पर ग्रन्यत्र बताया गया है कि ये ग्रवतार चौबीस हैं। एकादश स्कन्ध के नवें ग्रध्याय में केवल सोलह ग्रवतारों के नाम गिनाये गये हैं।

'भागवत पुराण' मध्यकाल का सबसे ग्रधिक प्रभावशाली शास्त्र-ग्रन्थर हा है। इस पुराण के ग्रनुसार भगवान् वैकुण्ठ ग्रादि धामों मे तीन रूपों मे रहते हैं—स्वयं रूप, तदेकात्म रूप ग्रौर ग्रवेशरूप। स्वयं रूप तो कृष्ण हैं ग्रौर तदेकात्म रूप मे उन ग्रवतारों की गणना होती है जो तत्त्वतः भगवद्रूप होकर भी रूप ग्रौर ग्राकार में भिन्न होते हैं। मत्स्य, वराह, कूर्म ग्रादि लीलावतार इसके उदाहरण हैं। ज्ञान-शक्ति-विभाग द्वारा भगवान् जिन महत्तम जीवों में ग्राविष्ट होकर रहते है, उन्हें ग्रवेश रूप कहा जाता है। परवर्ती काल में दुष्ट-दमन ग्रादि को भगवान् के ग्रवतार का मुख्य हेतु नही माना गया है। 'लघुभागवतामृत' मे बताया गया है कि भक्तों पर ग्रनुग्रह करने की इच्छा से लीला का विस्तार करना ही भगवान् के प्रकट होने का उत्तम हेतु है :

स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
ग्रस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥

'भागवत पुराण' मे समस्त प्राचीन परम्पराग्रों के सामंजस्य विधान का प्रयत्न है। 'महाभारत' के नारायणीय पुराण मे ऐकान्तिकों के मार्ग की जो चर्चा है, उसका ग्रत्यन्त परिणत ग्रौर परिष्कृत रूप इस पुराण मे पाया जाता है। इसमें तो कोई सन्देह ही नही कि यह एकान्त भक्ति का मार्ग बहुत पुराना है। शान्तिपर्व के 349 वें ग्रध्याय में पाँच प्राचीन मतो का उल्लेख है— साख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद (वेदान्त ?) ग्रौर पाशुपत। इनमें पाञ्चरात्र ग्रौर पाशुपत मत सगुणोपासना-

अनुमान भिड़ा सकते हैं, जो कम या ज्यादा सम्भव जान पड़ते हैं। जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे निम्न तीन बातों पर अवलम्बित हैं : (क) कुछ-कुछ विशेष-विशेष जातियों के श्रेणी विभाग और विशेष-विशेष शारीरिक विशेषताओं (जिनके द्वारा मानव-मण्डलियों की वैज्ञानिक परख की जाती है) के सम्बन्ध पर; (ख) भिन्न-भिन्न रंगों की मिश्रित जातियों के विकास पर; और (ग) परम्परा-प्राप्त दन्तकथाओं पर।

किन्तु भारतीय जन-समूह का नृतत्त्व-विज्ञान की दृष्टि से किया गया अध्ययन कितना भी महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक क्यों न हो, वह है एकांगी ही। इस विशाल जन-समूह के बनने में यहाँ के धर्म, आचार, रीति-नीति और सबके ऊपर इसके श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा रचित साहित्य का जबर्दस्त प्रभाव है। भारतीय जनता का अध्ययन करना हो तो उसके विराट् साहित्य, निरवच्छिन्न लोक-गाथाएँ, कला-कौशल, इतिहास-पुरातत्त्व आदि के साथ ही उसकी बहिर्भूमि और भाषाओं का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। जातिभेद की प्रथा देने में यहाँ की पारिपार्श्विक अवस्थाएँ भी उसे प्रभावित कर रही हैं।

अवतारवाद

अवतार की भावना मध्यकाल में अत्यन्त प्रबल रूप में प्रकट हुई है, यद्यपि यह मध्यकाल की उपज नहीं कही जा सकती। वैदिक-साहित्य में इसकी बहुत कम चर्चा मिलती है। दो देवताओं के अभेद के रूप में ही जो लोग इसका बीज खोजते हैं, उनका मत बहुमान्य नहीं कहा जा सकता। ऐसा लगता है कि यह धारणा वैदिकोत्तर काल में ही पुष्ट हुई है कि भगवान् मनुष्य का या मनुष्येतर जीव का पार्थिव रूप ग्रहण करके भक्तों का उद्धार करते हैं, धर्म की स्थापना और पापियों का संहार करते हैं। गीता में अवतार के ये ही उद्देश्य बताये गये हैं। इस विश्वास में किसी आर्येतर संस्कृति का कितना हाथ है, यह कह सकना कठिन है। परन्तु इतना सत्य है कि बहुत धीरे-धीरे अवतारवाद ने समूचे आर्यावर्त्त के प्रधान विश्वास का रूप धारण किया है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में छः अवतारों की चर्चा है। वे छः हैं—वराह, नृसिंह, वामन, भार्गव राम (परशुराम), दाशरथि राम, और वासुदेव कृष्ण। इसके बाद ही एक और स्थल है, जहाँ दस अवतारों की चर्चा है। ऊपरवाले छः अवतारों के अतिरिक्त चार और अवतार ये बताये गये हैं—हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि। ऐसा अनुमान किया गया है कि

यह अंश प्रक्षिप्त होगा (वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड माइनर सेक्ट्स, पृ. 59)। 'हरिवंश' में भी छः अवतारों की ही चर्चा है। बाद में सभी पुराणों मे अवतारों की संख्या दस निश्चित मान ली गयी है। परवर्ती काल मे नामों में थोडा परिवर्त्तन होता रहा है, किन्तु साधारणतः संख्या दस अवश्य रही है। आजकल जो दस अवतार माने जाते हैं उनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की गणना है जो सम्भवतः सबसे पहले 'वराह पुराण' मे मिलते हैं। 'अग्निपुराण' मे भी इनकी चर्चा है। 'भागवत पुराण' में तीन बार अवतारो का उल्लेख है। प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में बाईस अवतारो के नाम देने के बाद पुराणकार ने कहा है कि भगवान् के अवतार तो असंख्य हैं। इन बाईस अवतारों में नारद भी है जिन्होने नैष्कर्म्य स्थापक सात्वत मार्ग का उपदेश दिया था; सिद्धेश कपिल भी हैं जिन्होने आसुरि को साख्य ज्ञान सिखाया था; दत्तात्रेय भी हैं जिन्होने आन्वीक्षिकी विद्या सिखायी थी; ऋषभ भी हैं जिन्होने सर्वाश्रम-नमस्कृत धीरों के मार्ग को दिखाया था; और बुद्ध तो हैं ही;—इस प्रकार विभिन्न मतो के उपदेष्टा सभी आचार्यों को भगवान् का अवतार मान लिया गया है। द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय मे ब्रह्मा की स्तुति है जिसमे अत्यन्त सुन्दर कवित्वपूर्ण भाषा मे अवतारों की चर्चा है। इनकी संख्या तेईस है, पर अन्यत्र बताया गया है कि ये अवतार चौबीस हैं। एकादश स्कन्ध के नवें अध्याय मे केवल सोलह अवतारों के नाम गिनाये गये हैं।

'भागवत पुराण' मध्यकाल का सबसे अधिक प्रभावशाली शास्त्र-ग्रन्थर हा है। इस पुराण के अनुसार भगवान् वैकुण्ठ आदि धामों मे तीन रूपों मे रहते हैं—स्वयं रूप, तदेकात्म रूप और अवशेप रूप। स्वयं रूप तो कृष्ण है और तदेकात्म रूप मे उन अवतारों की गणना होती है जो तत्त्वतः भगवद्रूप होकर भी रूप और आकार मे भिन्न होते हैं। मत्स्य, वराह, कूर्म आदि लीलावतार इसके उदाहरण हैं। ज्ञान-शक्ति-विभाग द्वारा भगवान् जिन महत्तम जीवो मे आविष्ट होकर रहते है, उन्हें अवशेप रूप कहा जाता है। परवर्ती काल मे दुष्ट-दमन आदि को भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु नही माना गया है। 'लघुभागवतामृत' मे बताया गया है कि भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा मे लीला का विस्तार करना ही भगवान् के प्रकट होने का उत्तम हेतु है :

स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिवृक्षया।
अस्य जन्मादिलीना प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥

'भागवत पुराण' मे समस्त प्राचीन परम्पराओं के सामंजस्य विधान का प्रयत्न है। 'महाभारत' के नारायणीय पुराण मे ऐकान्तिकों के मार्ग की जो चर्चा है, उसका अत्यन्त परिणत और परिष्कृत रूप इस पुराण मे पाया जाता है। इसमें तो कोई सन्देह ही नही कि यह एकान्त भक्ति का मार्ग बहुत पुराना है। शान्तिपर्व के 349 वें अध्याय मे पांच प्राचीन मतों का उल्लेख है— साख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद(वेदान्त ?) और पाशुपत। इनमें पाञ्चरात्र और पाशुपत मत सगुणोपासना-

व्यापक मत हैं। इनमें भक्तितत्त्व की प्रधानता है। पाञ्चरात्र मत के मूल आधार नारायण है और इस मत का साधन-मार्ग ऐकान्तिक भक्ति है। दो बातें इस पाञ्चरात्र मत की विशेषता बतायी जाती हैं। एक तो चतुर्व्यूह की वह कल्पना जिसके अनुसार निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान् ही वासुदेव हैं, वे जब जीव-रूप में अवतार लेते है तो उन्हें संकर्षण कहा जाता है; संकर्षण से जो मन-रूप में अवतार होता है वह प्रद्युम्न कहा जाता है और प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है वही अहंकार है, ईश्वर है, उसे ही अनिरुद्ध कहा जाता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता भागवतों का सर्वमान्य ग्रन्थ है। उसमें 'वासुदेव' शब्द का प्रयोग तो परम दैवत परब्रह्म के रूप मे हुआ है, पर चतुर्व्यूह की कल्पना का कोई उसको आभास नही है। 'भागवत पुराण' के अवतारों मे इस मत का सामंजस्य किया गया है। उसके अनुसार भगवान् के तीन प्रकार के अवतार होते थे; पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। पुरुषावतार तीन प्रकार के हैं: महत्तत्त्व के सृष्टिकर्ता प्रथम पुरुष (संकर्षण), निखिल ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी द्वितीय पुरुष (प्रद्युम्न) और व्यष्टिजगत् के अन्तर्यामी (अहंकार, अनिरुद्ध) तृतीय पुरुष हैं। इस प्रकार वासुदेव, संकर्षण; प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चारो में प्रथम तो स्वयं-रूप अवतारी स्वयं श्रीकृष्ण है और बाकी तीन उनके पुरुषावतार। इसी प्रकार गुणावतार भी तीन बताये गये हैं: तत्त्वगुण से युक्त अवतार ब्रह्मा, रजोगुण से युक्त अवतार विष्णु और तमोगुण से युक्त अवतार रुद्र या शिव हैं। लीलावतार चौबीस हैं: चतुःसन, नारद, वराह, मत्स्य, यक्ष, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयशीर्ष, हस, ध्रुवप्रिय, ऋषभ, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, व्यास, बलराम, बुद्ध और कल्कि। इनमे श्रीकृष्ण की गणना नही हुई है, क्योंकि भागवत उन्हें स्वयं-रूप मानता है। वे अवतारी है।

'गीता' मे प्रतिपादित भागवत धर्म मे भी भक्ति का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है, पाञ्चरात्र मे उसका स्थान और भी महत्त्वपूर्ण है। गीता मे एक स्थान पर भगवान् ने बताया है कि चार प्रकार के भक्त मुझे भजते हैं—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी को श्रेष्ठ बताया गया है। 'महाभारत' के शान्तिपर्व के 348वें अध्याय मे सात्वत धर्म (पाञ्चरात्र मत) को निष्काम भक्ति का मार्ग बताया गया है और गीता के श्लोक के समान ही एक श्लोक है जिसमे भगवान् ने कहा है कि भक्त तो मेरे चार प्रकार के है, पर उनमे एकान्ती और अनन्यदैवत ही श्रेष्ठ होते है (तेषां चैकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः)। यहाँ ऐकान्तिक का अर्थ है निष्काम भक्ति का मार्ग। इस प्रकार पाञ्चरात्र मत में चतुर्व्यूह कल्पना और ऐकान्तिक भक्ति-मार्ग को प्रधानता दी गयी है। शंकराचार्य ने (ब्रह्मसूत्र 2-2-42) वासुदेव के चतुर्व्यूह की उपासना की पाँच विधियाँ बतायी हैं: (1) अभिगमन अर्थात् मन, कर्म और वचन से अवधानपूर्वक देवमन्दिर में गमन, (2) उपादान अर्थात् पूजा-द्रव्यों का अर्जन; (3) इज्या अर्थात् पूजा; (4) स्वाध्याय अर्थात् अष्टाक्षर आदि मन्त्रों का जप; और (5) योग अर्थात् ध्यान। इन विधियों का

विरोध शंकराचार्य ने नहीं किया है। वे भगवान् के चतुर्धा विभक्त अवस्थान को भी श्रुति-विरुद्ध नहीं मानते, परन्तु वे वासुदेव में जीव की उत्पत्ति की कल्पना को असंगत मानते है। किन्तु 'श्रीमद्भागवत' में कई बार भगवान् के चतुर्व्यूहात्मक रूप का स्मरण किया गया है। चौथे स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में रुद्र ने भगवान् की स्तुति इस प्रकार की है :

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे।
सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने।
नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने।

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि 'भागवत पुराण' का सबसे प्रिय मत है ऐकान्तिक भक्ति का मार्ग। यही भागवत का प्रधान प्रतिपाद्य है। ग्यारहवें स्कन्ध के बीसवें अध्याय में भगवान् ने उद्धव को बताया है कि मेरे ऐकान्तिक भक्त केवल भक्ति को ही चाहते है। कैवल्य या अपुनर्भव भी वे नहीं चाहते, यहाँ तक कि यदि मैं भी उन्हें इन वस्तुओं को दूँ तो भी इसकी वाञ्छा नहीं करेंगे :

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ऐकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मयादत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्।

शङ्कराचार्य ने भागवतों की उपासना की पाँच विधियाँ बतायी हैं। इन्हीं का परिवर्धित रूप नवधा भक्ति है। पाँच से नव के विकास की एक सीढ़ी का पता मिल जाता है। 'ज्ञानामृतसार' में, जो सम्भवतः शंकर के बाद की और 'भागवत पुराण' के पूर्व की रचना है, छः प्रकार की भक्ति बतायी गयी है—स्मरण, कीर्त्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन और आत्म-निवेदन।

'भागवत पुराण' (7-5-23-24) में तीन और बढ़ गये हैं : श्रवण, दास्य और सख्य। आगे चलकर भक्तों ने नाना प्रकार की विवेचना की है पर ऐकान्तिक भक्ति की श्रेष्ठता सबने स्वीकार की है। मध्यकाल के भक्ति-मार्ग में इसी ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की भक्ति के लिए भगवान् के अवतारों की कल्पना आवश्यक है। अवतारों से ही उस लीला का विस्तार होता है, जिसका श्रवण और मनन भक्ति का प्रधान साधन है। अवतारों की विविध लीलाओं के फलस्वरूप ही उन विविध नामों का उद्भव होता है, जिनका कीर्तन और जप भक्त के लिए बहुत आवश्यक साधन है। भक्ति के लिए भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध आवश्यक है और अवतार उस सम्बन्ध के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करते हैं। यही कारण है कि मध्यकाल के प्राय: सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने अवतार की कोई-न-कोई कल्पना अवश्य की है। शिव के भी अनेक अवतारों की चर्चा मिलती है। नकुलीश या लकुलीश शिव के अवतार माने गये हैं, गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ को भी शिव का अवतार स्वीकार किया गया

है। और तो और, आगे चलकर अवतारवाद के घोर विरोधी कबीर को भी अवतार ही स्वीकार किया जाने लगा था।

श्रीकृष्ण की प्रधानता

वैसे तो अवतारों की संख्या बहुत मानी गयी है—हमने देखा है कि यह छः से बढ़ती-बढ़ती अड़तीस तक पहुँची है। परन्तु मुख्य अवतार राम और कृष्ण ही हैं। इनमें भी कृष्णावतार की कल्पना पुरानी भी है और व्यापक भी। इन दो अवतारों की प्रधानता स्थापित होने का प्रधान कारण है इनकी लीला-बहुलता। शुरू-शुरू के साहित्य और शिल्प में इनका प्रधान चरित दुष्टों का दमन और भक्तों की उनसे रक्षा ही था। पर धीरे-धीरे दुष्टदमन वाला रूप दबता गया और लीला का 'लीला' रूप ही प्रधान होता गया। श्रीकृष्णावतार के दो मुख्य रूप हैं। एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं, कंसारि हैं; दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपीजनवल्लभ हैं, 'राधाधर-सुधापान शालि-वनमाली' हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रन्थों से चल जाता है, पर दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है। धीरे-धीरे यह दूसरा रूप ही प्रधान हो गया है और पहला रूप गौण। विद्वानों ने अश्वघोष की इस पंक्ति में गोपालकृष्ण का सबसे पुराना प्रामाणिक उल्लेख बताया है: 'ख्यातानि कर्माणि च यानि सौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवः।' कालिदास ने 'गोपवेषस्य विष्णोः' चर्चा की ही है। 'महाभारत' के सभापर्व (68वें अध्याय) में द्रौपदी ने वस्त्राकर्षण के समय भगवान् को जिन नामों से पुकारा उनमें 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रिय।' भी हैं, परन्तु कुछ लोग इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं। 'हरिवंश' में तो कृष्णगोपाल की चर्चा में लगभग 20 अध्याय लिखे गये हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के दुष्टदमन रूप का प्राधान्य उसमें बना हुआ है। उनके जीवन की ये मुख्य घटनाएँ हरिवंश में हैं: शकट-वध, पूतना-वध; दामबन्ध, यमलार्जुनभंग, वृकदर्शन, वृन्दावनप्रवेश, धेनुक-वध, प्रलम्ब-वध, गोवर्धनधारण, हालीसक क्रीड़ा, वृषभासुर-वध, केशि-वध आदि।

'विष्णुपुराण' में भी लगभग यही बातें हैं। भागवत में अनेक अन्य प्रसंगों को जोड़ा गया है। 'हरिवंश' की हालीसक-क्रीड़ा ही भागवत की रासलीला का पूर्वरूप है। परन्तु भागवत की रासलीला श्रीकृष्ण-जीवन की बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। भागवत की रासपंचाध्यायी भागवत का नवनीत मानी गयी है और

आगे चलकर गोपीजन के साथ अष्ट प्रहर क्रीड़ा ही कृष्णलीला का मुख्य अंग बन गयी है। 'हरिवंश' की प्रेमक्रीड़ा बहुत स्थूल शृङ्गार की है, उसका कवित्वपूर्ण अंश केवल प्रावृट् या पावस का वर्णन है। परन्तु भागवत के प्रेमाख्यान मे कवित्व और भक्ति का पुट अत्यधिक है। इस प्रेम-व्यापार का विरहवाला अंग 'हरिवंश' मे उतना ही विकसित नही है, जितना 'विष्णुपुराण' में; पर आगे चलकर इस विरह वाले अंग को बहुत प्रधानता प्राप्त हो गयी है। मध्यकाल के अनेक काव्य राधा और गोपियो के विरह को मुख्य प्रतिपाद्य बनाकर लिखे गये हैं। राग-रागिनियों मे इस विरह का विस्तार है और राजपूत और कांगड़ा के चित्र-सम्प्रदाय मे विरह का बहुत ही महत्त्वपूर्ण हाथ है। इस प्रकार प्रेम के दोनो ही रूप—संयोग और वियोग—आगे चलकर बहुत महत्त्वपूर्ण हो गये हैं।

रामावतार का भी महत्त्व बहुत अधिक रहा है। पुराने से पुराने प्रसंगो मे भी श्रीरामचन्द्र का उल्लेख मिलता है। कालिदास ने 'रघुवंश' में विस्तारपूर्वक चर्चा की है कि किस प्रकार विष्णु को भू-भार-हरण के लिए देवताओ ने प्रसन्न किया। मध्यकाल के साहित्य मे श्रीरामचन्द्र के चरित्र को लेकर अनेक काव्य, नाटक आदि लिखे गये। सब जगह उन्हें अवतार ही नही समझा गया। मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप मे ही उनका चित्रण है, किन्तु इस विषय मे कुछ भी सन्देह नही कि सर्वत्र यह चरित्र श्रद्धा और भक्ति का विषय रहा है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का विवेचन करके देखा जाय तो उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग रामायण द्वारा प्रभावित है।

नवी-दसवी शताब्दी के बाद से साहित्य मे 'दशावतार चरित' नाम देकर अनेक काव्य लिखे गये। क्षेमेन्द्र नामक मौजी बहुश्रुत कवि ने एक बहुत ही सुन्दर काव्य इसी नाम से लिखा है। 'गीत गोविन्द' मे भक्त कवि जयदेव ने दशावतार की वन्दना की है। 'पृथ्वीराज रासो' में एक 'दसम' है जो वस्तुतः दशावतार-चरित है। इन पुस्तकों में दस अवतारों की स्तुति और चरित लिखे जाते हैं, परन्तु प्रधानता राम और कृष्ण के अवतारो की ही होती है। मनुष्य रूप में होने के कारण और मनुष्य को प्रभावित करने योग्य लीलाओं का आश्रय होने के कारण इन दो अवतारो को प्रधानता मिल गयी है। तुलसीदासजी के बाद से उत्तर भारत मे रामावतार को बहुत प्रमुखता प्राप्त हो गयी। परन्तु इस क्षेत्र में भी श्रीकृष्णावतार की महिमा घटी नही।

श्रीकृष्णावतार की लीलाओं मे अद्भुत मानवीय रस है। इसी मानवीय रस को भक्त कवियों ने अत्यन्त उच्च धरातल पर रख दिया है। मनुष्य के जितने भी मनोराग हैं, वे सभी भगवान् की ओर प्रवृत्त होकर महान् बन जाते है। इसी मनोवृत्ति से चालित होकर भक्त कवियों ने मनुष्य के सभी रागों को भगवदुन्मुख करने का प्रयत्न किया है। लोक मे मनुष्य स्त्री-पुत्र के लिए, धन-दौलत के लिए और यश-कीर्ति के लिए जो कुछ करता है, वह खण्ड-विच्छिन्न व्यक्ति की ओर उन्मुख होने के कारण खण्ड-विच्छिन्न हो जाते हैं; पर वे पूर्णतम की ओर प्रवृत्त

होने पर समस्त जगत् के मंगलविधायक बन जाते हैं। इसीलिए भक्त कवियों ने सभी मनोरागों को भगवत्परायण करने पर जोर दिया है। 'भागवत' ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है :

> यद् युज्यतेऽसुवसु कर्ममनोवचोभिर्देहेन्द्रियादियु
> नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
> तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य
> तद्भवति मूल निषेचनं यत्।

स्पष्ट ही मानवीय मनोरागों में सबसे प्रबल राग है दाम्पत्य और वात्सल्य के। श्रीकृष्णावतार में इन मनोरागों के उपकरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। भक्त कवियों ने मनुष्य के इन मनोरागों का बहुत ही सुन्दर उपयोग किया है।

गोपियाँ और श्रीराधा

मूर्त्तिशिल्प में भी आरम्भ में इन शृंगार-लीलाओं का उतना प्राधान्य नहीं दिखता। कहा जाता है कि सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी के पहले की कोई भी मूर्त्ति या उत्कीर्ण भित्तिचित्र श्रीकृष्णचरित से सम्बद्ध नहीं मिला है। रायबहादुर श्री दयाराम साहानी ने आर्क्योलाजिकल सर्वे की 1925-26 की रिपोर्ट में बताया है कि मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्म का उत्कीर्ण चित्र प्राप्त हुआ है जो सम्पूर्ण नहीं है। चौथी शताब्दी से श्रीकृष्ण-लीला की प्रमुख कथाएँ बहुत अधिक लोकप्रिय हो गयी थीं, ऐसा जान पड़ता है। मंसोर मन्दिर के टूटे हुए दो द्वार-स्तम्भ प्राप्त हुए हैं जिनमें गोवर्धनधारण, नवनीत चौर्य, शकटभंग, धेनुक वध और कालियदमन की लीलाएँ उत्कीर्ण हैं। विद्वानों का मत है कि इसका निर्माण काल सन् ईसवी की चौथी या पाँचवीं शताब्दी होगा। सम्भवतः चौथी शताब्दी की एक और गोवर्धनधारी मूर्त्ति मथुरा में प्राप्त हुई है। महाबलीपुरम् में भी गोवर्धनधारी की उत्कीर्ण मूर्त्ति मिली है। ऐसा जान पड़ता है कि गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण चरित की सर्वप्रिय लीला उन दिनों रही होगी। सातवीं शताब्दी की बादामी की गुफाओं और भित्तिगात्र पर उत्कीर्ण श्रीकृष्ण-लीलाओं का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में सबसे पुरानी ऐसी मूर्त्ति मिली है जिसमें कृष्ण एक गोपी (राधा) के साथ हैं। डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने सुझाया था कि यह मूर्त्ति राधा की हो सकती है। पर 'प्रेम-विलास' और 'भक्तिरत्नाकर' में लिखा है कि नित्यानन्द प्रभु की छोटी पत्नी

जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गयी तो उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि श्रीकृष्ण के साथ राधा की मूर्त्ति की कहीं पूजा नहीं होती और घर लौटकर उन्होंने नयनभास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्तियाँ बनवायी और उन्हें वृन्दावन भिजवाया। जीवगोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रखी गयी और तब से श्रीकृष्ण के साथ राधिका की भी पूजा होने लगी। तब से बंगाल में पुरानी विष्णुमूर्त्तियों और बालक कृष्ण की मूर्त्तियों को छोड़कर अकेली कृष्णमूर्त्ति की पूजा नहीं होती। (ब्रजबुलि लिट्रेचर, पृ. 410-431, प्रो. सुकुमार सेन का लेख)।

इस प्रकार शिल्प और साहित्य दोनों की गवाही से यही पता चलता है कि प्रारम्भ में श्रीकृष्ण की वीर-चर्चा ही प्रधान थी। कंस-वध और गोवर्धन-धारण उन दिनों काव्य, नाटक और शिल्प के प्रधान प्रतिपाद्य थे। पुराणों में गोपियों के प्रेम की चर्चा आती है पर वह उत्तरोत्तर बढ़ते रूप में दिखती है। 'विष्णुपुराण' में गोपियों के प्रेम की चर्चा है, पर 'भागवत पुराण' में वह बहुत विस्तृत रूप में है। 'रासपंचाध्यायी' को भागवत का सार कहा जाता है। इस पुराण में राधा का नाम नहीं आता। 'गाथा सप्तशती' में, 'पंचतन्त्र' में और 'ध्वन्यालोक' में 'राधा' का नाम आया है, पर कृष्ण की सर्वाधिका प्रिय गोपी के रूप में उनका नाम भागवतोत्तर साहित्य में अधिक है। भागवत में अन्य लीलाओं का भी कम विस्तार नहीं है। पूर्ववर्ती पुराणों से भी कुछ अधिक महिमाख्यापक कथाएँ इसमें पायी जाती है, पर गोपीप्रेम इस पुराण में बहुत ही उदात्तरूप में चित्रित है। राधा का नाम तो नहीं है, पर 'एक गोपी' की चर्चा उस पुराण में ऐसी है जिसके अनुसार किसी विशिष्ट गोपी के प्रति भगवान् का अधिक अनुराग व्यक्त हुआ था। 'गीतगोविन्द' में राधा प्रमुख गोपी है और उसमें पता चलता है कि रास में जिस गोपी के प्रति भगवान् ने अधिक अनुराग दिखाया था वह राधा ही थी—'राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः'—राधा को हृदय में धारण करके भगवान् ने अन्य व्रजसुन्दरियों को छोड़ दिया था। अवश्य ही 'गीतगोविन्द' का रास वसन्तरास है, विद्यापति ने भी ऐसे रास का वर्णन किया है। किन्तु भागवत का रास शरद्रास है। 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' में राधा प्रमुख गोपी हैं, रा. ब. योगेशचन्द्र राय का अनुमान है कि 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' सोलहवीं शताब्दी में पश्चिमी बंगाल में कहीं लिखा गया था और उसके लेखक को 'गीतगोविन्द' से परिचय था। जो हो, श्रीकृष्णचन्द्र और गोपियों के प्रेम की प्रधानता भागवत ने स्थापित कर दी थी। कितने ऊँचे स्तर पर भागवत ने प्रेमाधार को रखा है, इसका पता उद्धव के उस कथन से लग जाता है जिसमें उन्होंने वनवासिनी और अशिक्षिता व्रजबालाओं के अनन्य प्रेम को देखकर कहा था, "अहो! यदि मैं भी वृन्दावन में गोपियों की चरणरज को सेवन करने-वाली लता-औषधि और झाड़ियों में से कुछ हो जाऊँ तो भी धन्य हो जाऊँ। धन्य हैं ये गोपियाँ जिन्होंने अपने स्वजनों को और आर्यधर्म को भी त्याग कर

श्रुतियों द्वारा अनुसन्धेय भगवत्प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण किया है"।

आसामहो चरण रेणु जुपामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वगतमार्यपथंहि हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवी श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

'वायुपुराण' में यह बताया अवश्य है कि व्रज में श्रीकृष्ण का पालन हुआ था, पर कथा को अधिक विस्तार नहीं दिया गया। 'अग्निपुराण' से भी अनुमान किया जा सकता है कि गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग प्रकट किया था (12-22-23)। पर कथा को विस्तार देने में और गोपीप्रेमलीला को इतना उदात्त रूप देने में 'भागवत पुराण' अद्वितीय है। 'पद्मपुराण' में वृन्दावन की नित्यलीला की चर्चा है, राधा का नाम आता है; पर यह पुराण बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता और जिस अंश में राधा-कृष्ण के नित्य विहार की चर्चा है वह तो निस्सन्देह परवर्ती है। भागवत में कुछ गोपालों के नाम—जैसे श्रीदामा, सुदामा, भद्रसेन, अंशु, अर्जुन, विशाल तेजस्वी ब्राह्मण आदि—तो आये हैं, पर 'पद्मपुराण' में गोप-गोपियों के नामों की जो सूची दी हुई है वह विस्तीर्ण है। 'ब्रह्मवैवर्त्त' में यह सूची और बढ़ गयी है। इन नामों का प्रचार बंगाल में अधिक है।

प्रो. सुकुमार सेन ने अपनी पुस्तक 'ब्रजबुलि लिट्रेचर' में इसकी विस्तृत चर्चा की है। इस अंश के लिखने में उस पुस्तक से बहुत सहायता ली गयी है। उत्तर भारत में राधिका के अतिरिक्त ललिता, विशाखा और चन्द्रावली का नाम मिल जाता है, पर गौड़ीय वैष्णवों में अनेक गोपियों और गोपों के नाम का उल्लेख है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि 'पद्मपुराण'[1] और 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराण दोनों का ही मूल रचनास्थान बंगाल है। बंगाली वैष्णव आचार्यों ने बड़े विस्तारपूर्वक इन गोपियों के नाम, रूप, स्वभाव, वस्त्र आदि का वर्णन किया है। इन भक्त आचार्यों ने चन्द्रावली को राधिका की प्रतिद्वन्द्विनी के रूप में चित्रित किया है। इस प्रतिद्वन्द्विता का आभास 'पद्मपुराण' में भी मिल जाता है। परन्तु आगे चलकर बंगाल के वैष्णवों ने इस प्रतिद्वन्द्विता को जितना विस्तार दिया है, उतना उत्तर भारत के वैष्णवों ने नहीं दिया। मध्यकाल में दानलीला, नागलीला, विसातिनलीला, दधिवेचन की लीला आदि का बहुत महत्त्व रहा है। बंगाल में नौकालीला ने भी प्रमुख स्थान अधिकार किया है, जो

1. 'पद्मपुराण' की गोपियाँ—राधा, ललिता, श्यामला, धन्या, हरिप्रिया, विशाखा, शैव्या, पद्मा, भद्रा, चन्द्रावली, चन्द्रावली, चित्ररेखा, चन्द्रा, मदनसुन्दरी, प्रिया, मधुमती, चन्द्ररेखा। 'ब्रह्मवैवर्त्त' की गोपियाँ—सुशीला, शशिरामा, चन्द्रमुखी, माधवी, कदम्बमाला, कुन्ती, यमुना सर्वमंगला, पद्ममुखी, सावित्री, पारिजाता, जाह्नवी, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरी स्वयंप्रभा कालिका, कमला, दुर्गा, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गंगा, अम्बिका, कृष्णप्रिया, चम्पा, चन्दननन्दिनी, शशिकला, मंगला, सती, नन्दिनी, सुन्दरी, कृष्णप्राण, मधुमती, चन्दना। —ब्रजबुलि, पृ. 475

उचित ही है। रूपस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में स्पष्ट ही कहा है कि वे जिन गोपियों का नाम बता रहे हैं, उनमें कुछ बंगाल में लोकप्रचलित हैं।

साहित्य के माध्यम से धार्मिक सम्बन्ध

मध्यकाल की भक्ति-साधना साहित्य के माध्यम से प्रकट हुई है। रसपरक साहित्य का इस प्रकार भक्ति-साहित्य के साथ एकीभाव दुनिया-भर के साहित्य में विरल है। देश के विभिन्न भागों में इस भक्ति साहित्य ने मध्यकाल में अद्भुत एकता स्थापित की थी। साहित्य के माध्यम से स्थापित सम्बन्ध बहुत दृढ़ होता है। इस समय ऐसा सम्बन्ध और भी आवश्यक हो गया है, क्योंकि परिस्थितियाँ कुछ विषम हो आयी हैं। यह आशंका होने लगी है कि विभिन्न प्रान्तों में शताब्दियों से बना हुआ सम्बन्ध टूट तो नहीं जायेगा। वस्तुतः यह सम्बन्ध इतना दृढ़ और गम्भीर है कि उसका टूटना असम्भव है। प्रेम का बन्धन ढीला-भर पड़ सकता है, परन्तु वह ढीला भी क्यों पड़े? साहित्य के माध्यम से जो सम्बन्ध स्थापित होता है उसमें थोड़ी देर जरूर लगती है, पर वह टिकाऊ और यथार्थ होता है। भारतवर्ष का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रान्तों के राजनीतिक सम्बन्ध बनते और बिगड़ते रहे हैं, परन्तु सबको एक ही विचारधारा ने दृढ़ता के साथ बाँध रखा है। अगर बहुत पुराने जमाने की बात छोड़ दें और उत्तरकालिक मध्यकाल की ही बात लें जिसमें भिन्न-भिन्न प्रान्त की भाषाओं का स्वतन्त्र विकास होता रहा है, तो हमें साहित्यिक सम्बन्ध का आश्चर्यजनक संवाद प्राप्त होगा। मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत' उनकी मृत्यु के सौ वर्ष के भीतर ही एक बंगाली कवि द्वारा बंगला में अनुवादित हो गया था। तुलसीदास पर भाषा में काव्य लिखने के लिए जब काशी के पण्डितों का आक्रमण हो रहा था, तो सुप्रसिद्ध वैदान्तिक आचार्य मधुसूदन ने ही उनका पक्ष ग्रहण करके वह प्रसिद्ध श्लोक लिखा था जो तुलसीदास के व्यक्तित्व की उत्तम व्याख्या[1] है—ये मधुसूदन सरस्वती बंगाली पण्डित बताये जाते हैं। मैंने स्वयं बंगाल के कीर्तनों में तुलसीदास और सूरदास के पद गाये जाते सुना है। नाभादासजी के 'भक्तमाल' का बंगला में जो अनुवाद

1. आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसीजङ्गमस्तरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

हुआ वह केवल अनुवाद ही नहीं है, उसका परिवर्धन भी है। इसी 'भक्तमाल' (बंगला संस्करण) में सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास आदि भक्तों की कथाएँ दी हुई हैं जिनको आश्रय करके इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने इन हिन्दी कवियों पर प्रथम श्रेणी की कविताएँ लिखी हैं। बंगला 'भक्तमाल' के आधार पर कविवर रवीन्द्रनाथ ने 'सूरदासेर प्रार्थना' नामक एक अत्यन्त सुन्दर कविता लिखी है। इसमें एक युग के महाकवि ने दूसरे युग के महाकवि को कल्पना की आँखों से जिस रूप में देखा है वह रूप कमाल की मोहकता लिये हुए है। साहित्य के माध्यम से आज भी हम प्रान्तों में सम्बन्ध स्थापित करें; यह हमारी दीर्घकालीन परम्परा के अनुकूल है। इस प्रकार के प्रयत्न से जो शुभ परिणाम होता है वह प्रयोग की अवस्था में नहीं है, बल्कि पूर्ण रूप से परीक्षित है।

आज से सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले तक भिन्न-भिन्न प्रान्त इतने अधिक अन्तः-सम्बद्ध थे कि एक का साहित्य, धर्म और तत्त्ववाद दूसरे के उन्हीं विषयों की जानकारी प्राप्त किये बिना समझे ही नहीं जा सकते। सूरदास को अच्छी तरह समझने के लिए यदि हम सम्पूर्णतः सूरदास के साहित्य तक—या कुछ और अधिक बढ़कर व्रजभाषा के साहित्य तक ही—सीमा बाँधकर बैठे रहें तो उस महान् रस-समुद्र का केवल एक ही पहलू देख सकेंगे, जिसे उत्तरमध्यकाल के भक्तकवियों ने भ्रमर-वाणी-रूप निर्झरिणियों से भर दिया है। सूरदास को समझने के लिए विद्यापति, चण्डीदास और नरसी मेहता परम आवश्यक हैं। यदि हम सचमुच सूरदास को समझना चाहते हैं तो चण्डीदास और विद्यापति या अन्य वैष्णव कवियों को समझें, क्योंकि उन्हें समझे बिना हम बहुत घाटे में रहेंगे। वस्तुतः इस कोने से उस कोने तक फैले हुए विविध प्रकार के सामाजिक रीति-रस्म, पूजा-उपासना, व्रत-उपवास, शास्त्रीय मान्यता आदि बातें जिस प्रकार जनसमूह के अध्ययन के लिए नितान्त आवश्यक उपादान हैं, उसी प्रकार और उन सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है तत्कालीन साहित्य। इस साहित्य के माध्यम से यदि हम अध्ययन शुरू करें तो ऐसा लगेगा कि समूचा भारत-वर्ष नाना भाँति की साधनाओं, विश्वासों और अन्त.सम्बद्ध विचारों के सूत्र से कसकर सी-सा दिया गया है। इस सूत्र का एक टाँका यदि बंगाल में है तो दूसरा पंजाब में, तीसरा मारवाड़ में और आश्चर्य नहीं कि चौथा मलाबार में निकल आये। भारतवर्ष का मध्यकालीन साहित्य वस्तुतः समूचे भारतवर्ष का एक ही साहित्य है, प्रान्तवार बँटा हुआ विभिन्न बोलियों का नहीं।

मध्यकाल के भक्त कवियों को समझने के लिए हमें थोड़ा वर्त्तमान काल से निकलना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, सूरदास शताब्दियों से हिन्दीभाषी जनता के हृदयहार बने हुए हैं। इसलिए नये सिरे से यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि हैं, किन्तु कुछ बातें नये सिरे से कहने की हैं। हम जिस वातावरण में शिक्षित हुए हैं, उसकी एक विशेषता है कि उसने हमारी

समस्त प्राचीन आनुश्रुतिक धारणाओं से हमें लगभग विच्छिन्न कर दिया है। यदि हम सम्पूर्ण रूप से विच्छिन्न भी हो गये होते तो भी हम आधुनिक ढंग से सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकते। परन्तु हम पूर्ण रूप से अनुश्रुतियों से विच्छिन्न भी नहीं हुए हैं और उन्हें जानते भी नहीं हैं। नतीजा यह हुआ है कि श्रीकृष्ण का नाम लेते ही हम पूर्णानन्दघनविग्रह परमपुरुष की सोचे बिना नहीं रहते और फिर भी गोपियों के साथ उनकी रासलीला की बात समझ नहीं सकते, अर्थात् श्रीकृष्ण को तो हम परमदेवता का रूप मान लेते हैं पर आगे चलकर सारी कथा को तदनुरूप नहीं समझ पाते। इस अधकचरी दृष्टि का परिणाम यह हुआ है कि हम वैष्णव कवि की कविता को न तो उसके तत्त्ववाद-निरपेक्ष रूप में देख पाते हैं और न तत्त्ववाद सापेक्ष रूप में। हम झट कह उठते हैं कि भगवान् के नाम पर क्या ऊलजलूल बातें हैं! यदि सूरदास के श्रीकृष्ण और राधा कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला की भाँति प्राकृत प्रेमी और प्रेमिका होते तो बात हमारे लिए सहज हो जाती, पर न तो वे प्राकृत ही हैं और न हमें उनके अप्राकृतिक स्वरूप की वास्तविक धारणा ही है। इसीलिए हम न तो वैष्णव कवियों की कविताओं को विशुद्ध काव्य की कसौटी पर ही कस सकते हैं और न विशुद्ध भक्ति की दृष्टि से अपना ही सकते हैं। हम सूरदास को भक्तशिरोमणि कहते हैं और दूसरे ही क्षण अफसोस के साथ कह उठते हैं कि उनके काव्य में वह प्रबन्धगत वैशिष्ट्य नहीं है जो जीवन के प्रत्येक पहलू का आदर्श उपस्थित कर सके! फिर आनन्द गद्गद होकर कह उठते हैं, श्रीकृष्ण का बालरूप वर्णन करने में सूरदास ने कमाल की स्वाभाविकता ला दी है, यह सब क्या हमारी दृष्टि की अनाविलता नहीं सूचित करते? हम मध्यकाल के भक्तकवि को गलत किनारे से देखना शुरू करते हैं। और आधा-सूधा जो कुछ हाथ लगता है, उसी से या तो झुँझला उठते हैं या गद्गद हो जाते हैं। मुझे इस बात की शिकायत नहीं है कि लोग खिन्न होते हैं या गद्गद होते हैं, बल्कि इस बात की शिकायत है कि गलत समझकर वैसा होते हैं। पूछा जा सकता है कि सही दृष्टिकोण क्या है और वही सही है, इसका प्रमाण क्या है! दोनों ही प्रश्नों का उत्तर मैं देने जा रहा हूँ, पर ये उत्तर मेरी सीमित बुद्धि के हैं और मेरा यह दावा है कि यह ही एकमात्र उत्तर है। लेकिन आगे की बातों से इतना मालूम हो ही जायेगा कि मैं ठीक रास्ते ही सोच रहा हूँ।

इन भक्तकवियों ने अपने विषय में बहुत कम लिखा है। अनुश्रुति उनके नाम के साथ बहुत प्रकार की सिद्धियों और करामातों को जोड़ती है। सिद्धियों का युग अभी भी चल रहा था। भक्तिकाल में उसमें केवल इतना अन्तर आ गया था कि भक्त के लिए भगवान् सब प्रकार की करामातों की योजना करते रहते हैं। इन करामाती कहानियों से भक्त के विषय में बहुत अच्छी जानकारी नहीं होती। परन्तु फिर भी सभी कहानियाँ विचित्र रूप से तत्काल प्रचलित विचारों और व्यवहारों का अच्छा परिचय देती हैं।

सूरदास की ही बात ली जाय। उन्होंने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा। अनुश्रुति के अनुसार वे सारस्वत ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने इर्द-गिर्द जिस समाज को उन्होंने देखा था, उसका कोई उच्च आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते थे, रोगी या निरोग होते थे और चार दिन तक हँस या रोकर चल बसते थे। युवावस्था विलास का काल माना जाता था। सारा समाज यौवन-मद, जन-मद, धन-मद और मादक-मद का शिकार था। क्या पुरुष, क्या स्त्री, सबका लक्ष्य भोग-लिप्सा ही था[1], जो लोग धार्मिक प्रकृति के होते थे वे पुराण सुन लेते थे, तुलसीदल का भोग लगा देते थे और शालिग्राम-शिला की पूजा भी कर लेते थे[2], जो लोग मंगलकामी थे वे एकादशी-द्वादशी का संयम-व्रत पाल लेते थे और नाना ग्रहों की शान्ति-स्वस्त्ययन करके अमंगल शमन कर लेते थे[3]—सूरदास ने इसी प्रकार का समाज देखा था। लोगों में झूठी शान, थोथी मान-प्रियता और उद्देश्यहीन धर्माचार का बोलबाला था। भावुक सूरदास इस अवस्था से विरक्ति अनुभव कर रहे थे और न जाने किस शुभ मुहूर्त में सबकुछ छोड़कर विरक्त हो गये। उस समय उनकी अवस्था तरुण रही होगी और यदि अनुश्रुतियों को प्रामाणिक माना जाय तो यह भी जान पड़ता है कि उनके अंग-अंग से लावण्य की प्रभा छिटक रही थी। वह कहानी अति प्रसिद्ध है जिसमें कहा गया है कि किस प्रकार किसी तरुणी के रूप से आकृष्ट होकर उन्होंने उसका अनुसरण किया, बाद में अपनी आँखें फोड़ या फुड़वा ली। सूर होने के बाद वे दीर्घकाल तक भगवान् को कातर भाव से पुकारते रहे। उस समय के उनके भजनों में दैन्य और आत्मसमर्पण का बड़ा जोर है[4]।

सूरदास के विषय में किंवदन्तियाँ तो बहुत हैं, परन्तु प्रामाणिक रूप में इतना ही मालूम है कि वे पहले गऊघाट में रहते थे और बहुत-से चेले बनाये थे। भक्त तो वे पहले ही से थे, पर शुरू-शुरू में दास्य-भाव की ओर ही झुके हुए

1. यौवनमद जनमद मादकमद धनमद विद्यमद भारी।
काम-विवस नर-नारि फिरत दुइ पचमरहि फिरि मारी॥
2. श्रवण पुराण शिला तुलसीदल पूजन दुखतहि पालत।
3. अमावस पूनो सक्रांति ग्रहन द्विज कर भव मेलत।
एकादसी द्वादसी सजम कछ देत छक खेलत।
मगल बुध गुरु शुक्र भानु ससि शांति करत गह नीके। इत्यादि
4. (1) जनम सिरान्यो ऐसे ऐसे।
कै घर-घर भरमत जदुपति बिन कै सोवत कै बैसे। इत्यादि
(2) हौं अशुची अकृती अपराधी सनमुख होत लजाऊँ।
तुम कृपाल करुणानिधि केशव अधम-उधारन नाऊँ॥
(3) सब कोउ कहत गुलाम श्याम के सुनत सिरात हिए।
सूरदास प्रभु जू कै चेरे जूठन खाय जिए॥
(4) सबनि सनेहो छाँड़ि दयो।
हा यदुनाथ जरा तन ग्रास्यो प्रतिभो उतरि गयो। इत्यादि

थे। सम्भवतः उनकी अवस्था जब काफी परिपक्व हो आयी थी, उसी समय एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य उधर पधारे। गोकुलनाथजी की 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के अनुसार सूरदासजी जब महाप्रभु से मिलने गये, उस समय वे ठाकुर-जी को भोग समर्पण करके और स्वयं भी प्रसाद पाके, गादी पर विराजमान हो रहे थे। सूरदास को देखकर उन्होंने कुछ भगवद्‌भजन करने का आदेश दिया। सूरदासजी ने आज्ञा शिरोधार्य की और मुक्त कण्ठ से वे गान छेड दिये जिनमे अपनी तामसिकता और पाप-परायणता के लिए पश्चात्ताप था; अपने को पापियों का शिरोमणि बताया गया था और भगवान् को इस बात के लिए ललकारा गया था कि यदि सचमुच पतितोद्धारक हो तो मुझे उबारने मे अपना जोर आजमा देखो।[1] महाप्रभु ने दो ही भजन सुने और फिर डाँटकर कहा—"सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को हौ, कछु भगवत् लीला वर्णन करो।" सूर-दास हैरान! आज तक यह बात तो और किसी ने नही कही—भगवत्‌लीला क्या वस्तु है गुरो, मैं तो उसे नही जानता! कहते है, इस प्रसंग के बाद ही महाप्रभु ने उन्हे लीलावर्णन की वह विधि सिखायी जो सूरदास के परवर्त्ती जीवन की एकमात्र ध्रुवतारा सिद्ध हुई।

कहते हैं, इस घटना के बाद से सूरदास ने अपने भजन का रास्ता ही बदल दिया। उन्होंने लीला-विषयक पदों की रचना की। यहाँ आकर भक्ति ने साहित्य को इस दृढ़ता के साथ पकड़ा कि पूर्ववर्त्ती काल में इस कोटि की रचना का कोई उदाहरण खोज लेना कठिन हो गया है। भगवान् की बाल, कैशोर और यौवन लीलाओं का उन्होंने जमकर वर्णन किया। साहित्य-साधना के माध्यम से भक्ति की साधना प्रकट हुई। इस साहित्य में विनय नहीं है, भक्त की कातर पुकार नही है, सूर की घिघियाहट नही है। आदि से अन्त तक भगवान् की रसमयी लीलाओं का विस्तार है। यह सारा प्रयत्न लीला-गान का प्रयत्न है, उसका हेतु भी लीला ही है, उद्देश्य भी लीला ही है, प्रयोजन भी लीला ही है।

मध्यकाल मे ऐसे अनेक भक्तकवि हैं, जिनके साथ कुछ इसी ढंग की कहा-नियाँ जुड़ी हुई हैं। इन कहानियों से इन साधकों का विशेष दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है। परन्तु सभी साधकों का एक ही लक्ष्य रहा है—लीला-गान।

1. प्रभु मैं सब पतितन को टीको।
और पतित सब दिवस चारि को हौं तो जनमत ही को॥
बधिक अजामिल गणिका तारी और पूतना ही को।
मोहि छाँड़ि तुम और उधारे मिटै सूल क्यों जी को॥
कोउ न समरथ सेव करन को खेंचि कहत हौं लीको।
मरियत लाज सूर पतितन के कहत सबन मैं नीको॥
तथा
हौं हरि सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी इतै मान को लायक। इत्यादि

लीला और भक्ति

लीला क्या है ? लीला भारतीय भक्तों की सबसे ऊँची कल्पना है। हम जानते हैं कि भगवान् अगम हैं, अगोचर हैं, अकल हैं, अनीह हैं; हम यह भी जानते हैं कि वे अनुभवैकगम्य हैं, साधक उन्हें अपने स्वरूप से ही समझ सकता है। वे गूंगे के गुड़ है, अनिर्वचनीय हैं, पर ये सब ज्ञान की बातें हैं। भगवान् ज्ञान के अगम्य हैं; क्योंकि ज्ञान बुद्धि का विषय है और बुद्धि हमारी सीमा को बताकर ही रुक जाती है। बुद्धि से बढ़कर जो है वह आत्मा है—'बुद्धेरात्मा महान् परः'। भगवान् का स्वरूप आत्मा से जाना जाता है, अनुभव किया जाता है। वह सत्-चित्-आनन्द का आकार है। आनन्द से ही उसने सृष्टि रची है। वह स्वयं आनन्दरूप है, अमृत रूप है—'*आनन्दरूपममृतं यद्विभाति*', वह रस-रूप हैं—'रसो वै सः', और फिर भी रहस्य यह है कि वह रस पाकर ही आनन्दी होते हैं। ऐसा क्यों होता है, 'रसांह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति'—सो क्यों ? क्योंकि यह उस अपूर्व लीलाधर की लीला है। लीला ही लीला का कारण है, लीला ही लीला का लक्ष्य। केवल भगवत्साक्षात्कार बड़ी बात नहीं है, लीला से बड़ी बात है भगवान् का प्रेम। भगवान् के प्रति परम प्रेम—एकान्त प्रेम की भक्ति उसी प्रेम का प्रपंच है। भगवान् से जीव का क्या सम्बन्ध है ? भक्त कहता है—भगवान् से जीव का क्या सम्बन्ध नहीं है ? माता, पिता, सखा, कान्ता, सब सम्बन्ध ही उसमें प्रेम को प्रकट करते हैं। तुलसीदास ने इसीलिए कहा है कि 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे।' नाना सम्बन्धों की कल्पना करके अपने को उसी सम्बन्ध का अभिमान करके एक अचिन्त्य गुण-प्रकाश श्याम-सुन्दर का भक्त लोग अपने हृदय मे साक्षात्कार करते है। सम्बन्धों के अभिमान से उनकी भक्तिदृष्टि मे प्रेमाजन की रंगीनी प्राप्त होती है और आदिपुरुष गोविन्द को अपनी मानसभूमि पर उसी अनुरंजित रूप मे देखते हैं।[1]

इस प्रसंग मे महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनकाल की एक घटना उल्लेख योग्य मालूम हो रही है। महाप्रभु तीर्थाटन करते हुए दक्षिण देश मे पहुँचे। वहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् और भक्त राय रामानन्द से उनका साक्षात्कार हुआ। दोनो मे जो महत्त्वपूर्ण बात हुई, वह भगवान् और भक्त के सम्बन्ध को लेकर वैष्णवों की दृष्टि को बहुत अच्छी तरह व्यक्त करती है। महाप्रभु ने राय रामानन्द से पूछा कि 'हे विद्वन्, तुम भक्ति किसे कहते हो ?' राय रामानन्द ने ज़रा सोचकर

1. प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
य श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाश
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

उत्तर दिया—

—स्वधर्माचरण ही भक्ति है।[1]

—लेकिन यह भी बाह्य है, और भीतर की बात कहो।

—श्रीकृष्ण को समस्त कर्मों का अर्पण कर देना ही भक्ति है।[2]

—लेकिन यह भी ऊपरी बात है, और आगे कहो।

—स्वधर्म-परित्याग-पूर्वक भगवान् की शरण में जाना ही भक्ति है।[3]

—यह भी बाह्य है, आगे की कहो।

—भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।

—ठीक है, पर यह भी स्थूल है, और आगे की कहो।

—दास्यप्रेम ही भक्ति है।[4]

—ठीक है, पर यह भी स्थूल है, आगे की कहो।

—सख्यप्रेम ही भक्ति है।[5]

—ठीक है, पर और आगे की बात कहो।

—कान्ताभाव का प्रेम ही भक्ति है।[6]

—बहुत उत्तम। लेकिन और भी आगे की कहो।

—राधा-भाव का प्रेम ही परम भक्ति है।

—हाँ, राधा-भाव ही श्रेष्ठ है, परन्तु प्रमाण क्या है ?

यह लक्ष्य करने की बात है कि महाप्रभु ने केवल अन्तिम बात के लिए प्रमाण माँगा था। पहले जितनी बातें बतायी गयी है, उनका प्रमाण उन्होने नहीं माँगा। वे अतिपरिचित है। प्रथम कहे हुए सभी मत 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'श्रीमद्-भागवत महापुराण' से सिद्ध है, परन्तु 'भागवत' मे या 'गीता' मे राधा-भाव की

1. स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।—गी. 3। 25
2. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥—गी. 9। 27
3. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच.॥ गी 18। 66
4. अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणानां गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
—भाग. 6। 11। 24
5. बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥
—भाग. 10। 13। 11
6. पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्गगूढ़ः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः॥
—भाग. 10। 44। 13

कोई चर्चा नहीं है। राधारानी का नाम भी 'भागवत पुराण' में नहीं पाया जाता। यह भागवत महापुराण वैष्णवों के लिए श्रुति के समान ही मान्य है। उसमें जिस भाव का नाम नहीं आया वही श्रेष्ठ है—यह बात कैसे विश्वास की जा सकती है? राय रामानन्द ने इसके उत्तर में 'गीतगोविन्द' का मत उद्धृत किया, जिसमें बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने राधा को हृदय में धारण करके अन्यान्य व्रजसुन्दरियों को त्याग दिया था।[1] सो यह श्लोक इस बात का प्रमाण है कि कान्ताभाव में भी राधाभाव ही सबसे श्रेष्ठ है। यहाँ प्रसंग आ गया है, इसलिए इतना और भी कह रखना आवश्यक है कि नाना कारणों से मेरा अनुमान है कि 'भागवत महापुराण' में श्रीकृष्णलीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है, उससे भिन्न एक और भी परम्परा थी जिसका प्रकाश जयदेव के 'गीतगोविन्द' में हुआ है। भागवत-परम्परा की रासलीला शरत् पूर्णिमा को हुई थी, गीतगोविन्द-परम्परा का रास वसन्तकाल में। प्रथम में राधा का नाम भी नहीं है, दूसरी में राधिका ही प्रमुख गोपी है। सूरदास आदि परवर्ती भक्त-कवियों में ये दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे से गुँथकर एक हो गयी हैं। परन्तु यह तो अवान्तर बात है। जिस बात की हम यहाँ चर्चा कर रहे थे, वह यह है कि भगवान् में जितने सम्बन्ध की कल्पना हो सकती है उसमें कान्ताभाव का प्रेम ही श्रेष्ठ माना गया है। वैष्णव भक्तों ने इस सम्बन्ध को इतने सरस ढंग से व्यक्त किया है कि भारतीय साहित्य अनन्य-साधारण अलौकिक रस का समुद्र बन गया है।

लीला का रहस्य

यद्यपि अवतार का हेतु एक यह भी है कि धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान को भगवान् स्वयं आविर्भूत होकर दूर करें,[2] परन्तु मुख्य कारण तो भक्तों के लिए लीला का विस्तार ही है।[3] यह लीला दो प्रकार की बतायी गयी

1. कंसारिरपि संसारवासनाबद्धशृङ्खलाम् ।
   राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः ॥—गीतगोविन्द 3 । 1
2. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥—गी. 4 । 7
3. स्वकीयाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया ।
   अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः ॥
   —'लघुभागवतामृत' में 'ब्रह्माण्डपुराण' का वचन

है, प्रकट और अप्रकट। मध्यकाल के भक्तकवियों ने प्रकट लीला का ही गान किया है, परन्तु अप्रकट नित्य-लीला को वे भूले कभी नहीं।[1]

हमें जो बात अच्छी तरह याद रखने की है, वह यह है कि भक्त का भगवान् के साथ जो भी सम्बन्ध क्यों न हो, निखिलानन्द-सन्दोह भगवान् श्रीकृष्ण ही उस प्रेम के आलम्बन हैं। आलम्बन, जैसा कि सभी जानते ही हैं, दो प्रकार के होते हैं : विषय-रूप आलम्बन और आश्रयरूप आलम्बन। दुष्यन्त को देखकर अगर शकुन्तला के हृदय में प्रेमभाव उत्पन्न हुआ है, तो दुष्यन्त विषयरूप आलम्बन हैं और शकुन्तला आश्रयरूप। *वैष्णव भक्त भगवान् को विषयरूप आलम्बन के रूप में ही देखते हैं।* गोपियाँ, यशोदा, नन्द, गोपबाल, उद्धव आदि सभी भक्त आश्रयरूप आलम्बन हैं। इन सबकी एकमात्र अभिलाषा यही होती है कि *भगवान् हमसे प्रसन्न हों।* *अगर हम इस बात को ध्यान मे रखे बिना* वैष्णव साहित्य को पढ़ेंगे तो हम घाटे में रहेंगे। यह भाव नाना भाव से भक्त कवि की कविता में आयेगा। इसी रूप में न देखने का परिणाम यह हुआ है कि सूरदास की वर्णन की हुई श्रीकृष्ण की बाल-लीला को बड़े-बड़े सहृदयों तक ने इस प्रकार समझा है मानो वे स्वभावोक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। नहीं, वे स्वभावोक्ति के उदाहरण नहीं है, वे उससे बड़ी चीज है। संसार के साहित्य की बात मैं नहीं जानता, क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंशमात्र हमारा जाना हुआ है, परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य मे इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है, न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलकार की, न भावों की, न भाषा की। क्यों ऐसा है? *क्या कारण है कि शताधिक पदों मे बार-बार दुहरायी हुई बात इतनी मनोरम हो गयी है? क्या कारण है कि उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की जमात हाथ जोड़कर इस बार-बार दुहरायी हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी है?* इसका कारण यशोदा का निखिलानन्दसन्दोह भगवान् बालकृष्ण के प्रति एकान्त आत्मसमर्पण है। अपने-आपको मिटाकर, अपना सर्वस्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है, वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाये हुए है। यशोदा को उपलक्ष्य करके वस्तुतः सूरदास का भक्त-चित्त ही शत रसस्रोतों में उद्वेल हो उठता है। वही चित्त गोपियों-गोपालो—और सबसे बढ़कर राधिका—के रूप में अभिव्यक्त हुआ। इसीलिए सूरदास की पुनरुक्तियाँ जरा भी नहीं खटकती और वाक्चातुर्य इतना उत्तम कोटि का होकर भी व्यंग्यार्थ के सामने अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है। वर्णन-कौशल वहाँ प्रधान नहीं है, *वह भक्त के महान् आत्मसमर्पण का अंगमात्र है।* किन्तु साधक

1. जगनायक-जगदीस पियारी जगतजननी जगरानी।
नित विहार-गोपाल लाल-संग वृन्दावन रजधानी॥—सूरदास

भक्त लोग लीला के विरहरूप को जितनी आसानी से अनुभव कर सकते हैं, उतना मिलनरस को नहीं। जिस दिन साधक सिद्ध हो जाता है और भक्ति अर्थात् चिन्मय रस के एकमात्र आकर निखिलानन्दसन्दोह भगवान् से मिलकर एकमेव हो जाता है, उस दिन कुछ कहने को बाकी नहीं रह जाता। इसी सिद्धावस्था को बताने के लिए कबीरदास ने कहा है :

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाहिं।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माहिं॥
साखी शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाहिं।
बिछुरा था तबही मिला, अब कछु कहना नाहिं॥

भगवान् के साथ गोपियों या श्रीराधा के मिलन के विषय में गान करता हुआ भक्त सद्गुरु के बताये हुए लीलामार्ग को दुहराता है और आशा करता है कि उनके सत्संग से प्राप्त की हुई हृदयकर्ण की रसायनरूप कथा को सुनते-सुनते श्रद्धा, प्रीति और भक्ति भी प्राप्त हो जायेगी। 'श्रीमद्भागवत' में यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गयी है।[1] परन्तु विरह की अवस्था में वह स्वयं अपने-आपको निःशेष रूप से उँडेल देता है। यही कारण है कि भक्त की विरहकथा अधिक सरस, अधिक भावप्रवण और अधिक द्रावक होती है। यशोदा द्वारा कथित निम्नांकित पदों में सूरदास स्वयं फूट पड़े हैं :

मेरे कान्ह कमलदल लोचन।
अबकी बार बहुरि फिरि आवहु कहा लगे जिय सोचन।
यह लालसा होती जिय मेरी बैठी देखत रैहौं।
गाइ चरावत कान्ह कुँअर को कबहूँ जान न दैहौं॥

और,

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुँह योग॥
प्रातकाल उठि माखन रोटी को बिन माँगे देहैं।
अब उहि मेरे कुँअर कान्ह को छिन छिन अकम लैहैं॥

यशोदा का यह रूप तभी समझा जा सकता है जब पूर्ववर्ती बाललीलाओं को इसी प्रेम का एक रूप माना जाय। स्वभावोक्ति का चमत्कार देखनेवाले यशोदा के इस और उस रूप में कोई एकरूपता नहीं खोज पायेंगे। हम आगे चलकर देखेंगे कि राधिका के रूप में सूरदास ने भक्त-हृदय का जो चित्र खींचा है, वह इसी अपूर्व तन्मय प्रेम का आश्रय-भेद से परिवर्तित रूपान्तरमात्र है। सूरदास ने जिस प्रेम का चित्रण किया है, वह अपना उपमान आप ही है। उसमें उस प्रेम की गन्ध भी नहीं है जो प्रिय को संयोगावस्था में उसकी

1 सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
—भागवत 3।25।25

विरहाशंका से उत्कण्ठित और वियोगावस्था मे मिलन-लालसा से व्याकुल हुआ रहता है। वह संयोग मे सोलह आना संयोगमय और वियोग मे सोलह आना वियोगमय है। राधा और कृष्ण के नाम पर प्रेम के काव्य अनेक लिखे गये हैं। रीतिकाव्य का प्रायः सारा-का-सारा इसी प्रेम-लीला का विस्तार है। उनमे वियोगी के सभी रूपों—पूर्वराग, मान, प्रेम-वैचित्र्य या प्रवास—का वाह्य रूप जैसा-का-तैसा मिल सकता है। पर प्रेम का वह वास्तविक चित्रण जिसमें वाह्य रूप (फार्म) गौण हो जाता है, जिसमे चतुरो के बताये हुए भेद-उपभेद होकर भी धन्य होते है और न होकर भी धन्य होते हैं, दुर्लभ है। संस्कृत कवि ने दो प्रेमिका सखियो के रूपक से इस रहस्य को समझाया है। एक के प्रिय ने उसके कपोल पर सुडोल मंजरी अंकित कर दी थी। वह अपने प्रेम का यह विज्ञापन गर्व के साथ दिखा रही थी कि दूसरी ने कहा, "ऐ सखी, तू प्रिय की अपने हाथों अंकित मंजरी को इस प्रकार दिखाती हुई गर्व कर रही है यह उचित नही है, दूसरी कोई भी इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र बन सकती थी यदि हाथ की कँपकँपी बीच में विघ्न न पैदा कर देती।"[1] पहली का प्रेम केवल प्रेम का बाह्य प्रदर्शन है। मंजरी का अंकित होना केवल उस प्रेम का उथलापन ही दिखाता है, असली प्रेम तो वहाँ है जहाँ हाथ काँप जाता है, मंजरी का रूप ही बन नही पाता। सो, नाना भावों और विभावों के चित्रण-मात्र से और राधा और कृष्ण का नाम लेने-भर से ही कविता उस श्रेणी की नही हो जाती, जहाँ राधा या गोपियो के बहाने भक्त अपने-आपको दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर अपने परमाराध्य के चरणों में निछावर कर देता है। वहाँ भावो और हावों के सूक्ष्म भेद भूल जाते हैं। महाप्रभु को किसी आलंकारिक रसाचार्य ने जब मिलन और विरह—संयोग और विप्रलम्भ—की नाना अवस्थाओं और कोटियों का तत्त्व समझाया तो उन्होने कातर भाव से विज्जका का बताया जानेवाला वह श्लोक पढ़ा जिसमें कहा गया है, "ऐ सखी, तू धन्य है, जो प्रिय-मिलन के समय की उसकी कही हुई स्तुतियाँ याद रखे हुई है; एक मैं अभागी हूँ कि प्रिय ज्यों ही मुझे स्पर्श करता है त्यो ही, कसम खाकर कहती हूँ, जो कुछ भी याद रह जाय।"[2] वस्तुतः वाह्य रूप और परिस्थितियाँ अनडूबे मानस के विकल्प हैं। सूरदास उस विकल्प के आडम्बर से वहुत ऊपर है। उन्होंने उस प्रेम-निधि को पाया था जो नये रूपों

1. मा: सर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
   कान्तस्वहस्तलिखिता मम मंजरीति ॥
   अन्यापि कापि सखि भाजनमीदृशानां ।
   वैरीनचेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥
2. धन्यासि या कथयसि प्रियसममेऽपि
   विश्रब्धचाटुकशतानि रतांतरेषु ॥
   नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
   सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥

ग्रौर ग्राकारों को जन्म दिया करता है। बाल-स्वभाव का वर्णन हो या प्रेमलीला का, सर्वत्र वे गम्भीर हैं। यह जो कान्ता भाव की रति है, वह इस देश के निर्गुण भाव के उपासक भक्तो में भी पायी जाती है। कबीरदास, दादू ग्रादि भक्तों में भी यह भाव है, परन्तु वहाँ समासोक्ति पद्धति से काम लिया जाता है ग्रौर लौकिक कान्ता-विषयक प्रीति व्यंजना का विषय होती है।

कबीरदास प्राय: ऐसे पदों के ग्रन्त में सद्गुरु या सन्तों का नाम सावधानी से ले लेते हैं, जिससे ग्राध्यात्मिक प्रीति निश्चित रूप से प्रस्तुतार्थ हो जाती है।[1]

इस विषय के रवीन्द्रनाथ के गानों मे कवित्व इतना ग्रधिक होता है कि वहाँ सहृदय के हृदय की चर्वित ग्रनुभूति के ग्रनुकूल लौकिक ग्रौर ग्रलौकिक दोनों ही भाव प्रस्तुत हैं ग्रौर दोनो ही व्यंजना के विषय हो जाते हैं। जब वे कहते हैं, "ग्ररी ग्रो ग्रभागिन, तुझे कैसी नींद ग्रा गयी थी जो प्रियतम के पास ग्राने पर भी जाग नहीं सकी! वह निस्तब्ध रात्रि मे ग्राया था, हाथ में उसके वीणा थी, तेरे स्वप्न में उसने गम्भीर रागिणी बजा दी ग्रौर तू सोती ही रही। हाय जागके देखती हूँ, दक्खिनी हवा को पागल बनाकर उसका सौरभ ग्रन्धकार मे व्याप्त होकर प्रवाहित हो रहा है! हाय, क्यों मेरी रात व्यर्थ चली जाती है, उसे नजदीक पाकर भी नही पा सकती, क्यों उसकी माला का स्पर्श मेरे वक्षःस्थल को नही लगने पाता।"[2] तो प्रस्तुतार्थ लौकिक प्रेम भी हो सकता है ग्रौर ग्रलौकिक भी। किन्तु सारा पदबन्ध सहृदय को एक ग्रलौकिक रसानुभूति कराये बिना विश्रान्त नहीं होता। वैष्णव भक्तों (सगुण मार्गी) का रास्ता दूसरा है, वे भगवान् के साक्षात् विग्रहवान् रूप की

1. तु.—
नैहरवा हमको न भावे।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई जाइ न आवे।
चाँद सुरज जहाँ पवन न पानी को संदेश पहुँचावे।
दरद यह साईं को सुनावे!
आगे चलों पथ नहिं सूझे पीछे दोष लगावे।
केहि विधि ससुरे जाँव मोरी सजनी विरहा जोर जनावे।
विषै रस नाच नचावे।
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई जो यह राह बतावें।
कहत कबीर सुनो भाई साधो सपने न प्रीतम पावै।
तपन [illegible] बुझावै।

2. से ये पाशे ऐसे बसेछिल तबु
की घुम तोरे पेयेछिल—हतभ
एसेछिल नीरव राते वीणा खा
स्वपन माझे बाजिये गेल गम्भीर
जेगे देखि दखिन हावा पागल
गंध ताहार भेसे
केन आमार
केन गो तार

लीला गाते हैं और गोपियों के बहाने अपना प्रीति निवेदन करते हैं।

साधारण आदमी पूछ सकते है कि भक्त कान्ताभाव से ही परम शक्ति की उपासना क्यों करता है? भगवान् को प्रिया के रूप में समझकर क्या उपासना नही हो सकती? हो सकती है। इस देश मे इस प्रकार की उपासना-पद्धति भी अनजानी नही है, पर भक्त जिस कारण से अपने को भगवान् की कान्ता समझने में आनन्द अनुभव करता है, वह उपेक्षणीय नही है। आगम शास्त्रियो का विश्वास है कि भगवान् ने लीला के लिए जब सृष्टि उत्पन्न करनी चाही तो अपने को उन्होने द्विधाविभक्त किया। इसमे एक ओर तो नारायण हुए और दूसरी ओर उनकी शक्ति लक्ष्मी। शक्ति निषेधव्यापाररूपा होती है, क्योंकि, वह भगवान् की उस इच्छा का रूप है जिसके द्वारा वे 'कुछ' के अभाव को अनुभव करते है। स्त्री में इसी शक्ति का प्राधान्य है। इसलिए स्त्री निषेधव्यापाररूपा या अपने-आपको समर्पण करके ही सार्थक होती है। भक्ति मे इसी निषेधव्यापार का आत्म-समर्पण-भाव सेवक मे स्वामी के लिए, माता-पिता मे सन्तान के लिए और मित्र मे मित्र के लिए भी होता है, फिर भी कान्त के लिए आत्म-समर्पण की भावना चरम सीमा पर पहुँचती है। यही कारण है कि भक्त कान्ताभाव के भजन को इतना श्रेष्ठ समझता है।

यह ध्यान मे रखने की बात है कि लौकिक प्रीति होने पर प्रेम जडोन्मुख होता है और इसलिए कान्ताभाव मे जड़ासक्ति ही चरम रूप मे विद्यमान होती है। लौकिक प्रीति का विषय होने पर यह प्रेम शृंगाररस का विषय होता है और सब प्रेमों के नीचे पड़ जाता है, परन्तु जब यह चिन्मुख होता है अर्थात् भगवद्विषयक होता है, इसका नाम उज्ज्वल रस होता है। यही श्रेष्ठ रस है। जिन लोगों मे आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य नही है, वे इस रास्ते को नही अपनाते। परन्तु भक्ति भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है और उसमें ऊपर बताये हुए किसी-न-किसी प्रकार के आत्मसमर्पण का मार्ग ही स्वीकार करना पड़ता है। सूरदास में वात्सल्य, सख्य और मधुर भावनाओं का बड़ा ही उत्तम परिपाक हुआ है। हमने अपनी अन्य पुस्तको मे विस्तृत रूप से इन बातों की चर्चा की है। यहाँ हम अधिक कुछ न कहकर भक्त कवियों की राधिका के उस प्रेम की चर्चा करना चाहते हैं जो उनकी अपनी विशेषता है। इस प्रेम के पूर्ण को दिखाने का हम समय न पा सकेंगे। परन्तु उस विरहरूप को कुछ अधिक विस्तार के साथ ही दिखाने का प्रयत्न करेंगे, जिससे साधक भक्त अपनी कातर मनोवाछा बार-बार प्रकट कर सका है। इसीलिए वह भक्तकवि को समझने में सबसे बड़ा सहायक है।

राधिका का स्वरूप

यदि विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखें तो राधिका विशुद्ध गीतिकाव्यात्मक पात्र हैं। इस गीतिकाव्य का उत्तम विकास चण्डीदास के पदों में हुआ है। चण्डीदास की राधिका परकीया नायिका हैं और उनका मिलन क्षणिक और उत्कण्ठापूर्ण होता है। परन्तु सूरदास की राधिका न केवल स्वकीया नायिका हैं, बल्कि उनका प्रेम चिरसाहचर्यजन्य और उत्कण्ठाहीन है। मुझे आचार्य नन्दलाल बसु ने बताया था कि कला में इस प्रकार देखा गया है कि गीतिकाव्यात्मक मनोरागों का आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या लिरिकल है। 'सूरसागर' भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीतिकाव्यात्मक है। हिन्दी में एक ऐसे समालोचकों का दल पैदा हुआ है जो हर काव्य में महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य का गुण खोजता है और न पाने पर अफसोस प्रकट करता है। ऐसे समालोचकों की लपेट से सूरदास भी नहीं बचे हैं। ये लोग एकदम भूल जाते हैं कि काव्य के प्रतिपाद्य के भीतर गीतिकाव्यात्मकता हो सकती है और उस प्रतिपाद्य को लेकर महाकाव्य की रचना उपहासास्पद प्रयत्न हो सकता है। सूरदास ने यदि राधिका के प्रेम को लेकर गीतिकाव्य की रचना न करके प्रबन्धकाव्य की रचना की होती, तो असफल हुए होते। परन्तु मैंने शुरू में ही आपसे बताया है कि गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही 'सूरसागर' है। वर्णन-नैपुण्य और भावागत माधुर्य के प्रवाह में पड़ा हुआ सहृदय यह भूल ही जाता है कि सूरदास ने राधिका और श्रीकृष्ण के प्रेम का एक ऐसा सम्पूर्ण चित्र खींचा है जो गीतिकाव्यों के भीतर से महाकाव्य के रूप में प्रकट हुआ है। 'सूर-साहित्य' में विस्तारपूर्वक मैंने इस विषय की चर्चा की है। अन्य भक्तकवियों की भाँति उन्होंने राधिका और कृष्ण को एकाएक नहीं मिला दिया। यही कारण है कि पूर्वराग की वह व्याकुल वेदना 'सूरसागर' में नहीं मिलेगी जो चण्डीदास या विद्यापति की पदावलियों में प्राप्य है। परन्तु इसमें एक विशेष प्रकार की वेदना है जो सूरदास की अपनी विशेषता है। राधिका और कृष्ण एक ही साथ खेलते-खाते बड़े होते हैं, फिर भी पूर्वराग की एक विचित्र वेदना दोनों ही अनुभव करते हैं। यह कुछ ऐसी चीज है जिसे कोई आलंकारिक बता नहीं सका। इस विषय में हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ प्रकृत प्रसंग है राधिका का स्वरूप। संक्षेप में श्रीराधिका भगवान् की ह्लादिनी शक्ति हैं। सत्-चित् और आनन्द-स्वरूप परब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति ही उसकी विशेषता है। सत्-चित्-सत्ता और चैतन्य तो जीव में भी पाये जाते हैं, ब्रह्म की विशेषता उनका आनन्दमय रूप है। राधा उसी आनन्दमयता को रूप देनेवाली ह्लादिनी शक्ति हैं। इसलिए राधिका और गोपियों में श्रेष्ठ हैं। मध्यकाल के भक्तों ने

अपने में गोपियों का या कृष्ण-सखाओं का अभिमान करके—अपने को गोपी या गोपाल समझ करके—भगवान् से प्रीति करने की साधना की थी, पर राधिका-रूप का अभिमान करने का दावा बहुत कम भक्तों ने किया। यह दुर्लभ साधना बहुत ही महान् मानी गयी। बंगाल के श्रीचैतन्यदेव ने, कहते हैं, इसी महाभाव की साधना की थी।

यह साधना कठिन क्यों है ? क्योंकि राधिका रूप, गुण, शील और औदार्य की ऐसी परिपूर्ण मूर्त्ति हैं कि प्राकृत मनुष्य के लिए उनका अभिमान लगभग असम्भव है। फिर भी राधा देवी के गुणों का बखान करके और भगवान् के साथ की गयी उनकी लीलाओं का स्मरण करके भक्त उस महिमा का किंचित् अनुभव करता है। भक्त कवियों ने राधा की लीलाओं का खूब वर्णन किया है।

परन्तु भक्त वस्तुतः विरह की अवस्था में ही भगवान् की लीलाओं का ठीक-ठीक अनुभव कर सकता है। यही उसकी साधकावस्था मे सम्भव है। संयोगावस्था तो सिद्धावस्था की बात है। विरह मे ही भक्त साधकावस्था के अनुभव प्राप्त करता है।

आगे की पंक्तियों में राधिका की विरहावस्था की बातें बतायी जा रही हैं। यह भक्त-कवियों की सहानुभूति का ही एक रूप है।

'गीतगोविन्द' की विरहिणी राधा

भक्तकवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' एक अद्भुत रचना है। सैकड़ों वर्षों से वह भक्तों का कण्ठहार रहा है। राधारानी के जिस प्रेममय हृदय का चित्रण इस ग्रन्थ मे पाया जाता है, वह अतुलनीय है। सुदूर प्रवास का वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है। नही हुआ है, यही खैर है। नही तो जिस उद्दाम प्रेममयी राधिका का दर्शन पुस्तक का प्रथम पृष्ठ खोलते ही होता है, उसकी जो दशा सुदूर प्रवास के वियोग मे दिखायी पड़ती उससे हृदय टूक-टूक हो जाता। राधिका के पूर्वराग और मान के समय जो प्रेम दिखायी देता है वह कोई बाधा नही मान सकता। शुरू में देखते हैं, वसन्त में वासन्ती कुसुमों के समान सुकुमार अवयवों से उपलक्षिता राधा गहनवन मे बारम्बार श्रीकृष्ण का अन्वेषण करके थक-सी गयी हैं। फिर भी विराम नही, खोज जारी ही है। कन्दर्पज्वर—उत्कट प्रेमपीड़ा की चिन्ता से वे अत्यधिक कातर हो उठी हैं। सखी उनसे धीरे-धीरे सरल वाक्यों में भगवान् का गुणगान कर रही है :

वसन्ते वासन्तीकुसुमसुकुमारैरवयवै-
र्भ्रमन्ती कान्तारे बहुविहितकृष्णानुसरणाम्
अमन्दं कंदर्पज्वरजनितचिन्ताकुलतया
चलद्बाधां राधां सरसमिदमूचे सहचरी।

सहचरी ने श्रीकृष्ण की जिस लीला का वर्णन किया, वह किसी भी युवती को हताश कर सकती थी। वसन्त का सरस समय है, मलय-मारुत ललित लवंगलता के परिशीलन से कोमल हो गया है, कुजकुटीर में भौरों का झुण्ड गुंजार कर रहा है, कोकिल कूज रहे हैं, ऐसा है वह देश और ऐसा है काल! विरहियों के लिए दुरन्त, दारुण! भगवान् गोप-ललनाओं के साथ केलि-क्रीड़ा में रत हैं :

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे,
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।

सखी और आगे बढ़ती है। बताती है, यह वसन्त का समय सचमुच दारुण है। विरहिणी पथिक-वधू के हृदय में एक ही साथ हर्ष और काम का उद्बोधन हुआ है, वह रो रही है। भ्रमरयूथ से घिरे हुए पुष्पों से मौलसिरी के वृक्ष भरे हुए हैं; तमाल के नये किसलयों ने कस्तूरी के सौरभ को वश में कर लिया है; लाल पलाश-पुष्पों को देखकर जान पड़ता है कि ये युवक-युवतियों के हृदय विदीर्ण करनेवाले मनसिज के रक्तविलिप्त नख हैं; नागकेसर के श्वेतपटल-शोभित पीले-पीले फूल मदनमहीपति के सुवर्णदण्डयुक्त छत्र की छवि धारण किये हैं; पाटल-पुष्पों पर मिली हुई भौरों की टोली देखकर अनुमान होता है कि कामदेवता का तूणीर (तरकस) है; संसार को विगलित और लज्जित देखकर ही मानो तरुण (नया) करुण का श्वेत पुष्प हँस रहा है; विरहियों को बेधने के लिए कुन्त (भाले) के समान मुँहवाले केतकपुष्पों ने दिशाओं को विषम कर दिया है; माधवी के परिमल से वसन्तकाल ललित और नवमालती तथा जातीपुष्पों से शोभित हो गया है; तरुणों के अकारण बन्धु, मुनिमन के मोहक तरुण रसाल-वृक्ष इस वसन्तकाल में हिलती हुई माधवीलता के आलिङ्गन से पुलकित हैं। ऐसे समय में समीपवर्ती यमुनाजल से पवित्र और शीतल वृन्दावन में भगवान् युवतियों के साथ खेल रहे हैं :

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे।
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे॥ विह.॥
मृगमदसौरभरभसवसंवदनवदलमालतमाले।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले। ॥ विह.॥
मदनमहीपतिकनकदंडरुचिकेसरकुसुमविकासे।
मिलितशिलीमुखपाटलिपटलकृतस्मरतूणविलासे॥ विह.॥

विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे ।
विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकिदन्तुरिताशे ।। विह. ।।
माधविकापरिमलललिते वनमालिकयातिसुगन्धौ ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ।। विह. ।।
स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणमुकुलितपुलकितचूते ।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ।। विह. ।।
श्रीजयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।
सरसवसन्त समयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् ।। विह. ।।

सखी ने आगे चलकर 'अनेकनारीपरिरंभसंभ्रमस्फुरन्मनोहारि विलास लालस' भगवान् को दिखाते हुए जो कुछ कहा, उससे किसी भी प्रेमिका की प्रेम-लालसा शिथिल पड़ सकती थी। भगवान् का रूप सचमुच ईर्ष्या का उद्वेलक था – उनका नील कलेवर चन्दन से चर्चित था, उस पर पीत वस्त्र लहरा रहा था, इन दोनों के ऊपर वनमाला बहार दे रही थी, गण्डस्थल पर लटके हुए मणिकुण्डल केलि के वेग से हिल रहे थे। इस प्रकार हँसते हुए श्यामसुन्दर मुग्ध व्रजांगनाओं के साथ केलि कर रहे थे :

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली;
केलिचलन्मणिकुंडलमंडितगण्डयुगस्मितशाली ।
हरिरिह मुग्धवधूनिकरेविलासिनिविलसतिकेलिपरे ।

राधिका ने और भी सुना—सबको अनुरंजित करके आनन्द देते हुए, नील-कमल की श्रेणी के समान सुन्दर अंगों से अनंगोत्सव-समारोह में लगे हुए, स्वच्छन्द भाव से व्रजललनाओं द्वारा आलिंगित मुग्ध माधव इस वसन्त में साक्षात् शृंगार की भाँति क्रीड़ा कर रहे है :

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम्;
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यंगमालिंगितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति ।

इतना पर्याप्त था। अपने प्रेम का पराभव देखकर राधिका ठिठक गयी। वे उल्टे पाँव लौट आयीं। पर हाय! इस लौटने में जो कसक थी, जो टीस थी, उसे क्या किसी ने देखा? अपना सर्वस्व लेकर चली हुई, पर प्रेम-सिंहद्वार से लौटती हुई, प्रणयिनी के हृदय को किसने समझा है? राधा का सारा हृदय-सौन्दर्य यहीं फूट पड़ा है। पारखी जयदेव ने उसे देखा था। पास ही एक लताकुंज था, मधुव्रतों की मण्डली उस पर गुंजार कर रही थी, उसी में छिपी हुई दीन राधिका सखी से बोली। उनका हृदय बैठ चुका था। जिसे एकमात्र अपना ही धन समझ रखा था, उसे गोपवधुओं से समावृत देखकर वे कातर हो उठी थी। फिर भी बोली :

क्वचिदपि लताकुंजे गुंजन्मधुव्रतमंडली;
मुखरशिखरे लीना दीनाप्युवाच रहः सखीम्।

राधिका ने जो कुछ भी कहा, वह मानिनी प्रणयिनी के योग्य नहीं है। उसमें एक कातरता है, उसमें एक दुर्बलता है। कातरता का कारण प्रियसमागम की उत्कट लालसा है और दुर्बलता का कारण प्रेम की अनन्यता। वे कहती हैं :

हे सखी, रास में विलास करते हुए, नर्म केलि से मुस्कुराते हुए भगवान् को मेरा मन स्मरण कर रहा है। कैसे थे वह सुन्दर श्याम!

वे मोहन वंशी बजा रहे थे, जिसकी ध्वनि अधर-सुधा के संचार से और भी मधुर हो उठी थी; दृगंचल और मौलिदेश चंचल हो रहे थे। इसलिए कपोल पर लटके हुए आभूषण भी हिल रहे थे :

सञ्चरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम्।
चलितदृगंचलचंचलमौलिकपोलविलोलवतंसम्।
रासे हरिमिह विहितविलासम्
स्मरति मनो मम कृतपरिहासम्।

चन्द्राकार चिह्नों से खचित सुन्दर मयूरपक्ष के मण्डल से उनका केश वेष्टित था, प्रचुर इन्द्रधनुष से अनुरंजित सान्द्र स्निग्ध मेघ की भाँति उनका वेश बड़ा ही प्रियदर्शन था :

चन्द्रकचारुमयूरशिखंडकमंडलवलयितकेशम्।
प्रचुरपुरंदरधनुरनुरंजितमेदुरमुदिरसुवेशम्॥ रासे.॥

गोपवधूटियों के मुखचुम्बन में उन्होंने उनको लोभ प्राप्त करा दिया था, उनके बन्धुजीव पुष्पों के समान लाल-लाल मधुरराधर-पल्लवों पर मुस्कुराहट की शोभा उल्लसित हो रही थी :

गोपकदम्बनितम्बवतीमुखचुम्बनलंभितलोभम्।
बन्धुजीवमधुराधरपल्लवमुल्लासितस्मितशोभम्॥ रासे.॥

विपुल रोमाच से कण्टकित भुजपल्लवों द्वारा उन्होंने अनेक गोपागनाओं का आलिंगन किया था; उनमें हाथों, चरणों और हृदय-देश पर जो मणियों के अलंकार थे उनकी किरणों से अन्धकार नष्ट हो रहा था :

विपुलपुलकभुजपल्लववलयितवल्लवयुवतिसहस्रम्;
करचरणोरसि मणि-गण भूषणकिरणविभिन्नतमिस्रम्।

उनके ललाट पर का चन्दन मेघ-पटल पर चलते हुए चन्द्रमा की शोभा का तिरस्कार कर रहा था, केलिविशेष से उनके हृदय की कठोरता प्रकट-सी हुई जा रही थी :

जलदपटलचलदिन्दुविनिन्दकचन्दनतिलकललाटम्।
पीनपयोधरपरिसरमर्दननिर्दयहृदयकपाटम्॥ रासे.॥

मणि-निर्मित मकर-से मनोहर कुण्डल से उनका गण्डस्थल सुशोभित था, वे पीत वस्त्र धारण किये हुए थे। मैं उनकी सहज उदारता इसी से अनुमान कर

सकती हूँ कि मुनिगण, मनुष्य, देवता और राक्षसों का परिवार भी उनका अनुगत है :

मणिमयमकरमनोहरकुंडलमंडितगंडमुदारम् ।
पीतवसनमनुगतमुनिमनुजसुरासुरवरपरिवारम् ।। रासे. ।।

विशद कदम्ब-तरु के नीचे सम्मिलित जनों के कलिकलुष का वे शमन कर रहे थे और मुझे भी तरंगित प्रेमदृष्टि और मन से रमण कर रहे थे :

विशदकदम्बतले मिलितं कलिकलुषभयं शमयन्तम् ।
मामपि किमपि तरंगदनंगदृशा मनसा रमयन्तम् ।। रासे. ।।

यह सब जानकर भी राधिका अत्यन्त कातरतापूर्वक सखी से प्रार्थना करती हैं कि मुझे कृष्ण से मिला दे :

सखि हे केशिमथनमुदारं रमय मया सह ।
मदनमनोरथभावितया सविकारम् ।

क्या हुआ अगर वे बहु-वल्लभ हैं, क्या हुआ अगर वे हमारे प्रेम की चिन्ता नहीं करते—हम तो उन्हीं की हैं। उनके बिना कोई गति नहीं। व्रजसुन्दरीगण से आवृत हों, तो भी मैं उन्हें देखकर प्रसन्न हूँगी :

गोविंदं व्रजसुंदरीगणवृतं पश्यामि हृष्यामि च ।

यही राधिका के हृदय की दुर्बलता है। इस दुर्बलता के कारण ही उनका प्रेम इतना वेगवान् हो सका है। इसी कातरता की आँच में तपकर यह सोना निखर पड़ा है।

भगवान् भी राधिका को न पाकर उदास हो गये थे। उनका विरह भी बड़ा मर्मभेदी है। यमुना तीर के वानीर निकुंज (वेत्रवन) में वे चुपचाप बैठे थे। राधिका की सखी वहीं जाकर उनकी प्रियतमा का वर्णन करती है :

हे माधव, वह तुम्हारे विरह से कातर है। वह भावना से तुम्हीं में लीन हो गयी है—छिप गयी है। शायद उसे मनसिज के बाणों से डर लगता है :

सा विरहे तव दीना ।
माधव मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना ।

वह चन्दन की निन्दा करती है, अधीर भाव से चन्द्रमा की किरणों से दु:ख पा रही है। मलय पर्वत से, जहाँ पर सर्पों का वास है, आयी हुई हवा को विष की तरह समझती है। उसके हृदय पर अनवरत प्रेम के देवता के बाणों की वर्षा हो रही है। उसी हृदय में तुम्हारा निवास है। इसीलिए अपने विशाल हृदय को सजल नलिनी-दल के जाल से घेरकर कवच बना रही है। उसका विचार है कि ऐसा करके वह तुम्हें उन बाणों के आघात से बचा लेगी। वह विशेष विलास-कला के लिए मनोहर-कुसुम-शयनों की रचना कर रही है। पर इसलिए नहीं कि उससे आराम मिलेगा। उस विरहिणी को आराम कहाँ ? ये कुसुम-शयन तो उसके लिए बाणशय्या के समान हैं। तथापि वह इनकी रचना कर रही है। इस दुःख की तपस्या वह तुम्हारे परिरम्भ (आलिंगन) सुख की प्राप्ति

के लिए कर रही है :

अविरलनिपतितमदनशरादिव भवदवनाय विशालम्;
स्वहृदयमर्मणि वर्म करोति सजलनलिनदलजालम्।
कुसुम विशिखशरतल्पमनल्पविलासकलाकमनीयम्;
व्रतमिव तव परिरंभसुखाय करोति कुसुमशयनीयम्।

उसके मुखकमल के विलोचनों से सदा जलधारा चला करती है, देखकर जान पडता है मानो राहु के दाँतों से दलित चन्द्रमण्डल से अमृत की धारा झर रही हो। एकान्त मे कस्तूरी से आपका चित्र बनाती है, उसमे आप कुसुम-शर के रूप में चित्रित होते है; नीचे मकर का चित्र बनाती है और आपके हाथ मे नयी आम्र-मंजरी का बाण दे देती है। इस प्रकार आपको प्रणाम किया करती है :

वहति च चलित विलोचनजलधरमाननकमलमुदारम्;
विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलनगलितमिवधारम्।
विलिखति रहसि कुरंगमदेन भवन्तमसमशरभूतम्;
प्रणमति मकरमधो विनिधाय करे च शरं नवचूतम्।

माधव, आप दुराव अर्थात् दुर्लभ हैं, फिर भी ध्यान की तन्मयता से वह आपको सामने ही कल्पना करके विलाप करती है, हँसती है, विषाद करती है, चलती है, आनन्दित होती है। पद-पद पर कहती है—हे माधव, मैं तुम्हारे चरणो पर पड़ी हूँ; तुम्हारे विमुख होने पर अमृत का निधि यह चन्द्रमा भी मेरे शरीर में दाह उत्पन्न करता है :

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्;
विलपति हसति विषीदति रोदिति चचति मुचति तापम्।
प्रतिपदमिदनपि निगदति माधव ! तव चरणे पतिताहम्;
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्।

इसी मार्ग के अगले गान से राधिका का विरहोन्माद स्पष्टतर हो उठा है। वे अपने वक्ष:स्थल पर के पुष्पहार को भी अपने कृश शरीर की भाँति ही भार समझ रही हैं; सरस घन-चन्दन-पक को सशंक भाव से विष की तरह देख रही है; मदनाग्नि से तपे हुए की तरह गर्म-गर्म दीर्घ श्वास ले रही हैं; जलकण से भरे, नालहीन नलिन के समान नयनो को इधर-उधर फेंक रही है; सायंकाल कपोल-तल पर से हाथ नही हटाती, इस प्रकार आधा ही दिखायी देनेवाला उनका मुँह स्थिर नवीन चन्द्रमा की तरह दिखायी देता है; नयनगोचर पुष्पशय्या को भी अग्नि की तरह देखती हैं और सकाम भाव से कृष्ण-कृष्ण जप रही हैं, क्योकि उन्हें विरह-वेदना से मरण की आशंका हो गयी है :

स्तनविनिहितमपि हारमुदारम्;
सा मनुते कृशतनुररि भारम्।
राधिका विरहे तव केशव
माधववामन विष्णो।

सरसमसृणमपि मलयजपंकम् ।
पश्यति विषमिव वपुषि सशंकम् ।। रा. ।।
श्वसितपवनमनुपमपरिणाहम् ।
मदनदहनमिव वहति सदाहम् ।। रा. ।।
दिशि दिशि किरति सजलकणजालम् ।
नयननलिनमिव विगलितनालम् ।। रा. ।।
त्यजति न पाणितलेन कपोलम् ।
बालशशिनमिव सायमलोलम् ।। रा. ।।
नयनविषयमपि किशलयतल्पम् ।
कलयति विहितहुताशविकल्पम् ।। रा. ।।
हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् ।
विरहविहितमरणेव निकामम् ।। रा. ।।
श्रीजयदेवभणितमिति गीतम् ।
सुखयतु केशवपदमुपनीतम् ।। रा. ।।

राधा का प्रेमोन्माद बड़ा करुणाजनक है :

सा रोमांचित सीत्करोति विलपत्युत्कम्पते ताम्यति;
ध्यायत्युद्भ्रमति प्रमीलति पतत्युद्याति मूर्च्छत्यपि ।

भगवान् की दशा भी वैसी ही थी। वे बारम्बार दीर्घ श्वास ले रहे थे, उत्सुकता के साथ बारम्बार चारों ओर देख रहे थे, कभी कुंज से बाहर निकल आते, फिर कुछ गुनगुनाते हुए भीतर घुस जाते, विरहदुःख से खिन्न हो रहे थे। एक बार शय्या-रचना करते थे, फिर व्याकुल भाव से चारों ओर से देखने लगते थे —राधिका-जैसी कान्ता के प्रिय श्रीकृष्ण विरह-वेदना से क्लान्त हो उठे थे :

विकिरति मुहुः श्वासानाशाः पुरो मुहुरीक्षते
प्रविशति मुहुः कुंजं गुंजन्मुहुर्बहु ताम्यति;
रचयति मुहुः शय्यां पर्याकुलं मुहुरीक्षते
मदनकदनक्लान्तः कान्ते प्रियस्तव वर्तते ।।

यह प्रिय संवाद था। पर हाय ! राधिका में इतनी शक्ति थी कि वे प्रिय को प्रसन्न करने के लिए जा सकें ! चिरकाल से अनुरक्त राधिका विरह की मार सहकर इतनी अशक्त हो गयी थी कि उनके लिए प्रिय के पास जाना भी असम्भव था।

सखी मनसिज-मन्द गोविन्द से राधिका की दशा का वर्णन करती है :

पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्;
त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम् ।
नाथ हरे जय नाथ हरे सीदति राधा वासगृहे ।

हे नाथ, हे हरे, राधा वासगृह में कष्ट पा रही है। भावना से, अपने मधुर

अधर-मधु को पान करते हुए आपको एकान्त से चारों ओर देख रही है :

त्वदभिसरणरभसेन वलन्ती।
पतति पदानि कियन्ति चलन्ती ।। नाथ हरे. ।।

तुम्हारे पास आने के उत्साह से चल पड़ती है, पर कुछ ही पग चलकर गिर पड़ती है। हे नाथ, राधा वासगृह में कष्ट पा रही है।

राधिका के कष्ट पाने का अनुमान सहृदय पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। जीवन का एकान्त आराध्य उनके वियोग में क्षीण हो रहा है और सारी शक्ति बटोरकर भी वे अभिसरण नहीं कर पातीं। सचमुच यह बड़ी कष्टकर अवस्था है। इसी बीच विरहिणियों का शत्रु चन्द्रमा आकाश के एक छोर पर दिखायी दिया। सखी राधिका का सन्देश लेकर माधव के पास गयी थी। उनके आने में कुछ विशेष देर नहीं हुई, पर विरही के लिए समय का छोटे-से-छोटा अंश भी कल्प के समान होता है और फिर 'दिक् सुन्दरी-वदन-चन्दन-विन्दु' इन्दु भी आ उपस्थित हो तो कहना ही क्या है! राधिका हताश भाव से कातर हो उठीं :

'जान पड़ता है सखियों ने मुझे धोखा दिया। कथित समय तो बीत गया पर भगवान् तो नहीं आये। हाय! मेरा यह अमल यौवन व्यर्थ ही गया। मैं किसकी शरण जाऊँ, सखियों ने मुझे धोखा दिया!'

कथित समयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्।
मम विफलमेतदनुरूपमपि यौवनम्।।
यामि हे कमिह शरणंसखीजनवचनवंचिता।।

'जिसके अनुगमन के लिए रात मे मैंने गहन व्रत का अनुष्ठान किया, उसी ने मेरे इस हृदय को मदन-बाणों मे विद्ध कर दिया! मुझ अभागिनी का, जिसका आवास प्रियशून्य है, मरना ही अच्छा है, मूर्च्छित हो-होकर कहाँ तक मैं विरहाग्नि का ताप सहूँ?'

यदनुगमनाय निशि गहनमपि शीलितम्।
तेन मम हृदयमिदमसमशरकीलितम् ।। यामि. ।।
मम मरणमेव वरमिति वितथकेतना।
किमिति विषहामि विरहानलमचेतना ।। यामि. ।।

'हाय! यह वसन्त की मधुर रात्रि मुझे विकल कर रही है, कोई अन्य पुण्यशीला रमणी भगवान् के समागम का सुख अनुभव कर रही है। हाय, ये मेरे मणिनिर्मित अलंकार भगवान् की विरह-अग्नि को धारण करने के कारण दोषमय हो गये हैं।'

'मामहह विधुरयति मधुरमधुयामिनी।
कापि हरिमनुभवति कृतसुकृतकामिनी ।। यामि. ।।
अहह कलयामि वलयादिमणिभूषणम्।
हरिविरहदहनवहनेन ... ''

'अति विकट है यह मदनवाण ... मुझे

कुसुम कोमल शरीरवाली के हृदय में चोट कर रही है। हाय ! मैं तो इस विषय-वन की (भयावनी) वेत्र-लताओं का कुछ भी विचार न कर यहाँ ठहरी हुई हूँ, पर भगवान् मुझे मन मे भी नहीं याद करते।'

कुसुमसुकुमारतनुमतनुशरलीलया ।
स्रगपि हृदि हन्ति मामपिविषमशीलया ।। यामि. ।।
अहमिह निवसामि नगणितवनवेतसा ।
स्मरति मधुसूदनो मामपि न चेतसा ।। यामि. ।।

'तो क्या भगवान् किसी अन्य गोप-ललना की ओर चले गये ? या साथियों ने उन्हें कला-केलि से अटका तो नही रखा ? कहीं वे गहन तिमिराकुल वन में भटक तो नहीं रहे हैं ? रास्ते में ही क्लान्त होकर चलने मे मेरे कान्त असमर्थ तो नही हो गये ? क्या बात है जो वे इस पूर्वनिर्धारित मंजुल वंजू (वेत्र)-लता के कुञ्ज में नहीं आये।'

तत्किं कामपि कामिनीमभिसृतः किं वा कलाकेलिभि-
र्बद्धो बंधुभिरन्धकारिणि वनोपान्ते किमुद्भ्राम्यति।
कांतः क्लांतमना मनागपि पथि प्रस्थातुमेवाक्षमः
संकेतीकृतमंजुवञ्जुललताकुञ्जेऽपि यन्नागतः ।

जयदेव ने जिस विरहिणी का चित्र खीचा है, उसमें विलासिनी व्रज-सुन्दरी का रूप रह-रहकर स्पष्ट झलक आता है। कवि की प्रतिज्ञा भी विलास-कलावती हरिप्रिया के चित्रण की ही है। पहला पन्ना खोलते ही कवि अपना काव्य पढने के लिए निमन्त्रण देते समय दो शर्तें रखता दिखायी देता है। 'यदि हरिस्मरण में मन सरस हो, और यदि विलास-कला मे कुतूहल हो, तब मधुर कोमलकान्त पदावली जयदेव की सरस्वती को पढो।'

यदि हरिस्मरणेसरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमलकातपदावली
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ।

अगर इन दोनों मे से कोई एक भी शर्त पूरी न हो, तो जयदेव की सरस्वती का आनन्द उठाना असम्भव है। जयदेव की विलासिनी राधा और श्रीकृष्ण की विलास-कला वस्तुतः आधी नहीं रहेगी अगर राधिका को एकान्त प्रेम-निर्भर भक्त के रूप मे न देखा जाय। भगवान् की प्राप्ति के लिए जयदेव की राधा इतनी व्याकुल हैं कि वे सभी कारण जो सासारिक रमणियों की विरक्ति के साधन हैं, उन्हें प्रेम के मार्ग विचलित नही कर सकते। यह कुसुम-कोमल शरीर विरह-ताप को अधिक सहन कर ही नहीं सकता। राधा कहती हैं :

नायातः सखि निदयो यदि शठस्त्व दूति किं दूयसे।
स्वच्छंदं बहुवल्लभः स रमते किं तत्र ते दूषणम् ।।

पश्यादय प्रियसंगमाय दयितस्याकृष्यमाणं गुणैः।
उत्कंठार्तिभरादिव स्फुटदिदं चेतः स्वयं यास्यति ॥

क्षण-भर के विलम्ब में भी जो चित्त उत्कण्ठार्ति के बोझ से फट पड़ता है, उसकी सुदूर प्रवास के वियोग की अवस्था कल्पना से भी परे है। इसीलिए कहते हैं कि इस मृणाल-तन्तु को जयदेव ने प्रखर ग्रीष्म के ताप में न रखकर अच्छा ही किया है—अच्छा ही किया है!

विद्यापति की विरहिणी राधा

प्रथम दर्शन में ही विद्यापति आश्चर्यचकित-से दिखायी देते हैं। छूटते ही बोल उठते हैं—'वह देखो! राधिका का वह अपार रूप देखो। इस पृथ्वीतल पर न जाने विधाता ने किस लावण्य का सार ला उपस्थित किया है।'

देख देख राधा रूप अपार।
अपरूप के बिहि आनि मिलावल खितितले लावनिसार ॥

विद्यापति इस रंगिणी के चरणतल पर सौ-सौ लक्ष्मियों को निछावर कर सकते हैं। 'ऐ मन, इस चरण-कमल की अभिलाषा किये रह, अगोरता रह उनके कृपा कटाक्षों को!'

कत कत लखिमी चरणतल नेउछय रंगिनि हेरि विभोरि।
कर अभिलाषा मनहि पद पंकज अहनिसि कोर अगोरि।

सचमुच व्रज-लाड़िली का यह सौन्दर्य ऐसा ही है। 'शैशव और यौवन दोनों मिल गये हैं, आँखों ने कान का रास्ता ले लिया है, वचन में चातुरी आ गयी है, रह-रहकर मन्दस्मिति बिखर रही है—पृथ्वी पर आसमान का चाँद प्रकाशित हो गया है।'

अब सब खन रहु आँचर हात।
लाजे सखिगन ना पुछय बात।
× × ×
अब भेल यौवन बंकिम दीठ।
उपजल लाज हास भेल मीठ।

यही कुसुम-कोमल बाल-किशोरी जब ब्रजचन्द के नवानुराग में कातर हो उठती है, सहृदय का हृदय पिघल जाता है। माधव पहले से ही राधिका की ओर आकृष्ट हैं, राधिका भी उनकी ओर आकृष्ट होती है। पहली बार श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी देखकर वे मुग्ध हो जाती हैं—'क्या बताऊँ सखी, उस कान्हा का रूप! इस सपने के सरूप को पतियायेगा कौन—किसे यकीन होगा! नये बादल के समान शरीर, पीत वस्त्र सौदामिनी की रेखा के समान झलक रहा था। श्यामल वर्ण था, कुञ्चित केश! जान पड़ता था, काजर में मदन ने ही अपना सुन्दर वेश साज रखा था!'

कि कहब हे सखि कानुक रूप।
के पतिआयत सपन सरूप।
अभिनव जलधर सुन्दर देह।
पीतबसन पर दामिनि रेह।
सामर झामर कुटलहि केश।
काजरे साजल मदन सुवेश॥

राधिका की बड़ी इच्छा थी कि वे कान्ह को देखें। अवसर आया और उन्होंने देखा। पर हाय, मुग्धा राधिका को क्या मालूम था कि यह देखना विषम वेदना का कारण हो जायेगा। अबोधा राधिका! वे समझ ही न सकीं कि क्या कहना चाहिए, क्या सुनना चाहिए। सावन की झड़ी के समान दोनों नयन बरसन लगे। हृदय निरन्तर धड़कने लगा। हाय, राधिका ने भगवान् को देखा ही क्यों? अब तो मन दूसरे के हाथ चला गया। न जाने कैसा चोर है वह मोहन! देखनेवाली का चित्त ही चुरा ले गया कि राधिका जितना ही भूलना चाहती हैं, उतना ही वह नहीं भूलना चाहता। विद्यापति आश्वासन देकर कहते हैं कि हे वरनारि! मुरारि मिलेंगे।

कानु हेरब छल मने बड़ साध।
कानु हेराइत भेल परमाद।
ता धरि अबोध मुगुध हम नारि।
कि कहि कि सुनि किछु बुझइ न पारि।
सावन घन सम झरु दु नयान।
अविरत धस-धस करय परान।
कौं लागि सजनी दरसन भेल।
रभसें आपन जिउ पर हाथे देल।

न जानिय किय करु मोहन चोर।
हेरइत प्रान हेरि लइ गेल मोर।

इसके बाद राधिका ने भगवान् को सैकड़ों बार देखा। दही बेचते समय रास्ते में भगवान् के दर्शन हुए और वे चित्रलिखित-सी खड़ी हो गयी; न दही की सुधि रही न आँचल की। यमुना पुलिन की संकीर्ण पगडण्डियों पर आँखें चार हुईं और वे 'नयन तरंगे जनु गेलहु सनाइ'!—मानो नयन-तरंगों से स्नान कर गयी। मगर राधिका सदा मुग्धा ही रही—अटूट मुग्धा! वे फिर भी पूछती है, 'कौन यकीन करेगा कि ऐसा सचमुच हो जाता है! सारे नगर में क्या ऐसा कोई भी आदमी है, जो राधिका की इस बात का विश्वास करे कि उस दिन वृक्ष-तले जब कृष्ण मिले थे, तो वे नयन-तरंगों से नहा-सी गयी थी और देखते-सुनते उनका हृदय उन्होंने हर लिया था!'

तरु तर भेटल तरुन कन्हाइ।
नयन तरंगे जनि गेलहु सनाइ॥
के पतियाएत नगर भरला।
देखइत सुनइत हृदय हरला॥

'निष्ठुर सखियाँ विश्वास ही नहीं करती, कब किसने दूसरे का दुःख बाँट लिया है?'

निठुर सखी विश्वास न देइ।
परक वेदन पर बाँटि न लेइ।

अन्त मे एक दिन भगवान् मिले। यह विचित्र दशा थी। राधिका के मुँह से सुनना ही ज्यादा अच्छा होगा। उनके कहने से जान पड़ता है कि उस दिन उन्होंने मुख झुका लिया था, अपनी चोर आँखों को रोक रखा था; फिर भी वे प्रियतम की ओर दौड़ पड़ी थी, जैसे चकोर चाँद की ओर दौड़ पड़ते हैं। एक बार फिर जबरदस्ती उन्होंने उन आँखों को नीचे की ओर झुका लिया था और सारी शक्ति लगाकर प्रियतम के चरण में बाँध रखा था। मधुपान करके भौंरा उड़ तो नहीं सका, मगर उसके पंख अवश्य फड़फड़ाये थे! माधव ने मधुर वाणी से कुछ कहना चाहा था, कहा भी था, राधिका ने अनुभव किया कि आनन्द का इतना गुरु भार वे सँभाल न सकेंगी, उन्होंने कान बन्द कर लिया था—मगर कर न सकी थी। पचशर उनके विरुद्ध था। शरीर से पसीना तरतर चूने लगा था, रोमांच से देह-यष्टि कण्टकित हो गयी थी, कंचुकी दरक उठी थी, हाथ काँपने लगे थे, शब्द गायब हो गये थे:

अवनत आनन कए हम रहिलहु वारल लोचन चोर।
पिय मुखरुचि पिवए धाओल जनि से चाँद चकोर।
ततहु सयो हठे हठिमोडे आनन, ल चरन
मधुक मातल उड़इ न पाय
राधिका के प्रथम मिलन का यह वि

तक फिर प्राणप्यारे का दर्शन नहीं हुआ। वियोग की वे घड़ियाँ असह्य थीं, मगर नवानुरागिणी को लज्जा उन्हें सँभालती रही। कुछ सखियों के उद्योग से, कुछ अपनी तपस्या के फल से, कुछ नटनागर की आकुलता से शीघ्र ही दोनों प्राणी मिले और यमुना का केलि-पुलिन धन्य हो गया। मगर राधिका इस विलास-विभ्रम में भी अन्त तक मुग्धा किशोरी ही बनी रही। यही इसका उत्तम अंश है।

पनघट पर युगल मूर्ति को देखकर यमुना उद्वेल हो उठी है, कदम्ब-तले देखकर वनस्थली आत्म-विस्मृति में डूब जाती है, गोकुल की अँधेरी गलियाँ काले प्रकाश से चमक उठती हैं, चन्द्रमा को अपना रूप सार्थक जान पड़ता है, वसन्त अपनी नवीनता का सच्चा आनन्द पाकर धन्य हो जाता है, वर्षा अपनी प्रफुल्ल-यौवना देह-यष्टि से लोट-पोट हो जाती है, शरद् कास-हास से तरंगित हो जाती है—दुनिया में जो जहाँ है, वह वहीं अपना जन्म सफल मान लेता है—ऐसी है वह राधा-माधव की प्रेमकेलि। अकस्मात् एक दिन राधिका सुनती है कि प्रिय-वियोग प्रायः निश्चित है। राधिका व्याकुल हो उठती है :

"हाय सखी, बालम विदेश जीतना चाहते हैं! ('जाना चाहते हैं,' कहना तो अमङ्गलसूचक शब्द है; राधिका इसका प्रयोग नहीं कर सकती।) कैसे रोकूँ, मैं कुलकामिनी हूँ, उनको रोकना तो अनुचित है। तू ही समझा देना बहन, यह विदेश का समय नहीं है। वह निष्ठुर मेरा दुख तो समझेगा नहीं; समझा दे सखी, कि कुछ दिन यहीं रहे।"

मगर राधिका की हृदय-व्यथा क्या सखी कह सकेगी? कुलकामिनी राधिका को संकोच छोड़ना पड़ा। भगवान् के पास स्वयं ही गयी और बोली :

"प्यारे, अगर विदेश जाना ही चाहते हो, तो मेरा उपदेश सुनो। यदि भौंरे गूँजने लगें, यदि कोकिल पञ्चम तान छेड़ दे, तो अनुमान कर लेना कि वसन्त आ गया है, वरन् अपने कान मूँद लेना। उस समय, प्यारे, अपना प्रण रखना और मुझ प्यासी को भी जल देना।

"प्यारे, जब तुम घर से बाहर रास्ते के उस वन में पहुँचोगे, उसी समय मुझे भूल जाओगे। हीरा, मणि-माणिक्य, मैं कुछ भी नहीं चाहती, प्यारे, मैं तो तुम्हीं को चाहती हूँ।"

मगर कृष्ण ने सुना नहीं। वे चलने को तैयार बैठे थे। उस विदाय-रात्रि का वर्णन विद्यापति नहीं कर सकते। राधिका कान्ह के मुख को देखकर फूटकर [illegible] उने [illegible] ार पड़ी। व्याकुल प्रियतम ने क्या-क्या कहकर प्रबोध नहीं कराया? पर हाय, मर्म की पीड़ा भी उन प्रबोध-वाक्यों से दूर हो सकती थी? अन्त में माधव ने कहा कि 'मैं अब मथुरा नहीं जाऊँगा।' इस पर राधिका को चेतना हुई। सावधानी से कान्ह के दोनों हाथों को राधिका ने अपने कोमल हाथों में लिया और सिर पर रखा। तब समझाकर वर नागर कृष्ण ने कहा कि 'मैं मथुरा नहीं जाऊँगा।'

प्रियतम के इस आश्वासन से प्रिया आश्वस्त हुई और दीर्घ निःश्वास छोड़कर बैठ गयी। जिस प्रकार भगवान् ने राधिका का प्रबोध किया, वह विद्यापति कह नहीं सकते :

कानुमुख हेरइते भावनी रमणी।
फुकरइ रोयत झर-झर नयनी।
अनुमति माँगिते वर विधुवदनी।
हरि-हरि शबदे मुरछि पड़ धरनी।
आकुल कत परबोधइ कान।
अब नहि माथुर करव पयान।
इह वर शवद पराल जब श्रवने।
तव विरहिनी धनी पावल चेतने।
निज करे धरि दुहुँ कानुक हाथ।
यतने धरल धनि आपन माथ।
बुझिये कहये वर नागर कान।
हम नहि माथुर करव पयान।

राधिका, तुम भूल रही हो। किस ससीम ने असीम को रखा है! काया ने प्राण को रोक रखने के लिए अनादि काल से अनन्त प्रयत्न किया है, पर प्राण ने कब सुना है?

प्राण कहे सुनु काया मेरी, तुम हम मिलन न होय।
तुम सम मीत बहुत हम कीना, संग न लीना कोय।

—कबीर

हे जगद्वन्द्ये, हम तुम्हारे विरह-दुःख की गम्भीरता का अनुमान करने में भी असमर्थ हैं, तुम वह ध्रुवतारा हो जिसका अनुसरण करके अनन्त काल तक राहगीर अपना रास्ता तय करेंगे, पर प्रेम के सर्वग्रासी प्रभाव में पड़कर तुम अपना ही रास्ता न पा सकी।

हाय, किस गम्भीर दुःख मे मग्न है यह सारा आकाश, यह सारी पृथ्वी। जितनी दूर चलो एक आवाज सुन पड़ेगी, 'मैं तुम्हे नही जाने दूँगी!' धरणी के इस प्रान्त से लेकर नीलाभ्र के उस प्रान्त तक एक ही अनाद्यन्त आवाज ध्वनित हो रही है, 'नही जाने दूँगी।' सबका यही कहना है, 'नही जाने दूँगी।' वह दीप-शिखा आयुःक्षीण होकर 'अब बुझी, तब बुझी' की अवस्था तक पहुँच गयी है, फिर भी अन्धकार से न जाने कौन सारी शक्ति लगाकर खींचता हुआ कह रहा है, 'नही रे, नही जाने दूँगी!'

इस अनन्त चराचर में स्वर्ग से मर्त्य तक सबसे पुरानी बात, सबसे गम्भीर क्रन्दन यही है, 'नही जाने दूँगी, नही जाने दूँगी!' फिर भी जाने देना होता है! फिर भी जानेवाला चला जाता है! अनादिकाल से यही होता चला आ रहा है। प्रलय समुद्रवाही इस सृजनस्रोत में, व्यग्र बाहु फैलाये हुए, जलती आँखों से 'नहीं

जाने दूँगी, नही जाने दूँगी' कहते-कहते, हू-हू करके तीव्र वेग से इस विश्व-तट को आर्त्त कलरव से पूर्ण कर सभी चले जाते है ! सामने की लहर से पीछे की लहर चिल्लाकर कहती है, 'नही जाने दूँगी, नही जाने दूँगी ।' पर कोई नही सुनता, कोई जवाब नही देता :

की गभीर दुःखे मग्न समस्त आकाश
समस्त पृथिवी। चलितेछि जतदूर
शुनितेछि एकमात्र मर्मान्तिक सुर
'जेते आमि दिब ना तोमाय।' धरनीर
प्रान्त हते नीलाभ्रेर सर्वप्रान्ततीर
ध्वनितेछे चिरकाल अनाद्यन्त रवे
'जेते नाहि दिब, जेते नाहि दिब' सवे
कहे 'जेते नाहि दिव'। तृण क्षुद्र अति
तारेओ बाँधिया वक्षे माता वसुमति
कहिछेन प्राणपने 'जेते नाहि दिव'।
आयुक्षीण दीपमुखे शिखा निव-निव
आँधारेर ग्रास हते के टानिछे तारे
कहितेछे शतबार 'जेते दिव ना रे'
ए अनन्त चराचर स्वर्ग मर्त्य छेये
सब चेये पुरातन कथा सब चेये
गभीर क्रन्दन 'जेते नाहि दिव'। हाय,
तबू जेते दिते हय, तबू चले जाय।
चलितेछे एमनि अनादि काल हते।
प्रलय समुद्रवाही सृजनेर स्रोते
प्रसारित व्यग्रबाहु ज्वलन्त आँखिते
'दिब ना दिव ना जेते' डाकिते डाकिते
हु हु करे तीव्र वेगे चले जाय सवे
पूर्ण करि विश्वतट आर्त्त कलरवे
सम्मुख उर्म्मिरे डाके पश्चातेर ढेव
'दिव ना दिव ना जेते' नाहि सुने केउ,
नाहि कोनो साड़ा।

—रवीन्द्रनाथ

राधिका की सारी आशा-आकांक्षाओं की उपेक्षा करके भगवान् भी चले गये। कृष्ण राधिका के विरह को अनुभव न कर सके। काश, राधिका की इच्छा पूरी हो जाती और मरकर दूसरे जन्म मे कृष्ण होती, और कृष्ण राधिका होते, तो सम्भव था कि वे उस विरहिणी की व्यथा अनुभव करते।

'कल ही शाम को प्रिय ने कहा था कि मैं मथुरा जाऊँगा, मैं अभागिनी समझ

हो नहीं सकी; नहीं तो साथ ही योगिनी बनकर चली जाती। हाय ! मेरा हृदय कितना दारुण है, जो प्रिय के बिना अब तक फट नहीं गया।'

कालि कहल पिया ए साँझहिरे
जायब मोये मारुम देश।
मोय अभागिनी नहि जानल रे
संग जइवउँ जोगिन वेश।
हृदय बड़ दारुण रे पिया बिनु
बिहरि न जाय।

पर हाय, कृष्ण नहीं माने, चले ही गये। उस समय राधा की अवस्था विद्यापति के शब्दों में :

एक शयन सखि सूतल रे
आछल बालमु निसि भोर।
सून सेज हिया सालय रे
पियारे बिन घर मोये आजि।
विनति करउ सहेलिनि रे
मोहि देह अगिहर साजि।

राधिका के इस प्रथम बिछोह की घड़ियाँ बहुत दारुण हैं। इस बिछोह के लिए राधिका ने क्षण-भर के लिए भी भगवान् को दोषी नहीं ठहराया ! उनके प्रियतम विदेश चले गये, कोई भी कुशल-सन्देश नहीं दे रहे हैं। इसके लिए राधिका किसकी निन्दा करें ? यह उन्हीं का अभाग्य है, प्रिय का दोष नहीं। श्रीकृष्ण-जैसे प्रिय ने भी पूर्व-प्रीति बिसार दी है। राधिका की समझ में यही बात आती है कि जब विधि वाम होता है, तो सब विपरीत हो जाते हैं। मर्म की वेदना मर्म ही जानता है, दूसरे का दुःख दूसरा नहीं जानता !

हमर नागर रहल दूर देश।
केउ नाहि कह सखी कुशल सन्देश।
ए सखि काहि करब अपतोस।
हमर अभागि पिया नहि दोस।
पिया बिसरल सखि पुरुब पिरीत।
जखन कपाल वाम सब विपरीत।
मरमक वेदन मरमहि जान।
आनक दुःख आन नहि जान।

राधिका कहती हैं—'इतने दिनों तक हर्ष था, अब सब दूर हो गया। रंक का धन खो गया और उसके लिए सारा संसार सूना हो गया ! न जाने निर्दय विधाता ने किस दोष के लिए यह दुःख दिया है। जी में आता है, विष खा लूँ, पर आत्महत्या तो पाप है ! मेरा जीवन मरण के समान जान पड़ रहा है और मरण परम सुहावना। मेरा दुःख कौन पतियायेगा—किसे इसका यकीन होगा !'

एक दिन हृदये हरख छल आवे सब दूर गेल रे।
रौंकक रतन हेरायल जगते ओ सून भेल रे।
विहि निरदय कोन दोसें दहु देल दुख मनमथ रे।
मन कर गरल गरासिय पाप आतम बध रे।
जीवन लाग मरन सम मरन सोहावन रे।
मोर दुख के पतिआएत सुनह विरहि जन रे।
विद्यापति कह सुन्दरि मन धीरज धरु रे।
अचिर मिलत तोर प्रियतम मन दुख परिहरु रे।

फिर भी राधिका ने आशा त्यागी नहीं। हाय, मगर यह आशा क्या कभी पूर्ण होगी ? आँखें तो रोज ही भगवान् के लिए दौड़ा करती है, मगर वे कहाँ आये ? शिव, शिव ! जीव भी तो नहीं जाता, आशावश उलझा हुआ है। मन में आता है कि वहीं उड़ जायँ, जहाँ भगवान् को पाया जा सके और उस प्रेम के स्पर्श-मणि को पाकर हृदय में लगा लें। सपने में भी सगम हुआ था, रंग भी बढ़ाया था, मगर विधाता ने उसे भी नष्ट कर दिया—नींद ही खुल गयी ! फिर भी विद्यापति कहते हैं कि 'हे सुन्दरी, धैर्य धरो, प्रियतम शीघ्र ही मिलेंगे, मनोरथ पूर्ण होगा।'

लोचन धाए फेधायज हरि नहिं आयल रे।
शिव शिव जिवओ न जाय आसे अरुझाएल रे।
मन करि ताहाँ उड़ि जाइअ जाहाँ हरि पाइअ रे।
पेम परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे।
सपनहु संगम पाओल रंग बढाओल रे।
से मोर विहि विघटावल नीद ओ हेराओल रे।
भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज कर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे।

'हे काले बादल, कमल सूख गया, भौंरा अब नहीं आता। प्यासा पथिक पानी भी नहीं पाता। सरोवर दिन-पर-दिन छिछला होता जा रहा है। समय की उपेक्षा करके अगर तुम बरसे ही तो क्या और न बरसे ही तो क्या ? दिन में दीपक की कौन-सी जरूरत पड़ेगी ? असमय की वर्षा व्यर्थ है, समय का एक चुल्लू पानी मूर्च्छित को जिला सकता है।'

कमल सुखायल भमर नहि आव।
पथिक पियासल पानी न पाव॥
दिन दिन सरोवर होइ अगारि।
अबहु नइ बरसइ मही भरि बारि॥
यदि तोहें बरसब समय उपेखि।
की फल आओब दिवस दिप लेखि॥

भनइ विद्यापति असमय वानी।
मुरुछल जिवए चुरू एक पानी ॥

'हाय, न जाने माधव कब तक मथुरा में रहेंगे? कब वाम विधाता का प्रकोप दूर होगा? दिन लिखते-लिखते तो नख घिस गये, गोकुल का नाम भी भूल गया! हे हरि, यह संवाद मैं किससे कहूँ? नेह का सुमिरन करते-करते तो देह क्षीण हो गयी। अब कौन-सी साध बच रही है? पहले तो मैं ही प्यारी स्त्री थी, अब दर्शन में भी सन्देह आ उपस्थित हुआ है। भौंरा भी तो सब कुसुमों में रमता हुआ भी कमलिनी का स्नेह नहीं छोड़ता। मगर यह आशा लेकर कहाँ तक प्राण बचाऊँ, वह तो अभी से प्रयाण करना चाहता है। फिर भी विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरी, धैर्य धरो, कृष्ण मिलेंगे।'

कत दिन माधव रहब मथुरापुर कबे घुचब विहि बाम।
दिवस लिखि-लिखि नखर खोआएल बिसरल गोकुल नाम।
हरि-हरि काहे कहब इह संवाद।
सुमरि सुमरि नेह खीन भेल मुझ देह जीवने आछय किए साध।
पुरुब पियारि नारि हम आछल अब दरशनहुँ संदेह।
भमर भमए भमि सबहु कुसुमे रमि न तजय कमलिनि नेह।
आश नियर करि जिउ-कत राखव अबहि से करत पयान।
विद्यापति कह धरँज धर धनि मिलव तुरतहि कान।

'हे सजनी, तू जाकर भगवान् से समझाकर कह। प्रेम-बीज का अंकुर रोपकर, उसे तुमने मरोर डाला। वह किस उपाय से बचेगा? जल में जैसे तेल का बिन्दु फैल जाता है, वैसे ही तुम्हारा अनुराग फैलता है और बालू में जैसे पानी गायब हो जाता है, वैसे ही तुम्हारा दिया हुआ सोहाग।'

सजनी कानुक कहबि बुझाइ।
रोपि पेमक बीज अंकुरे मोड़लि बाँचब कोन उपाइ।
तेलबिन्दु जस आनि पसारिये ऐसन तुम अनुरागे।
सिकता जल जस खनहि सुखाये तैसन ताहार सोहागे।

'कौन है जो राधिका की पत्रिका ले जायगा? हाय, इस सावन के महीने मे हृदय का दुख सहा नहीं जाता। इस धारासार वर्षा के कठिन ऋतु मे पिया बिना भवन में अकेली मैं नहीं रह सकती। कौन है, सखी, जो दूसरे का दुख पतियाये? हरि मेरा मन हरकर मथुरा लेते गये। उन्होंने गोकुल छोड़कर मथुरा में वास कर कितना अपजस लिया? फिर भी विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरी, धीरज धरो, तुम्हारा मनभावन इसी कातिक मे आ रहा है।'

के पतिया लय जाएत रे मोर पियतम पास।
हिय नहिं सहय असह दुख रे भेल सावन मास ॥
एकसरि भवन पिया बिनु रे मोरा रहलो ना जाय।
सखि अनकर दुख दारुन रे जग के पतिआय ॥

मोर मन हरि हरि लय गेल रे अपनो मन गेल।
गोकुल तेजि मधुपुर वस रे कत अपजस लेल॥
विद्यापति इहि गावल रे धनि धरु पिय आस।
आवत तोर मनभावन रे एहि कातिक मास॥

× × ×

हम धनि तापिनि मन्दिरे एकाकिनी दोसर जन नहिं संग।
वरिखा परवेश, पिया गेल दूर देश, रिपु भेल मत्त अनंग॥

वसन्त आया, चला गया; वर्षा आयी, निकल गयी; शरद शुरू हुई, समाप्त हो गयी; शिशिर और हेमन्त आये भी, चले भी गये। अब फिर वसन्त, फिर ग्रीष्म, फिर वर्षा, फिर शरत्! राधिका के प्रिय नहीं आये। अन्त में सखी भगवान् के पास गयी। बोली :

'हे माधव, वह कमलमुखी दिन-रात नयनाश्रु की नदी में स्नान किया करती है। एक बार अगर वह तुम्हारी रूप-सुधा को भर आँख पी ले, तभी जी सकेगी। मुक्त कवरी उलटकर वक्षःस्थल पर लटक रही है, मानो स्वर्णगिरि पर चामरी चर रही है। तुम्हारा गुण गिनते-गिनते उसे नींद नहीं आती। वह सुन्दरी मुख नीचा किये कितना रो रही है! विद्यापति कहते हैं कि हे वर कान्ह! सुनो, मैं समझ चुका कि तुम्हारा हृदय पाषाण का है।'

लोचन नीर तटिनि निरमाने
ततहि कमलमुखि करति सिनाने
वेरि एक माधव तुअ राइ जीवइ
जओ तुअ रूप नयन भरि पीवइ।
फुअल कवरी उलटि उर परइ
जनि कनयागिरि चामरि चरइ।
तुअ गुन गनइते नींद न होइ
अवनत आनने धनि कत रोइ।
भनइ विद्यापति सुन वर कान
बुझल तुअ हिया दारुन पसान।

सखी ने राधिका की विरह-वेदना नाना भाँति से कह सुनायी। प्रेममय भगवान् सुनकर बेहोश हो गये। अन्त में सखा ने जो कहा वह विद्यापति के शब्दों में ही सुनिए :

माधव, देखल वियोगिनि वामे।
अधर न हास विलास सखी सँग, निस दिन जपे तुअ नामे।
आनन सरद सुधाकर समतसु, बोल मधुर धुनि वानी।
कोमल अरुन कमल कुम्हलायल, देखि मन अइतहु जानी।
हृदय हार भार भेल सुवदनि, नयन न होय निरोधे।
सखि सब आय खेलावल रंग करि, तसु मन किछुअ न बोधे।

भनइ विद्यापति असमय बानी।
मुरुछल जिवए चुरू एक पानी ।।

'हाय, न जाने माधव कब तक मथुरा मे रहेगे ? कब वाम विधाता का प्रकोप दूर होगा ? दिन लिखते-लिखते तो नख घिस गये, गोकुल का नाम भी भूल गया ! हे हरि, यह संवाद मैं किससे कहूँ ? नेह का सुमिरन करते-करते तो देह क्षीण हो गयी। अब कौन-सी साध बच रही है ? पहले तो मैं ही प्यारी स्त्री थी, अब दर्शन मे भी सन्देह आ उपस्थित हुआ है। भौंरा भी तो सब कुसुमों में रमता हुआ भी कमलिनी का स्नेह नही छोडता। मगर यह आशा लेकर कहाँ तक प्राण बचाऊँ, वह तो अभी से प्रयाण करना चाहता है। फिर भी विद्यापति कहते है कि हे सुन्दरी, धैर्य धरो, कृष्ण मिलेंगे।'

कत दिन माधव रहव मथुरापुर कबे घुचब विहि वाम।
दिवस लिखि-लिखि नखर खोआएल विसरल गोकुल नाम।
हरि-हरि काहे कहव इह संवाद।
सुमरि सुमरि नेह खीन भेल मुझ देह जीवने आछय किए साध।
पुरुब पियारि नारि हम आछल अब दरशनहुँ सँदेह।
भमर भमए भमि सवहु कुसुमे रमि न तजय कमलिनि नेह।
आश नियर करि जिउ-कत राखब अबहि से करत पयान।
विद्यापति कह धरंज धर धनि मिलब तुरतहि कान।

'हे सजनी, तू जाकर भगवान् से समझाकर कह। प्रेम-बीज का अंकुर रोपकर, उसे तुमने मरोर डाला। वह किस उपाय से बचेगा ? जल में जैसे तेल का बिन्दु फैल जाता है, वैसे ही तुम्हारा अनुराग फैलता है और बालू मे जैसे पानी गायब हो जाता है, वैसे ही तुम्हारा दिया हुआ सोहाग।'

सजनी कानुक कहवि बुझाइ।
रोपि पेमक बीज अंकुरे मोड़लि बाँचव कोन उपाइ।
तेलबिन्दु जस आनि पसारिये ऐसन तुम अनुरागे।
सिकता जल जस खनहि सुखाये तैसन ताहार सोहागे।

'कौन है जो राधिका की पत्रिका ले जायगा ? हाय, इस सावन के महीने में हृदय का दुख सहा नही जाता। इस धारासार वर्षा के कठिन ऋतु मे पिया बिना भवन मे अकेली मैं नही रह सकती। कौन है, सखी, जो दूसरे का दुख पतियाये ? हरि मेरा मन हरकर मथुरा लेते गये। उन्होने गोकुल छोड़कर मथुरा मे वास कर कितना अपजस लिया ? फिर भी विद्यापति कहते है कि हे सुन्दरी, धीरज धरो, तुम्हारा मनभावन इसी कातिक में आ रहा है।'

के पतिया लय जाएत रे मोर पियतम पास।
हिय नहि सहय असह दुख रे भेल सावन मास ।।
एकसरि भवन पिया बिनु रे मोरा रहली ना जाय।
सखि अनकर दुख दारुन रे जग के पतिआय ।।

मोर मन हरि हरि लय गेल रे अपनो मन गेल।
गोकुल तेजि मधुपुर वस रे कत अपजस लेल॥
विद्यापति इहि गावल रे धनि धरु पिय आस।
आवत तोर मनभावन रे एहि कातिक मास॥

× × ×

हम धनि तापिनि मन्दिरे एकाकिनी दोसर जन नहि संग।
वरिखा परवेश, पिया गेल दूर देश, रिपु भेल मत्त अनग॥

वसन्त आया, चला गया; वर्षा आयी, निकल गयी, शरद शुरू हुई, समाप्त भी हो गयी; शिशिर और हेमन्त आये भी, चले भी गये। अब फिर वसन्त, फिर ग्रीष्म, फिर वर्षा, फिर शरत्! राधिका के प्रिय नहीं आये। अन्त में सखी भगवान् के पास गयी। बोली :

'हे माधव, वह कमलमुखी दिन-रात नयनाश्रु की नदी में स्नान किया करती है। एक बार अगर वह तुम्हारी रूप-सुधा को भर आँख पी ले, तभी जी सकेगी। मुक्त कवरी उलटकर वक्षस्थल पर लटक रही है, मानो स्वर्णगिरि पर चामरी चर रही है। तुम्हारा गुण गिनते-गिनते उसे नींद नहीं आती। वह सुन्दरी मुख नीचा किये कितना रो रही है! विद्यापति कहते हैं कि हे वर कान्ह! सुनो, मैं समझ चुका कि तुम्हारा हृदय पाषाण का है।'

लोचन नीर तटिनि निरमाने
ततहिं कमलमुखि करति सिनाने
वेरि एक माधव तुअ राइ जीवइ
जओ तुअ रूप नयन भरि पीवइ।
फुअल कवरी उलटि उर परइ
जनि कनयागिरि चामरि चरइ।
तुअ गुन गनइते नीद न होइ
अवनत आनने धनि कत रोइ।
भनइ विद्यापति सुन वर कान
बुझल तुअ हिया दारुन पसान।

सखी ने राधिका की विरह-वेदना नाना भाँति से कह सुनायी। प्रेममय भगवान् सुनकर बेहोश हो गये। अन्त में सखा ने जो कहा वह विद्यापति के शब्दों में ही सुनिए :

माधव, देखल वियोगिनि वामे।
अधर न हास विलास सखी सँग, निस दिन जपे तुअ नामे।
आनन सरद सुधाकर समतसु, बोल मधुर धुनि बानी।
कोमल अरुन कमल कुम्हलायल, देखि मन अइसहु जानी।
हृदय हार भार भेल सुवदनि, नयन न होय निरोधे।
सखि सव आय खेलावल रंग करि, तसु मन किछुअ न बोधे।

रगड़ल चानन मृगमद कुंकुम सभ ते जलि तुम्र लागी।
जनि जल हीन मीन जक फिरइछ, अहनिस रहइछ जागी।
दूति उपदेश सुनि-सुनि सुमिरल, तइछन चलला धाई।
मोदवती पति राघव सिह गति, कवि विद्यापति गाई।

और माधव ने क्या कहा ?

माधव ने कहा—'ओह, वह रामा ! उसे क्या भूला जा सकता है ? हाथ पकड़कर जब मैंने मथुरा जाने की अनुमति माँगी, वह उसी दम मूर्छित होकर गिर पड़ी। गद्गद स्वर में, टूटे अक्षरों से उस श्रेष्ठ रामा ने जो कुछ कहा था, उसे सुनकर भी जो मैं चला आया सो इस कठिन कलेवर के कारण। मगर चित्त तो वहीं रह गया। उसके बिना न रात अच्छी लगती है, न दिन। अन्य रमणियों के साथ राज-सम्पद के होते हुए भी मैं वैरागी हूँ।'

रामा हे से किय विसरल जाइ।
करे धरि माथुर मनुमति मगइते, ततहि पडल मुरछाइ।
किछु गदगद से लहु लहु आखरे, जे किछु कहल वर वामा।
कठिन कलेवर तजि चलि आयल, चित्त रहल सोइ ठामा।
से बिनु राति दिवस नहि भावइ, ताहि रहल मय लागी।
आन रमनि संगे राज सम्पद, मोजे आछिय जैसे विरागी।

सखी ने राधिका से आकर बताया कि माधव दो-चार दिन में आनेवाले हैं। ये दो-चार दिन राधिका के कैसे कटे, यह बता सकना कठिन है। हृदय धन के भविष्यत् मिलन के भावोल्लास, नये-नये मनसूबे, नयी-नयी कल्पनाएँ राधिका के ही योग्य हैं। एक बार वे सोचती हैं, भगवान् के स्वागत के लिए मोतियों का चौक पूरेंगी; फिर सोचती हैं, मान कर लेंगी, कुछ भी नहीं बोलेंगी।

'ज्यों ही रसिकराज आँगन में आयेंगे, मैं ज़रा-सा हँसकर लौट जाऊँगी, प्रिय आवेश में आकर आँचल पकड़ लेंगे।'

आँगने आवब जब रसिया
पलटि चलब हम ईषत् हँसिया
रम नागरि रमनी
कतबहु जुगुति मनहि अनुमानी
आवेशे आँचर पिया धरबे
जावब हम यतन बहु करबे।

आज बहुत दिनों के बाद माधव राधिका के घर आये हैं। वसन्त ने जितना दारुण दुख दिया था, वह सब प्रियतम का मुख देखकर दूर हो गया। 'भगवान् की कृपा से मेरे हृदय की सारी साध मिट गयी। सरस आलिंगन से शरीर पुलकित हो गया। अधरसुधा के पान से विरह-ज्वर दूर हो गया। अब कोई व्याधि नहीं है, समुचित औषध मिलने से कभी व्याधि रहती है ?'

कि कहब हे सखि आनन्द ओर
चिर दिने माधव मन्दिरे मोर
दारुन वसंत जत दुख देल
पिय मुख हेरइत सब दुख गेल
जतहुँ अछल मोर हृदयक साध
से सब पूरल हरि परसाद
रभस आलिंगने पुलकित भेल
अधरक पाने विरह दूर गेल
भनहि विद्यापति आर नहि आधि।
समुचित औषधे ना रहे बेयाधि॥[1]

'आज मैंने सौभाग्य से रात काटी। प्रिय मुखचन्द्र देखा। आज मेरा जीवन और मेरा यौवन, दोनों सफल हुए। दसों दिशाएँ आज निर्द्वन्द्व हैं। आज मेरा घर, घर है; देह, देह। आज ब्रह्मा मेरे अनुकूल है। सब सन्देह टूट गया।

आजु रजनी हम भागे गमावल
पेखल पिय मुख चंदा।
जीवन यौवन सफल करि मानल
दश दिश भेल निरदंदा॥
आजु मझु गेह गेह करि मानल
आजु मझु देह भेल देहा।
आजु विहि मोहे अनुकूल होयल
टूटल सब सन्देहा॥

'ऐ सखी, तू मेरा अनुभव क्या पूछ रही है? वही प्रीति है, वही अनुराग है जो तिल-तिल नूतन हो, क्षण-क्षण यन्नवतामुपेति! मैंने सारे जीवन उस रूप को देखा; पर नयन तृप्त नहीं हुए! जो मधुर बोल बराबर सुनती रही, वह श्रुति-पथ के लिए अब भी नये हैं, वे अब भी श्रुति-पथ को स्पर्श नहीं कर सके! कितनी मधुयामिनियाँ आनन्द से काट दीं, पर समझ न सकी कि केलि क्या चीज है! लाख-लाख युग तक हृदय में धारण किये रही, पर हृदय जुड़ा नहीं सका! विदग्ध तो कितने ही हैं जिन्होंने रस का अनुमोदन किया है, पर अनुभव किसी ने नहीं देखा। विद्यापति कहते हैं कि हृदय जुड़ा जाता यदि करोड़ों में एक भी अनुभव करता!

सखि की पूछसि अनुभव मोय!
सेहो पिरीत अनुराग बखानिअ,
तिले तिले नूतन होय।

1. इस पद को गाते-गाते एक बार महाप्रभु चैतन्यदेव व्याकुल भाव से बेहोश हो गये थे—'व्याकुल होइया प्रभु भूमि ते पड़िला' ('चैतन्य चरितामृत')। यह उनके प्रिय पदों में से एक है।—लेखक

जनम अवधि हम रूप निहारनु
नयन न तिरपति भेल।
सेहो मधुर बोल श्रवनहि सुनल
श्रुति पथे परश न गेल।
कत मधु यामिनि रभसे गमाओल
न बुझल कैसन केल।
लाख-लाख युग हिय-हिय राखल
तइयो हिय जुड़ल न गेल।
कत विदगध जन रस अनुमोदइ
अनुभव काहु न देखि।
भनइ विद्यापति हृदय जुड़ाइत
मिलय कोटि मे एक।

विद्यापति की राधिका आरम्भ से अन्त तक मुग्धा किशोरी है। क्या पूर्वानुराग, क्या मिलन, क्या मान और क्या वियोग—सर्वत्र उनकी शिकायत है कि कोई उनके प्रेम को पतियाता नही, कोई उनका दुःख बाँट नही लेता ! हालांकि राह-घाट, गली-कूचे, सर्वत्र उन्ही के प्रेम की चर्चा चल रही है। इस राधिका में प्रेम का वह रूप शुद्ध भाव मे फूट उठा है, जो प्रेम-पात्र के अतिरिक्त और किसी को नही देखता। विद्यापति ने राधिका की जिस प्रेममयी मूर्त्ति की कल्पना की है उसमें विलास-कलावती किशोरी का रूप स्पष्ट ही प्रधान है; पर सर्वत्र उस विलास के पीछे यह भावना छिपी हुई है कि प्रिय इससे प्रसन्न हों। राधिका का रूप भगवान् के लिए है, यौवन भगवान् के लिए है, प्रेम भगवान् के लिए है, विलास भी भगवान् के लिए है—एक शब्द मे उन्होंने भगवान् की सन्तुष्टि के लिए ही विलास-कलावती का रूप धारण किया है। अगर भगवान् किसी अन्य रूप से सन्तुष्ट होते और राधिका को यह खबर लग गयी होती, तो वे निश्चय उस 'अन्य रूप' को ही अपनाती।

चण्डीदास की राधा में मानस-सौन्दर्य अपनी चरम सीमा तक पहुँचता है। विद्यापति की राधा मे शरीर-सौन्दर्य भी उसी प्रकार अपनी परिणति पर पहुँचता है। मगर यह कहना कि विद्यापति की राधिका में शरीरसौन्दर्य ही प्रधान है, अन्याय है। यद्यपि यह बात होती भी तो विद्यापति की साधना मे रत्ती-भर न्यूनता नही आती। असल बात यह है कि राधिका की सारी शरीर-चेष्टाओं के भीतर भगवान् को सन्तुष्ट करने की भावना है। यह बात अस्वीकार नही की जा सकती कि आराध्य की सन्तुष्टि के लिए अपना सर्वोत्तम भेंट कर देना मानस-सौन्दर्य की पराकाष्ठा है।

चण्डीदास की विरहिणी राधा

चण्डीदास बंगाल के प्रेमी वैष्णव कवि हो गये है। वे बंगाल के सूरदास हैं। उनका निवासस्थान विवाद का विषय बन गया है, पर वह सम्भवत: उस वीर-भूमि जिले के निवासी थे, जो उनके सैकडों वर्ष पहले के प्रसिद्ध कवि जयदेव की शायद जन्मभूमि है और सैकड़ों वर्ष बाद के श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ की कर्मभूमि है। चण्डीदास चैतन्यदेव के भी पूर्ववर्त्ती हैं। हिन्दी पाठकों को यहाँ चण्डीदास की विरहिणी राधा का परिचय दिया जा रहा है। इन गानों की तन्मयता ने महाप्रभु चैतन्यदेव को मूच्छित कर दिया था।

चण्डीदास की पदावली मे राजा वृषभानु की नगरी मे ही प्रथम बार नवल किशोरी की मधुर मूर्त्ति दिखायी पड़ती है। वे सखियों के साथ, कितने रंगों में यमुना स्नान करने जाती है, अंग के सौरस से भौंरे उनकी ओर दौड पड़ते है और झंकार करते फिरते है, उस अपूर्व सौन्दर्य के सामने उनके शरीर पर के नाना आभरण और मणियों की किरणें भी म्लान जान पड़ती है। श्रीकृष्ण के मन में यह बिजली-सी वरनवाली किशोरी सदा जगी रहती है :

सखीगन संगे जाय कत रगे यमुना सिनान करि।
अकेर सौरभे भ्रमरा धावये झंकार करये फिरि।
नाना आभरण मणिर किरण सहजे मलिन लागे।
नवीन किशोरी वरन विजुरी सदाउ मने ते जागे।

एक दिन एक घटना हो गयी। राधिका माता तथा सखियों के साथ खिड़की पर बैठी थी, नीचे सुबल आदि गोप-बालक खेल रहे थे। सुबल ने श्रीकृष्ण-मूर्त्ति दिखायी और राधिका मूच्छित हो गयी। इस मूर्च्छा को दूर करने के लिए क्या-क्या उपाय नही किये गये। पर सब व्यर्थ। मूर्च्छा किसी तरह न छूटी। सुबल बाजीगर बनकर गये और श्रीकृष्ण का अमृततुल्य नाम कानों में सुना दिया। बात-की-बात में किशोरी फिर प्रकृतिस्थ हो गयी। यही उस स्वर्गीय प्रेम का जन्म होता है, जिसकी तुलना संसार मे नही है।

इसके बाद राधिका की प्रेम-विह्वल अवस्था देखने ही योग्य है। एक दण्ड में सौ बार घर से बाहर निकलती हैं, फिर भीतर जाती है—चित्त महा उद्विग्न हो गया है। कदम्ब के वन की ओर देख-देखकर दीर्घ श्वास लेती है :

घरेर बाहिरे दण्डे शतबार तिले-तिले आसे जाय
मन उचाटन निश्वास सघन कदम्ब कानने चाय

मगर राधिका को हो क्या गया? साड़ी का आँचल सदा ही चंचल रहता है। संवरण नही कर पाती; बैठी हुई रह-रहकर चौंक पड़ती हैं, गहने खिसक जाते हैं :

जनम ग्रवधि हम रूप निहारनु
नयन न तिरपति भेल।
सेहो मधुर बोल श्रवनहिं सुनल
श्रुति पथे परस न गेल।
कत मधु यामिनि रभसे गमाग्रोल
न बुझल कैसन केल।
लाख-लाख युग हिय-हिय राखल
तइयो हिय जुड़ल न गेल।
कत विदगध जन रस ग्रनुमोदइ
ग्रनुभव काहु न देखि।
भनइ विद्यापति हृदय जुड़ाइत
मिलय कोटि में एक।

विद्यापति की राधिका ग्रारम्भ से ग्रन्त तक मुग्धा किशोरी है। क्या पूर्वानुराग, क्या मिलन, क्या मान ग्रोर क्या वियोग—सर्वत्र उनकी शिकायत है कि कोई उनके प्रेम को पतियाता नही, कोई उनका दुःख बाँट नही लेता! हालाँकि राह-घाट, गली-कूचे, सर्वत्र उन्ही के प्रेम की चर्चा चल रही है। इस राधिका में प्रेम का वह रूप शुद्ध भाव मे फूट उठा है, जो प्रेम-पात्र के ग्रतिरिक्त ग्रोर किसी को नही देखता। विद्यापति ने राधिका की जिस प्रेममयी मूर्त्ति की कल्पना की है उसमें विलास-कलावती किशोरी का रूप स्पष्ट ही प्रधान है; पर सर्वत्र उस विलास के पीछे यह भावना छिपी हुई है कि प्रिय इससे प्रसन्न हों। राधिका का रूप भगवान् के लिए है, यौवन भगवान् के लिए है, प्रेम भगवान् के लिए है, विलास भी भगवान् के लिए है—एक शब्द मे उन्होंने भगवान् की सन्तुष्टि के लिए ही विलास-कलावती का रूप धारण किया है। ग्रगर भगवान् किसी ग्रन्य रूप से सन्तुष्ट होते ग्रोर राधिका को यह खबर लग गयी होती, तो वे निश्चय उस 'ग्रन्य रूप' को ही ग्रपनातीं।

चण्डीदास की राधा मे मानस-सौन्दर्य ग्रपनी चरम सीमा तक पहुँचता है। विद्यापति की राधा मे शरीर-सौन्दर्य भी उसी प्रकार ग्रपनी परिणति पर पहुँचता है। मगर यह कहना कि विद्यापति की राधिका में शरीरसौन्दर्य ही प्रधान है, ग्रन्याय है। यद्यपि यह बात होती भी तो विद्यापति की साधना मे रत्ती-भर न्यूनता नही ग्राती। ग्रसल बात यह है कि राधिका की सारी शरीर-चेष्टाग्रो के भीतर भगवान् को सन्तुष्ट करने की भावना है। यह बात ग्रस्वीकार नही की जा सकती कि ग्राराध्य की सन्तुष्टि के लिए ग्रपना सर्वोत्तम भेंट कर देना मानस-सौन्दर्य की पराकाष्ठा है।

राइ एमन केव वा हइल।
सदाइ चंचल वसन ग्रंचल संवरण नाहि करे।
वसि थाकि-थाकि उठाये चमकि भूषण खसिये पड़े।

राधिका की अवस्था सचमुच बड़ी उद्वेगजनक है। हाय, उनके अन्तर में यह कौन-सी व्यथा जगी रहती है! एकान्त में बैठी रहती हैं, जब देखो तब कपोल-हथेली पर पड़े हुए है, सदा ध्यानमग्न होकर मेघ की ओर टकटकी लगाये रहती-हैं। नील वस्त्र छोड़कर रांगा वस्त्र पहनने लगी हैं, आहार छोड़ दिया है, जान पड़ता है योगिनी हो गयी हैं:

आगो राधार कि हल अन्तरे व्यथा
वसिया विरले थाकइ एकले न शुने काहारो कथा।
सदा धेयाने चाहे मेघ पाने ना चले नयन तारा
विरति आहारे रांगा वास करे जेन योगिनीर पारा।

सभी काली चीजें उनके निकट महत्त्वपूर्ण हो गयी हैं। सजल श्यामल मेघ और नृत्यमग्न मयूरों को देखकर उनकी टकटकी बँध जाती है। अपने ही भौंरे-से-काले केशों को खोलकर देखती और निःश्वास लेती है, सारा मन और प्राण कृष्णमय हो गया है।

कितना मधुर है वह श्याम नाम! हाय मेरी सजनी, किसने सुनाया था यह मधुर नाम! कानों से होकर यह मर्म में प्रवेश कर गया और मेरे मन और प्राणों को व्याकुल कर दिया! न जाने कितना मधु है इस श्याम नाम में, जिसे मुँह छोड़ ही नहीं सकता! नाम जपते-जपते उसने मुझे अवश कर दिया। बता सखी, उसे मैं कैसे पा सकूँगी!

सइ केवा शुनाइल श्याम नाम!
कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो आकुल करिल मोर प्राण
ना जानि कतेक श्याम नामे आछे गो बदन छाड़िते नाहि पारे
जपिते-जपिते नाम अवश करिल गो केमने पाइव सइ तारे।

कृष्णरूप राधिका के हृदय में इस तरह अंकित हो गया है कि उसे किसी प्रकार हटाया नहीं जा सकता। प्रेम की ऐसी तन्मयता, ऐसी गम्भीरता, ऐसी विशुद्धता और ऐसी दृढ़ता दुर्लभ है। राधिका ने प्रेम किया, पर कृष्ण नहीं मिले। न सही, पर राधिका को तो जो होना था, हो चुकी। अब तो लौट चलने का रास्ता नहीं है।

राधिका और कृष्ण की प्रेम-लीला से यमुना का कदम्ब-कानन उल्लसित हो उठा है, पर उसमें रह-रहकर राधिका का मक्खन-सा मुलायम हृदय प्रेम-वैचित्र्यवश सशंक हो उठता है।

राधा और श्रीकृष्ण का यह प्रेम सचमुच अदृष्ट-पूर्व है। सहज ही एक-दूसरे का प्राण एक-दूसरे से बँध गया है। दोनों ही दोनों की गोद में विच्छेद की आशंका से रो रहे हैं—एक क्षण भी न देखने से मर-से जाते हैं:

एमन पिरीति कमु देखि नाइ शुनि
पराणे-पराणे बाँधा आपनि आपनि
दुहुँ कोड़े दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया
तिल आध न देखिले जाय जे मरिया।

यह मोम की पुतली मान भी नही कर सकती। यदि संयोगवश किसी दिन मान की नौवत आ भी गयी तो क्षण-भर में गलकर पानी हो गयी—'अपना सिर मैंने अपने हाथों काट लिया। मैंने मान किया ही क्यों? हे सखि, वह श्याम सुनागर, नटवर-शेखर किधर निकल गया? दिन-रात तप-व्रत करके भी जिस कानू (कन्हैया) को नही पाया जा सकता वही अमूल्य धन मेरे पैरों पड़ा था, मैंने उसे पैरों से ठेल दिया।'

आपन सिर आमि आपन हाते काटिनु काहे करिनु हेन मान।
श्याम सुनागर नटवर शेखर काँहा सखि करिल पयान
तप बरत कत करि दिन यामिनी यो कानू को नाहि पाय
हेन अमूल्य धन मझु पाय गड़ायल कोपे मुँइ ठेलि नु पाय।

'सखी, मेरा हिया जुड़ा गया। श्याम अंग के शीतल पवन का स्पर्श पाकर मेरा हृदय ठण्डा हो गया। सखियो, तुम यमुना जल मे आकर स्नान करो ताकि मेरे मनभावन के सभी अमंगल दूर हो जायें।'

सइ जुड़ाइल मोर हिया,
श्याम अङ्गे र शीतल पवन ताहार परश पाइया।
तोरा सखीगन करह सिनान आसिया यमना नीरे।।
आमार बंधुर जत अमङ्गल सकल पाउव दूरे।

जिस प्रेम-प्रतिमा का सयोग ही इतना करुण है, उसके वियोग की कल्पना भी कष्टदायक है। राधिका ने जब कहा था—'जिसे जो इच्छा हो, मुझे बुरा-भला कह ले, पर मैं इस श्यामरूपी स्निग्ध घन को नही छोड़ सकूँगी':

वले वलुक मोरे मन्द आछे सत जन
छाडिते नारिव मुइ श्याम चिकन धन

उस समय क्या उन्हें मालूम था कि इस 'श्याम चिकन धन' को भलीभाँति ही छोड़ना पड़ेगा!

आज वृन्दावन की लीला का अन्तिम दिन है। भगवान् आज मधुपुरी को पयान करनेवाले हैं। सखी ने आकर राधिका को खबर दी। राधिका ने विश्वास ही नहीं किया। गलत बात है, अपनी एकान्त-निर्भर प्रियतमा को छोड़कर क्या भगवान् जा सकते हैं! राधिका के हृदय ही मे वे रहते हैं। वे जब छाती चीरकर उन्हें बाहर निकाल देंगी तभी तो कृष्ण बाहर जायेंगे:

ए बुक चिरिया जबे बाहिर करिया दिब
तबे त श्याम मधुपुरे जावे

किन्तु हाय, इस विश्वासपरायण के सारे विश्वास को कुचलकर भी जब मनभावन मथुरा को जाने लगे तो राधिका के ऊपर जैसे वज्रपात हो गया। दौड़कर गयीं। बोली, 'प्यारे, सच बताओ, क्या सचमुच जा रहे हो ? क्या कुछ भी दया नहीं है तुम्हारे ?'

बन्धू, उलटि कहत एक बोल।
निश्चय मथुरा जावे कि ना पारा
दया कि नाहिक तोर?

पर निष्ठुर कान्ह जाने पर ही तुले रहे। राधिका छिन्नाश्रया लतिका की भाँति मुरझा गयीं। एक वयस्क गोप-रमणी ने कुछ साहस के साथ राधा का हाथ पकड़ा और निष्ठुर प्रियतम से बोली, 'सोचो तो भला, ऐसी नवीन किशोरी कुमारिका को किस पर छोड़े जाओगे ? इस कच्ची उम्र मे प्रेम बढ़ा इसके हृदय में आघात करके कैसे जा सकोगे ?'

एमन कुमारी नवीन किशोरी राखिया जाइबे कोथा।
अलप वयसे प्रेम बाढ़ाइया एरे दिया हिय व्यथा।

मगर निष्ठुर कृष्ण रुके नहीं, चले ही गये। उस समय वह सोने की पुतली पृथ्वी पर लुढक पड़ी। निःश्वास के झोंकों से नाक के मोती हिलने लगे। जिसका विरह क्षण-भर के लिए भी असह्य था, वह अब सुदूर मथुरा नगरी में रहने लगा। इस निदारुण विच्छेद-वेदना से मर्माहत राधिका की अवस्था देखकर पत्थर भी पिघल सकता है। जिसके मुँह से कृष्ण का नाम सुन लेती है, उसी के पैरों पर लोटने लगती है—कुछ समाचार शायद सुना दे। बड़ी हृदयद्रावक होती है वह अवस्था जब हम देखते है कि वह सोने की पुतली धूल में लोट रही है—'सोनार पुतुल जेन धूलाते लोटाय।'

हाय, अब राधिका किसके कोमल शरीर में अगुरुचन्दन चुआ देंगी ! पिया के विना उनका हृदय फटा जाता है। किसके मुंह मे वे ताम्बूल और कर्पूर देंगी ! कौन है जिसके साथ रहकर वे रात को छलेंगी !

अगुरु चंदन चुया दिब कार गाय।
पिया विनु मोर हिया फाटिया जे जाय॥
ताम्बूल कर्पूर आमि दिब कार मुखे।
रजनी वंचिब आमि कारे लये सुखे॥

'ऐ सखी, साल बीतने को आया। वसन्त आया, माधवीलता प्रस्फुटित हो गयी, कोकिला कुहू-कुहू करने लगी, भ्रमरियाँ गुंजार करने लगी, पर प्यारे की तो कोई खबर नहीं मिली।'

वरष बहिया गेल वसंत आवल फुटल माधवीलता।
कुहु कुहु करि, कोकिल कुहरे गुन्जये भ्रमरी यता !

हाय रे दारुण विधाता ! राधा क्या अब जियेंगी ? तूने गुणनिधि भगवान् को उनसे छुड़ा दिया। यह मृणाल-तन्तु क्या यह ताप सह सकता है ? वह मरेंगी। अब क्या वह मुखचन्द्र उन्हें फिर दिखायी देगा ? वे दुख-द्वन्द्व मिटेंगे ? क्या फिर उनके श्यामसुन्दर उन्हें मिलेंगे, उनकी गोद में बैठेंगे ? क्या वह वंशी फिर सुन पड़ेगी---वृन्दावन की ओर जाने का अवसर फिर मिलेगा ? हाय अब चन्दन घिसकर राधा किसे तिलक करेंगी, किसके गले वह माला देंगी !

हाय रे दारुण विधि। छाडाइले गुन निधि ॥
एत कि सहिते पारि। विरहे ए तनु मरि ॥
आर कि हेरब मुखचन्द्र। भाड्व सकल दंद ॥
पुन हरि मिलब मोर। पियारे करब निज कोड ॥
बाँशी की सुनव काने। जाव वृन्दावन पाने ॥
घसिया चंदन माला। कारे दिव आर गला ॥

राधिका मृत्यु-शय्या पड़ी हैं ! किसी ने श्याम नाम सुना दिया। वे चौंककर उठ गयीं। विरह-विधुरा उस प्रेम-लतिका की अन्तिम आकांक्षा भी श्याम के आनन्द के लिए ही है---'देखो, मेरी मर्म-सखियो, बड़ी गलती हुई जा रही है। हाय, मैं तो मर जाऊँगी मगर कृष्ण की लगायी हुई उस मालतीलता की खबरदारी कौन करेगा ? देखो, मेरे मरने पर उसे सींचती रहना, झाड़ू देकर उसके आलबाल को साफ रखना। जब मैं मर जाऊं तो ऐसा न हो कि उसे धूप में जलना पड़े। इसकी खबरदारी करती रहना। मैं तो जीते-जी प्रियतम को भेंट न सकी, पर वह किसी तरह पिया को मिल जाय।'

सुन गो मरम सखि वड़ परमाद देखि ए तनु तेजिब आमि जबे।
कृष्णेर मालतीलता सेंचि ताहे सर्व्वथा निति ताहा मार्ज्जन करिबे ॥
तेजिब परान जबे तोमा नेह विमूरत (?) भाजइ रविर तापे।
राखिह जतन करि जीते ना भेटल हरि जेन पिया राखि कोनो रूपे ॥

राधिका की सखियों ने आश्वासन दिया। कुछ चिन्ता नहीं सखी, हम कृष्ण को बुला लायेंगी। उस समय उस एकान्त-निर्भर भक्त की प्रार्थना बड़ी ही करुण है। हमें समझ में नहीं आता कि चण्डीदास के इन पदों में से किसे उद्धृत करें, किसे छोड़ें। राधिका की कातरता चण्डीदास ही कह सकते थे। वे कहते हैं :

"सखी, कानू के पैर पकड़कर कहना। उस सुख के समुद्र को तो दैव ने सुखा दिया, तृषा से मेरा प्राण जा रहा है।

"सखी, कानू का हाथ पकड़ लेना। पहले वर माँग लेना कि अपनी समझकर मेरी बात का उल्लंघन न कीजिए।

"सखी, शयन में, स्वप्न में मन-ही-मन मैंने जो साध की थी, विधाता ने सब बरबाद कर दी।

"सखी, मैं अबला हूँ। विरहाग्नि हृदय में दुगुने वेग से जल रही है। इसीलिए सहन नहीं कर पाती।

"सखी, कानू का मन तोल लेना और जैसा कहने से वह आदमी आ सके वही कहना।"

सखि, कहिवि कानुर पाय।
से सुख-सायर दैवे सुखायल तियासे परान जाय॥
सखि, धरिवि कानुर कर।
आपन वलिया वोल ना ते जव मागिया लइवि वर॥
सखि जतेक मनेर साध शयने स्वप्ने करिनु भावने
विहि से करल वाद सखि, आमि से अवला हाय
विरह आगुन हृदये द्विगुन सहन नाहिक जाय।
सखि, बुझिया कानुर मन।
जेमन करिले आइसे से जने द्विज चण्डीदास भन।

प्राणवल्लभा किशोरी सखी को इस दारुण अवस्था से विकल होकर जो सखी कृष्ण के पास गयी, उसने निठुर काले को खरी-खरी सुना दी। चोट खायी हुई व्याघ्रिणी की तरह गरजकर उसने कृष्ण को फटकारा : 'धिक्कार है तुझे ऐ काले! किसने तुझे यह कुबुद्धि दी! किसने कहा था तुझे प्रेम करने को, यदि तेरे मन में यही थी! धिक्कार है प्यारे! लाज नहीं आती, तू स्नेह का लेश भी नहीं जानता, जो एक देश मे आग लगाकर दूसरे को जलाने आया है?'

धिक् धिक् धिक् तोरे रे कालिया के तोरे कुबुद्धि दिल।
केवा सेधे छिल पिरीत करिते मने यदि एत छिल।
धिक् धिक् वन्धु लाज नाहि वास ना जाने लेहेर लेश।
एक देश एलि अनल ज्वालाये ज्वालाइते आर देश?

इसी सखी के साथ ही चण्डीदास की अन्तरात्मा भी क्रोध से फुफकार उठी है। वह कहते है कि 'मानसिक वेदना से प्राण फटा जा रहा है, तुम्हारी सोने की प्रतिमा तो धूल में लोट रही है और तुम्हारी खाट पर बैठी है यह कुब्जा!'

चण्डीदास भने मनेर वेदने कहिते परान फाटे
तोमार सोनार प्रतिमा धूलाय गड़ागड़ि कुवुजा वसिल खाटे!

'कोई कितना ही प्रेम क्यों न करे, राधिका की तरह कोई प्रीति नहीं कर सकता। राधानाथ के बदले कोई तुम्हें कुब्जानाथ नहीं कहेगा।'

जतेक तोमारे पिरीति करुक तेमन पिरीति हवे ना।
राधानाथ विने कुवुजार नाथ केह त तोमारे कबे ना!

डाँट-फटकार के बाद सखी ज़रा नरम पड़ती है और राधिका की दशा सुनाती है :

'प्यारे कृष्ण! तुम इतनी दूर चल आये हो। वह किशोरी राधा तुम्हारे विरह में आधी हो गयी है। तुम क्यों इतने निठुर हो गये हो? वह चम्पक-वर्णी सुन्दरी, जिसके निखरे वर्ण के सामने लाख-लाख सोने की चमक मात है—ऐसी उस राधिका का मुखचन्द्र म्लान है। रात को कदम्ब के तले जाकर भूमि

मे लोटती हुई वह विरहिणी 'पिया-पिया' की रट लगाती रहती है, नयनों की स्खलिता वारिधारा से उसका शरीर और उस पर का नीला वस्त्र बराबर भीगा करता है; उस खंजनाक्षी की आँखें रोते-रोते अरुणवर्ण हो गयी है। कौन जाने वह जियेगी या नही ! उसकी दशम-दशा आ पहुँची है। हे कमल-नयन ! परिस्थिति बड़ी विकट है, तुरन्त चलो। यदि राधा से काम है, तो देरी न करो; उस सुन्दरी विरहिणी को देख आओ। मै ठीक जानती हूँ, उसका प्राण तुम्हारे दर्शनों की आशा से ही बचा है।'

वन्धु कानाइ तोमार चरित एत दूर !
से हेन किशोरी राधा तो बिनु हइया आधा तुमि केन एतेक निठुर।
चम्पकवरणी धनी लाख वान हेम गनि से राधा मलिन मुख चांदे।
भिया निप तरुमूले लोटाइया भूमि तले निशि दिशि पिया बलि कांदे।
खलित नयन जले से अङ्ग भासिया चले तिते अङ्ग निलेर वसन।
खंजननयनी राइ कांदिया आकूल ताइ देखि जेन अरुण वरन।
जीये कि ना जीये राइ कहिल तोमार ठांइ परदशा आसि उपजिल।
वड़इ कठिन देखि शुनइ कमल आंखि तुरित गमने तुमि चल।
आछे यदि राइए काज तुरित सेखाने साज देख गिया धनी विरहिनी।
तुया दरसन आशे तेंइ से परान आछे चण्डीदास भाल मते जानि।

यह अमोघ अस्त्र था। प्रिया की इस दारुण अवस्था पर कमलनयन की आँखें छलछला आयी। बार-बार वे राधा का समाचार पूछने लगे। वे कैसे उठती है, कैसे बैठती हैं, कैसे रोती हैं, कैसे रात काटती है—सखी ने सब सुनाया। श्याम गद्गद हो गये। आँखों से वारिधारा झड़ने लगी :

पीत-वसन धरिया सघन, मुछत नयन लोर !

भगवान् ने सखी से कहा कि 'मैं जरूर राधिका के दर्शनार्थ वृन्दावन जाऊँगा।' सखी ने इसे अहोभाग्य समझा। भगवान् ने गद्गद कण्ठ से अपनी हृदय-कथा कह सुनायी। बताया, जब बैठते हैं तब भी राधिका को देखते है, गाते है तब भी राधा को देखते है, हरएक गुण में राधिका ही नजर आती है। भोजन में भी राधिका, गमन मे भी राधिका—जब देखो, राधिका ही साथी है।

वसिते राधिका गाइते राधिका गुणेते राधिका देखि।
भोजने राधिका गमने राधिका सदाइ राधिका साथी।

आज राधिका का सोहाग लौट आया है। आज कुदिन भी सुदिन हो आया है। माधव आज राधिका के मन्दिर मे पधारेंगे। आज चिकुरराशि स्फुरित हो रही है, वसन स्खलित हो रहे है। पुलक और यौवन से शरीर भर गया है। वायाँ अंग फड़क रहा है, बायी आँख बार-बार नाच रही है, आनन्द-कम्प से हृदय पर का हार हिल रहा है। आज प्रातःकाल काकों की भीड़ लग गयी है। आनन्दोल्लास से एक-दूसरे से सट-सटकर, बांट-बांटकर आहार खा रहे हैं। प्रियतम के आगमन का शकुन पूछने पर उड़कर शकुन-स्थल पर बैठ रहे हैं, मुख का

ताम्बूल स्खलित हो रहा है, देवता के मस्तक से फूल खिसक रहा है—सारे सुलक्षण उपस्थित हैं, ग्राज विधाता राधिका के ग्रनुकूल है :

सइ, जानि कुदिन सुदिन भेल ।
माधव मन्दिरे तुरिते ग्राग्रोव कपाल कहिया गेल ।
चिकुर फुरिछे वसन खसिछे पुलक यौवन भार ।
वाम ग्रङ्ग ग्राँखि सघने नाचिछे दुलिछे हियार हार ॥
प्रभात समये काक कोलाकुलि ग्राहार बाँटिया खाय ।
पिया ग्रासिवार नाम सुधाइते उड़िया बसिल ताय ॥
मुखेर ताम्बूल खसिया पड़िछे देवेर माथार फूल ।
चण्डीदास वले सब सुलक्षण विहि भेल ग्रनुकूल ॥

चण्डीदास की प्रेमविह्वला राधा मानो प्रेम के उस शुद्ध सात्विक ग्रंश से बनायी गयी हैं जिसमें केवल ग्रात्मसमर्पण का वेग रहता है। इस राधिका का प्रेम शृंगार-मय नही है, विलास-प्रवण नही है, यहाँ तक कि यह केवल मिलन के लिए भी लालायित नही है। मिलन होकर भी क्या होगा ग्रगर प्रियतम को ग्रपना सर्वस्व—ग्रपना सर्वोत्तम—न दे सकी ! राधिका के पास है ही क्या ? खिलता हुग्रा वपुःकमल, उमड़ता हुग्रा हृदय ? ग्रगर इन्हें भी भगवान् न ले सके तो व्यर्थ है मिलन का भार ।

जोयारेर पानि नारीर यौवन गेले ना फिरिवे ग्रार ।
जीवन थाकिले बँधुरे पाइव यौवन मिलन भार ॥
यौवनेर गाछ न फुटिते फूल भ्रमरा उड़िये गेल ।
ए भरा यौवन विफले गोयाँनु बँधु फिरे नाहि एल ॥

ग्रात्मसमर्पण का वेग जहाँ इतना प्रवल हो वहाँ मान कैसा ! चण्डीदास की राधा सचमुच मान नही कर पाती । जिसने क्षणिक वियोग के मान को कुछ महत्त्व नही दिया, उससे सुदूर प्रवास के वियोग मे मान की ग्राशा नही की जा सकती । राधिका विरहविह्वल होकर कभी-कभी सखियों से कह उठती हैं—'जा सखी, जान ग्राग्रो, प्रीतम ग्रायेंगे कि नही । वे ग्रायें या न ग्रायें, मैं ही उस निष्ठुर के पास चली चलूँगी ।'

जाग्रो सहचरी जानिह सवाह बँधुया ग्रासे न ग्रासे ।
निठुरेर पाश ग्रामि जाइ चलि कहे द्विज चण्डीदासे ॥

यह वह भावना नही है जिसमें कहा गया है कि 'मान घटे ते कहा घटिहै सखि प्रान-पियारे को दर्शन पैये'—क्या हुग्रा ग्रगर मान घटेगा, प्राणप्यारे के दर्शन तो मिल जायेंगे ! नही, यह वह भावना है जिसमे यह लालसा छिपी है कि 'मैं रहूँ या न रहूँ, मुझे दुःख हो या सुख, प्राणप्यारे को मैं ग्रपना सर्वोत्तम दे सकूँ—वे मेरा सर्वोत्तम पा सकें ।'

इसलिए बहुत दिनों के बाद नन्दनन्दन राधिका के घर लौटे तो राधिका ने ग्रभिमान से मुँह नही फेर लिया, बड़री ग्रँखियान के छलकते जलकणों से ताकती

हुई कर्त्तव्य-मूढ़ नहीं हो गयी। बिथुरे केशपाश से चरण पोंछ लिया; सुवासित जल से दोनों चरण धो लिये और सुखमय पलँग पर बैठा दिया। कस्तूरी और अगुरु से सुवासित चन्दन की कटोरी लेकर मन के साध के अनुसार श्याम-अंग में लेप करने लगीं। नाना सुशोभन पुष्पों की माला गले में डाल दी और निर्वाध भाव से उस मधुर रूप को देखने लगी। एक क्षण भी नष्ट नहीं होने दिया। कृष्ण के पूर्णिमा के चाँद के समान मुख के रूपामृत को राधिका चकोरी की भाँति निर्निमेष भाव से पान करने लगी :

केशपाश दिया चरण मुछाये विचित्र पालङ्के लइ।
अति सुवासित वारि ढालि राधा धोयल चरण दुइ॥
मृगमद भरि चंदन कटोरि अगोर तिमिर ताय।
मनेर मानसे सुनागरी राधा लेपिछे श्यामेर गाय॥
नाना फूलदाम अति सुशोभन गले पराइल राधा।
रूप निरीक्षण करे छन छन तिलेक नाहिक बाधा॥
कानुर श्रीमुख जेन शशधर जेमन पूर्णिमार शशी।
राइ से चकोर पाइ निरन्तर पियइ अमृत-राशि॥

और इसके बाद भगवान् से जो कुछ उन्होंने कहा, उसे चण्डीदास की वाणी ही व्यक्त कर सकती है :

'प्यारे, तुम्हें अब न छोड़ूँगी। मन में आया है, तुम्हें मर्मस्थल में छिपा रखूँगी। लोग हँसेंगे, हँसें! जाति जायगी, जाय; पर मैं न छोड़ूँगी। गुणनिधे, अगर तुम चले गये तो फिर तुम्हें कहाँ पाऊँगी? आँख पलटने का भी विश्वास नहीं हो रहा है, कहाँ तुम्हें रखूँ कुछ समझ नहीं रही हूँ, शान्ति नहीं मिलती। मरण की दशा तो उत्पन्न हो चुकी है, अब कहाँ जुड़ाऊँगी?

'हाय प्यारे, किससे कहूँ, कौन विश्वास करेगा उन यातनाओं का जिन्हें मैंने सहा है? तुम्हारे लिए इतना सह सकी, नहीं तो अब तक अनर्थ हो गया होता।'

बँधू छाड़िया ना दिब तोरे।
मरम जे खाने राखिब से खाने हेन मोर मने करे॥
लोक हासि हउ जाय जात जाउ तबु ना छाड़िया दिब।
तुमि गेले यदि शुन गुणनिधि आर कोथा तुया पाव॥
आँखि पालटिते नाहि परतीते थुइते सोयास्ति नाइ।
एखन मरण दशा उपजल जुड़ाव कोनबा ठाँइ॥
काहारे कहिब केबा पियाइब आमार यातना पत।
तोमार कारणे एतेक सहिये नहे परमाद हत॥

राधिका ने आगे कहा, 'प्यारे, बहुत दिन बाद आये हो। अगर मैं मर गयी होती तब तो दर्शन न हो सकते। जीवनधन, अबला हूँ, इसीलिए सह सकी, पत्थर होती तो कबकी गल गयी होती। इसी अल्प-वयस में, मेरे प्यारे, मैंने अनेक कष्ट पाये हैं। मुझे इसका दुःख नहीं। अपने दुःख को मैं दुःख नहीं

समझती। तुम्हारा सुख ही मेरा सुख है। तुम मथुरा नगरी में सकुशल रहे तो!'

मथुरा नगरी तें छिले त भालो ?

'प्यारे, और मैं क्या कहूँ ? जन्म-जन्म में, जीवन और मरण में तुम्ही मेरे प्राणपति होओ। अनेक पुण्यफल से गौरी की आराधना करके मैंने तुम्हें पाया है। न जाने किस शुभ क्षण में तुम्हारे दर्शन हुए थे, हाय उसी के आनन्द में मरी-सी जा रही हूँ। विधाता ने बड़े शुभ क्षण में तुम्हारे जैसे निधि को मुझसे मिलाया था। तुम्हें प्राणों से सौगुना अधिक मानती हूँ। दूसरों के प्राण दूसरे हैं, पर मेरे प्राण तुम्ही हो। तुम्हारे चरणों को शीतल समझकर मैंने शरण ली है। गर्वित गुरुजन न जाने क्या-क्या कहते रहते हैं, तुम्हारे कारण मैं यह सब सहा करती हूँ। दोनो कुल में हँसी हुई। चण्डीदास कहते हैं कि हे नागर, राधा की आरति की लाज रख लो। तुम प्रीतिरस के चूड़ामणि हो, उसे रस से रसमय कर रखो।'

बन्धु, कि आर बलिब आमि।
जनमे जनमे जीवने मरणे प्राणनाथ हओ तुमि।।
बहु पुण्यफले गौरी आराधिये पेयेछि कामना करि।
ना जानि कि क्षणे देखा तव सने तँइ से पराने मरि।।
बड़ शुभ क्षणे तोमाहेन निधि विधि मिलायल आनि।
पराण हइते शत-शत गुण अधिक करिया मानि।।
आनेर आछये आन जत जन आमार परान तुमि।
तोमार चरन शीतल जानिया शरन लइयाछि आमि।।
गुरु गरवित तारा बले कत से सब गौरव बासि।
तोमार कारणे एतना सहिये दुकुले हइल हासि।।
कहे चण्डीदास शुन सुनागर राधार आरति राख।
पिरीति रसेर चूड़ामनि हये रसे जे रसिया राख।।

'प्यारे, तुम्ही मेरे प्राण हो। देह, मन, कुल-शील आदि सर्वस्व मैंने तुम्हें समर्पण कर दिया है! हे काले, तुम अखिल विश्व के नाथ हो, योगियों के आराध्य धन हो। हम अति हीन गोप-ग्वालिनें तुम्हारा भजन-पूजन नहीं जानती। तन-मन प्रीति-रस में ढालकर तुम्हारे चरणों को सौंप दिया है। तुम्ही मेरे पति हो, तुम्ही मेरी गति हो, मेरे मन को दूसरा नहीं भाता। मुझे लोग कलङ्किनी कहते हैं, मुझे इसका दुःख नहीं, तुम्हारे लिए गले में कलङ्क का हार पहनने में भी सुख है।'

बंधु तुमि से आमार प्रान।
देह मन आदि तोहारे सँपेछि कुशलीत जाति मान।।
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया योगीर आराध्यधन।
गोप गोयालिनी हाम अति हीना ना जानि भजन पूजन।।
पिरीतिरसे ते ढालि तनु मन दियाछि तोमार पाय।
तुमि मोर पति तुमि मोर गति मन नाहि आन भाय।।

> कलङ्की बलिया डाके सब लोके ताहाते नाहिक दुख।
> तोमार लागिया कलङ्केर हार गलाय परिते सुख।।

'मैं सती हूँ या असती, तुमसे कुछ छिपा नहीं है; मैं भला-बुरा कुछ नहीं जानती। मेरे लिए तो पाप और पुण्य दोनों ही समान हैं, चाहिए तुम्हारे चरण ही।'

> सती या असती तोमाते विदित भाल मन्द नाहि जानि।
> कहे चण्डीदास पाप पुण्य सम तोमार चरन खानि।।"

राधिका के आत्म-समर्पण के इस पवित्र रूप के सम्बन्ध में कुछ टिप्पणी करना व्यर्थ है—ढिठाई है।

सूरदास की राधिका

सूरदास ने राधिका के जिस रूप का चित्रण किया है, उसकी तुलना शायद ही किसी अन्य भक्त के चित्रण से की जा सके। चिरसाहचर्य और बाल्य-सख्य की भूमिका के ऊपर प्रतिष्ठित यह राधिका अपना उपमान स्वयं ही है। इस प्रेम का कोई पटतर नहीं है। बाललीला के समय ही एक दिन श्रीकृष्ण व्रज की गलियों में खेलने निकल पड़े। उस दिन उन्होंने नीलवस्त्रसमावृता राधिका को देखा। वे यमुना के तीर पर छोटी-छोटी बालिकाओं के साथ खेलने आयी थीं। सूरदास के श्याम उन्हें देखते ही रीझ गये; नैन से नैन मिले और ठगोरी पड़ गयी—नैन नैन मिलि परी ठगोरी।[1] संस्कृत के कवि ने एक प्रकार की ठगोरी का वर्णन किया है, जिसमें श्यामसुन्दर को देखते ही राधिका कुछ ऐसी ठगी गयी थीं कि खाली बर्तन में ही दही मथने लगी थी और उधर श्यामसुन्दर ऐसे भूले

1. खेलन हरि निकसे व्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चकडोरी।
मोर मुकुट कुण्डल स्रवननि पर दसन दमकि दामिनि छबि छोरी।
गये स्याम रवि तनया के तट अंग लसत चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नयन बिसाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रुचिर झकझोरी।
संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।।

कि गाय के भ्रम में बैल को दुहने बैठ गये थे।[1] यह ठगोरी और तरह की थी। इसमें कहीं झिझक या संकोच का लेश भी नहीं था, सो श्याम ने देखा और परिचय पूछा, 'क्यों जी, तुम कौन हो, किसकी लड़की हो? तुम्हें तो व्रज की गलियों में कभी खेलते नहीं देखा।' राधिका ने उत्तर में कहा, 'क्यों हम आवें व्रज की गलियों में। हम तो अपनी ही पौर पर खेलती रहती हैं; सुना है नन्द का ढोटा बड़ा चोर है, किसी का दही चुरा लेता है, तो किसी का मक्खन ले भागता है।' श्याम ने हँसते हुए कहा, 'भला मैं तुम्हारा क्या चुरा लूँगा जो तुम खेलने नहीं आती! तुम तो दही बेचने जाती नहीं। चलो न खेलने चलें। हमारी तुम्हारी जोड़ी अच्छी रहेगी!' सूरदास के श्याम रसिक-शिरोमणि हैं। भोली राधिका बातों में भूल गयी। बिचारी को पता नहीं चल सका कि दही से भी बड़ी चीज—उनका हृदय—इस अजीब चोर ने बातों-ही-बातों में हर लिया :

बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ व्रजखोरी।
काहे को हम व्रज तनि आवति, खेलत रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति श्रवनन नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन संग चलो मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बातनि भुलइ राधिका गोरी।

यह प्रथम दर्शन था, पर प्रेम की उलझन यहीं शुरू हो गयी। राधिका मन-ही-मन उलझ गयी। उन्हें अब घर अच्छा नहीं लगता, चित्त नये खेल के साथी के लिए व्याकुल हो जाता है। माता से बराबर दोहनी माँगती रहती है, उद्देश्य है खरिक में नये साथी से मिलना।[2] अब उन्हें भगवान् के बिना कहीं अच्छा नहीं लगता, एक साथ छाया की भाँति लगी रहती हैं। गुरुजन इस नयनमनहारी जोड़ी को देखकर उल्लसित होते हैं। कभी वृषभानु का और कभी नन्द का घर इस युगलमूर्त्ति के पवित्र हास्य से उद्भासित होता रहता है। खरिक में भी राधाकृष्ण, यमुना तट पर भी राधाकृष्ण, व्रज की गलियों में भी

1. राधा पुनातु जगदच्युतदत्तचित्ता
मन्थानमाकलयति दधिरिक्तपात्रे।
यस्या मुखाम्बुजसमर्पितलोलदृष्टि-
र्देवोऽपि दोहनधिया वृषभं दुदोह॥
2. नागरि मनहिं गई अरुझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ।
श्यामसुन्दर मदनमोहन मोहिनी-सी लाइ।
चित्त चचल कुँअरि राधा खान पान भुलाइ।
कबहुँ विलपति कबहुँ विहँसति सकुचि बहुरि लजाइ।
जननि सो दोहनी माँगति बेगि दै री माइ।
सूर प्रभु को खरिक मिलिहौं गये मोहि बुलाइ।

राधाकृष्ण, जहाँ देखो वही राधाकृष्ण। यशोदा ने राधिका को देखा और आनन्द से गद्गद होकर पूछ बैठी :

नामु कहा है तेरो प्यारी।
बेटी कौन महर की है तू कहि सु कौन तेरी महतारी॥
धन्य कोख जेहि तोको राख्यो धन्य घरी जिहि तू अवतारी।
धनि पितु मातु धन्य तेरी छवि, निरखति यों हरि की महतारी॥

राधिका का परिचय पाकर यशोदा माता ने उन्हें अच्छी तरह सँवार दिया[1], बोली, 'जा अब श्याम के संग खेल'[2]। इस प्रकार बालकाल से ही राधिका और कृष्ण का प्रेम सहज स्वाभाविक रूप में विकसित होता है, तथापि दोनों के मन में एक-दूसरे के लिए एक विषम उत्सुकता रात-दिन बनी रहती है। राधिका शुरू से ही तद्गतचित्ता होकर भगवान् से प्रेम करती हैं। वे मन-ही-मन अपने अन्तर्यामी श्याम से कहती हैं कि 'तुम साक्षी हो, मैं तुम्हारे सिवा और किसी को नहीं जानती, माँ-बाप तो कुलमर्यादा को ही ध्यान में रखते है, वे तुम्हें क्या जानें ?'

राधा विनय करति मन-ही-मन सुनहु श्याम अन्तर के यामी।
मातुपिता कुल-कानिहि मानत तुमहि न जानत है जगस्वामी।

यह विलास कलावती की प्रार्थना नहीं है, यह भक्त की कामना है जो अपने आराध्य के अतिरिक्त और किसी को नहीं मानना चाहता। यह एकान्त प्रेम है, यह प्रेम आकस्मिक नहीं है, दीर्घकाल के साहचर्य से उत्पन्न यह प्रेम अपना उपमान आप ही है। भवभूति ने राम और सीता के प्रेम में दीर्घ साहचर्यजनित इस गाढ़ता का दर्शन पाया था[3], सूरदास ने राधिका के प्रेम में उसी प्रेम की पराकाष्ठा देखी थी :

मन मधुकर पद कमल लुभान्यो।
चित्त चकोर चंद्रनख अंटक्यो इक टक पल न भुलान्यो॥

1. जसुमति राधा कुँअरि सँवारति।
   बड़े बार श्रीवंत सीस के प्रेम सहित लै लै निरवारति॥
   माँग पारि बेनीहि सँवारति गूँथी सुन्दर भाँति।
   गोरे भाल विंदु चदन मनो इन्दु प्रात रवि कांति।
   सारी चीर नई फरिया लै अपने हाथ बनाइ।
   अंचल सो मुख पोंछि अंग सब आपुहि लै पहिराइ।
   तिल चाँवरि बतासे मेवा दिये कुँअरि की गोद।
   सूर श्याम राधा तन चितवत जसुमति मन मन मोद।
2. खेलो जाइ श्याम सँग राधा।
   यह सुनि कुँवरि हरख मन कीन्हो मिट गई अन्तर बाधा।
3. किमपिकिमपि मन्दमन्दमासत्तियोगादविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
   अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोरविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥

ग्रौर,

स्याम सखि नीके देखे नाहीं।
चितवत ही लोचन भरि ग्राए बार बार पछिताहीं।
कैसेहू करि इक टक राखति नैंकहि में ग्रकुलाहीं।
निमिष मनो छवि पर रखवारे ताते ग्रतिहि डराहीं।

प्रेम-वैचित्य

राधिका के मुख से ही इस प्रेम का इतिहास श्रवणीय है, ग्रौर कौन उस ग्रजीव दुख को समझ सकता है? जब से भगवान् के साथ उनका परिचय हुग्रा है, तभी से वे चेरी की भाँति साथ-साथ रही हैं, पर प्रेम की प्यास कहाँ मिटी?—

सुनु री सखी, दसा यह मेरी।
जब तें मिले स्यामघन सुन्दर संगहिं फिरत भई जनु चेरी।
नीके दरस देत नहि मोकों ग्रंगन प्रति ग्रनंग की टेरी।
चपला तें ग्रतिही चंचलता दसन दमक चकचौंध घनेरी।
चमकत ग्रंग, पीतपट चमकत, चमकति माला मोतिन केरी।
'सूर' समुझि विधना की करनी ग्रति रस करति सौंह मुँह तेरी।

यह प्रेम-वैचित्य का चरम निदर्शन है। प्रिय के ग्रति निकट रहते पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग-कथा की जो ग्रनुभूति होती है, उसे प्रेम-वैचित्य कहते हैं। प्रेम का उत्कर्ष ही इसका कारण है। रूप गोस्वामिपाद ने इसके उदाहरण में बताया है कि श्रीकृष्णचन्द्र के सामने होते हुए भी तीव्रानुराग-वश वियोग-व्यथा की ग्राशंका से राधिका हतबुद्धि हो गयी थी, उन्हें चक्कर ग्रा गया। दाँतों में तिनका दबाते हुए बोलीं, 'हे सखि, मेरे प्रिय को दिखाग्रो।' उन्होंने कुछ ऐसी चेष्टा की कि स्वयं श्रीकृष्ण भी विस्मित हो रहे :

ग्राभीरेन्द्रसुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया
विश्लेषज्वरसम्पदा विवशधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता।
कान्तं मे सखिदर्शयेति दशनैरुद्घूर्णशष्पाकुरा
राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यथा कृष्णोऽप्यभूद्विस्मितः॥

परन्तु मेरा विश्वास है कि गोस्वामिपाद को सूरदास के पदों से परिचय होता (सूरदास कुछ परवर्ती हैं) तो वे सूरदास से ही कोई पद उद्धृत करते। शायद वे इस पद को उद्धृत करते :

राधेहि मिलेहु प्रतीति न ग्रावति।
यदपि नाथ विधुवदन विलोकति दरसन को सुख पावति।
भरि भरि लोचन रूप परमनिधि उर में ग्रानि दुरावति।
विरह-विकल मति दृष्टि दुहूँ दिसि सचि सरधा ज्यों धावति।
चितवत चकित रहति चित ग्रन्तर नैन निमेष न लावति।

सपनों माहिं कि सत्य ईश बुद्धि वितर्क बनावति।
कबहुँक करति विचारि कौन हो को हरि केहि यह भावति।
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरङ्ग उपजावति॥

या फिर इस पद को उद्धृत करते :

यद्यपि राधिका हरि सङ्ग।
हाव-भाव कटाच्छ लोचन करत नाना रङ्ग।
हृदय व्याकुल धीर नाही वदन कमल विलास।
तृषा में जल जाल मुनि ज्यो अधिक अधिकहि प्यास।
श्याम रूप अपार इत उत लोभ पट्ट विस्तार।
'सूर' मिलत न लहत कोऊ दुहुँनि बल-अधिकार॥

या फिर और कोई पद उद्धृत कर लेते। 'सूरसागर' में उन्हें उत्तम से उत्तम उदाहरण मिल जाते। यह वैचित्र्य अत्यन्त सहज और अत्यन्त सुकुमार है। सचमुच ही ब्रजराजकुवँर और राधारानी का यह अपूर्व प्रेम लोकोत्तर ही है। जब युगल-मूर्त्ति का मिलन होता है, सारी वनस्थली चकित-सी होकर निनिमेष भाव से शोभा के इस अपार समुद्र को देखा करती है और इस मिलन-संगीत को गाते-गाते सूरदास जैसे रुकना ही नही जानते।

राधा का प्रेमभाव

प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह भी इस प्रेम के योग्य है। वियोग के समय राधिका के मिलन-समय की मुखरा लीलावती, चंचला और हँसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती हैं। उद्धव से अन्यान्य गोपियाँ काफी बक-झक करती है। पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्त्ति का वर्णन किया है, उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होंने राधिका की आँखों को निरन्तर बहते देखा था, कपोल-देश वारि-धारा से आर्द्र था, मुखमण्डल पीत हो गया था, आँखें धँस गयी थीं, शरीर कंकाल-शेष रह गया था। वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी थी। प्रिय के प्रिय वयस्य ने जब सन्देश माँगा तो वह मूच्छित होकर गिर पड़ी। प्रेम का वही रूप जिसने संयोग में कभी विरहाशंका का अनुमान नहीं किया, वियोग में इस मूर्त्ति को धारण कर सकता है। वास्तव मे सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका हैं। उनके प्रेम मे चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम मे किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घर मे, वन मे, घाट पर, कदम्ब तले, हिंडोरे पर—जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है वहीं पर अपने-आपमें ही पूर्ण है, मानो वह किसी की

अपेक्षा नही रखता और न कोई उसकी खबर रखता है। राधिका के इस रूप का परिचय पाने के लिए हमे कुछ और भी पदों को देखना होगा। मैंने अपनी पुस्तक 'सूर-साहित्य' मे इस बात की कुछ विस्तृत चर्चा की है। यहाँ यथासम्भव संक्षेप मे कह रहा हूँ।

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोडकर उनके पीछे-पीछे दौडा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपको की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह मे कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य मे इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलङ्कारों को देखकर भी कोई अनुमान नही कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलङ्कारो का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढते जाइए, केवल उपमाओ और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यञ्जना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहरायी जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रभाव कही भी आहत नही हुआ। जिसने 'सूरसागर' नही पढ़ा, उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब-सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्य-गुणो की इस विशाल वनस्थली मे एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नही जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना मे ही घुल-मिल गया है।

राधा और कृष्ण के इस मिलन-सुख के भीतर अचानक दुःख का दर्शन हुआ। कंस के दूत अक्रूर एकाएक किसी भयानक धूमकेतु की भाँति उदित हुए। बिना पूर्णिमा के ही चन्द्रमा पर ग्रहण लग गया—'बिनु परवहिं उपराग आजु हरि, तुम है चलन कह्यो!' जिसने जहाँ सुना वह वही व्याकुल हो रहा। व्रज की युवतियो की तो मत पूछिए। वे चित्रलिखित-सी हो रही, जो जहाँ थी, वहीं उसकी पलको मे टक लग गयी, इन्द्रिय व्यापार-रुद्ध हो रहे, सभी स्तब्ध, सभी हतचेतन! सूरदास ने राधिका की दशा की ओर इशारा-भर कर दिया है। वे जानते थे कि व्रजलाडिली के चित्त पर इस आकस्मिक उल्कापात का जो फल हुआ था, वह वर्णन के अतीत है। 'सूरसागर' में इस प्रसंग मे जितने पद आये हैं, वे विवश व्याकुलता के निदर्शक हैं। भगवान् जा रहे है, उन्हे रोक सकना असम्भव है और फिर भी उनके बिना जीवन का भार हो जाना निश्चित है। विवश राधिका भीतर-ही-भीतर कटके रह जाती हैं, उनका हृदय इतना गम्भीर है कि वे अपना विरह पीकर रह जाती है, उसे भगवान् के निकट नही होने देती। भगवान् सबको रुलाते-कलपाते जब चलने को तैयार हो ही जाते हैं तब भी राधिका कर्म को दोष देकर भीतर-ही-भीतर मसोसकर रह जाती हैं :

चलत हरि धृग जु रहे ए प्रान।
कहाँ वह सुख अब सहहुँ दुसह दुख डर करि कुलिस समान।

कहाँ वह कंठ श्याम सुन्दर भुज, करति अधर रसपान।
अँचवत नयन-चकोर सुधा विधु देखहु मुख छवि आन।
जाको जग उपहास कियो तब छाँड्यो सब अभिमान।
'सूर' सुनिधि हम तें है बिछुरत कठिन है करम-निदान!

श्याम का रथ चल पड़ता है—'सखी री, वह देखो रथ जात!' हाय, हाय, राधिका की उन विवश आँखों की कल्पना भी कितनी हृदय-बेधक है! उनकी आँखें पीछे ही लौट आना चाहती हैं, प्राणेश्वर के रथ के साथ आगे बढ़ना नहीं चाहतीं। उनका मन तो उस माधुरी मूर्ति के साथ चला गया, शरीर ब्रज में लौट-कर क्या करेगा भला! कहीं राधिका हवा हो सकती और रथ की पताका को आसमान में उड़ा सकती! काश, वे धूल हो जातीं और चरणों में लिपट जातीं। पर हाय, यह कहाँ हो सका? वह रूप और माधुर्य की पुत्तलिका ब्रजबाला मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी:

पाछेहीं चितवत मेरो लोचन आगे परत न पाँइ।
मन लै चली माधुरी मूरति कहा करौं ब्रज जाइ।
पवन न भई पताका अम्बर रथ के भई न अंग।
धूरि न भई चरन लपटाती जाती तँह लौं संग।
ठाढ़ी कहा करौं मेरी सजनी जेहि विधि मिलहिं गोपाल।
सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी मुरुकि परी व्रजलाल!

अब पछतावा हो रहा है। जब मोहन चलने लगे तो फेंट क्यों नहीं पकड़ ली! राधिका तो लाज से गड़ी जाती थी, पर क्या यशोदा माता को इतना भी नहीं करना था! उनके बिना राधिका का यह वियोगविधुरा शरीर तो कौड़ी के मोल का भी न रहा। लाजवश उस समय जो निष्क्रियता आ गयी, वह आज हृदय को वेधे डालती है:

तब न विचारी यह बात।
चलत न फेंट गही मोहन की अब ठाढ़ी पछितात।
निरखि निरखि मुख रही मौन ह्वै थकित भई पलपात।
जब रथ भयो अदृष्ट अगोचर लोचन अति अकुलात।
सबै अजान भई वहीं अवसर धिगहिं जसोमति मात।
सूरदास स्वामी के बिछुरे कौडी भरि न विकात॥

तथा,

अब वै बातें इहाँ रही।
मोहन मुख मुसुकाइ चलत कछु काहू नाहिं कही।
सखि मुलाज वस समुझि परसपर सनमुख सबै सही।
अब वै सालति है उर महियाँ कैसेहुँ कढ़ति नहीं।

प्रथम विछोह की यह व्याकुलता अपार है। रात तारे गिनते-गिनते कट जाती है, पापी हृदय वज्र से भी कठोर होकर उस दारुण विरह की मार को सहा

करता है, मृत्यु और जीवन की रस्साकशी का वह दृश्य बड़ा ही मर्मवेधक है।[1] श्याम को भूलना भी कठिन है। चण्डीदास ने ठीक ही कहा है कि श्याम की प्रीति की यह स्मृति भी दारुण है और भूलने से भी प्राण फटने लगता है। वह शंखवणिक् के उस करात (आरी) की भाँति है जो आते भी काटता है, जाते भी काटता है—

श्यामेर पिरीत स्मिरित विषम, भुलिते परान फाटे—
शाँख-वणिकेर करात येमनि आसिते जाइते काटे।

बहुत दिन हो गये, 'बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजे!' भगवान् ने एक पाती भी नहीं लिखी। राधा ने बड़े प्रयत्न से प्रियतम की मूर्ति बनायी, सजल मेघ के समान शरीर पर विद्युत की भाँति पीताम्बर सजा दिया। स्कन्धदेश को उन्नत, कटि को क्षीण, भुजाओं को विशद, कपोल-नासिका-नेत्र-केश सभी को यथोचित चित्रित किया—चित्र इतना सुन्दर उतरा कि जान पड़ा अब बोला तब बोला! पर हाय, इसी भ्रम ने सबकुछ माटी कर दिया, सारी तन्मयता भंग कर दी, उस कमनीय मुख के मृदु वचन सुनने के लिए वे आतुर भाव से व्याकुल हो उठीं:

मैं सब लिखि शोभा जु बनाई।
सजल जलद तन बसन कनक रुचि उर बहुदाम सुहाई।
उन्नत कंध कटि खीन विषम भुज अंग अंग सुखदाई।
सुभग कपोल नासिका नैन छवि अलक लिहित धृति पाई।
जानति होय हलोल लेख करि ऐसेहि दिन बिरमाई।
सूरदास मृदु वचन स्रवन लगि अति आतुर अकुलाई॥

जयदेव कवि की राधिका ने चित्र नहीं बनाया था, केवल ध्यानयोग से एक मूर्ति कल्पित की थी। तन्मयता के आवेश में उस ध्यानमूर्ति को वास्तविक समझकर हँसती, रोती, विलपती, कलपती और आनन्दित होती रहीं और पग-पग पर कह उठती—हे माधव, मैं तुम्हारे चरणों पर पड़ी हूँ, तुम्हारे विमुख होने पर

1. उदाहरणार्थ,

आजु रैनि नहिं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविन्द हरी।
वह चितवनि वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवति रही ठगी-सी ठाढ़ी कहि न सकत कछु काम दही।
इतनें मन व्याकुल भयो सजनी आरज पथहुँ तें बिहरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितो दूर मथुरा नगरी॥

और,

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर बज्र तें भारी रहि कै पापी कहा कियो।
घोरि हलाहल सुनि मेरी सजनी औसर तोहि न पियो।
मन-सुधि गई सँभारत नाहिन पूर दाँव अक्रूर दियो।
कछु न सुहाई गई सुधि तब तें भवन काज को नेम लियो।
निसि दिन रटत सूर के प्रभु बिन मरिबो तऊ न जात जियो॥

अमृत का निधि यह चन्द्रमा भी मेरे शरीर में दाह उत्पन्न करता है :

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीवदुरापम् ।
विलपति हसति विषीदति रोदिति चञ्चति मुञ्चति तापम् ।
प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम् ।
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम् ।

दोनों कल्पनाओं का मौलिक अन्तर लक्ष्य करने योग्य है। सूरदास की राधिका स्वयं नहीं बोलती, चित्र के मुख से ही कुछ सुनने को उत्सुक है। परन्तु जयदेव की राधिका ध्यान-कल्पित मूर्त्ति के सामने रोती है, विलपती है, कलपती है। सूरदास की राधिका का वियोग उनको तरल नहीं बना देता। हम आगे चलकर देखेंगे कि वे और भी गम्भीर हो जाती हैं, यहाँ तक कि भगवान् के आने पर भी दौड़कर मिलने नहीं चल देती। भगवान् ने जब छोड़ दिया है तो उन्हें इसी में प्रसन्नता होगी, नहीं तो त्याग ही क्यों करते? राधा अपने सुख के लिए ऐसा कार्य कभी नहीं कर सकती जो उनकी प्रसन्नता का परिपन्थी हो! राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का वह चित्र बनाया था जिसमें उसके दोनों नेत्र कानों तक फैले हुए थे, भ्रूलताएँ लीला द्वारा कुञ्चित थीं, अधरदेश उज्ज्वल दसनच्छवि से उद्भासित थे, ओष्ठप्रदेश पके हुए कर्कन्धूफल के समान पाटल वर्ण के थे, विभ्रमविलास की मनोहारिणी छवि की एक तरल धारा-सी जगमगा उठी थी, चित्रगत होने पर भी मुख में ऐसी सजीवता थी कि जान पड़ता था, अब बोला तब बोला :

दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तः परिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम् ।
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं ।
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम् ।

कवि कालिदास ने लौकिक प्रेम के भीतर स्वर्गीय गाम्भीर्य भर दिया है। उधर कालिदास के यक्ष ने जब अपनी प्रिया का चित्र बनाया था तो उसे प्रणयकुपित अवस्था ही याद आयी थी। वह चित्र के पैरों पड़ने जा रहा था कि उसकी आँखों में आँसू आ गये। क्रूर विधाता से उस हालत में भी उन प्रेमियों का मिलन नहीं सहा गया।[1] पर राधिका ने जो चित्र बनाया था, वह सहज भाव का सहज चित्र था। यक्ष प्रिया के चित्र को चित्र ही समझता रहा, पर राधा ने वैसा नहीं समझा। वे उसे साक्षात् प्रिय समझकर उनकी मृदु वाणी सुनने के लिए अधीर हो गयीं।

एक पथिक मथुरा जा रहा था। राधिका ने उसे बुलाया, पर जब सन्देश

1. त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ।

कहने गयी तो 'गद्गद कण्ठ हियो भरि आयो वचन कह्यो न गयो।' कुछ धीरज धारण करके राधिका ने उस पथिक से जो कुछ सन्देश भिजवाया, वह 'सूरसागर' की राधिका के हृदय का सर्वोत्तम निदर्शन है :

नाथ, अनाथन की सुधि लीजै।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत सब दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै।
नैन सजल धारा बाढ़ी अति बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।
इतनी विनती सुनहु हमारी बारकहूँ पतिया लिखि दीजै।
चरन कमल दरसन नव नौका करुनासिंधुजगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै॥

राधिका की एक ही प्रार्थना है :

बारक जाइबो मिलि माधो।
को जानै तन छूटि जाइगो सूल रहै जिय साधो।
पहुनेहु नन्द बबा के आवहु देखि लेउँ पल आधो।
मिलेही मे विपरीत करे विधि होत दरस को बाधो।
जो सुख शिव सनकादि न पावत सो सुख गोपिन लाधो।
सूरदास राधा विलपति है हरि को रूप अगाधो॥

उद्धव आये। गोपियो ने उनकी जो बातचीत हुई उसमे युग-युगान्त का सनातन विरह फूट पड़ा है। गोपियो ने प्रेमातिशय्य के कारण क्या-क्या नही कहा, बिचारे भौरे की तो दुर्गति ही कर डाली पर एकान्त प्रेम की पावन प्रतिमा राधा ने क्या कहा ? वे उद्धव के पास गयी ही नही। चलती बार उद्धव राधिका के घर स्वयं गये और प्रियतम के लिए सन्देश की प्रार्थना की। हाय, राधिका कौन-सा सन्देश दे ! जिस गोपाल के साथ गुड़ियों के खेल खेले हैं, ठठोली से पनघट मुखरित हुए हैं, वे ही आज मथुरा के सम्राट् हैं। वे सन्देश चाहते हैं, उन्होने दूत भेजा है। जो इतने समीप थे, वे आज इतने दूर हो गये है। राधिका ने उद्धव को देखा और उनके दोनो विशाल नयन उमग चले।[1] वे आगे बढ़कर उद्धव का स्वागत करना

1. उमगि चले दोउ नयन विशाल।
सुनि-सुनि यह सदेश श्यामघन सुमिरि तुम्हारे गुन गोपाल।
आनन बपु बरजनि के अन्तर जलधारा बाढ़ी तेहि काल।
मनु जुग जलज सुमेर शृंग तें जाइ मिले सम ससिहि सनाल।
और,
तुम्हरे विरह ब्रजराज, राधिका नैननि नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी।
गोलकनाउ निमेष न लागत सो पलकनि बर बोरति।
ऊरध श्वास समीर तरंगनि तेज तिलकतरु तोरति।
कज्जल कीच कुचील किये तट अंतर अधर कपोल।
थकि रहे पथिक सुजस हितहो के हस्तचरण मुख बोल।

चाहती थी, पर चरण उलझ गये, थहराकर गिर पड़ी :

चलत चरन गहि रह गई, गिरि स्वेद-सलिल रस भीनी।
छूटी बट, भुज फूटी बलया, टूटी लर, फटी कंचुक भीनी॥

और,

कंठ वचन न बोलि आवै हृदय परिहसभीन,
नैन जलि भरि रोइ दीनी ग्रसित आपद दीन !

जिन नयनों की कृपाकोर के लिए किसी दिन नटनागर के नयन प्यासे रहते थे, प्रथम दर्शन में ही जिन नयनों ने गोपाल लाल के नयनों मे ठगोरी डाल दी, उन्ही नयनों से उद्धव को कैसा देखा ? हाय, 'सूरसागर' मे प्रतिफलित उस अपार विरह-समुद्र को कौन समझ सकता है ? उद्धव ने क्या देखा ?

नैनन होड़ बदी बरखा सों।
रातिदिवस बरसत झर लाये दिन दूनी करखा सों।
चारि मास बरसे जल खूंटे हारि समुझि उनमानी।
एतेहू पर धार न खंडित इनकी अकथ कहानी।

और,

देखी मैं लोचन चुअत अचेत।
मनहुँ कमल शशि त्रास ईस को मुकुता गनि गनि देत।
द्वार खड़ी एकटक मग जोवति उरधहु स्वास न लेत। इत्यादि।

राधिका की दशा उद्धव ने बड़ी ही करुण भाषा मे बतायी थी :

रहति रैन दिन हरि हरि हरि रट।
चितवत इकटक मग चकोर लो जबतें तुम बिछुरे नागर नट।
भरि भरि नैन नीर ढारति है सजल करति अति कचुकी के पट।
मनहुँ विरह को ज्वर ता लगि लियो नेमप्रेम शिव शीश सहस घट।
जैसे यव के अंगु ओस कन पान रहत ऐसे अवधिहि के तट।
'सूरदास' प्रभु मिलौ कृपा करि जे दिन कहे तेउ आए निकट।

भक्तों में प्रसिद्ध है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कार्यजीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। 'बृहद्भागवतामृत' के अनुसार उद्धव भगवान् के महाशिष्य, महामृत्य, महामात्य और महाप्रियतर थे। वे सदा श्रीकृष्ण के साथ रहते थे—शयन के समय, भोजन के समय, राजकाज के समय,

→ नाहिन और उपाय रमापति बिन दरसन जो कीजे।
आंसू सलिल बढ़त सब गोकुल 'सूर' सुकर गहि लीजै।

और,

नैन घट घटत न एक घरी।
कबहुं न मिटत सदा पावस ब्रज लागो रहत झरी।
सब ऋतु मिटी एक भई ब्रज महि चाहे विधि उलटि धरी।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे बिछुरे मिटि मरजाद टरी।

कभी भी भगवान् का साथ नहीं छोड़ते थे, यहाँ तक कि अन्तःपुर में भी सदा साथ-साथ रहते थे। केवल एक बार उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ा था और व उस समय जब गोपियों का समाचार लेने के लिए भगवान् ने ही उन्हें वृंदावन भेजा था। कहते हैं, इस बार उन्हें भगवत्संग से दूना आनन्द मिला था। उनके तीन काम थे: भगवान् की पद-सेवा, उनके साथ हास-विनोद और क्रीड़ा के समय साथ-साथ रहना। पहले कार्य में इतने तन्मय रहते थे कि अबोध लोगों को भ्रम हो जाता था कि वे पागल हो गये हैं। सूरदास के जीवन का भी यही परिचय है। केवल एक बार उन्होंने 'सूरसागर' में भगवान् का साथ छोड़ा है, 'भ्रमर गीत' में निश्चय ही उन्हें भी दूना आनन्द मिला था। इस प्रवाद का साहित्यिक अर्थ बड़ा ही अर्थपूर्ण है। उद्धव के मुख से 'सूरसागर' में जो कुछ कहलाया गया है वह कल्पना-विलास नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य है। मैं आपको यहाँ फिर एक बार याद दिला दूँ कि विरह के प्रसंग में साधक भक्त अपने-आप को ही खोलकर रख देता है।

परन्तु राधिका का चित्र भय भी मधुर है। मैं अपने पाठकों को प्रभास क्षेत्र में ले जाना चाहता हूँ। आज बहुत दिनों के बाद आनन्दकन्द भगवान् गोपियों और गोपालों को कृतार्थ करनेवाले हैं। आज राधिका के भाग्य फिरे हैं—'अचल उड़त, मन होत गहगहो, फरकत नैन खये!' राधिका ने यह शुभ संवाद सुना। उनकी आँखों में पानी भर आया। श्यामसुन्दर तो आ गये, पर उनके दर्शन क्या भाग में बदे हैं? कौन जाने? उन्होंने इच्छापूर्वक राधिका का त्याग किया है, खुशी होगी तो फिर ग्रहण करेंगे, पर राधिका दौड़कर उनके प्रेम को अपमानित नहीं करेंगी। पर हाय, मन तो नहीं मानता :

राधा नैन नीर भरि आये
कब धौं मिले श्यामसुन्दर सखि यदपि निकट हैं आये!

भगवान् लाव-लश्कर के साथ आये हैं, दास-दासियों की इतनी घटा, वस्त्राभूषणों की ऐसी छटा व्रजवासियों के निकट अत्यन्त अपरिचित हैं। गुड़ियों के खेलवाले कृष्ण ये नहीं है, पनघट की दान-लीलावाले कृष्ण ये नहीं है, शरत्-पूर्णिमा के रासविहारी कृष्ण ये नहीं है, ये महाराज हैं। उनकी अभ्यर्थना करने के लिए व्रज की गोपियाँ खड़ी हो गयीं। राधिका भी अपनी मर्मव्यथा के भार से दुबकी हुई एक तरफ खड़ी हो गयी। महाराजाधिराज श्रीकृष्ण अपनी पट्टमहिषी के साथ धूमधाम से निकले और गोपियों के सामने आये। महारानी रुक्मिणी से न रहा गया, पूछ बैठी, 'प्रिय इनमें को वृषभानु किशोरी?' जिस राधिका का नाम लिये बिना भगवान् कोई काम ही नहीं कर सकते—'जाके गुन गनि गुथति माल कबहूँ उर में नहिं छोरी'—उस वृषभानुलली को देखने की उत्सुकता रुक्मिणी सँभाल नहीं सकी; बोली, 'नेकु हमें दिखरावहु अपने बालापन की जोरी।' भगवान् ने रुक्मिणी को दिखाया—'वह देखो जुवतिन में ठाढ़ी नील वसन तन गोरी।'

अन्त में भगवान् राधा को मिले। राधिका उस विशाल ऐश्वर्य को देखकर रुद्धवाक् हो गयी—'सूर देखि वा प्रभुता उनकी कहि नहि आवे बात !' श्रीकृष्ण ने समझा, रुक्मिणी ने भी समझा। वे उन्हें अपने घर लिवा गयी और बहन की तरह बगल में बैठ गयीं। तब जाकर सूरदास के 'प्रभु तहाँ पधारे जहाँ दोऊ ठकुरानी।' और फिर,

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रंग राते राधा माधव रंग गई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि न गई।

परन्तु बरसाने की उस मुखर बाला के मुँह से एक बात नहीं निकली। आनन्द का यह गम्भीर समुद्र किंचित्मात्र चंचल नहीं हुआ, भगवान् के चले जाने पर केवल पछताके रह गयी :

करत कछु नाही आज बनी।
हरि आये हौ रही ठगी-सी जैसे चित्तवनी।
आसन हरषि हृदय नहि दीनो कमलकुटी अपनी।
न्यवछावर उर अरघ न अंचल जलधारा जु बनी।
कंचुकी तें कुच-कलश प्रकट है टूटि न तरक तनी।
अब उपजी अति लाज मनहि मन समुझत निज करनी।

'सूरसागर' की यही विरहविधुरा राधिका है। इस राधिका के आत्मसमर्पण में एक ऐसा गाम्भीर्य है जो अन्यत्र दुर्लभ है। भगवान् को अपना सर्वस्व दे देंगी, बशर्ते भगवान् चाहें। श्रीकृष्ण को पाना उनका लक्ष्य नहीं है, श्रीकृष्ण का तृप्त होना ही लक्ष्य है। हृदयधन को क्षणभर के लिए भी देख लेने की व्याकुलता से उनका हृदय टूक-टूक हो जाता है, तथापि वे यह नहीं कहतीं कि श्रीकृष्ण उनके साथ वही पुरानी केलि आरम्भ करें। राधिका का शरीर-मन-प्राण केवल एक ही उपादान से गठित है—उनकी तृप्ति। रह-रहकर मन में प्रश्न उठता है कि क्या महाकाव्य के भीतर से इससे अधिक सुन्दर प्रेममूर्ति की रचना हो सकती थी और क्या नाना भाँति के पहाड़ों, नदियो, दु.ख-सुखों, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के बयाबानों के भीतर घसीटने से राधिका का राधिकात्व ही नहीं नष्ट हो जाता ! क्यों लोग व्यर्थ ही अफसोस किया करते है कि सूरदास ने महाकाव्य लिखकर...! इत्यादि।

दसवीं शताब्दी से समाज में विभेद-सृष्टि का आरम्भ

भक्ति-साधनाओं की चर्चा करते-करते हम कुछ दूर तक चले आये। धार्मिक साधनाओं की ठीक-ठीक जानकारी के लिए उस काल की सामाजिक पृष्ठभूमि की जानकारी आवश्यक है। हमने पहले भी लक्ष्य किया है कि इस देश में नाना ऐतिहासिक कारणों से छूत-छात और बहिर्विवाह का वर्जन बना हुआ था। परन्तु दसवीं शताब्दी के आरम्भ से इस भेद-विभेद ने बहुत ही कठोर रूप धारण किया। जब तक हमें उस कठोर रूप का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलेगा, तब तक यह समझना कठिन ही होगा कि क्यों हजारों साधु-सम्प्रदाय मध्यकाल में बन गये। वैराग्य का ऐसा विकृत रूप क्यों हुआ? वस्तुतः जाति-पाँति का शिकंजा इतना कठोर था कि उससे बचने का एक ही उपाय रह गया था—साधु हो जाना। अन्त तक यह उपाय भी बहुत सफल नहीं सिद्ध हुआ। सो, विविध सम्प्रदायों के संघटित होने में जाति-प्रथा की कठोरता का मामूली हाथ नहीं था। यह विचित्र बात है कि जिस समय भारतवर्ष में जाति-पाँति को तोड़नेवाली संस्कृति ने प्रबल प्रताप के साथ आक्रमण करना शुरू किया और अन्त तक इस देश में अपना शासन स्थापित करने में सफलता पायी, उसी समय जाति-पाँति का बन्धन और भी कठोर हो गया। इस विरोधाभास का कारण क्या है? तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति के सिंहावलोकन से ही उसका कुछ कारण समझ में आ सकता है।

गुप्तों के बाद 550 ई. में कान्यकुब्ज में मौखरी शक्तिशाली राजा हुए। बाद में श्रीहर्ष का बहुत ही सुसंगठित प्रभावशाली राज्य यहाँ स्थापित हुआ। उसके सेनापति भण्डि और उसके वंशजों ने भी इस भूभाग पर शासन किया। पर नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उनकी शक्ति क्षीण हो गयी। इन तीन शताब्दियों में कान्यकुब्ज सब प्रकार से समृद्ध और शक्तिशाली राज्य था। जब नवीं शताब्दी में इसके शासक भण्डि एकदम अशक्त हो गये तो भी राजलक्ष्मी कन्नौज छोड़ने को तैयार नहीं थी। उस समय बंगाल में पालों का राज्य था जो पहले कई बार इस राजलक्ष्मी को अपनी गृहलक्ष्मी रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न कर चुके थे। दक्षिण में राष्ट्रकूटों का शक्तिशाली राज्य था जिसका उदय आठवीं शताब्दी के मध्यभाग में हुआ था और लगभग सवा दो सौ वर्षों तक उन्होंने प्रबल प्रताप के साथ शासन किया था। कभी-कभी उनकी तलवार गंगा-यमुना के द्वाबे में भी झनझना उठती थी और कान्यकुब्ज राजलक्ष्मी को वरण करने के लिए तो इन लोगों ने भी कुछ उठा नहीं रखा। उधर पश्चिम भारत के प्रतीहार भी बहुत शक्तिशाली थे और उन्होंने भी कान्यकुब्ज को हथियाना चाहा था। इस प्रकार नवीं शताब्दी में कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी काफी खींचतान में पड़ी थी। सन् 815 ई. में प्रतीहार

नागभट्ट ने कान्यकुब्ज पर अधिकार किया और उसी समय से कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी प्रतीहारों की हो रही। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की तीन प्रधान राजशक्तियाँ थीं। कान्यकुब्ज के प्रतीहार, गौड़ के पाल और मान्यखेट के राष्ट्रकूट। इनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा थी। उधर उत्तर-पश्चिम सीमान्त से मुसलमानों का आक्रमण शुरू हो गया था। सिन्ध में उनकी जड़ भी जम चुकी थी।

सन् 1018 ई. में प्रतीहार राजा राज्यपाल महमूद से पराजित हुआ और उसकी अधीनता भी स्वीकार कर ली। जान पड़ता है कि राजपूत राजाओं ने उसके इस आचरण को पसन्द नहीं किया और कई अधीनस्थ राजाओं ने मिलकर उसे मार डाला और उसके पुत्र को गद्दी पर बैठा दिया। परन्तु प्रतीहारों का सूर्य अस्त हो गया। केन्द्रीय शक्ति के दुर्बल हो जाने के कारण कालिंजर के चन्देल, त्रिपुर या तेवार के कलचुरि और साँभर के चौहान स्वतन्त्र हो गये। इसके बाद का काल राजपूत राजाओं के परस्पर विवाद और एक-एक करके मिटने का काल है। ये राजे परस्पर भी जूझते रहे और मुस्लिम आक्रमण से भी लोहा लेते रहे।

त्रिपुरी के कलचुरियों में कर्ण नाम का अत्यन्त प्रतापशाली राजा हुआ जो सम्भवतः सन् 1038 से 1080 ई. तक राज्य करता रहा। उसने दक्षिण में चोल-पाण्ड्यों तक को जीत लिया और उत्तर में उसकी विजय-ध्वजा काशी, कोशल और चम्पारन तक फहरायी। त्रिपुरी का ही अपभ्रंश रूप तेवार है। राजा कर्ण के साथ शाण्डिल्य-गोत्रीय 'तेवारी' ब्राह्मण आये जो सरयू-पार में अब भी श्रेष्ठ ब्राह्मण माने जाते हैं। इन ब्राह्मणों की अनुश्रुतियों से जान पड़ता है कि ये भी मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण ही हैं। राजा कर्ण ने सरयू-पार में ब्राह्मणों को बहुत भूमि दान दी थी। उसके कुछ दानपत्र गोरखपुर जिले में पाये गये हैं। कर्ण का राज्य इस इलाके में ज्यादा दिन नहीं टिक सका और ऐसा जान पड़ता है कि उसने जिन ब्राह्मणों को दान देकर इधर बसाया था वे आगे चलकर राज्याश्रय नहीं पा सके। ऐसा जान पड़ता है कि गोंड राजाओं के अभ्युदय के बाद इनमें से कुछ घर फिर अपने पुराने निवासस्थान की ओर लौट गये।

सन् 1080 ई० में कान्यकुब्ज और काशी तथा कर्ण के जीते हुए आसपास के प्रदेशों पर गाहड़वार-वंशी राजा चन्द्र का अधिकार हो गया। यह बहुत प्रतापशाली राजा था। महमूद के आक्रमण और राज्यपाल के पतन के बाद दिल्ली से लेकर बिहार तक के उस प्रदेश में जिसकी भाषा आज हिन्दी है, घोर अराजकता फैल गयी थी। गाहड़वार-वंश के शिलालेखों में गर्वपूर्वक स्मरण किया गया है कि श्री चन्द्रदेव ने अपने उदारतर प्रताप से प्रजा के अशेष उपद्रव का शमन कर दिया था—येनोदारतरप्रतापशमिताशेषप्रजोपद्रवं—सो, इस वंश के राजाओं को प्रजा ने बड़े प्रेम से सिर-माथे लिया। इस प्रकार कन्नौज, काशी और अवध तथा बिहार का कुछ हिस्सा गाहड़वार राजाओं के हाथ लगभग दो सौ वर्षों तक रहा। इस वंश के सबसे प्रतापशाली राजा गोविन्दचन्द्र (1114-1115 ई.) थे।

एक तरफ तो इन्हें दुर्दान्त गौड़ राजाओं से लोहा लेना पड़ता था जो मौका पाते ही कान्यकुब्ज को हड़प लेने को तत्पर रहते थे; इनके पास हाथियों की प्रचण्ड सेना थी। दूसरी ओर महमूद के सेनापतियों से निरन्तर टक्कर लेनी पड़ती थी। गोविन्दचन्द्र के घोड़ों की टाप पंजाब के किनारे से लेकर बंगाल की पश्चिमी सीमा तक निरन्तर सुनायी पड़ती थी। अपनी प्रशस्तियों में उसने अपने को उस भूमि का अधिकारी घोषित किया है, जो उनके निरन्तर दौड़ते रहनेवाले घोड़ों के टाप की मुद्रा से मुद्रित थी[1]? लगभग आधी शताब्दी तक इस प्रबल-पराक्रान्त राजा के शासन में उस एकता का सूत्रपात हुआ जिसका आज भी हिन्दी-भाषी जनता उपभोग कर रही है। गोविन्दचन्द्र के काल में कान्यकुब्ज गौरव फिर से प्रतिष्ठित हुआ। इस राजा ने दक्षिण से बुलाकर बहुत-से ब्राह्मणों को भूमिदान दिया था। विक्रमादित्य की भाँति चन्द्र भी संस्कृत के पक्षपाती थे। यद्यपि वे अपने को परम माहेश्वर कहते हैं तथापि उन्होंने विष्णु मन्दिर भी बनवाये और विष्णु के वे भक्त भी थे। परन्तु इस राजा के काल में प्रोत्साहन बराबर संस्कृत भाषा को और ब्राह्मण धर्म को मिलता रहा। जिस प्रकार गौड़ के पाल राजा और गुजरात के सोलंकी देशभाषा तथा मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे, उस प्रकार का कोई प्रोत्साहन इस दरबार से नहीं मिल रहा था।

अब तक दसवीं शताब्दी तक के जितने दानपत्र प्राप्त हुए हैं उनमें ब्राह्मणों के केवल गोत्र और शाखाओं की ही चर्चा है। ऊपर बताया गया है कि कलचुरि राजा कर्ण ने कुछ दिनों के लिए काशी, सरयूपार और उत्तरी बिहार के चम्पारण्य भू-भाग पर राज्य किया था। सन् 1077 ई. का एक कलचुरि दानपत्र गोरखपुर जिले के काहल नामक ग्राम में प्राप्त हुआ है, जिसमें प्रथम बार ब्राह्मणों के गोत्र-प्रवर के साथ गाँव के नाम का भी उल्लेख है। यहाँ प्रदेश का नाम नहीं मिलता, सम्भवतः वह बिना निर्देश के भी समझ लिया जाता था। उन दिनों केवल गाँव का नाम मिलता है। सरयूपारी ब्राह्मणों में आज भी गाँव के नाम से परिचय देने की प्रथा है जो सम्भवतः त्रिपुर या तेवार के स्मृति रूप में जी रही है। संवत् 1166 अर्थात् सन् 1109 ई. के गोविन्दचन्द्र वाले दानपत्र में भी गुणचन्द्र को भट्ट ब्राह्मण गागू का पौत्र, रिल्हे का पुत्र और भट्ट कवड़ ग्राम का निवासी बताया गया है। बाद में यह प्रथा खूब तेजी से चल पड़ी। इसके बाद की प्रशस्तियों में देश का नाम भी जुड़ा मिलता है। गुजरात के कुमारपाल की प्रशस्ति (सन् 1151 ई.) में 'नागर' ब्राह्मण का उल्लेख है। गाहड-

1. दुर्वारस्फारगौडद्विरदवरघटाकुम्भनिर्वेदपीनो [illegible]

—1109 ई. का दानपत्र (एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द 18, पृ. 15)

वालों के दानपत्रो में ठक्कुर और राउत ब्राह्मणो की चर्चा मिलती है। 'राउत' शब्द से ध्वनि निकलती है कि ये ब्राह्मण कभी 'राजपुत्र' का सम्मान पानेवाले थे। महमूद के आक्रमण के पहले गजनी और कश्मीर मे ब्राह्मणों के राज्य थे और पजाब मे ब्राह्मण राजा थे। सम्भवतः ऐसे ही किसी राजवंश के ब्राह्मण 'राउत' कहे जाते होंगे। जो हो, ये उपाधियाँ प्रदेशवाचक नही कही जा सकती, यद्यपि इनमे भी पुराने गौरव की स्मृति बचाने का प्रयत्न है जो विभेद का एक कारण बना रहा है। इस काल के बाद गोत्र और प्रवर का स्थान गौण हो जाता है और प्रदेशवाची विशेषण प्रधान हो जाता है। सन् 1226 ई. के एक परमार दानपत्र मे पण्डित, दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी आवरिथक आदि उपाधियुक्त नाम मिलने लगते हैं (E. 9 IV, P. 108, 121) और सन् 1177 ई के जयचन्द्र के दानपत्र मे प्रथम बार ब्राह्मणों के नाम के आगे (E. 9. IV, P. 129) सम्मान-सूचक 'पण्डित' शब्द का व्यवहार पाया जाता है। कई जगह केवल उसका सक्षिप्त रूप पं. मिलता है जो आज भी हिन्दीभाषी क्षेत्रों मे प्रचलित है।

इसी समय से ब्राह्मणों के अनेक जातिवाचक विशेषणों का प्रयोग मिलने लगता है। जहाँ पहले गोत्र और प्रवर ही व्यावर्त्तक समझे जाते थे, वहाँ अब देश-वाचक अध्ययन-सूचक, ग्राम-निर्देशक और सम्मान-सूचक विशेषणों की चर्चा आने लगती है। परवर्त्ती काल मे दुवे, चौवे, मिसिर, सुकुल, उपाध्याय, नागर, गौड़ आदि विशेषणों मे इन्ही विभिन्न अर्थ के विशेषणों का प्रयोग है। ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के दानपत्रो मे इन विशेषणो का प्रयोग पहले बहुत थोड़ी मात्रा मे मिलता है, बाद में अनिवार्य रूप में आने लगता है। ऊपर जयचन्द्र देव के जिस दानपत्र की चर्चा की गयी है उसमे एक ब्राह्मण के नाम के साथ 'द्विवेद' उपाधि है। एपीग्राफिका इण्डिका की 19वी जिल्द (पृ. 353) में छपे एक दानपत्र मे एक उपाधि 'कर्णाट द्विवेद ठक्कुर' है जो प्रदेश, शिक्षा और पूर्ववर्त्ती अधिकार—तीनों की सूचना देता है।

इस प्रकार इस काल मे पढ़े-लिखे ब्राह्मणों का प्रयत्न यह था कि वे अपनी पूर्ववर्त्ती भूमि की स्मृति बनाये रखे और अपने इर्द-गिर्द की जनता से अपने को विशेष समझते रहें। यही हाल उन क्षत्रिय राजाओ का भी था जो बाहर से आकर नया राज्य अधिकार कर लेने के बाद स्थानीय लोगों से अपने को भिन्न और श्रेष्ठ मानते थे। उत्तरी भारत पर निरन्तर विदेशी जातियों के हमले होते रहे और राजलक्ष्मी ने पुराने क्षत्रियों का साथ कई बार छोड़ दिया था। ये क्षत्रिय कृषि और कारबार में लग गये थे। आजकल के उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार मे बसनेवाली अधिकाश बनिया जातियाँ इन्ही हारे हुए क्षत्रियों की वंशज हैं। इन कृषिजीवी और तुलाजीवी जातियो से अपनी भिन्नता बताने के लिए ही 'राजपुत्र' या 'राजपूत' विशेषण का उद्भव हुआ। इस प्रकार संयोगवश काशी कान्यकुब्ज की शासक जाति भी अपने को जनता से भिन्न और श्रेष्ठ समझती थी और विद्वान् ब्राह्मण भी अपने को जनता से भिन्न और श्रेष्ठ

समझते थे। परिणाम यह हुआ कि नवीं शताब्दी के प्रतीहार राजाओं से आरम्भ करके 12वीं शताब्दी तक शासन करनेवाले गाहड़वार राजाओं तक ने लोक-भाषा और लोक-जीवन की उपेक्षा की। संस्कृत को इस दरबार में पर्याप्त मान मिला और इस काल में काशी भारतवर्ष की सांस्कृतिक राजधानी बनी रही। यहाँ के पण्डितों के लिखे निबन्धग्रन्थ भारतवर्ष के दूसरे प्रदेशों के अधिवासियों के लिए मार्गदर्शक होते रहे। गाहड़वार राजा यद्यपि अपने को 'माहेश्वर' कहते हैं पर वे उतने ही 'वैष्णव' भी थे। वे लक्ष्मी के उपासक थे। उनकी प्रशस्तियों के आरम्भ में लक्ष्मी की स्तुति हुआ करती है। यह स्तुति घोर शृंगारी भाषा में है जो उस काल की भक्ति के स्वरूप की सूचना देती है।[1] वस्तुतः ये लोग स्मार्त्त थे। इनके काल से काशी स्मार्त्तों का केन्द्र बनी और 'माहेश्वर' पुरी भी बनी रही। इस प्रदेश के ब्राह्मणों की प्रतिभा का उत्तम रूप हमें संस्कृत-साहित्य में मिल जाता है पर देश की साधारण जनता की बोल-चाल की भाषा में क्या लिखा जा रहा था इसका कोई परिचय नहीं मिलता। इस प्रदेश के बाहर के छिटके-फुटके प्राप्त साहित्य के आधार पर ही कुछ अनुमान किया जा सकता है।

महमूद ने कई बार आक्रमण करके उत्तरी भारत को आतंकित कर दिया था। इसलिए धर्मभीरु ब्राह्मण परिवार उत्तर भारत को छोड़कर ऐसे स्थानों में जाने का प्रयत्न करने लगे, जहाँ उन्हें संरक्षण प्राप्त हो सके और वैदिक यज्ञ-याग की क्रिया निर्विघ्न चलती रहे। राज्यपाल के पराजय के बाद अन्तर्वेद में अराजकता फैल गयी थी। इस क्षेत्र के ब्राह्मण सदा उत्तम और पवित्र माने जाते थे। बंगाल के सामन्त या बल्लालसेन ने, जिसका राज्यकाल सम्भवतः 11वीं शताब्दी के अन्त में और बारहवीं के आरम्भ में था, कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को अपने देश में बसाया, उड़ीसा के केसरी राजाओं ने भी कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को अपने राज्य में बसाया। इसी प्रकार गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं के बारे में भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने उत्तर के ब्राह्मणों को बुलवाया था। कुछ ब्राह्मण अपनी इच्छा से दूर-दूर जाकर बसे। इस प्रकार इस काल में एक ओर जहाँ देश की राजशक्ति खण्ड-विच्छिन्न होने लगी वहाँ वेदाध्यायी और संस्कृत विद्या के संरक्षक ब्राह्मणों का भी नाना स्थानों में विभाजन होने लगा। नये प्रदेशों में बसे ब्राह्मण अपने को उस स्थान के लोगों से भिन्न समझने लगे और अपने मूल निवास-स्थान की स्मृति बनाये रखने के लिए अपने नामों के साथ अपने प्रदेश के नामों का भी उल्लेख करने लगे। राज्यों के उलट-फेर के साथ इन ब्राह्मणों को स्थान बदलना पड़ता था। इसलिए वे और भी दृढ़ता के

1. ओम् परमात्मने नमः ॥
अकुण्ठोत्कण्ठवैकुण्ठकण्ठपीठलुठत्करः।
संरम्भ सुरतारम्भे स श्रियः श्रेयसेऽस्तु वः।

साथ अपने मूल वासस्थानों की स्मृति अपने नाम से जोड़े रहना चाहते थे। दक्षिण उन दिनों अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित स्थान था। इसलिए उत्तर के अनेक ब्राह्मण परिवार दक्षिण की ओर चले गये और उधर ही रहने लगे। अवस्था परिवर्तन के साथ-साथ इनमें से कुछ फिर उत्तर की ओर आ गये। इनके साथ अपना भेद बताने के लिए उत्तर के पुराने ब्राह्मणों ने और भी नये विशेषण जोड़े। इस प्रकार ब्राह्मणों की अनेक उपजातियाँ और भेदोपभेद बनते गये। क्षत्रिय शक्ति भी निरन्तर विभाजित हो रही थी और इन उच्च वर्णों के इस प्रकार भेदोपभेदजनित सावधानी का असर निचली श्रेणियों पर भी पड़ रहा था। इस प्रकार दसवीं शताब्दी के बाद जाति-पाँति की व्यवस्था तेज़ी से दृढ़-तर होती गयी और निरन्तर भेद-विच्छेद की ओर देश को ढकेलती चली गयी। इस प्रकार यह एक विचित्र-सी बात है कि जाति-पाँति को तोड़नेवाली संस्कृति के आक्रमण ने इस देश के समाज में जाति-पाँति का भेद-भाव और भी अधिक बढ़ा दिया।

शैव-साधना के पीछे काम करनेवाली राजशक्तियाँ

दसवीं शताब्दी के अन्त तक दक्षिण में जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था। पाण्ड्य और चोल राजाओं ने जैन गुरुओं, मन्दिरों और विहारों को दान दिया था। मैसूर के गंग भी जैन धर्म के अनुयायी थे। जैन पण्डितों की विद्वत्ता और तपस्या ने उन दिनों के दक्षिणी राजाओं को आकृष्ट किया था। लेकिन आठवीं शताब्दी के बाद से ही जैनों का प्रभाव घटने लगा। कहते हैं कि सबदर नामक शैव साधु ने पाण्ड्य राजाओं के राज से जैन धर्म को उखाड़ दिया और एक दूसरे साधु अप्पर ने पल्लव-राजाओं के राज्य से भी जैन धर्म की महिमा कम कर दी। यह आठवीं शताब्दी की बात है। दसवीं शताब्दी के चोल राजा केवल कट्टर शैव ही नहीं हो गये, उन्होंने जैनों पर अत्याचार भी किया। यह विश्वास किया जाता है कि चोलों ने जैनों के दमन के लिए अपनी राजनीतिक शक्ति का उपयोग भी किया। आठवीं शताब्दी के अन्त से दसवीं शताब्दी के अन्त तक दक्षिण के राष्ट्रकूट जैन धर्म के प्रेमी रहे और उनके प्रयत्न से जैन धर्म का बहुत अधिक प्रचार हुआ। मैसूर के गंग राजा तो जैन थे ही। राष्ट्रकूटों का अन्तिम राजा चतुर्थ इन्द्र सुप्रसिद्ध महाराजा कर्ण का पुत्र था और उसकी माता गंग-वंश की राजकुमारी थी।

इसीलिए इन्द्र बहुत ही धर्मप्रवण राजा हुआ। जब चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों पर विजय प्राप्त की तो इन्द्र ने सल्लेखन व्रत के द्वारा अपने जीवन का अन्त कर दिया। इस प्रकार दक्षिणी महाराष्ट्र में दसवीं शताब्दी के अन्त तक जैन धर्म फलता-फूलता रहा। परन्तु पच्छिमी चालुक्य कट्टर शैव थे और उन्होंने जैन प्रभाव को धो-पोंछ देने का प्रयत्न किया। कलचुरियों ने चालुक्यों को परास्त किया और सम्भवतः इस झगड़े के मूल में जैन धर्म का दमन ही प्रधान कारण था, क्योंकि कलचुरि सरदार विज्जन कलचुरि स्वयं जैन था। अनुमान किया जा सकता है कि कलचुरियों ने इस क्षेत्र में जैन धर्म को फिर से प्रतिष्ठित करना चाहा होगा। यह सन् 1159 ई. की बात है। परन्तु उनका राज्य स्थायी नहीं हुआ और शैव धर्म लिंगायत रूप में फिर से इस क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गया।

कर्नाटक में बहुत दिनों से गंग वंश का राज्य चल रहा था। सन् 1004 ई. में तंजोर के चोलों ने इनसे राज्य छीन लिया। जैसा कि पहले ही बताया गया है कि गंग जैन थे, किन्तु चोल इस काल के कट्टर शैव हो गये थे। अगर चोलों का राज्य स्थायी हो गया होता, तो सम्भवतः इस क्षेत्र से भी जैन धर्म के पैर उखड़ जाते। पर थोड़े दिन बाद ही *गंगवाड़ी* में होयसल राजाओं का राज्य हो गया जो जैन धर्म के अनुयायी थे। इस वंश का विश्ववर्धन नामक राजा रामानुज के प्रभाव से वैष्णव धर्म का अनुयायी हो गया और तब से मैसूर की भूमि में वैष्णव धर्म ने दृढ़तापूर्वक पैर जमा लिया है। इस प्रकार मैसूर में वैष्णव राजा के प्रतिष्ठित होने के कारण, तमिल देश में चोल राजाओं द्वारा दमन किये जाने के कारण और दक्षिणी महाराष्ट्र में लिंगायतों के द्वारा स्थान-च्युत किये जाने के कारण दक्षिण भारत में जैन धर्म ने अन्तिम साँस ली। यद्यपि कुछ छिटपुट अनुयायी उसके बाद में भी रह गये। परन्तु बाद में जैन धर्म वहाँ कभी सिर उठाने के काबिल नहीं रह गया। आन्ध्र देश में भी जैनों की परम्परा से ज्ञात होता है कि शैव धर्म ने ही वहाँ जैन धर्म को प्रभावहीन बनाया। पूर्वी चालुक्य राजे परवर्ती काल में शैव कवियों के आश्रय दाता बने। इन्हीं कवियों में से सुप्रसिद्ध *नन्नय* कवि है जिसने महाभारत का तेलुगु में अनुवाद किया और पौराणिक शैव धर्म की महत्ता स्थापित की। पूर्व के गंगवंशी राजे भी शैव थे और वारंगल के काकतीयवंशी राजे भी शैव ही थे। इन सब शक्तियों ने दक्षिण में जैन धर्म को प्रभावहीन बनाने में योग दिया। ऐसा लगता है कि दसवीं शताब्दी का सबसे प्रभावशाली धर्म शैव मत ही था। दक्षिण से उसने जैन धर्म को एकदम उखाड़ दिया और उत्तर में बचे-खुचे बौद्ध प्रभाव को आत्मसात् कर लिया। उत्तर के नाथपन्थ में अनेक बौद्ध सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हो गये, जिसकी चर्चा हम आगे कर रहे हैं।

इस बात का विश्वास करने के प्रचुर कारण हैं कि मुस्लिम आक्रमण के समय उत्तर भारत में ऐसे अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जो ब्राह्मण धर्म से टूट

पड़ते थे। उन दिनों बौद्ध और कापालिक तो वेद विरोधी थे ही, शैवों के अनेक मतों को भी वेद विरुद्ध माना जाता था। गोरखपन्थियों में प्रसिद्ध है कि गोरखनाथ के पहले स्वयं गोरखनाथ के चलाये हुए बारह सम्प्रदाय थे और शिवजी के चलाये हुए बारह या अठारह सम्प्रदाय थे। इनमें से कई को नष्ट करके गोरखनाथ ने छह अपने और छह शिवजी के सम्प्रदायों को लेकर बारहपन्थी योग-मार्ग का प्रवर्त्तन किया। इस परम्परा में यह स्पष्ट है कि गोरखनाथ के पहले उत्तर-भारत में अनेक शैवमत प्रचलित थे जिनमें से केवल छह को गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय में लेने के योग्य समझा था। अपने 'नाथ सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ में मैंने दिखाया है कि इस जनश्रुति का क्या अर्थ हो सकता है। गोरखनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे, जो वेदबाह्य होने के कारण वैदिक धर्म के अनुयायी नहीं माने जाते थे। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में प्रविष्ट हुआ तो देश दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मसाधनामूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैवमार्ग और शाक्तमार्ग वेदानुयायी थे, वे बृहत्तर ब्राह्मण प्रधान हिन्दू समाज में मिलते गये और निरन्तर अपने को वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। यह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे, जो वेदबाह्य होकर भी वेदसम्मत योग-साधना या पौराणिक देव-देवियों की उपासना किया करते थे। ये अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरखनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया होगा। एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे और दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे; परन्तु गोरक्ष-सम्मत योगमार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इन्हीं दोनों दलों में से कुछ को गोरखनाथ ने अपने बारहपन्थी मार्ग में चुन लिया होगा। वर्तमान नाथपन्थ के शाक्त मत भी है, लकुलीश पाशुपतों का मत भी है, वैष्णव योगमार्ग और वाममार्गी और कापालिक मत भी है। इनका विस्तारपूर्वक विवेचन मैंने उपर्युक्त पुस्तक के तेरहवें अध्याय में किया है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि दक्षिण भारत की भाँति उत्तर भारत में भी शैवमत उन दिनों सबसे प्रबल धर्म मत था और इनमें भी नाथपन्थी योगियों का प्रभाव सबसे अधिक था।

परन्तु शैव धर्म उत्तर भारत में उतना आक्रामक नहीं हुआ, जितना दक्षिण में था। इसका कारण यह था कि उत्तर भारत पर मुसलमानों के हमले निरन्तर हो रहे थे और वहाँ की साधारण जनता और राजशक्तियों में इस सम्पूर्ण विपरीतधर्मी संस्कृति के प्रति शंका का भाव उत्पन्न हो गया था। इसलिए दक्षिण में जो धर्म मत अत्यन्त आक्रामक रूप में प्रकट हुए वे भी उत्तर भारत में एक साथ बिना किसी विरोध के फलने-फूलने लगे। राजस्थान के अनेक राजवंश शैव धर्म के अनुयायी थे। मेवाड़ के बाप्पा रावल लकुलीश पाशुपत मत के अनुयायी थे। उनके नाम के साथ लगा हुआ 'रावल' शब्द सम्प्रदाय वाचक 'लाकुल' शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। इस दरबार में जैनों और वैष्णवों का

अहिंसक रहना उनकी साधना की प्रथम प्रक्रिया थी। इन वैष्णवों के दो रूप हैं—एक तो निर्गुण मार्गी, दूसरे सगुण मार्गी। सामाजिक बातों में इनमें मतभेद हैं। इसी बात में वे एक दूसरे पर आक्रमण भी करते हैं। परन्तु धर्म-साधना क्षेत्र मे दोनो की प्रेरक शक्ति भक्ति ही है।

दोनों मे प्रधान भेद रूपोपासना के विषय में है। दूसरे श्रेणी के अर्थात् सगुण मार्गी भक्त ठोस रूप के उपासक हैं। सूरदास कहते है—

सुन्दर मुख की वलि वलि जाउँ।
लावन-निधि, गुन-निधि; शोभा-निधि,
निरखि निरखि जीवत सब गाउँ॥
अङ्ग अङ्ग प्रति अमित माधुरी,
प्रगटित रस रुचि ठाउँ ठाउँ॥
तामें मृदु मुसकानि मनोहर,
न्याय कहत कवि मोहन नाउँ॥
नैंन सैंन दं दैं जव बोलत,
ता पर हो विन मोल विकाउँ।
सूरदास प्रभु मदन मोहन छवि
यह शोभा उपमा नहि पाउँ॥

सूरदास के प्रभु की इस मदन मोहन छवि की उपमा सचमुच संसार मे नही है। भक्त केवल उस 'कुटिल वियूरे कच' वाले मुख के ऊपरी सौन्दर्य पर ही इतना अधिक भाव-मुग्ध हुआ हो, यह बात संसार की साधना मे अद्वितीय है। यह भाव एकमात्र भारतीय वैष्णव कवियों की साधना में सर्वप्रथम और शायद सबसे अधिक अन्त मे, अभिव्यक्त हुआ है। वैष्णव कवियों को दो श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है। एक में वे भक्त है जो भक्त या साधक पहले हैं, कवि बाद में। दूसरी श्रेणी मे उन कवियो को रखा जा सकता है जो कवि पहले हैं भक्त वाद में। सूरदास और तुलसीदास पहली श्रेणी मे आते है; देव, बिहारी और मतिराम दूसरी मे। सूरदास उपरिलिखित भजन मे कहते हैं कि इस 'लावण्यनिधि, शोभानिधि, गुणनिधि' गोपाल को कवि 'मोहन' कहते है, यह बात उचित ही है। पर स्वयं सूरदास, कवि की उक्ति तक ही आकर नही रुक सकते, वे साधक हैं, वे आगे बढते है—'नैंन सैंन दै दै जब बोलत ता पर हौ विन बोल विकाऊँ!' कवि और साधक वैष्णव यही आकर अलग हो जाते है। कवि इस रूपातीत को एक नाम देकर, एक मोहक आख्या देकर, अपने कवि-स्वभाव के औचित्य की सीमा तक जाकर रुक जाता है। साधक आगे बढता है और उत्सर्ग कर देता है अपने को उस मनोहारी सैंन पर, उस रमणीय बोल पर—सो भी बिना मोल !

वैष्णव कवियो के इन दो रूपों को न समझने के कारण आज का समालोचक नाना प्रकार की कटूक्तियो से साहित्यिक वातावरण को क्षुब्ध कर रहा है।

आज के कार्य-बहुल काल में मनुष्य की ललित भावनाएँ खण्ड-भाव से प्रकट हो रही हैं। किसी को इस समय एक समग्र साहित्य को न तो समझने की फ़ुरसत है और न रचना करने की। काव्य में यह लिरिक का युग है, कथा में छोटी कहानी का और चित्रकला में विच्छिन्न चित्रों का, पर इसलिए इन विच्छिन्न चेष्टाओं को विच्छिन्न भाव से देखना तो वास्तविक देखना नहीं है। इस युग की काव्य-चेष्टा को समझने के लिए अतीत युग की काव्य-चेष्टा का ज्ञान आवश्यक है। इस देश का साहित्य समझने के लिए देशान्तर के साहित्य को समझने की जरूरत है—विच्छिन्न काव्य-चेष्टा के वर्तमान युग को समझने के लिए देशान्तर और कालान्तर नितान्त आवश्यक हैं। पर प्राचीन युग के साहित्य को समझने के लिए केवल प्राचीनतर साहित्य ही आवश्यक नहीं है, आधुनिक मनोवृत्ति का अध्ययन भी आवश्यक है। हमें अगर सूरदास या नन्ददास को समझना है तो उसका प्रधान उपकरण हमारी आधुनिक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति से उस युग की मनोवृत्ति का ठीक मेल नहीं भी हो सकता। आज सौन्दर्य और लालित्य का मानदण्ड बदल गया है। इस मानदण्ड से प्राचीन लालित्य को समझना सब समय सुलभ नहीं हो सकता। इस मनोवृत्ति को लेकर अगर प्राचीन कविताओं का अध्ययन किया जायगा, तो अनर्थ की सम्भावना है। उपनिषद् के एक मन्त्र में कहा गया है 'आत्मा को जानकर परमात्मा को जानना चाहिए।' इस कथन को बदलकर कहा जा सकता है कि अभिनव मनोवृत्ति को समझकर प्राचीन मनोवृत्ति को समझना चाहिए।

मि. रोसेनकोपे ने सन् 1914 ई. में (Lectures on Aesthetics, London University) कहा था कि 'सन् 1860 ई. से इंग्लैण्ड के सर्वसाधारण का चित्त परियों के रम्य लोक से हटकर सरल सहज कल्पना और मानवता की ओर अग्रसर हुआ है।' इस वक्तव्य को कुछ बदलकर भारतवर्ष के बारे में भी कहा जा सकता है। कम से कम इस शताब्दी में भारतीय चित्त भी कृष्ण और राधिका के विचार-ललित और भाव-मधुर गोलोक से उतरकर सहज मानव-गृह की ओर गया है। वस्तुतः आज भारतवर्ष का चित्त भी संसार के अन्य देशों की तरह एक महापरिवर्तन की ऊर्मि-प्रत्यूर्मि से आन्दोलित हो उठा है। एक ही साथ इस देश में इतने तरह की विचारधाराएँ आ टकरायी हैं कि उनके आवर्त-दुर्धर तरंगराजि में भारतीय चित्त कुछ हतबुद्धि-सा हो गया है। यूरोप में चौदहवीं शताब्दी में ही मानव चित्त स्वर्ग से हटकर मर्त्य की ओर अग्रसर हो गया था। मर्त्य की ओर आकर भी वह एक बार विस्मृत परीलोक की ओर धावित हुआ था। बीच में उसे तैयार होने का पर्याप्त अवसर मिला था। परन्तु यह सौभाग्य भारतवर्ष को न प्राप्त हो सका। एक ही साथ इतने वादों की बाढ़ यहाँ आयी कि आज का नव-शिक्षित समालोचक चकित-थकित की भाँति कर्तव्यमूढ़ हो उठा है।

भारतीय समालोचक एक बार टेनिसन-जैसे धार्मिक—भावापन्न कवि की

कविता से मुग्ध होकर वैष्णव कवियों की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखता है, एक बार कीट्स की अस्तमित-तत्वा आनन्दमयी उक्तियों से चकित होकर देव और बिहारी में उस भाव को खोजता है, एक बार बायरन के तत्त्व-गम्भीर आख्यान-काव्यों का आनन्द लेकर कबीर और दादू की ओर दौड़ता है, एक बार ईसाई भक्तों की गलदश्रु—भावुकता से विमुग्ध होकर रसखान और घन आनन्द की ओर ताकता है और अन्त में सर्वत्र निराश होकर क्षुब्ध हो उठता है। नवीन आलोचक इस महा विकट युग के सबसे अधिक रूप के भीतर अरूप की सत्ता खोजने में अपना समय नष्ट करता है। पर हाय, नाना अभिनव वादों के तरंगा-घात से जर्जर उसकी चित्त-तरी अधिकाधिक भ्रान्त हो उठती है!

एक बार इंग्लैण्ड में ग्रीक नाटकों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन हुआ था। कहा गया था कि वह असमीचीन और अस्वाभाविक है, अमार्जित और कुरुचि-पूर्ण है। पर शीघ्र ही इस भूल का सुधार हुआ, अंग्रेज मनीषियों ने आलोचना-त्मक प्रबन्धों से अंग्रेज मस्तिष्क को उस सौन्दर्य का अधिकारी बनाया। ग्रीक नाटकों को ह्यूमेनिस्टिक या मानवीय-रस-मूलक कहा गया था। कहना न होगा कि आज का यूरोपीय साहित्य कम मानवीय नहीं है, पर ग्रीकों के मानव-आदर्श और वर्त्तमान युग के मानव-आदर्श एक ही नहीं हैं। ब्रजभाषा कवियों की रूपोपासना को मानवीय कहा जा सकता है, ब्रज का कवि कभी कृष्ण या राधिका के रूप में अमानव-रस का आरोप नहीं करता। वह केवल एक बार स्वीकार कर लेता है कि उसका प्रतिपाद्य अतिमानव या सुपर-ह्यूमन है, पर इस स्वीकारोक्ति से उसके रसबोध में कहीं भी कमी नहीं आती। वह ईसा मसीह के भावुक भक्तों की भाँति सदा अपने प्रभु को दैवी प्रतीक या दैवी मध्यस्थ नहीं समझता। कहें तो कह सकते हैं कि ब्रज का कवि भी मानवीय है। पर ग्रीक कवि, आज के नाटककार, और ब्रजभाषा के कवि की मानवता की कल्पना में आकाश-पाताल का अन्तर है। तीनों तीन चीजें है—एकदम अलग-अलग।

ग्रीक नाटकों और मूर्त्तियों के साथ प्राचीन ग्रीकों की रीति-नीति, आचार-व्यवहार जटिल भाव से जड़ित थे। ग्रीक आर्ट केवल आर्ट के लिए नहीं था, वह ग्रीकों का जीवन था, ग्रीकों का उत्सव था, ग्रीकों का सर्वस्व था। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि हम आजकल नाटक को जिस दूरस्थ साक्षी की भाँति देखते है, ग्रीक उस तरह उसे नहीं देखते थे। ग्रीक दर्शक अभिनेताओं से इतने पृथक् नहीं होते थे। एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ ने नाट्यमंच की आलो-चना के प्रसंग में कहा था कि वे जापानी क्लासिकल नाटकों की एक विशेषता देखकर आनन्दित हुए थे। अभिनेता सजकर दर्शकों के बीचोबीच से होकर रंग-मंच की ओर अग्रसर होते थे। यह बात मानो यह घोषित कर रही थी कि अभिनेता दर्शकों से दूर की चीज नहीं हैं। ग्रीक नाटकों में शायद ऐसा नहीं होता था, पर ग्रीक दर्शक निश्चय ही उसे अपने जीवन का एक स्वाभाविक अंग समझता था।

बौद्ध या हिन्दू देवताओं की मूर्त्तियों का अपूर्व कारु-कौशल उस प्रकार का हो ही नहीं सकता था, शिल्पकार उसे अपने तन-मन और जीवन से न रचता। व्रजभाषा के कृष्ण की सारी लीला भी इसी तन-मन और जीवन के ईंट-चूने-गारे से बनी है। कवि ने अपनी मनुष्यता का सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग उस भव-मधुर रुचिर-छवि की रचना में किया है। वह एकान्त दूर से निरीक्ष्यमाण चित्र नहीं है, वह अन्तर की प्रेम-स्रोतस्विनी की ठोस जमाहट है। वहीं आकर उसकी सारी धारा सार्थक होकर रूपान्तरित हो गयी है। वह किसी तत्त्ववाद या व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती, वह अपने-आपमें पूर्ण है; पर आज का नाटक या काव्य या शिल्प न तो उस जीवनमय, किन्तु नित्य-नूतन ग्रीक मानवीयता के साथ मेल रखता है और न इस मनोमय, किन्तु परिवर्त्तनातीत भाव मधुर वैष्णव मानवीयता का सादृश्य रखता है। वस्तुतः आज की ललितकला का कोई एक रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। बहुत्वधर्मा, नानामुखी, सापेक्ष-सापेक्षा इस कला का रूप भविष्य ही निर्णय करेगा।

इसीलिए जब सूरदास रूपातीत को 'मोहन' कहना कवि के लिए 'न्याय' बताते हैं तो उनकी बात सहज ही समझ में आ जाती है। यह रूप अन्य रूपों की भाँति आगे बढ़ने का मार्ग नहीं दिखाता, यहाँ आकर सारी गति रुद्ध हो जाती है, सारी वृत्तियाँ मुग्ध हो जाती हैं, सारी चेष्टाएँ व्यर्थता के रूप में सार्थक हो जाती हैं। कवि की सारी सार्थकता इस व्यर्थता में ही है। यह रूप मोहन है। मोहनेवाला, अर्थात् जहाँ जाकर सारी मानसिक वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं। तुलसीदास एक जगह कहते हैं—

> सखि! रघुनाथ रूप निहारु।
> सरद बिधु रवि सुमन मनसिज मान भंजन हारु।
> स्याम सुभग सरीर जनु मन-काम पुर निहारु॥
> चारु चन्दन मनहुँ मरकत सिखर लसत निहारु।
> रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गज मनि हारु॥
> मनहुँ सुर धुनि लसत घन बिच तिमिर भंजनि हारु।
> बिमल पीत दुकूल दामिनि-दुति बिनिन्दनि हारु॥
> बदन सुषमा सदन सोभित मदन मोहनि हारु।
> सकल अंग अनूप नहिं कोउ सुकवि बरननि हारु॥
> दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनि हारु।

यहाँ भी कवि के उसी रूप का उल्लेख है। ऐसा कोई कवि नहीं जो उस 'सकल अंग अनूप' का वर्णन कर सके। उसके लिए एक शब्द ही उपयुक्त है और इसका उपयोग वह तब करता है जब उसकी उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं, उत्प्रेक्षाएँ स्तब्ध हो पड़ती हैं, रूपक विगत-स्पर्द्ध हो उठते हैं। उस समय वह एक ही बात कहता है—'बदन सुषमा सदन सोभित मदनमोहनि हारु।' और यहीं आकर सारा कवित्व पर्यवसित हो [illegible] है। [illegible] बार कवि

को भाव-मंदिर कर देता है उसे मदन कहा जा सकता है। मदन की यह विशेषता है कि उससे मोह का आवेश बढ़ता है, नयी-नयी कल्पनाएँ, नये-नये रूपक दर्शक को विह्वल कर देते हैं। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सांसारिकों के रूप में मदन का भाव है—वह मादक होता है, उससे जड़ता आती है। पर कृष्ण का रूप 'मदन मोहन' है, वह मादकता को भी मोहित कर देता है। उस मोह का रूप तम.-प्रकृतिक नहीं है, वह सत्व-प्रकृतिक है[1]। वैष्णव कवि की वाणी का सारा ऐश्वर्य इस 'मदन मोहनि हारु' छवि तक आकर हत-चेष्ट हो जाता है, साधक एक कदम और आगे बढ़ता है। यह बिना किसी कारण, बिना किसी लाभ के, बिना किसी उद्देश्य के, अपने को उस पर निछावर कर देता है, अपनी सत्ता उसी में विलीन कर देता है, यही उसका सुख है, यही उसकी चरम आराधना है—'दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनि हारु।' देखनेवाला देखने में ही सुख पाता है—केवल देखने में !

कविवर रवीन्द्रनाथ एक स्थान पर लिखते हैं—"जो लोग अनन्त की साधना करते हैं, जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि जो कुछ देख और जान रहे हैं, वही चरम सत्य नहीं है, स्वतन्त्र नहीं है, किसी भी क्षण में वह अपने आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं कर सकता—यदि वे ऐसा करते होते तो सभी स्वयंभू, स्वप्रकाश होकर स्थिर ही रहते। ये जो अन्तहीन स्थिति के द्वारा अन्तहीन गति का निर्देश करते हैं, वही हमारे चित्त का चरम आश्रय और चरम आनन्द है। अतएव आध्यात्मिक साधना कभी रूप की साधना नहीं हो सकती। वह सारे रूप के भीतर से चंचल रूप के बन्धन को अतिक्रम करके ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रिय-गोचर वस्तु अपने को ही चरम समझने का भान करती है, साधक उस भान के आवरण को भेदकर ही परम पदार्थ को देखना चाहता है। यदि यह नाम-रूप का आवरण चिरन्तर होता तो वह भेद न कर सकता। यदि ये अविश्रान्त भाव से नित्य प्रवहमान होकर अपनी सीमा को आप ही न तोड़ते चलते तो इन्हें छोड़कर मनुष्य के मन में और किसी चिन्ता का स्थान ही न होता, तब इन्हें ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो बैठे रहते, तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे और प्रत्यक्ष सत्यों की भीषण शृंखला में बँधकर मूक और मूर्च्छित हो रहते। इनके पीछे और कुछ भी न देख पाते। किन्तु ये सारे खण्ड वस्तु-समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँधकर खड़े नहीं हो गये। इसीलिए हम अखण्ड सत्य का, अक्षय पुरुष का, सन्धान पाते हैं···"

इस लम्बे उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इसमें रूप के बन्धनात्मक स्वरूप से उतरकर बाधात्मक रूप में प्रकट होने की सुन्दर व्याख्या की गयी है। रूप बन्धन है, पर यह बन्धन रूपातीत को समझने में सहायक है,

1. प्रीति सन्दर्भ, 203-215

रूप चल है पर वह सनातन की ओर इशारा करता है, रूप सीमा है पर उसमें असीम की भाव-व्यञ्जना है। यही रूप जब आध्यात्मिक साधना का विषय हो जाता है तो बन्धन से भी नीचे उतरकर, बाधा का रूप धारण करता है। फिर वह उस राजोद्यान के सिंहद्वार के समान गन्तव्य की ओर इशारा न कर अपने आपको ही एक विषय-बाधा के रूप में उपस्थित करता है। एक सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ ने कहा है कि कला जब देवी-देवताओं की उपासना में नियोजित होती है तो उसमें एकपृष्टता आ जाती है, उसमे प्रतिभा का स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि प्रतिभा नित्य नूतन रूप चाहती है, देवी-देवताओं की मूर्तियों की एक ही कल्पना सदा के लिए स्थिर हो जाती है। रवीन्द्रनाथ स्वयं कहते है—'कल्पना जब रुक-कर एक ही रूप मे, एकान्तभाव से, देह धारण करती है, तब वह अपने उसी रूप को दिखाती है, रूप के अनन्त सत्य को नहीं। इसीलिए विश्व-जगत् के विचित्र और चिर-प्रवाहित रूप के चिर परिवर्तनशील अन्तहीन प्रकाश में ही हम अनन्त के आनन्द को मूर्तिमान देखते है।'

वैष्णवकवि की रूपोपासना

वैष्णव कवि भी रूप के इस पहलू को समझता है। अन्तर यह है कि उसका रूप चरम रूप है जिसकी उपासना मे वह अरूप की परवा नहीं करता। यह रूप कल्पना-प्रसूत नहीं है, बल्कि कल्पना से परे है। रवीन्द्रनाथ का तत्त्ववाद और उपलब्धि एक ही वस्तु है, इसीलिए उनके निकट कल्पना और भक्ति में कभी विरोध नहीं हो सकता है। वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है—अर्थात् जब रूप 'मोहन' हो उठता है, जहाँ सारी चित्तवृत्ति मुग्ध हो जाती है—वही उसकी भक्ति शुरू होती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के उस ऊँचे स्तर तक पहुँचकर रुक जाते हैं जहाँ वह हतचेष्टा हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त-वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना—आत्म निवेदन—में अपना सर्वस्व आहुत कर देता है।

वैष्णव कवि के इस भाव को न समझकर वर्तमान युग के आलोचक उसे 'टाइप' या 'फार्मल' हो जाना कहने लगते। हमें 'टाइप' या 'फार्मल' शब्द से कोई आपत्ति नहीं। मगर यूरोप के पण्डित कभी-कभी कहा करते हैं कि 'टाइप' में आकर आर्ट अवनत हो जाता है, अर्थात् वे इन शब्दों को कुछ अनादर के साथ व्यवहार

करते हैं। इस सम्बन्ध में एक कला समीक्षक का कहना है—"'फार्मल' कहकर शिल्प की अवज्ञा करना इस युग में हमें संयत करना होगा। जिस प्रकार काव्य में, उसी प्रकार चित्र और शिल्प कला में आर्ट (कला) को 'फार्मल' होना ही पड़ता है—किन्तु इसीलिए एकाएक भाव के लिए एक सम्पूर्ण 'फार्म' पा सकना जाति और कला के इतिहास में मामूली बात नही है।"

बात असल में यह है कि जिस जाति ने जिस रूप को निरन्तर मनन के द्वारा एक श्रेष्ठ रूप दिया, वह सौन्दर्य की सृष्टि को विशिष्ट होने से बचाता है। एक जगह हमने चीन की कला के सम्बन्ध मे एक यूरोपियन समालोचक का एक उद्धरण पढ़ा था जिसका भाव यह है कि कला के रस को लगातार जारी रखने मे चीनवालो ने संसार की अन्य किसी जाति से अधिक सफलता पायी है, क्योंकि चीन की कला एक विशेष आकार मे चार हजार वर्षो से बराबर चली आ रही है। कला के विषय मे चीनवालो के बारे मे जो बात कही गयी है वही बात काव्य के विषय में वैष्णव कवियों के बारे में कही जा सकती है। पर जिसलिए एक विशेष आकार-भंगी ग्रहण करने के कारण चीन की कला मे रस का अभाव बताना धृष्टता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की रूपोपासना को भी वैचित्र्य-विहीन कहना अनुचित है।

यह तो हुई टाइप और फार्म की बात। पर कुछ समालोचक इसके विपरीत विचार रखकर भी वैष्णव कवि की रूपोपासना को हेय समझते हैं। वे फ़ार्म और टाइप को स्वीकार कर लेते हैं, पर इस 'फ़ार्म' के साथ चित्तवृत्ति की मुक्ति को स्वीकार नही करते अर्थात् वे कृष्ण और राधा के विशेष रूप के सम्बन्ध मे कोई आपत्ति नही करते। वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि रूपातीत को एक कल्पनातीत रूप मे बांधना पड़ा है, पर साथ ही यह भी निश्चित कर देना चाहते हैं कि इस स्वीकृति 'फार्म' को अमुक-अमुक चित्तवृत्तियों के साथ बांध देना चाहिए। देवी को अगर एक रूप दिया गया है तो उस रूप की परितृप्ति के साधन भी निश्चित होने चाहिए। इसी श्रेणी मे वे पण्डित भी आते है जो राधा और कृष्ण के संयोग शृंगार को त्याज्य समझते हैं। असल में रूप के साथ जब वृत्तियों को बांध देते है तभी वह बन्धन से उतरकर बाधा के रूप मे खड़ा हो जाता है। 'तारा' या 'त्रिपुर सुन्दरी' का रूप भी निश्चित है और साधना-पद्धति भी। पर वैष्णव कवि का रूप तो निश्चित है, किन्तु साधना-पद्धति अनिश्चित! कृष्ण की उपासना पिता, स्वामी, पुत्र, सखा, माता, और प्रेमी आदि नाना रूपो में हो सकती है। वह बन्धन है; पर बाधा नही।

तुलसीदास कहते हैं—

मोहि तोहि नाते अनेक मानिये जो भावै,
ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै।

यही वैष्णव कवियों की रूपोपासना है। रूप के अतीत अरूप सत्ता को वह भूल जाता है, पर इस बन्धन की स्वीकृति को सार्थक करता है चित्तवृत्ति की

मुक्ति में। ठीक उसी प्रकार नदी अपने तटों की सार्थकता अपने स्रोत की मुक्ति मे पाती है। इसीलिए वैष्णव कवि की ठोस रूपोपासना 'पेगन' की रूपोपासना से अलग है।

उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों का विश्वास था कि मानव सभ्यता के प्रथम युग मे मनुष्य ने भय और कौतूहलवश नाना अदृष्ट शक्तियों के नाना रूपों की कल्पना की थी। परन्तु वर्त्तमान शताब्दी के नृतत्त्वशास्त्र के नये आविष्कारों ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। आज संसार की जिन जातियों को आदिम श्रेणी का समझा जाता है, उनमें बिना किसी अपवाद के इस बात का अभाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यो पुरानी जातियों के पुराने इतिहास का प्रकाशन होता जा रहा है, त्यों-त्यों यह बात प्रकट होने लगी है कि भयमूलक रूपों की कल्पना मध्यवर्त्ती स्थिति की उपज है, आदिम की नही। प्रागैतिहासिक युग के चित्रित दीवालों, गुफाओ और शस्त्र आदि के अध्ययन से नृतत्व-वेत्ताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि आदिमानव की रूप-सृष्टि के दो कारण थे। प्रथम यह कि आदिमानव का विश्वास था कि जिस चीज का चित्र बनाया जाता है, वह वस्तुतः बढा करती है; अगर एक हरिण का चित्र बनाया गया, तो वन मे अनेक हरिणों की वृद्धि होगी। एक बादल का अंकित करना आकाश में बादलों की वृद्धि का उपाय समझा जाता था। दूसरा कारण यह था कि आदिमानव चित्रो को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि समझता था। अतएव उसके पास किसी चीज के चित्र रहने का मतलब यह था कि सचमुच उस वस्तु पर उसका अधिकार होगा। जब जे. जी. फ्रेजर ने पहले-पहल इस निष्कर्ष का प्रकाशन किया, तो सारे यूरोप में इसका बड़ा जबर्दस्त विरोध किया गया। कहा गया कि ये स्वप्नप्रसूत विचार है, कपोल-कल्पना है—असत्य है; पर सन् 1903 ई. में जब एस. रेनेक ने लगभग 1200 प्रागैतिहासिक चित्रणो को प्रकाशित किया, तो विरोध ठण्डा पड़ गया। देखा गया कि इन चित्रों में सबके सब दूध देनेवाले पशुओं, हरिणों, घोड़ों और बकरियो के थे। इसी श्रेणी की रूपसृष्टि को तान्त्रिक सृष्टि (मैजिकल क्रिएशन) कहते हैं।

यह देखा गया है कि मनुष्य जब हाथ से चित्र खींचने लगता है, उसके बहुत पहले से ही वह मन मे उसकी कल्पना किये रहता है। इसीलिए तान्त्रिक सृष्टि ही मनुष्य की आदिमानस सृष्टि रही होगी। हिन्दुओं के वेद यद्यपि आदिमानव-सभ्यता के प्रतिनिधि नहीं है; परन्तु वैदिक मन्त्रो में तान्त्रिक सृष्टि के मानव-रूप का आभास हम पाते हैं। जो हो, मनुष्य ने सभ्यता के शिखर पर चढ़ने के लिए जो दूसरी सीढ़ी बनायी वह तान्त्रिक सृष्टि के सर्वथा विपरीत थी। अब उसे धीरे-धीरे अनुभव होने लगा था कि हरिण का चित्र बनाने से ही हरिण नहीं बढ़ते, गाय के अंकित होते ही उसके घर दूध की नदी नही बहने लगती—कोई शक्ति है जो इस तान्त्रिक नियम में बाधा पहुँचा रही है। यह शक्ति भयानक है। वह गायों का संहार कर सकती है, वह वन को निःसत्त्व बना देती है, वह घर के बच्चों पर भी हमला कर सकती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता की दौड़ में आगे बढ़ने लगा,

ज्यों-ज्यों वह इस शक्ति की विकरालता का अनुभव करने लगा। केवल विकरालता ही नहीं, उसने देखा कि यह शक्ति अनेकरूपा है—इसकी पूजा होनी चाहिए। यहीं से भयमूलक रूप की सृष्टि आरम्भ हुई।

मनुष्य का मन कुछ और आगे बढा। उसने देखा, विकराल शक्ति की पूजा हो रही है, तो भी भयजनक अवस्था का अन्त नहीं होता। उसने अनुभव किया कि केवल विकराल शक्ति भर ही सब कुछ नहीं है, कुछ और है, जो इसकी पूजा के बिना भी संसार की रक्षा कर रहा है और पूजा होने पर संसार का नाश कर सकता है। वह अकेले ही पैदा कर सकता है, अकेले ही रक्षा कर सकता है, अकेले ही संहार भी कर सकता है। हवा उसी के इशारे पर नाच रही है, समुद्र उसी के इशारे पर मौन गम्भीर मुद्रा से आकाश की ओर ताक रहा है, सूर्य उसी के इंगित पर जल रहा है। वह महान् है, वह ब्रह्म है, वह व्यापक है।

ब्रह्म का रूप

और उसका रूप? ससार मे ऐसा क्या है, जो उसका रूप न हो? क्या है, जो ठीक-ठीक उसका रूप बता सके? वह यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं,—नेति, नेति, नेति! मगर मनुष्य के भीतर का कवि, उसके भीतर का कलाकार, उसमे का मनीषी इसकी सृष्टि करेगा ही, सीधे रास्ते न हो सकेगा, तो टेढ़े से चलकर, भौतिक रूप से काम न चलेगा, तो अभिनव कल्पना के बल पर। वह अनन्त है; पर मनुष्य उसकी अनन्तता को अभिव्यक्त कैसे करेगा। उसके पास क्या है, जो अनन्तत्व को रूप दे सके? है क्यों नहीं। वह जो शंख में एक आवर्त्त है, घुमाते जाओ; पर समाप्त होने का नाम नहीं लेता—न स्थान में और न काल मे—उस आवर्त्त मात्र को अनन्त का प्रतीक क्यों नहीं माना जा सकता? इस आवर्त्त को आधार करके स्वस्तिक और प्रणव की रचना हुई। ब्रह्म शान्त है; पर शान्ति को रूप कैसे दिया जाय? मनुष्य ने उसकी भी कल्पना की। सारांश, उसने अरूप को रूप देने के नाना उपाय आविष्कार किये और यहीं से प्रतीकमूलक सृष्टि का सूत्रपात हुआ।

मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा। परन्तु इस व्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता की कल्पना के कारण मन सदा अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा। धीरे-धीरे उसने ब्रह्म को 'ईश्वर' नाम दिया—ईश्वर अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्यमय। इस ऐश्वर्यबोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा

समझा, अपना उद्धारकर्ता समझा। इस मनोवृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं। परन्तु साथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं। इस मनोवृत्ति को दार्शनिक कहते है। ये दोनों बातें मनुष्य की सभ्यता के विकास मे बहुत बड़ा हाथ रखती है। समय-समय पर इन दोनों वृत्तियों मे कभी यह, कभी वह प्रबल होती रही। इसके फलस्वरूप संसार में नाना प्रकार के धर्म-मत और दार्शनिक मतवाद पैदा होते रहे। इन दोनों मनोवृत्तियों के फलस्वरूप मनुष्य-जाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्त्ति, मन्दिर आदि निर्माण किये; अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे; ललितकला की अभूत पूर्वसमृद्धि सम्प्रदान की; पर सर्वत्र वह कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक मनोवृत्ति का परिचय देता रहा।

अचानक मध्यकाल की भारतीय साधना में हम एक प्रकार के कवियों और चित्रकारों को एक अभिनव सृष्टि में तल्लीन देखते हैं। वे मानते हैं कि उस शक्ति मे ऐश्वर्य है—इसलिए निश्चय ही वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है—काल मे भी और स्थान में भी; अर्थात् वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है, पर ये दोनो उसके एकांगी परिचय हैं। ऐश्वर्य भी उसका एक अंग है, ब्रह्मत्व भी उसका एक अंश है, इन दोनों को अतिक्रान्त करने की स्थिति है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम में। जहाँ वह साधारण-से-साधारण आदमी का समानधर्मा है, वहीं इस प्रेम की प्यास में अपना सब कुछ भूल जाता है, वही अहीर की छोहरियों के सामने नाचता है, गाता है, कल्लोल करता है—

जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावें।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावें।

जो उसे ज्ञानमय समझते हैं, ब्रह्म समझते हैं, वे उसके एक अंश को जानते हैं; पर जो उसे प्रेममय समझते हैं, वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते हैं।[1] ये कवि

1. श्रीमद्भागवत (1-2-11) में एक श्लोक आया है—

विदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

इस श्लोक के आधार पर वैष्णव आचार्यों ने परम पुरुष के तीन रूपों का वर्णन किया है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म भगवान् के उस रूप का नाम है, जो विशुद्ध ज्ञानमय है, ज्ञानमार्ग के उपासक इस रूप की उपासना करते हैं। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। जिस प्रकार चर्मचक्षु से सूर्य-मण्डल के नाना विजातीय पदार्थ, जिनमें सैकड़ों मील विस्तृत अन्धकारमय दरारें भी हैं, एक ही ज्योति के रूप में दिखायी देते हैं, उसी प्रकार भगवान् का नाम-शक्तिमय और गुणमय रूप ज्ञानमय ही दिखायी देता है। (ब्रह्मसंहिता 5. 46)। परमात्मा योगियों का उपास्य है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद रहता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत दूर पर रहकर नाना पदार्थों के नाना रूपों में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण

→

और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते हैं कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, 'प्रेमः पुमर्थो महान्।'

इस मध्यकाल की साधना के समानान्तर चलनेवाली एक दूसरी प्रचण्ड प्रेम-धारा यूरोप में उसी काल में आविर्भूत हुई थी। वह थी ईसाई-साधना। प्राचीन यहूदियों के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार यह संसार खुदा के हाथ से खिसककर गिरा हुआ यन्त्र है। इसीलिए यह पापमय है। इसमें पैदा होनेवाले मनुष्य स्वभावतः ही पापमय है। इनके और ईश्वर के बीच एक बड़ा भारी व्यवधान रह गया है। इसी व्यवधान के कारण मनुष्य—पापात्मा—भगवान् के पवित्र संसर्ग से वंचित होकर शैतान का शिकार बन गया है। मनुष्य की इस दुरवस्था से करुणा-विगलित होकर प्रभु ईसा मसीह ने अवतार धारण करके इस व्यवधान को भर दिया। जिसके सिर पर उस करुणामूर्ति ने हाथ रख दिया, वही तर गया। पतितों पर इसकी विशेष दृष्टि है, दोनों की पुकार पर वह दौड़ पड़ता है, आर्त्तों को वह शरण देता है—अद्भुत प्रेममय है वह पतित-पावन, वह दीन-दयालु, वह अशरण-शरण!

मध्यकाल की भारतीय साधना में भी श्रीकृष्ण या श्रीरामचन्द्र ठीक इसी प्रकार दिखायी देते हैं। कहीं हम उन्हें मांसाशी गीध—जटायू की 'धूरि जटान सों' झारते देखते हैं, कहीं अस्पृश्य शबरी के जूठे बेरों को प्रेम-सहित खाते देखते हैं, कहीं दीन सुदामा के पैरों को 'आँसुन के जल सों' धोते देखते हैं—ठीक उसी प्रकार का पतितपावन रूप, दीन-दयालु रूप, अशरण-शरण रूप! मगर वैष्णव कवि यहीं आकर नहीं रुकता। ईसाई साधक की विगलद्वाष्पा भावुकता ही उसकी नैया पार कर देती है, उसे आगे जाने की जरूरत नहीं, पर वैष्णव कवि नैया पार करने की चिन्ता में उतना समय नष्ट करना नहीं जानता। उसे अर्थ नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए—चाहिए भक्ति, चाहिए प्रेम—

> अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निरवान,
> जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान निदान।

संसार के उपासना के इतिहास में रूपों की उपासना की कमी नहीं है। परन्तु कहाँ है वह साहस, वह प्रेम पर बलिदान कर सकने की अद्भुत क्षमता जो मध्यकाल के इन साधक कवियों ने ठोस रूप के प्रति प्रकट की है—

→

अचिन्त्य शक्ति के द्वारा नाना पदार्थों में 'परमात्मा-रूप' से प्रत्यक्ष होते हैं (श्रीमद्भागवत 1. 9. 42)। प्रेमियों के निकट भगवान् का पूर्ण रूप प्रकट होता है। इस रूप को "भगवान्" कहते हैं। वैष्णव आचार्यों ने बताया है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। (दे०—जीव गोस्वामी का भागवतसन्दर्भ और भागवत के ऊपर उद्धृत श्लोक पर महाप्रभु वल्लभाचार्य श्री श्रीजीव-गोस्वामिपाद और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती की टीकाएँ।)

समझा, अपना उद्धारकर्त्ता समझा। इस मनोवृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं। परन्तु साथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं। इस मनोवृत्ति को दार्शनिक कहते हैं। ये दोनों बातें मनुष्य की सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं। समय-समय पर इन दोनों वृत्तियों में कभी यह, कभी वह प्रबल होती रही। इसके फलस्वरूप संसार में नाना प्रकार के धर्म-मत और दार्शनिक मतवाद पैदा होते रहे। इन दोनों मनोवृत्तियों के फलस्वरूप मनुष्य-जाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्त्ति, मन्दिर आदि निर्माण किये; अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे; ललितकला की अभूत पूर्वसमृद्धि सम्प्रदान की; पर सर्वत्र वह कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक मनोवृत्ति का परिचय देता रहा।

अचानक मध्यकाल की भारतीय साधना में हम एक प्रकार के कवियों और चित्रकारों को एक अभिनव सृष्टि में तल्लीन देखते हैं। वे मानते हैं कि उस शक्ति में ऐश्वर्य है—इसलिए निश्चय ही वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है—काल में भी और स्थान में भी; अर्थात् वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है, पर ये दोनों उसके एकांगी परिचय हैं। ऐश्वर्य भी उसका एक अंग है, ब्रह्मत्व भी उसका एक अंश है, इन दोनों को अतिक्रान्त करने की स्थिति है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम में। जहाँ वह साधारण-से-साधारण आदमी का समानधर्मा है, वहीं इस प्रेम की प्यास में अपना सब कुछ भूल जाता है, वही अहीर की छोहरियों के सामने नाचता है, गाता है, कल्लोल करता है—

जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावें।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावें।

जो उसे ज्ञानमय समझते हैं, ब्रह्म समझते हैं, वे उसके एक अंश को जानते हैं; पर जो उसे प्रेममय समझते हैं, वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते हैं।[1] ये कवि

1. श्रीमद्भागवत (1-2-11) में एक श्लोक आया है—

विदन्ति तत्वस्तत्त्वविदस्तत्व यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

इस श्लोक के आधार पर वैष्णव आचार्यों ने परम-पुरुष के तीन रूपों का वर्णन किया है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म भगवान् के उस रूप का नाम है, जो विशुद्ध ज्ञानमय है, ज्ञानमार्ग के उपासक इस रूप की उपासना करते हैं। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। जिस प्रकार चर्मचक्षु से सूर्य-मण्डल के नाना विजातीय पदार्थ, जिनमें सैकड़ों मील विस्तृत अन्धकारमय दरारें भी हैं, एक ही ज्योति के रूप में दिखायी देते हैं, उसी प्रकार भगवान् का नाम-शक्तिमय और गुणमय रूप ज्ञानमय ही दिखायी देता है। (ब्रह्मसंहिता 5. 46)। परमात्मा योगियों का उपास्य है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद रहता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत दूरी पर रहकर नाना पदार्थों के नाना रूपों में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण →

इसी प्रकार उनके पदों में भी प्रिय से मिलने की अपार व्याकुलता का पता चलता है। इन पदों में सर्वत्र उद्योग भक्त की ओर से ही होता है। भक्त रूपी प्रिया ही भगवान् रूपी प्रिय के पास जाती है, उसके पैर काँपते रहते हैं, शरीर से पसीना छूटता रहता है, उस देश की रीति की जानकारी का अभाव मन को उन्मथित करता रहता है, पिया की ऊँची अटरिया की कल्पना से साहस टूटता रहता है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने इन वाणियों में सूफ़ी प्रभाव बताया है। कहीं-कहीं तो यह प्रभाव बहुत स्पष्ट है, पर कहीं-कहीं खींचतान के द्वारा इसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

इस देश में मुस्लिम शासन के सूत्रपात होने के पहले से ही सूफ़ी साधक आने लगे थे। मुसलमान लोग एकेश्वरवादी हैं, इसीलिए बहुत लोग मुस्लिम सूफ़ी साधकों को भी एकेश्वरवादी समझ लेते हैं। बहुत लोग हिन्दुओं के पुराने ग्रन्थों में आये हुए अद्वैतवाद से एकेश्वरवाद को अभिन्न मानते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में कई सुधारक आन्दोलन हुए हैं जिनमें उपनिषदों के अद्वैतवाद को मुसलमानों के एकेश्वरवाद से अभिन्न मान लिया गया है। परन्तु सूफ़ी लोग ठीक एकेश्वरवादी नहीं हैं। उनका विश्वास बहुत-कुछ इस देश के विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति है। विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है और इन साधकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है। निस्सन्देह इन साधकों की मधुर भक्ति-भावना ने हमारे देश के सन्तों को भी प्रभावित किया है और इन्होंने भी इस देश से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

इन साधकों की भक्ति-भावना इनकी लिखी प्रेम-गाथाओं में अभिव्यक्त हुई है। इन प्रेम-गाथाओं में सर्वश्रेष्ठ है पद्मावत। यह मलिक मुहम्मद जायसी नामक प्रसिद्ध सन्त-भक्त की रचना है। इसमें कवि ने पद्मावती के जिस अपूर्व पारस रूप का वर्णन किया है वह अपना उपमान आप ही है। कवि जब पद्मावती के रूप का वर्णन करने लगता है तब उसका सम्पूर्ण अन्तर तरल होकर ढरक पड़ता है। पारस रूप वह रूप है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण कर रहा है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूपवर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुतः भगवान् के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर में स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिर—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर समीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥

अलाउद्दीन जैसे अधम पात्र ने भी जरा-सा दर्पण में उस रूप का आभास पाया था, परन्तु 'होता है दरस परस भा लोना। धरती सरग भयउ दुइ सोना।' इस रहस्यमय पारस रूप का आभास देने के लिए जायसी ने अत्यन्त मार्मिक दृश्यों की योजना की है। वे सदा लौकिक दीप्ति और सौन्दर्य का उत्थापन करते हैं। परन्तु विशेषणों और क्रियाओं के प्रयोग-कौशल से अलौकिक दीप्ति की ओर मोड़ते रहते हैं। उन्होंने इस प्रकार एक अपूर्व काव्य की सृष्टि की है।

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं,
आठहु सिद्धि नवौं निधि को सुख नन्द की धेनु चराय बिसारौं।

यह उपास्य रूप ही चरम सृष्टि है, इसके आगे रूप की रचना असम्भव है। यहाँ आकर भगवान् मनुष्य के अपने हो जाते है, वह बड़े भी नही, छोटे भी नही, हमारे हैं, हमारे माता-पिता हैं; भाई-बहन हैं, सखा-सखी है, प्रेमी-प्रेमिका है, पुत्र-पुत्री है—हम जो चाहे वही हैं। वेदों और पुराणों ने जिसका कोई उपयुक्त पता नही बताया, इंजील और क़ुरान जिसकी व्याख्या करते थक गये, दर्शन और धर्म-ग्रन्थ जिसका कोई सन्धान न पा सके, वही कितना सहज है, कितना निकट! वह हमारा प्रेमी है!

'ब्रह्म जो भाख्यौ पुराननि में
तेहि देख्यो पलोटत राधिका पायन।'

सूफ़ी साधकों की मधुर साधना

हमारे आलोच्यकाल मे रूपोपासना की एक बहुत ही सुन्दर परिणति हुई। यह कान्तारति या मधुर भाव की उपासना कही जाती है। इस श्रेणी के भक्तों के अनुसार भगवान् के साथ जितने भी सम्बन्ध हो सकते हैं, उनमें मधुर-भाव या कान्तारति का सम्बन्ध सर्वाधिक मनोरम है। तीन प्रकार के भक्तों में इस साधना ने तीन रूपों में अपने को प्रकट किया है। निर्गुणमार्गी भक्तों मे, सूफी साधकों में और सगुणमार्गी भक्तों में। इनमे निर्गुणमार्गी भक्तों ने जब प्रेमावेश में आकर भगवान् के प्रति मधुरभाव के पद कहे हैं, तो उनकी साधना का प्रधान और प्रथम वक्तव्य यही नही है। कबीर, दादू आदि भक्तों ने और बातो के बीच इस मधुर प्रेम-सम्बन्ध की चर्चा की है। कबीर के दोहों में इस कान्तारति का बहुत ही सुन्दर परिपाक हुआ है, विशेष करके विरहावस्था की उक्तियों मे—

यह तन जारौ मसि करौं, ज्यों धूआँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरीस बुझावैं अग्गि॥
अंखड़ियाँ छाया पड़्या, पथ निहारि निहारि।
जीहड़ियाँ छाल्या पड़्या, नाँव पुकारि पुकारि॥
नैंना भीतरि आव तूँ, ज्यो ही नैन झँपेउँ।
नाँ हम देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ॥

इसी प्रकार उनके पदों में भी प्रिय से मिलने की अपार व्याकुलता का पता चलता है। इन पदों में सर्वत्र उद्योग भक्त की ओर से ही होता है। भक्त रूपी प्रिया ही भगवान् रूपी प्रिय के पास जाती है, उसके पैर काँपते रहते है, शरीर से पसीना छूटता रहता है, उस देश की रीति की जानकारी का अभाव मन को उन्मथित करता रहता है, पिया की ऊँची अटरिया की कल्पना से साहस टूटता रहता है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने इन वाणियों मे सूफ़ी प्रभाव बताया है। कही-कहीं तो यह प्रभाव बहुत स्पष्ट है, पर कही-कहीं खीचतान के द्वारा इसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

इस देश में मुस्लिम शासन के सूत्रपात होने के पहले से ही सूफी साधक आने लगे थे। मुसलमान लोग एकेश्वरवादी है, इसीलिए बहुत लोग मुस्लिम सूफी साधकों को भी एकेश्वरवादी समझ लेते है। बहुत लोग हिन्दुओं के पुराने ग्रन्थों में आये हुए अद्वैतवाद से एकेश्वरवाद को अभिन्न मानते है। उन्नीसवी शताब्दी मे कई सुधारक आन्दोलन हुए हैं जिनमें उपनिषदों के अद्वैतवाद को मुसलमानों के एकेश्वरवाद से अभिन्न मान लिया गया है। परन्तु सूफी लोग ठीक एकेश्वरवादी नही हैं। उनका विश्वास बहुत-कुछ इस देश के विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति है। विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिको का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है और इन साधकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है। निस्सन्देह इन साधकों की मधुर भक्ति-भावना ने हमारे देश के सन्तों को भी प्रभावित किया है और इन्होने भी इस देश से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

इन साधकों की भक्ति-भावना इनकी लिखी प्रेम-गाथाओं में अभिव्यक्त हुई है। इन प्रेम-गाथाओ में सर्वश्रेष्ठ है पद्मावत। यह मलिक मुहम्मद जायसी नामक प्रसिद्ध सन्त-भक्त की रचना है। इसमे कवि ने पद्मावती के जिस अपूर्व पारस रूप का वर्णन किया है वह अपना उपमान आप ही है। कवि जब पद्मावती के रूप का वर्णन करने लगता है तब उसका सम्पूर्ण अन्तर तरल होकर ढरक पड़ता है। पारस रूप वह रूप है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण कर रहा है। पद्मावती मे वही पारस रूप है। पद्मावती के रूपवर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुतः भगवान् के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर मे स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिर—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥

अलाउद्दीन जैसे अधम-पात्र ने भी जरा-सा दर्पण में उस रूप का आभास पाया था, परन्तु 'होता है दरस परस भा लोना। धरती सरग भयउ दुइ सोना।' इस रहस्यमय पारस-रूप का आभास देने के लिए जायसी ने अत्यन्त मार्मिक दृश्यों की योजना की है। वे सदा लौकिक दीप्ति और सौन्दर्य का उत्थापन करते है। परन्तु विशेषणों और क्रियाओं के प्रयोग-कौशल से अलौकिक दीप्ति की ओर मोड़ते रहते हैं। उन्होने इस प्रकार एक अपूर्व काव्य की सृष्टि की है।

लौकिक जैसी दिखनेवाली कहानी का आश्रय लेकर सूफी कवियों ने आध्यात्मिक मधुर भाव की साधना का संकेत किया है। प्रियतम सबके हृदय में व्याप्त है, पर मिल नहीं रहा है 'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाय कहौं केहि रोई!' और फिर धरती और सरग—सीमा और असीम—तो सदा ही मिले हुए थे, न जाने किसने इन्हें अलग कर दिया है—'धरती सरग मिले हुते दोऊ। को रे मिनार कै दीन्ह बिछोऊ!' न जाने कब धरती और सरग का बिछोह हुआ, न जाने कैसे यह बिछोह हुआ। आज भी उस वियोग की व्याकुल वेदना से समूची प्रकृति विद्ध है। आज भी सूरज लाल होकर डूबता है, आज भी मजीठ और टेसू लाल दिखायी दे रहे है, आज भी गेहूँ का हिया फटा जा रहा है, आज भी नदी व्याकुल भाव से दौड़ रही है, यह प्रेम उद्दाम है।

जायसी ने पद्मावत में जिस उद्दाम प्रेम का वर्णन किया है वह आदर्श और ऐकान्तिक प्रेम है। उसमें लोक-मर्यादा का अतिक्रम दोष नहीं, गुण समझा जाता है। यह प्रेम सोद्देश्य भी है। लौकिक प्रेम के बहाने कवि सदा अलौकिक सत्ता की ओर इशारा करता रहता है। जहाँ दूसरे कवि पात्रों की अन्त:वृत्तियों के चित्रण द्वारा पात्र के विशिष्ट व्यक्तित्व को चमकाने का प्रयत्न करते, वहाँ भी जायसी अलौकिक पारमार्थिक सत्ता की व्यंजना करना अपना प्रधान लक्ष्य समझते हैं। उदाहरण के लिए, जहाँ पद्मावती सखियों के साथ हास-परिहास और जल-क्रीड़ा करती है वहाँ भी कवि उनके स्वभावगत वैशिष्ट्य और अन्तःवृत्ति निरूपण की ओर एकदम ध्यान न देकर पारलौकिक सत्ता की ओर इशारा करता है; उनकी जल-क्रीड़ा, हार खोजना आदि प्रत्येक अवसर को परमार्थ पक्ष में ले जाने को उत्सुक है। विरह से उत्पन्न मार्मिक प्रसंगों में कवि प्रायः पारमार्थिक सत्य की ओर ही अपने पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार विधिबहिर्भूत ऐकान्तिक और सोद्देश्य प्रेम के चित्रण का फल यह हुआ है कि कवि विशिष्ट स्वभाव को प्रकट करनेवाली अन्त:वृत्तियों के निरूपण में उदासीन हो जाता है।

विरह

जायसी का विरह-वर्णन कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी गाम्भीर्य से रिक्त नहीं है। विरह की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिए जायसी ने जिस ऊहात्मक या वस्तुव्यंजनात्मक शैली का आश्रय लिया है, वहाँ कहने के आधारभूत वस्तु के हेतु कल्पना की ओर ही उनकी अधिक प्रवृत्ति है। विरह-ताप के अतिरिक्त उसके अन्य अंगों का विन्यास भी जायसी ने अपनी उसी हृदयहारिणी और व्यापकत्व-विधायनी पद्धति से किया है, जिसमें बाह्य प्रकृति को मूल आभ्यन्तर जगत् के प्रतिबिम्ब के रूप में चित्रित किया गया है। प्रेमयोगी रतनसेन के विरह-व्यथित हृदय का भाव हम सूर्य, चन्द्र, पेड़, पक्षी आदि सबमें देखते हैं—(रोवँ रोवँ वे रात जो फटे), नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि ही खिची-सी चित्रित की गयी है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार नागमती का विरह-

वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती की विरहावस्था वह पवित्र पुण्यदान है जिसमें सभी जड़-चेतन अपने सगे-से दिखायी देते हैं। हृदय की इस उदार और व्यापक दशा का चित्रण कवियों ने प्रेम-विरह के प्रसंग में ही किया है, अन्य रसों के प्रसंग में नहीं। यह जड़-चेतन पशु-पक्षियों के प्रति सहानुभूति केवल एक पक्ष से सामंजस्य ही है, उन्माद नहीं है, दूसरे पक्ष से इनमें समवेदना और सहानुभूति प्राप्त होती है। पद्मावती से कहने के लिए नागमती ने जो सन्देश भेजा है उसमें मान, गर्व आदि का लेश भी नहीं, वह अत्यन्त नम्रशील और विशुद्ध प्रेम है।

सूफ़ीमत

सूफ़ीमत धर्म के क्षेत्र में ऐकान्तिक भगवत्प्रेम का प्रचारक है। उसकी तुलना बहुत-कुछ रागानुगा भक्ति से की जा सकती है। दोनों में इतना साम्य है कि किसी-किसी पण्डित ने रागानुगा कृष्ण-भक्ति को सूफ़ीमत का प्रभाव तक कह दिया। इस मत के अनुसार मनुष्य के चार विभाग हैं :—नफ़्स अर्थात् विषय-भोगवृत्ति, रूह (आत्मा), क़ल्ब (हृदय) और अक्ल (बुद्धि)। कल्ब या हृदय एक भूतातीत पदार्थ है, उसी पर दृश्य वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दृश्य स्थूल वस्तु अनित्य है, पर उसकी भावना नित्य है। कल्ब पर ही दृश्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब अंकित होते हैं। सूफ़ी लोग स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनको बहुत-कुछ भारतीय ज्ञानियों से प्राप्त हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि ये बातें भारतीय योगशास्त्र से मिलती-जुलती हैं। जगत् चार प्रकार के बताये गये हैं—आलमे नासूत (भौतिक जगत्), आलमे मलकूत (चित् जगत्), आलमे जबरूत (द्वन्द्वातीत आनन्द जगत्) और आलमे लाहूत (सत् या पारमार्थिक ब्रह्म जगत्)। नासूत मानवलोक है, मलकूत अदृश्य लोक है, जबरूत (उच्चतम लोक) है, लाहूत परलोक है। कुछ सूफ़ी एक और जगत् या लोक की कल्पना करते हैं जिसे आलमे मिसाल या समलोक नाम दिया गया है। इसमें जो पारमार्थिक सत्ता है उसके ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब के लिए क़ल्ब का स्वच्छ होना आवश्यक है। इसके लिए जिक्र (नामस्मरण) और मुरकाबत (ध्यान) आवश्यक है।

इस मत के अनुसार साधक की चार अवस्थाएँ हैं—शरीअत अर्थात् शास्त्र-सम्मत वैधमार्ग, तरीकत अर्थात् बाह्य क्रिया-कलाप से मुक्त होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवद्ध्यान और हकीकत मारफ़त अर्थात् विधि-निषेध से परे की सिद्धावस्था।

समाधि की अवस्था का नाम हाल है। इसके दो पक्ष हैं। त्याग पक्ष में साधक क्रमशः अपने को जगत् के अन्य पदार्थों से भिन्न समझने का भाव त्याग देता है तथा धीरे-धीरे उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है, और उसे प्रेम का नशा छा जाता है। फिर दूसरा पक्ष अर्थात् प्राप्ति का मार्ग आरम्भ होता है। प्रथम — अवस्था बक़ा होती है, जब वह परमात्मा में स्थित होता है; दूसरी —

उल्लासमयी मत्तावस्था आती है और अन्त में पूर्ण शान्ति को प्राप्त करता है।

सूफी काव्यों में नायक का घरबार छोड़कर निकल पड़ना और वियोग की दशा में अपने को समस्त जगत् से अभिन्न देखना प्रथम पक्ष की साधना है और प्रेम की उद्दामता, प्रिय की प्राप्ति और उसके लिए आत्मविसर्जन अन्तिम अवस्था की।

मधुररस की साधना

'मधुर' नामक भक्तिरस के विचार का उत्थापन करते समय श्री रूप गोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ में लिखा है, "आत्मोचित विभावादि द्वारा मधुरा रति जब सदाशय व्यक्तियों के हृदय में पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोगों के किसी काम का नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात् जैसा कि जीव गोस्वामी ने 'निवृत्त' शब्द का अर्थ किया है, प्राकृत शृंगाररस के साथ इसकी समानता देखकर इस भागवत रस से भी विरक्त हो गये हों); फिर यह रस दुरूह और रहस्यमय भी है; इसलिए यद्यपि यह बहुत विशाल और विततांग है, तथापि संक्षेप में ही लिख रहा हूँ—

आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते॥

गोस्वामिपाद के इस कथन के बाद दुनियादारी की झंझटों में फँसे हुए किसी भी मादृश व्यक्ति का इस रस के सम्बन्ध में लिखने का सङ्कल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है, क्योंकि पहले गोस्वामिपाद ने यद्यपि बड़े कुशलपूर्वक इसकी दुरूहता की ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है, परन्तु कहीं भी ऐसा संकेत नहीं किया कि इस रस की चर्चा निषिद्ध है। दूसरे, भक्तिशास्त्रकारों और अनुरक्त भक्तजनों की चर्चा करते रहने से ऐसा विधान है कि पहले श्रद्धा, फिर रति और फिर भक्ति अनुक्रमित होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनः कथा।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
(श्रीमद्भा. 3।25।25)

तीसरे, गोस्वामिपाद ने इसे उन लोगों के लिए अनुपयोगी बताया है जो

निवृत्त हों अर्थात् इस रस के साथ शृंगार का साम्य देखकर ही बिदक गये हों— उन लोगों के लिए नहीं जो शृंगाररस के साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शास्त्रों में और इतिहास में ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गये है, जो गलती से ही इस रास्ते में आ पड़े थे और फिर जीवन का चरम लाभ पा लेने में समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गये थे। सूरदास और बिल्वमङ्गल गलती से ही इधर आ पड़े थे और बाद में वे क्या हो गये—यह जगविदित है।

इन पंक्तियों के लेखक के समान ही ऐसे बहुत-से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चा के प्रसङ्ग में दिन-रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव, अनुभाव, संचारीभाव और सात्विक भावों की चर्चा करते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगों को यह जान रखना चाहिए कि भक्ति में केवल एक ही स्थायी भाव है—भगवान् विषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तों के स्वभाव के अनुसार यह लगन पाँच प्रकार की हो सकती है—शान्त-स्वभाव की, दास्य-स्वभाव की, सख्य-स्वभाव की, वात्सल्य-स्वभाव की और मधुर-स्वभाव की। इन पाँचों स्वभावों के अनुसार रति भी पाँच प्रकार की होती है— शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँ तक जड़ जगत का विषय है, इनमें शान्ता रस सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाकी क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृंगार नाम ग्रहण करती है। जड़ विषयक होने से यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत है क्या चीज ? नन्ददास ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान् की छाया है जो माया के दर्पण में प्रतिफलित हुई है—

या जग की परछाँह री माया दरपन बीच।

अब अगर दर्पण की परछाँह की जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उल्टी पड़ती है। जो चीज ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। जड़ जगत् में जो सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृंगाररस जो जड़ जगत् में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृंगार होने पर मधुररस हो जाता है, यद्यपि भक्तिशास्त्र की मर्यादा के अनुसार इसे शृंगार नहीं कहा जा सकता। केवल ब्रज-सुन्दरियों के लिए शृंगार और मधुर एक रस है; क्योंकि उनके लिए काम और प्रेम में भेद नहीं है। 'भक्ति-रसामृतसिन्धु' में गोप-रमणियों का प्रेम ही काम कहा गया है—

प्रेमैवगोपरामाणा काम इत्यगमत् प्रथम।

कारण स्पष्ट—जड़विषयक अनुराग को 'काम' कहते है और भगवद्विषयक अनुराग को 'प्रेम'। ब्रज-सुन्दरियों की सारी कामना के विषय 'असमानोर्ध्वसौन्दर्य-लीलावैदग्ध्यसम्प्रदाम्' आश्रय-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण थे और इसीलिए उनके काम को जड़-विषयक कहा ही नहीं जा सकता। 'गीत-गोविन्द' में कहा गया है कि 'हे सखि, जो अनुरंजन के द्वारा समस्त विश्व का आनन्द उत्पादन करते हैं, जो

इन्दीवर-श्रेणी के समान कोमल श्यामल अङ्गों से अनङ्गोत्सव का विस्तार कर रहे हैं तथा व्रज-सुन्दरियों द्वारा स्वच्छन्द भाव से जिनका प्रत्येक अङ्ग आलिङ्गित हो रहा है, वही भगवान् मूर्त्तिमान शृंगार की भाँति मुग्ध वसन्त ऋतु में विहार कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर !
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम् ।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति ।।

सो यही भगवान्, जो साक्षात् शृंगारस्वरूप है, मधुररस के प्रधान आलम्बन है। इनकी प्रेयसियाँ वे परम अद्भुत किशोरियाँ हैं, जो नव-नव उत्कृष्ट माधुरी की आधारस्वरूपा है, जिनके अंग-प्रत्यंग भगवान् की प्रणय-तरङ्ग से करम्बित है और जो रमणरूप से भगवान् का भजन करती हैं—

नवनववरमाधुरीधुरीणाः प्रणयतरंगकरम्बितागरंगाः।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः।
—भक्तिरसामृतसिन्धु

इन व्रज-सुन्दरियों में भी राधारानी सर्वश्रेष्ठ है, जिनके लोचन मदमत्त चकोरी के लोचनों की चारुता को हरण करनेवाले हैं, जिनके परमाह्लादक वदनमण्डल ने पूर्णिमा के चन्द्र की कमनीय कीर्त्ति का भी दमन किया है, अविकल कलधौत-स्वर्ण के समान जिनकी अगश्री सुशोभित है, जो मधुरिमा की साक्षात् मधुपात्री है—

मदचकुटचकोरीचारुताचोरदृष्टि-
र्वदनदमिताकारोहिणीकान्तकीर्त्तिः ।
अविकलकलधौतोद्घतिधोरेयकश्री-
र्मधुरियमधुपात्री राजते पश्य राधा ।।

जड़ादिविषयक शृंगारादि रस के साथ इस अनिर्वचनीय मधुररस का एक और मौलिक अन्तर है। अलंकार शास्त्रों में विवृत शृंगारादि रस केवल जड़ोन्मुख नहीं होते, उनके भाव की स्थिति भी जड़ में ही होती है। अलंकार शास्त्र में बताया गया है कि शृंगारादि रसों के रत्यादि स्थायी भाव संस्कार रूप में मन में स्थित रहते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्वजन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्म की अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है, उसके साथ पूर्वजन्म के संस्कार तो आ ही नहीं सकते; फिर स्थायी भाव के संस्कार आते कैसे है ? इसका उत्तर शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग-शरीर भी एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमित होता है। इस सूक्ष्म शरीर में ही पाप-पुण्य आदि के संस्कार रहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मविज्ञान, मन, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, काम, अकाम,

क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही भोगता है—

स वायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमयः आपोमयो वायुमयः आकाशमयस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

—बृहदारण्यक 4। 4। 6

सांख्यकारिका में करीब-करीब इन सभी बातों को लिंग-शरीर कहा गया है। बताया गया है कि प्रकृति के तेईस तत्त्वों में से अन्तिम पांच तो अत्यन्त स्थूल है, पर बाकी अठारहों तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ-ही-साथ निकल जाते हैं; जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्त्व उसके साथ लगे होते है (सं. का. 40)। अब यह स्पष्ट ही है कि प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और दसों इन्द्रिय प्रकृति के गुणमात्र, अतः सूक्ष्म हैं। उनकी स्थिति के लिए किसी स्थूल आधार की जरूरत होगी। पंचतन्मात्र इसी स्थूल आधार का काम करते हैं। उपनिषदों में इसी बात को और तरह से कहा गया है। आत्मा का सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूल देह है; इसे उपनिषदों में अन्नमय कोष कहा गया है। दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म है, उन्हें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष कहते है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूल शरीर की अपेक्षा प्राण सूक्ष्म है; उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान् ने गीता में इसी बात को इस प्रकार कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पर बुद्धियो बुद्धेः परतस्तु सः॥

वेदान्तशास्त्र में कई प्रकार से यह बात बतायी गयी है। कहीं इसके सत्रह अवयव बताये गये हैं—पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन और पांच प्राण (वेदान्तसार 13); फिर आठ पुरियों का उल्लेख है (सुरेश्वराचार्य का पंचीकरणवार्त्तिक) जिनमें पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, पांच भूत सूक्ष्म (तन्मात्र) अविद्या, काम और कर्म है। ऐसे ही और भी कई विधान हैं। इनका शास्त्रकारों ने समन्वय भी किया है (वेदान्तसार 13 पर विद्वन्मनोरंजनी टीका)। यहाँ प्रकृत यह है कि स्थायीभावों के संस्कार इसी लिङ्ग-शरीर में हो सकते है। वह चूंकि जड़ है, इसीलिए उसकी प्रवृत्ति जडोन्मुख होती है। अलंकारशास्त्रों में यह बार-बार समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य क्योंकि कार्य होता तो विभावादि के नष्ट होने पर नष्ट नहीं हो जाता, कारण के नष्ट होने से कार्य का नष्ट होना नहीं देखा जाता—स च न कार्यः; विभावादि विनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् (काव्य-प्रकाश, चतुर्थ उल्लास), परन्तु मधुररस आत्मा का धर्म है, यह स्थूल जड़ जगत् की वस्तु नहीं है। उसके

परिशिष्ट

सर आर्थेल्स्टेन बेंस ने बड़ी योग्यतापूर्वक पूर्व के अध्ययनों और सेंसस रिपोर्टों के आधार पर जातिभेद की समस्या की जाँच की थी। उन्होंने सेंसस के तीन हजार से ऊपर जानेवाली जातियों को लगभग 500 मोटे विभागों में बाँटा है। बेंस के इस विभाजन में एक विशेषता यह है कि उसे साधारण पाठक बिना किसी वैज्ञानिक विवाद में पड़े आसानी से समझ सकता है। बेंस ने चेहरों के भाव आदि की वैज्ञानिक विवेचना भी की है। यहाँ पाठकों की सुविधा के लिए बेंस द्वारा विभाजित जाति-सूची दी जा रही है। भारत-विभाजन के बाद इस देश की जातियों में बड़ा भारी विक्षोभ हुआ है और बहुत-सी जातियों को सामूहिक रूप में स्थानान्तरित होना पड़ा है।

सर आर्थेल्स्टेन ने समूची भारतीय जनता को सात बड़े-बड़े विभागों में बाँटा है। ये सात भाग इस प्रकार हैं—

1. विशेष श्रेणी [इनके नाम आगे की तालिका में 1 से 43 तक दिये गये हैं।]
2. ग्राम-समाज [इनके नाम आगे की तालिका में 44 से 263 तक दिये गये हैं।]
3. गौण पेशा वाले [इनके नाम की तालिका 264 से 296 तक दी गयी है।]
4. शहरी जातियाँ [इनके नाम की तालिका 297 से 342 तक दी गयी है।]
5. खानाबदोश जातियाँ [इनके नाम 343 से 397 तक दिये गये हैं।]
6. पहाड़ी जातियाँ [इनके नाम 398 से 4J4 तक दिये गये हैं।]
7. मुस्लिम जातियों की उपाधियाँ [इनके नाम सूची में छोड़ दिये गये हैं। इनमें अरब, शेख, सैय्यद, तुर्क, मुग़ल, पठान, बलूच और ब्राहुई हैं।]

सर आर्थेल्स्टेन की कई तालिकाओं के आधार पर आगेवाली तालिका बनायी गयी है। पर स्थान-स्थान पर आधुनिक जानकारी और व्यक्तिगत अभिज्ञता के बल पर कुछ थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया गया है। फिर भी यथासम्भव सर आर्थेल्स्टेन के विचारों को ही प्रधान स्थान दिया गया है।

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
ब्राह्मण	1			14893300
राजपूत	2			10040800
व्यवसायी	3	वनिया (साधारण)	दक्षिण के सिवा सर्वत्र	3163300
	4	अग्रवाल	युक्तप्रान्त	557600
	5	अग्रहारी	आगरा	92000
	6	श्रीमाली	पश्चिम भारत	227400
	7	पोरवाल	राजस्थान	75000
	8	ओसवाल	पश्चिम	382700
	9	हूम्बड	पश्चिम	60700
	10	खत्री	पंजाब	585000
	11	अरोरा	पश्चिमी पंजाब	732100
	12	भाटिया	पश्चिमी भारत	60600
	13	लोहाना	सिन्ध	572800
	14	सुवर्ण वणिक्	वङ्गाल	154800
	15	वलिज	तिलंगाना	534700
	16	कोमटी	तिलंगाना	656300
	17	वंजिग	कर्नाटक	173400
	18	वड्डग	तिलंगाना	95900
	19	चेट्टी	तमिल	320000
	20	खोजा	पश्चिम भारत	1553000
	21	मेमान	पश्चिम भारत	1121000
	22	वोहरा	पश्चिम भारत	177300
	23	लब्बई	दक्षिणपूर्व किनारा	426300
	24	माप्पिल	मालावार	925200
	25	जोनक्कन	मालावार	100300
लेखक	26	खत्री	पंजाब	138000
	27	कायस्थ	उत्तर भारत, बङ्गाल	2149300
	28	प्रभु	पश्चिम	28800
	29	ब्रह्म क्षत्रिय	गुजरात	4200
	30	करन महन्त	उड़ीसा	195000
	31	कणक्कन	तमिल	63000
	32	करणम्	तिलंगाना	42800
	33	विधूर	मध्यप्रदेश, दक्षिण	39
	34	वैद्य	बङ्गाल	

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
धार्मिक, साधु	35	गोसाईं	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	152600
	36	बैरागी	सर्वत्र	765200
	37	अतीत	उत्तर भारत	151800
	38	साधु	पश्चिम	67800
	39	जोगी	उत्तर भारत	212500
	40	फकीर	उत्तर भारत	1212600
	41	आण्डी	तमिल	101400
	42	दासरी	तिलंगाना	48300
	43	पानिसवन	तमिल	13700
जमींदार, सैनिक आदि	44	जाट	पंजाब, आगरा राजस्थान	7086100
	45	गजूर	पंजाब, आगरा, राजस्थान	2103100
	46	अवान	पंजाब	686000
	47	खोख्खर	पंजाब	117500
	48	गक्खड़	पंजाब	30000
	49	काठी	पश्चिम	27400
	50	सुमरो	सिन्ध	124100
	51	सम्भो	सिन्ध	793800
	52	तागा	आगरा	165300
	53	बाभन भुंइहार	उत्तर भारत, बिहार	1353300
	54	राजवंशी-कोच	असम, बंगाल	2408700
	55	आहोम	असम	178000
	56	खण्डाइत	उड़ीसा	720300
	57	मराठा	महाराष्ट्र	5029300
	58	राजू	तिलंगाना	113500
	59	वेल्लम	तिलंगाना	519900
	60	कल्लन	तमिल	494600
	61	मारवान	मालाबार	3500000
	62	आगमुडय्यन	तमिल	318600
	63	नायर	मालाबार	1046700
	64	कोडगु	कुर्ग	36200
किसान	65	कम्बो	पंजाब	183600
	66	मेल	राजस्थान, पंजाब	395000
	67	ठाकुर	पंजाब की पहाड़ी	102200
	68	राठी	पंजाब की पहाड़ी	39300

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	69	राउत	पंजाब की पहाड़ी	81900
	70	गिरत्थ	पंजाब की पहाड़ी	170100
	71	कनैत	पंजाब की पहाड़ी	389900
	72	कुरमी	उत्तर भारत	3873600
	73	कोइरी	उत्तर प्रदेश, विहार	1784000
	74	लोधा	उत्तर भारत	1663400
	75	किसान	उत्तर प्रदेश, म. भारत	442700
	76	कावर	मध्य प्रान्त	186100
	77	कोलता	मध्यप्रान्त	127400
	78	किरार	उत्तर भारत	166700
	79	कलिता	असम	203400
	80	हलवाई-दास	असम	29200
	81	कैवर्त	वङ्गाल	2665100
	82	सद्गोप	वंगाल	579400
	83	चासा	वंगाल, उड़ीसा	870500
	84	गंगोता	विहार	82600
	85	पोद	वंगाल	464900
	86	नमःशूद्र	वंगाल	2031700
	87	कुनवी	दक्षिण, पश्चिम	2700000
	88	कणावी	पश्चिम भारत	1350600
	89	कोली	पश्चिम भारत	2477300
	90	वक्कलिग	कर्नाटक	1392400
	91	लिंगायत	कर्नाटक	2612300
	92	पंचमशाले	कर्नाटक	431100
	93	चतुर्थ	कर्नाटक	111600
	94	वण्ट	कर्नाटक	120600
	95	गौड़	कर्नाटक	162500
	96	काप्पु-रेड्डी	तिलंगाना	3110200
	97	कम्म	तिलंगाना	974400
	98	तेलंग	तिलंगाना	644200
	99	कालिंगी	तिलंगाना	126900
	100	तोत्तियन	कर्नाटक	151000
	101	वेल्लालन	तमिल	2464900
	102	नत्तमान	तमिल	151300
माली ग्रादि	103	वरई	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	545900

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	139	खत्री	पश्चिम भारत	56200
	140	ताती	बंगाल	772[illegible]00
	141	तँतवा	बिहार	197900
	142	पेरिके	तमिल	63000
	143	जणप्पन	तमिल	83000
	144	कपाली	बंगाल	144700
	145	धोर	दाक्षिणात्य	24400
	146	पांका	मध्यभारत	726700
	147	गांडा	पूर्व, मध्य भारत	277800
	148	डोम्बा	बिहार	76400
	149	कोरी	उत्तर भारत	1240700
	150	जुलाहा	उत्तर भारत	2907900
	151	बलाही	राजस्थान, उ. भारत	585100
	152	कैकोलन	तमिल	354700
	153	साले	दाक्षिणात्य	639300
	154	तोगट	कर्नाटक	64500
	155	देवांग	कर्नाटक	288900
	156	नेयिगे	कर्नाटक	97000
	157	जुगी	बंगाल	536600
	158	कोष्टी	दक्षिण, मध्य भारत	27740
तेल निकालनेवाले	159	तेली-घानची,	सर्वत्र (द. के सिवा)	4060300
	160	कलु	बंगाल	154900
	161	वाणियन	तमिल	187500
	162	गाणिग	कर्नाटक	114909
पात्र-निर्माता	163	कुम्हार	उत्तर भारत	3379300
	164	कुशवन्	तमिल	145500
नाई	165	नाई न्हावी,	सर्वत्र (द. के सिवा)	2458400
	166	हजाम (मुस्लिम)	सर्वत्र (द. के सिवा)	534300
	167	अम्बहन	तमिल	219700
	168	मारयान	मालाबार	8800
	169	मंगल	तिलंगाना	277600
	170	भंडारी	उड़ीसा	120300
कपड़े धोनेवाले	171	धोबी-परीत,	सर्वत्र (द. के सिवा)	2016900
	172	वराणान	तमिल	253200
	173	वेलुत्तेडन	मालाबार	24500

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	139	खत्री	पश्चिम भारत	56200
	140	तांती	बंगाल	772300
	141	तँतवा	बिहार	197900
	142	पेरिके	तमिल	63000
	143	जणप्पन	तमिल	83000
	144	कपाली	बंगाल	144700
	145	धोर	दाक्षिणात्य	24400
	146	पांका	मध्यभारत	726700
	147	गाँडा	पूर्व, मध्य भारत	277800
	148	डोम्बा	बिहार	76400
	149	कोरी	उत्तर भारत	1240700
	150	जुलाहा	उत्तर भारत	2907900
	151	बलाही	राजस्थान, उ. भारत	585100
	152	कैंकोलन	तमिल	354700
	153	साले	दाक्षिणात्य	639300
	154	तोगट	कर्नाटक	64500
	155	देवांग	कर्नाटक	288900
	156	नेयिगे	कर्नाटक	97000
	157	जुगी	बंगाल	536600
	158	कोष्टी	दक्षिण, मध्य भारत	27740
तेल निकालनेवाले	159	तेली-घानची,	सर्वत्र (द. के सिवा)	4060300
	160	कलु	बंगाल	154900
	161	वाणियन	तमिल	187500
	162	गाणिग	कर्नाटक	114909
पात्र-निर्माता	163	कुम्हार	उत्तर भारत	3379300
	164	कुशवन्	तमिल	145500
नाई	165	नाई न्हावी,	सर्वत्र (द. के सिवा)	2458400
	166	हजाम (मुस्लिम)	सर्वत्र (द. के सिवा)	534300
	167	अम्बट्टन	तमिल	219700
	168	मारयान	मालाबार	8800
	169	मंगल	तिलंगाना	277600
	170	भंडारी	उड़ीसा	120300
कपड़े धोनेवाले	171	धोबी-परीत,	सर्वत्र (द. के सिवा)	2016900
	172	वराणान	तमिल	253200
	173	वेलुत्तेडन	मालाबार	24500

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	174	ग्रागस	कर्नाटक	122200
	175	चाकल	तिलंगाना	470800
मछुए-माझी ग्रादि	176	मल्लाह (सा.)	वंगाल-विहार	72160
	177	पाटनी	वगाल	63700
	178	तियर	वङ्गाल	270900
	179	मालो	वङ्गाल	246600
	180	केवट	उत्तर भारत	110800
	181	कहार	उत्तर भारत	1970800
	182	धीमर	उत्तर मध्य भारत	291200
	183	झीनवर	पंजाव	477700
	184	माछी	पजाव	288600
	185	मोहानो	सिन्ध	113100
	186	भोई	दक्षिण, पश्चिम	169800
	187	वोया	तिलङ्गाना	530400
	188	पल्ले	तिलङ्गाना	150000
	189	वेस्ता	तिलङ्गाना	230400
	190	कब्वेर ग्रम्विडा	तिलंगाना	76500
	191	मोगेर	कनाडा	38200
	192	मुक्कुवन	मालावार	20400
	193	शेम्वडवन	तमिल	54700
चूना, पत्थर, नमक	194	विन्द	विहार, ग्रवध	219700
के कार्यकर्त्ता	195	चैन	विहार, ग्रवध	158600
	196	गोदही	विहार, ग्रवध	165200
	197	लूनिया, वूनिया	उत्तर भारत	837400
	198	खारोल	राजस्थान	12700
	199	रेघार	राजस्थान	14400
	200	खारवी	पश्चिम	50000
	201	ग्राग्रिया ग्रागरा,	पश्चिमी किनारा	270400
	202	उप्पार	कर्नाटक	260000
	203	उप्पिलियन	मालावार	43700
	204	पाथरवट	दक्षिण	23400
	205	वैती-चूनारी	वङ्गाल	18100
ताड़ीवाले	206	पासी	उत्तर प्रदेश, विहार	1408400
	207	भंडारी	पश्चिम घाट	176000
	208	पाइक	कनाडा	809000

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	209	विल्लव	कनाडा	145600
	210	तियाँ	मालावार	580000
	211	तण्डान	मालावार	19000
	212	ईलवन	मालावार	791100
	213	शाणन	तमिल	759300
	214	ईडिग	तिलङ्गाना	337400
	215	गौण्डल	तिलङ्गाना	331500
	216	सेगिडि	उडीसा	53700
	217	यात	उड़ीसा	52700
खेत, मजूर	218	धानुक	आगरा; राजस्थान	804200
	219	अरख	आगरा, राजस्थान	76400
	220	धुडिया-धोडिया	पश्चिम	110200
	221	दुबला-तलविया	पश्चिम	141800
	222	वागदी	बंगाल	1042500
	223	वउरी	बंगाल	705600
	224	रजवार	बंगाल	166400
	225	मुसहर	उत्तरप्रदेश, बिहार	664700
	226	भर	बिहार	458500
	227	धाकर	राजस्थान	125700
	228	पल्लि	तमिल	2572300
	229	पल्लन	मालावार	836500
	230	पुलय	मालावार	524500
	231	चेरुमन		
	232	पराइयम	तमिल	2258620
	233	माल	तिलगाना	1863900
	234	होलेया	कर्नाटक	866200
	235	महार	महाराष्ट्र	2561600
	236	ढेड	पश्चिम	3,8800
चमड़े के कामवाले	237	चमार	सर्वत्र (द. के सिवा)	11176700
	238	मेघ	पंजाब पहाड़ियाँ	140500
	239	दागी	पंजाब पहाड़ियाँ	154700
	240	मादिग	तिलंगाना	1281200
	241	माग	दाक्षिणात्य	579900
	242	शक्किलियन	तमिल	487500
	243	मोची	सर्वत्र (द. के सिवा)	1007800

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	244	वांभी	राजस्थान	200000
चौकीदार	245	बरवाला	पंजाब	101700
	246	घटवाल	बङ्गाल, बिहार	88800
	247	कंड्रा	उड़ीसा	151500
	248	ग्रम्बलक्कारन	तमिल	162500
	249	मुत्राच	तिलंगाना	329100
	250	खंगार	मध्य भारत	113700
	251	मीना	राजस्थान	581900
	252	दुसाध	उत्तरप्रदेश, बिहार	1258200
	253	माल	बंगाल	145700
	254	वेरड-वेडर	कर्नाटक	646000
	255	रामोशी	दाक्षिणात्य	60800
सफाई करनेवाले	256	भंगी, मेहतर	सर्वत्र (द. के सिवा)	839200
	257	चुहड़ा	पंजाब	1329400
	258	मज्बी	पंजाब	38000
	259	मुंड्माली	बंगाल-ग्रसम	131600
	260	हांड़ी, काम्रोरा	बंगाल	306500
	261	हड्डी	उड़ीसा	28100
	262	डोम	उत्तर, मध्यभारत	855600
	263	घासिया	गंगा की घाटी	119300
	264	भाट	उ. ग्रोर प. भारत	377700
वन्दी, भाट ग्रादि	265	भाट राजू	तिलंगाना	28000
	266	राजभाट	बंगाल	11200
	267	चारण	पश्चिम	74000
	268	मीरासी-डूम	पंजाब	291600
ज्योतिष व्यवसायी	269	जोषी	सर्वत्र (दक्षिण-भिन्न)	83700
	270	डाकौट	उत्तर प्रदेश	15600
	271	गणक	ग्रसम	20500
	272	काणियन्	मालाबार	15700
	273	पाणन्	मालाबार	33300
	274	वेलन्	मालाबार	27700
	275	गरपगारा	मध्यप्रान्त	8800
मन्दिर-पुजारी	276	पुजारी	पंजाब	880
	277	भोजकी	पंजाब	1070
	278	भोजक	राजस्थान	1200

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	279	सेवक	राजस्थान	6800
	280	पंडाराम	तमिल	68600
	281	वल्लुवन्	तमिल	85300
	282	तंबल	तिलंगाना	3800
	283	जङ्गम	कर्नाटक	405000
	284	गारुडा	पश्चिम	20600
	285	भराई	पंजाब	66000
	286	उलम	पंजाब	36200
मन्दिर-सेवक	287	फुलारी	दाक्षिणात्य	15700
	288	हुगार		
	289	गुरव	दाक्षिणात्य	94000
	290	वारी	उत्तर भारत	89600
	291	सातानी	तिलंगाना	77400
नृत्य-गीत के पेशावाले	292	देवादिग	तिलंगाना	23800
	293	बेसिया-कचन	उत्तर भारत	57700
	294	कलावन्त	पश्चिम	20000
	295	दासी-देवाली	तिलंगाना-कर्नाटक	25300
	296	बोगम	तिलंगाना-कर्नाटक	32900
गन्ध-ताम्बूल आदि के पेशेवाले	297	मत्तारी	उत्तर मध्यभारत	5900
	298	गन्धवणिक्	बंगाल	141100
	299	कासौंधन	उत्तर प्रदेश	99700
	300	कासरवानी	उत्तर प्रदेश	79700
	301	गांधी	गुजरात, दाक्षिणात्य	3700
	302	कुंजड़ा	उत्तर भारत	285400
भूंजना, पीसना मिष्ठान्नवाले	303	तंबोली	सर्वत्र (द. के सिवा)	209500
	304	भड़भूंजा	उत्तर भारत	359500
	305	भठियारा	पश्चिम पंजाब	58200
	306	कांदू	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	667900
	307	हलवाई	उत्तर, पूर्व भारत	290000
	308	मयरा	बंगाल	149200
कसाई	309	गोड़िया-मुड़िया	बंगाल-उड़ीसा	150400
	310	कसाब	उत्तर भारत	379500
	311	खटिक	उत्तर और पश्चिम	332300
बिसाती आदि	312	बिसाती	पंजाब, उत्तर प्रदेश	3600

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	313	रमैय्या	पंजाब	5300
	314	मनिहार	उत्तर भारत	102300
	315	चूड़ीहार	उत्तर मध्यभारत	55500
	316	काचार	उत्तर मध्यभारत	19100
	317	लाखेड़ा	उत्तर भारत	60100
	318	गाजुल	तिलंगाना	102080
	319	पात्रा	उड़ीसा	61400
	320	संसारी	बंगाल	14800
वस्त्र, पोशाक आदि	321	दरजी	सर्वत्र	83100
के विशेष कौशल	322	सिप्पी	दाक्षिणात्य	36800
जाननेवाले	323	छीपी	उत्तर भारत	269400
	324	भोसार	पश्चिम	38200
	325	रंगरेज	सर्वत्र (द. के सिवा)	137000
	326	नीलरी	उत्तर भारत	48300
	327	गलियारा	पश्चिम	1100
रुई धुननेवाले	328	पिंजारी	पश्चिम	50800
	329	बेहना	उत्तर भारत	362500
	330	धुनिया	उत्तर भारत	272800
	331	दूदेकुल	तिलंगाना	24500
मद्य-विक्रेता	332	सूंड़ी	बङ्गाल	724800
	333	साहा		
	334	कलाल-कलवार	उत्तर-मध्य भारत	1000200
घरेलू भृत्य	335	भिश्ती	उत्तर मध्यभारत	107500
	336	गोला	पश्चिम और उत्तर	30700
	337	कूटा	उत्तर भारत	6400
	338	धाकर	राजस्थान	163600
	339	गवाल	पश्चिम भारत	30600
	340	धूम	बङ्गाल	285000
	341	खानिदई पेशा	उड़ीसा	47100
	342	परिवारम्	तमिल	18900
माल ढोनेवाले	343	बनजारा	उत्तर और मध्यम	496400
	344	लबाना	सर्वत्र (पू. भारत के सिवा)	349500
	345	घोसी	पंजाब	41800
	346	पेंडारी	महाराष्ट्र, कर्नाटक	10100

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
भेड़ और ऊन के	347	गड्डी	पंजाब	103800
कामवाले	348	गड़रिया	उत्तर भारत	1272400
	349	धङ्गर-हातकर	दाक्षिणात्य	1015800
	350	कुड्डवर	दक्षिण भारत	1068000
	351	इडइयर	तमिल	702700
	352	भरवाड	पश्चिम	102900
धरती का काम	353	ओड-वड्डर	सर्वत्र (पूर्व के सिवा)	903100
करने वाले	354	बेलदार	उत्तर-मध्य-भारत	214700
	355	कोडा खैरा	बङ्गाल-बिहार	166500
चाकू के कामवाले	356	सिकलीगर	उत्तर और पश्चिम	21000
	357	घिसाड़ी	दाक्षिणात्य	8400
	358	खुमरा	उत्तर भारत	1100
	359	टाकारी	दाक्षिणात्य	65000
बाँस के कामवाले	360	तूड़ी-तूदी	बङ्गाल	68000
	361	बसोर-बंसफोरा	उत्तर और पश्चिम	96000
	362	बुरुद-मेदार	महाराष्ट्र-कर्णाट	87600
	363	धरकार	युक्तप्रान्त, राजपूताना	43500
चटाई, चंगेलीवाले	364	कंजर-कंजड़	उत्तर भारत	34000
	365	कुडवान-कोरव	तिलंगाना	234800
	366	मेदकल	तिलंगाना	65500
	367	कैकाड़ी	महाराष्ट्र	14200
रूप-जीवा	368	बहुरूपिया	पंजाब, उत्तर भारत	3900
	369	भाँड़	पंजाब, उत्तर भारत	10600
	370	भवाईश्रों	पश्चिम	6000
	371	गोंधली	दाक्षिणात्य	27500
बाजा बजानेवाले	372	डफाली	आगरा, बिहार	50200
	373	नगारची	उत्तर भारत	20600
	374	ढोली	पश्चिम	43700
	375	बजनिया	पश्चिम	14400
	376	तुराहा	बंगाल	77300
मदारी आदि	377	नट	उत्तर भारत	162300
	378	बाजीगर	उत्तर भारत	27000
	379	डोम्बर-कोल्हाटी,	दाक्षिणात्य	39400
	380	गोपाल	दाक्षिणात्य	7100
चौर्य-जीवी	381	बागरिया	मध्य भारत	30900

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	382	बेदिया	उत्तर भारत	57500
	383	संसिया	पंजाब	34700
	384	हबूरा	उत्तर भारत	4300
	385	भामतिया उचला	उत्तर भारत	6100
शिकारी आदि	386	भवरिया	उत्तर भारत	30300
	387	मोघिया		
	388	अहेरिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	35400
	389	बहेलिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	53600
	390	महतम	पंजाब, युक्तप्रान्त	82900
	391	सहरिया	मध्य भारत	136400
	392	बाघरी	मध्य भारत	114000
	393	पारधी	दाक्षिणात्य	32000
	394	वेडन	तमिल	25500
	395	वलय्यन्	तमिल	383000
	396	केड्वन	तमिल	74900
	397	कुरिच्चन	मालाबार	9600
मध्य कटिबन्ध	398	कोल	मध्य प्रान्त	299000
की पहाड़ी जातियाँ	399	हो	बङ्गाल	385100
	400	मुन्डा	बंगाल, बिहार	466700
	401	भूमिज	बंगाल	370200
	402	भुंइया	बंगाल मध्य.	789100
	403	खरवार	बंगाल	139600
	404	वेगा	मध्य प्रान्त	33900
	405	चेरु	बंगाल	30200
	406	खरिया	बंगाल	120700
	407	सन्ताल	बंगाल, बिहार	1907900
	408	माहिली	बंगाल, बिहार	66800
	409	बिरजिया	बंगाल, बिहार	5700
	410	जुआंग	उड़ीसा	11200
	411	ओराव	बिहार-बंगाल	614500
	412	माले	बिहार, बंगाल	48300
	413	मल पहाड़ियाँ	बिहार, बंगाल	35000
	414	गोंड	मध्य प्रान्त	2286900
	415	मझवार	गंगा की घाटी	52400
	416	कोत्तदा-मात्रा	दक्षिण मध्यभारत	50100

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	417	हलबा	द. पू. म. भारत	90100
	418	पथारी	मध्य प्रान्त	2900
	419	प्रधान	मध्य प्रान्त	22900
	420	कोयी	मध्य प्रान्त	115200
	421	कण्ढ	पूर्वोत्तर मद्रास	612500
	422	कोंडू-दोरा	पूर्वोत्तर मद्रास	88700
	423	पोरोजा	पूर्वोत्तर मद्रास	91900
	424	गदबा	पूर्वोत्तर मद्रास	41300
	425	जातपु	पूर्वोत्तर मद्रास	75700
	426	सवर (शबर)	दक्षिण उडीसा	767400
पश्चिमी कटिबंध	427	कोरकू-कोर्वा	बरार-मध्यप्रान्त	181800
की पहाड़ी जातियाँ	428	भील	पश्चिम कटिबंध	1198800
	429	भिलाला	पश्चिम कटिबंध	144400
	430	धान्का	पश्चिम कटिबंध	66100
	431	तड्वी	पश्चिम कटिबंध	10500
	432	निहाल	पश्चिम	6900
	433	गामता	पश्चिम	49300
	434	पटेलिया	पश्चिम	91000
	435	नाइकडा	पश्चिम	90200
	436	नायक	पश्चिम	25100
	437	छोद्रा	पश्चिम	58200
सह्याद्रि की	438	कात्करी	सह्याद्रि	93000
जातियाँ	439	वार्ली	सह्याद्रि	152300
	440	घाट ठाकुर	सह्याद्रि	122120
नीलगिरि की	441	कुरुमान	नीलगिरि	10600
जातियाँ	442	ईरुल	नीलगिरि	86100
	443	तोड	नीलगिरि	800
	444	कोटा	नीलगिरि	1300
	445	[illegible]	नीलगिरि	4100
	446	[illegible]	नीलगिरि	11300
	447	[illegible]	नीलगिरि	[illegible]
	448	[illegible]	नीलगिरि	8100
असम की पहाड़ी	449	[illegible]	[illegible]	[illegible]
जातियाँ	450	[illegible]		
	451	[illegible]	[illegible]	

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसर
	382	बेदिया	उत्त
	383	संसिया	पंजा
	384	हबूरा	उत्त
	385	भामतिया उचला	उ
शिकारी आदि	386	भवरिया	उ
	387	मोघिया	
	388	ग्रहेरिया	प
	389	बहेलिया	प
	390	महतम	
	391	सहरिया	
	392	बाघरी	
	393	पारधी	
	394	वेडन	
	395	वलय्यन्	
	396	केद्दवन	
	397	कुरिच्चन	
मध्य कटिबन्ध	398	कोल	
की पहाड़ी जातियाँ	399	हो	
	400	मुन्डा	
	401	भूमिज	
	402	भुइया	
	403	खरवार	
	404	वेगा	
	405	चेरु	
	406	खरिया	
	407	सन्ताल	
	408	माहिली	
	409	बिरजिया	
	410	जुआग	
	411	ओराव	
	412	माले	
	413	मल पहाड़िय.	
	414	गोंड	
	415	मझवार	
	416	बोत्तदा-भात्रा	

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	487	नेवार	नेपाल	11500
	488	खस	नेपाल	15900
	489	गुरुंग	नेपाल	23900
	490	मंगर	नेपाल	16600
	491	सुनुवार	नेपाल	6900
	492	गोर्खा (साधारण)	नेपाल	18400

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	452	लालंग	असम	
	453	राभा	असम	
	454	हाजंग	असम	
	455	टिपरा-भ्रङ्ग	असम	
	456	चूतिया	असम	
	457	मीरी	असम	
	458	आबोर	असम	
	459	डाफला	असम	
	460	आक	असम	
	461	खासी	असम	
	462	सेइँटेंग	असम	
	463	मिकिर	असम	
	464	नागा (साधारण)	असम	
	465	अंगामी-तेंगिता	असम	
	466	आओ	असम	
	467	सेमा-सिमा	असम	
	468	ल्होटा	असम	
	469	रेंगमा	असम	
	470	कूकी	असम	
	471	मैथेई	असम	
	472	लूसेई	असम	
	473	शान	असम	
	474	खामटी	असम	
	475	फकियाल	असम	
	476	नोरा	असम	
	477	तुरंग	असम	
	478	अइतोन	असम	
	479	आहोम	असम	
	480	सिंगफो	असम	
	481	दाओनिया	असम	
हिमालय की	482	खंपू	नेपाल	
पहाड़ी	483	याख	नेपाल	
	484	लिबू	नेपाल	
	485	लेप्चा-रोंग	सिक्किम	
	486	मुरमी	नेपाल	

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	487	नेवार	नेपाल	11500
	488	खस	नेपाल	15900
	489	गूरुंग	नेपाल	23900
	490	मंगर	नेपाल	16600
	491	सुनुवार	नेपाल	6900
	492	गोर्खा (साधारण)	नेपाल	18400

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	452	लालंग	असम	35500
	453	राभा	असम	67300
	454	हाजंग	असम	88200
	455	टिपरा-अङ्ग	असम	111300
	456	चूतिया	असम	85800
	457	मीरी	असम	46700
	458	आबोर	असम	320
	459	डाफला	असम	950
	460	आक	असम	28
	461	खासी	असम	111600
	462	सेईं टेंग	असम	47900
	463	मिकिर	असम	87300
	464	नागा (साधारण)	असम	78900
	465	अंगामी-तेंगिता	असम	27500
	466	आओ	असम	26800
	467	सेमा-सिमा	असम	4700
	468	ल्होटा	असम	19300
	469	रेंगमा	असम	5600
	470	कूकी	असम	67200
	471	मेथेई	असम	69100
	472	लूसेई	असम	63600
	473	शान	असम	1850
	474	खामटी	असम	2000
	475	फकियाल	असम	220
	476	नोरा	असम	140
	477	तुरंग	असम	400
	478	अइतोन	असम	80
	479	आहोम	असम	178000
	480	सिंगफो	असम	800
	481	दाओनिया	असम	1000
हिमालय की पहाड़ी	482	खंपू	नेपाल	46500
	483	याख	नेपाल	2400
	484	लिंबू	नेपाल	24600
	485	लेप्चा-रोंग	सिकिम	18000
	486	मुरमी	नेपाल	33900

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	487	नेवार	नेपाल	11500
	488	खस	नेपाल	15900
	489	गूरुंग	नेपाल	23900
	490	मंगर	नेपाल	16600
	491	सुनुवार	नेपाल	6900
	492	गोर्खा (साधारण)	नेपाल	18400

मध्यकालीन साधना : स्फुट रचनाएँ

मधुररस की साधना

'मधुर' नामक भक्ति-रस के विचार का उपपादन करते समय श्री रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ में लिखा है कि "आत्मोचित विभावादि द्वारा मधुर रति जब सहृदय व्यक्तियों के हृदय में पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोगों के किसी काम का नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात् जैसा कि जीवगोस्वामी ने 'निवृत्त' शब्द का अर्थ किया है, प्राकृत शृंगाररस के साथ इसकी समानता देखकर इस भागवत-रस से भी विरक्त हो गये हों), फिर यह रस दुरूह और रहस्यमय भी है; इसीलिए यद्यपि यह बहुत विशाल और विततांग है; तथापि संक्षेप में ही लिख रहा हूँ" :

आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टि नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते॥

गोस्वामिपाद के इस कथन के बाद दुनियादारी की झंझटों में फँसे हुए किसी भी मादृश व्यक्ति का इस रस के सम्बन्ध में लिखने का संकल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है, क्योंकि पहले तो गोस्वामिपाद ने यद्यपि बड़े कौशलपूर्वक इसकी दुरूहता की ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है, परन्तु कहीं ऐसा संकेत नहीं किया कि इस रस की चर्चा निषिद्ध है। दूसरे, भक्तिशास्त्रकारों और अनुरक्त भक्तजनों की चर्चा करते रहने से—ऐसा विधान है कि—पहले श्रद्धा, फिर रति और फिर भक्ति अनुक्रमित होती है :

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनः कथा।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भा. 30।5।25)

तीसरे, गोस्वामिपाद ने इसे उन लोगों के लिए अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रस के साथ शृंगार का साम्य देखकर ही बिदक गये हों—उन लोगों के लिए नहीं जो शृंगार-रस के साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शास्त्रों में और इतिहास में ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गये हैं जो

भूल से ही इस रास्ते आ पड़े थे और फिर जीवन का चरम लाभ पा लेने में समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गये थे, सूरदास और बिल्वमंगल गलती से ही इधर आ पड़े थे और बाद में वे क्या हो गये—यह जगद्विदित प्रसंग है।

इन पंक्तियों के लेखक के समान ही ऐसे बहुत-से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चा के प्रसंग में दिन-रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव-संचारी भाव और सात्विक भावों की चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगों को यह जान रखना चाहिए कि भक्ति में केवल एक ही स्थायी भाव है—श्रीकृष्ण-विषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तों के स्वभाव के अनुसार यह लगन पाँच प्रकार की हो सकती है—शान्त-स्वभाव की, दास्य-स्वभाव की, सख्य-स्वभाव की, वात्सल्य-स्वभाव की और मधुर-स्वभाव की। इन पाँचों स्वभावों के अनुसार रति भी पाँच प्रकार की होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँ तक जड़-जगत् का विषय है, इनमें शान्ता रति सबमें श्रेष्ठ है और फिर बाकी क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृंगार नाम ग्रहण करती है। जड़-विषयक होने में यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़-जगत् है क्या चीज ? नन्ददास ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान् की छाया है जो माया के दर्पण में प्रतिफलित हुई है :

या जग की परछाँह री माया दरपन बीच।

अब अगर दर्पण की परछाँह की जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उल्टी पड़ती है। जो चीज ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। जड़ जगत् में जो सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृंगाररस जो जड़-जगत् में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृंगार होने पर ही मधुररस हो जाता है, यद्यपि भक्ति शास्त्र की मर्यादा के अनुसार इसे शृंगार नहीं कहा जा सकता। केवल व्रज-सुन्दरियों के शृंगार और मधुर एक रस है; क्योंकि उनके लिए काम और प्रेम में भेद नहीं है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कहा गया है कि गोपरमणियों का प्रेम ही काम कहा गया है :

प्रेमैवगोपरामाणा काम इत्यगमत् प्रथाम्।

कारण स्पष्ट है—जड़विषयक अनुराग को 'काम' कहते हैं और भगवद्विषयक अनुराग को 'प्रेम'। व्रज-सुन्दरियों की सारी कामना के विषय 'असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीलावैदग्ध्यसम्प्रदाम्' आश्रय-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण थे और इसीलिए उनके काम को जड़विषयक कहा ही नहीं जा सकता। 'गीतगोविन्द' में कहा गया है कि "हे सखि, जो अनुरंजन के द्वारा समस्त विश्व का आनन्द उत्पादन करते हैं, जो इन्दीवर-श्रेणी के समान कोमल श्यामल अंगों से अनंगोत्सव का विस्तार कर रहे हैं तथा व्रज-सुन्दरियों द्वारा स्वच्छन्द भाव से जिनका

प्रत्येक अंग आलिंगित हो रहा है, वही भगवान् मूर्त्तिमान् शृंगार की भांति मुग्ध होकर वसन्त-ऋतु में विहार कर रहे हैं :

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर,
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नंगैरनंगोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यंगमालिंगितः,
शृंगारः सखि मूर्तिमानिवमधौ मुग्धोहरिः क्रीडति ॥

सो यही भगवान् जो साक्षात् शृंगारस्वरूप हैं, मधुर-रस के प्रधान आलम्बन हैं। इनकी प्रेयसियां वे परम अद्भुत किशोरियां हैं जो नव-नव उत्कृष्ट माधुरी की आधारस्वरूपा हैं, जिनके अंग-प्रत्यंग भगवान् की प्रणय-तरंग से करम्बित हैं और जो रमणरूप से भगवान् का भजन करती हैं :

नानववरमाधुरीधुरीणाः प्रणयतरंगकरम्बितांगरंगाः।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः ॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु

इन व्रज सुन्दरियों मे भी राधारानी सर्वश्रेष्ठ हैं जिनके लोचन मदमत्त चकोरी के लोचनों की चारुता को हरण करनेवाले हैं, जिनके परमाह्लादक वदन-मण्डल ने पूर्णिमा के चन्द्र की कमनीय कीर्त्ति का भी दमन किया है, अविकल कलधौत (स्वर्ण) के समान जिनकी अंग-श्री सुशोभित है, जो मधुरिमा की साक्षात् मधुपात्री हैं :

मदचकुट चकोरीचारुताचोरदृष्टि-
र्वदनदमितराकारोहिणी कान्तकीर्त्तिः।
अविकलकलधौतोद्घूतिधौरेयकश्री-
र्मधुरियमघुपात्री राजते पश्य राधा ॥

जड़ादिविषयक शृंगारादि रस के साथ इस अनिर्वचनीय मधुररस का एक और मौलिक अन्तर है। अलंकार-शास्त्रों मे विवृत शृंगारादि रस केवल जड़ोन्मुख ही नहीं होते, उनके भाव की स्थिति भी जड़ में ही होती है। अलङ्कार-शास्त्र में बताया गया है कि शृंगारादि रसों के रत्यादि स्थायी भाव संस्काररूप से मन में स्थिर रहते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्वजन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्म की अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है, उसके साथ पूर्वजन्म के संस्कार तो आ ही नही सकते; फिर स्थायी भाव के संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी एक शरीर से दूसरे में संक्रमित होता है। इस सूक्ष्म शरीर मे ही पाप-पुण्य आदि के संस्कार रहते है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। जैसा करता है वैसा ही भोगता है :

स वायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः

पृथिवीमयः आपोमयो वायुमयः आकाशमयस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिद मयऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति; पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

(बृहदारण्यक. 4/4/5)

साख्यकारिका में करीब-करीब इन सभी बातों को लिंगशरीर कहा गया है। बताया गया है कि प्रकृति के तेईस तत्त्वों मे से अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल है, पर बाकी अठारहो तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ-ही-साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्त्व उसके साथ लगे होते है (सां. का. 40)। अब यह तो स्पष्ट ही है कि प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार, मन और दसों इन्द्रिय प्रकृति के गुणमात्र, अतः सूक्ष्म है। उनकी स्थिति के लिए किसी स्थूल आधार की जरूरत होगी। पञ्चतन्मात्र इसी स्थूल आधार का काम करते है। उपनिषदों में इस बात को और तरह से कहा गया है। आत्मा का सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूल देह है, इसे उपनिषदों में अन्नमय कोश कहा गया है। दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म हैं, उनमें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोश हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूल शरीर की अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं, उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान् ने गीता में इसी बात को इस प्रकार कहा है :

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु स.॥

वेदान्तशास्त्र मे कई प्रकार से यह बात बतायी गयी है। कहीं इसके सत्रह अवयव बताये गये हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्तसार 13,); फिर आठ पुरियों का उल्लेख है (सुरेश्वराचार्य का पञ्जीकरण वार्तिक)—जिनमें पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, पांच प्राण, पांच भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) अविद्या, काम और कर्म हैं। ऐसे ही और भी कई विधान है। इनका शास्त्रकारों ने समन्वय भी किया है। (वेदान्तसार 13 पर विद्वन्मनोरंजनी टीका)। यहाँ प्रकृत यह है कि स्थायी भावों के सस्कार इसी लिंगशरीर मे हो सकते हैं। वह चूंकि जड़ है, इसलिए उसकी प्रवृत्ति जड़ोन्मुख होती है। अलंकार शास्त्रों में यह बार-बार समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य, क्योकि कार्य होता तो विभावादि के नष्ट होने पर नष्ट नही हो जाता, कारण के नष्ट होने से कार्य का नष्ट होना नही देखा जाता—स च न कार्यः विभावादि विनाशेऽपि तस्य सम्भव प्रसंगात् (काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास)। परन्तु मधुर रस आत्मा का धर्म है, यह स्थूल जड़-जगत् की वस्तु नही है। उसके विभावादि का कभी विलय नही होता, इसलिए उसके लिए सम्भवासम्भव-प्रसंग उठता ही नही।

रस कई प्रकार के है। सबसे स्थूल है अन्नमय कोश का आस्वाद रस।

रसनादि इन्द्रियों से उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तन से आस्वाद्य है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस जो बुद्धि द्वारा आस्वाद्य है, पर वह भी जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रस के निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है जिसका नाना-स्वभावों के भक्त नाना भाव से आस्वादन करते हैं। मधुररस उसी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इसकी ठीक-ठीक धारणा इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धि से भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तन का विषय है, न बोध का। वह अलौकिक है। इसीलिए भक्तिशास्त्र ने इसके अधिकारी होने के लिए बहुत ही कठोर साधना का उपदेश किया है। रूप गोस्वामी ने इसीलिए इसे दुरूह कहा है। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—तृण से भी सुनीच होकर, वृक्ष की अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्यागकर, दूसरे को सम्मान देकर ही हरि की सेवा की जा सकती है :

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सम्पूर्ण निग्रह और वशीकरण जब तक न हो जाय, तब तक इस सुकुमार भक्तिक्षेत्र में आने का अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोक के विविध भोगों की ओर मोक्ष सुख की कामना जब तक सर्वथा नहीं मिट जाती, तब तक इस मधुर प्रेमराज्य की सीमा के अन्दर प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसी से यह सिद्धान्त बतलाया गया है :

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात कथमभ्युदयो भवेत्॥

जब तक भोग और मोक्ष की पिशाचिनी इच्छा हृदय में वर्तमान है, तब तक प्रेम-सुख का उदय कैसे हो सकता है?

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—असत् शास्त्रों में आसक्ति, जीविकोपार्जन, तर्कवादपक्षाश्रयण, शिष्यानुबन्ध, बहुग्रन्थाभ्यास, व्याख्योपयोग, महान् आरम्भ, ये सब भक्ति चाहनेवालों के लिए वर्जित हैं :

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादास्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कं च न संश्रयेत्॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥

(श्रीमद्भा. 7/13/6-7)

इन बातों के लिए शास्त्रकारों ने बहुत-से उपाय बताये हैं जो न तो इस क्षुद्र प्रबन्ध में बताये ही जा सकते और न वे अनधिकारी लेखनी के साध्य के विषय ही हैं। इसीलिए इस चर्चा को और आगे नहीं बढ़ाया जा रहा है। जब सारा अभिमान और अहंकार दूर हो जायेगा, ज्ञान और पाण्डित्य शान्त हो रहेंगे, तब वह

परमाराध्य जिसकी नर्तमान भ्रूलता के कारण मुखश्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिसका कर्णाग्रभाग मनोज्ञ-कलिका से विभूषित है, ऐसा कोई नवीन निकष-प्रस्तर के समान वेशवाला किशोर वंशीरव से मन और बुद्धि को बेबस कर डालेगा :

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्रीः कम्रूर्लिकोरककरम्बितकर्णपूरः
कोऽप्यंनवीननिकषोपलतुल्यवेषो वंशीरवेण सखि मामवशीकरोति ॥
('कल्याण'—साधनांक)

वैष्णव कवियों की रूपोपासना

सुन्दर मुख की बलि बलि जाऊँ।
लावन-निधि, गुन-निधि, शोभा-निधि, निरखि निरखि जीवत सब गाऊँ ॥
अंग-अंग प्रति अमित माधुरी प्रगटित रस रुचि ठाऊँ-ठाऊँ।
तामें मृदु मुसकानि मनोहर, न्याय कहत कवि मोहन नाऊँ ॥
नैन सैन दै दै जब बोलत ता पर हौं बिन मोल बिकाऊँ।
सूरदास प्रभु मदन मोहन छवि यह शोभा उपमा नहिं पाऊँ ॥

सूरदास के प्रभु की इस मदनमोहन छवि की उपमा सचमुच संसार में नहीं है। भक्त केवल उस 'कुटिल बिथुरे कच' वाले मुख के ऊपरी सौन्दर्य पर ही इतना अधिक भाव-मुग्ध हुआ हो, यह बात संसार की साधना में अद्वितीय है। यह भाव एकमात्र भारतीय वैष्णव कवियों की साधना में सर्व-प्रथम और शायद सबसे अन्त में, अभिव्यक्त हुआ है। वैष्णव कवियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक में वे भक्त हैं जो भक्त या साधक पहले हैं, कवि बाद में। दूसरी श्रेणी में उन कवियों को रखा जा सकता है जो कवि पहले हैं, भक्त बाद में। सूरदास और तुलसीदास पहली श्रेणी में आते हैं; देव, बिहारी और मतिराम दूसरी में। सूरदास उपरिलिखित भजन में कहते हैं कि इस 'लावण्यनिधि, शोभानिधि, गुणनिधि' गोपाल को कवि 'मोहन' कहते हैं, यह बात उचित ही है। पर स्वयं सूरदास, कवि की उक्ति तक ही आकर नहीं रुक सकते, वे साधक हैं, वे आगे बढ़ते हैं—'नैन सैन दै दै जब बोलत तापर हौं बिन मोल बिकाउँ!' कवि और साधक वैष्णव यहीं आकर अलग हो जाते हैं। कवि इस रूपातीत को एक नाम देकर, एक मोहक आख्या देकर, अपने कवि-स्वभाव के औचित्य की सीमा तक रुक जाता है। साधक आगे बढ़ता है और उत्सर्ग कर देता है अपने को उस मनोहारी सैन पर, उस रमणीय बोल पर—सो भी बिना मोल!

वैष्णव कवियों के इन दो रूपों को न समझने के कारण आज का समालोचक नाना प्रकार की कटूक्तियों से साहित्यिक वातावरण को क्षुब्ध कर रहा है। आज के कार्यबहुल काल में मनुष्य की ललित भावनाएँ खण्ड-भाव से प्रकट हो रही है। किसी को इस समय एक समग्र साहित्य को न तो समझने की फुरसत है और न रचना करने की। काव्य में यह लिरिक् का युग है, कथा में छोटी कहानी का और चित्रकला में विच्छिन्न चित्रों का, पर इसलिए इन विच्छिन्न चेष्टाओं को विच्छिन्न भाव से देखना तो वास्तविक देखना नहीं है। इस युग की काव्य-चेष्टा को समझने के लिए अतीत युग की काव्य-चेष्टा का ज्ञान आवश्यक है। इस देश का साहित्य समझने के लिए देशान्तर के साहित्य को समझने की जरूरत है—विच्छिन्न काव्य-चेष्टा के वर्तमान युग को समझने के लिए देशान्तर और कालान्तर काव्य-चेष्टा का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। पर प्राचीन युग के साहित्य को समझने के लिए केवल प्राचीनतर साहित्य ही आवश्यक नहीं है, आधुनिक मनोवृत्ति का अध्ययन भी आवश्यक है। हमें अगर सूरदास या नन्ददास को समझना है, तो उसका प्रधान उपकरण हमारी आधुनिक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति से उस युग की मनोवृत्ति का ठीक मेल नहीं भी हो सकता है। आज सौन्दर्य और ललित का स्टैण्डर्ड बदल गया है। इस मानदण्ड से प्राचीन लालित्य को समझना सब समय सुलभ नहीं हो सकता। इस मनोवृत्ति को लेकर अगर प्राचीन कविताओं का अध्ययन किया जायेगा तो अनर्थ की सम्भावना है। उपनिषद् के एक मन्त्र में कहा गया है, "आत्मा को जानकर परमात्मा को जानना चाहिए।" इस कथन को बदलकर कहा जा सकता है कि अभिनव मनोवृत्ति को समझकर प्राचीन मनोवृत्ति को समझना चाहिए।

मि. रोसेनकोपे ने सन् 1914 में (Lectures on Aesthetics, London University) कहा था कि "सन् 1860 ई. से इंगलैण्ड के सर्वसाधारण का चित्त परियों के रम्य लोक से हटकर सरल सहज कल्पना और मानवता की ओर अग्रसर हुआ है।" इस वक्तव्य को कुछ बदलकर भारतवर्ष के बारे में भी कहा जा सकता है। कम-से-कम इस शताब्दी में भारतीय चित्त भी कृष्ण और राधिका के विचारललित और भाव-मधुर गोलोक से उतरकर सहज मानव-गृह की ओर गया है। वस्तुतः आज भारतवर्ष का चित्त भी संसार के अन्य देशों की तरह एक [illegible]

भारतीय चित्त कुछ हतबुद्धि-सा हो गया है। यूरोप में चौदहवीं शताब्दी में ही मानव-चित्त स्वर्ग से हटकर मर्त्य की ओर अग्रसर हो गया था। मर्त्य की ओर आकर भी वह एक बार विस्मृत परलोक की ओर धावित हुआ था। बीच में उसे तैयार होने का पर्याप्त अवसर मिला था। परन्तु यह सौभाग्य भारतवर्ष को न प्राप्त हो सका। एक ही साथ इतने वादों की बाढ़ यहाँ आयी कि आज का नव-शिक्षित समालोचक चकित-थकित की भाँति कर्त्तव्य-मूढ़ हो उठा है।

भारतीय समालोचक एक बार टेनिसन जैसे धार्मिक-भावापन्न कवि की कविता से मुग्ध होकर वैष्णव कवियों की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखता है, एक बार कीट्स की अस्तमित-तत्त्वा आनन्दमयी उक्तियों से चकित होकर देव और बिहारी में उस भाव को खोजता है, एक बार बायरन के तत्त्व-गम्भीर आख्यान-काव्यों का आनन्द लेकर कबीर और दादू की ओर दौड़ता है, एक बार ईसाई भक्तों की गलदश्रु-भावुकता से विमुग्ध होकर रसखान और घन आनन्द की ओर ताकता है और अन्त में सर्वत्र निराश होकर क्षुब्ध हो उठता है। नवीन आलोचक इस महाविकट युग में सबसे अधिक रूप के भीतर अरूप की सत्ता खोजने में अपना समय नष्ट होता है। पर हाय, नाना अभिनव वादों के तरंगाघात से जर्जर उसकी चित्त-तरी अधिकाधिक भ्रान्त हो उठती है!

एक बार इंगलैण्ड में ग्रीक नाटकों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन हुआ था। कहा गया था कि वे असमीचीन और अस्वाभाविक हैं, अमार्जित और कुरुचिपूर्ण हैं। पर शीघ्र ही इस भूल का सुधार हुआ। अंग्रेज मनीषियों ने आलोचनात्मक प्रबन्धों से अंग्रेज मस्तिष्क को उस सौन्दर्य का अधिकारी बनाया। ग्रीक नाटकों को ह्यूमेनिस्टिक या मानवीय-रस-मूलक कहा गया था। कहना नहीं होगा कि आज का यूरोपीय साहित्य कम मानवीय नहीं है, पर ग्रीकों के मानव-आदर्श और वर्तमान युग के मानव-आदर्श एक ही नहीं हैं। व्रजभाषा कवियों की रूपोपासना को एक विशेष अर्थ में मानवीय कहा जा सकता है, व्रज का कवि कभी कृष्ण या राधिका के रूप में अमानव रस का आरोप नहीं करता। वह केवल एक बार स्वीकार कर लेता है कि उसका प्रतिपाद्य अतिमानव है, पर इस स्वीकारोक्ति ने उसके रस-बोध में कहीं भी कमी नहीं आती। वह ईसा मसीह के भावुक भक्तों की भाँति सदा अपने प्रभु को दैवी प्रतीक या दैवी मध्यस्थ नहीं समझता। कहें तो कह सकते हैं कि व्रज का कवि भी मानवीय है। पर ग्रीक कवि, आज के नाटककार और व्रजभाषा के कवि की मानवता की कल्पना में आकाश-पाताल का अन्तर है। तीनों तीन चीजें हैं—एकदम अलग-अलग।

ग्रीक नाटकों और मूर्तियों के साथ प्राचीन ग्रीकों की रीति-नीति, आचार-व्यवहार जटिल भाव से जड़ित थे। ग्रीक आर्ट केवल आर्ट के लिए नहीं था, वह ग्रीकों का जीवन था, ग्रीकों का उत्सव था, ग्रीकों का सर्वस्व था। एक अमरीकी लेखक ने लिखा है कि हम आजकल नाटक को जिस दूरस्थ साक्षी की भाँति देखते हैं, ग्रीक उस तरह उसे नहीं देखते थे; ग्रीक दर्शक अभिनेताओं से इतने पृथक् नहीं होते थे। एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ ने नाट्य-मंच की आलोचना के प्रसंग में कहा था कि वे जापानी क्लासिकल नाटकों की एक विशेषता देखकर आनन्दित हुए थे। अभिनेता सजकर दर्शकों के बीचोबीच से होकर रंग-मंच की ओर अग्रसर होते थे। यह बात मानो यह घोषित कर रही थी कि अभिनेता दर्शकों से दूर की चीज नहीं है। ग्रीक नाटकों में शायद ऐसा नहीं होता था, पर ग्रीक दर्शक निश्चय ही उसे अपने जीवन का एक स्वाभाविक अंग समझता था।

कवि को भावमंदिर कर देता है, उसे मद कहा जा सकता है। मदन की यह विशेषता है कि उससे मोह का आवेश बढता है, नयी-नयी कल्पनाएँ, नये-नये रूप दर्शक को विह्वल कर देते है। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सांसारिकों के रूप में मदन का भाव है—वह मादक होता है, उससे जडता आती है। पर कृष्ण का रूप 'मदन-मोहन' है, वह मादकता को भी मोहित कर देता है। उस मोह का रूप तमः-प्रकृतिक नही है, वह सत्त्व-प्रकृतिक है। (प्रीति सन्दर्भ, 203-215) वैष्णव कवि की वाणी का सारा ऐश्वर्य इस 'मदनमोहननिहारु' छवि तक आकर हत-चेष्ट हो जाता है, साधक एक कदम और आगे बढता है। वह बिना किसी कारण, बिना किसी लाभ के, बिना किसी उद्देश्य के, अपने को उस पर निछावर कर देता है, अपनी सत्ता उसी मे विलीन कर देता है, यही उसका सुख है, यही उसकी चरम आराधना है—'दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु।' देखनेवाला देखने मे ही सुख पाता है—केवल देखने में !

कविवर रवीन्द्रनाथ एक स्थान पर लिखते हैं—"जो लोग अनन्त की साधना करते है, जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि जो कुछ देख और जान रहे है, वही चरम सत्य नही है, स्वतन्त्र नही है, किसी भी क्षण मे वह अपने-आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित नही कर सकता; यदि वे ऐसा करते होते तो सभी स्वयम्भू, स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहते। ये जो अन्तहीन स्थिति के द्वारा अन्तहीन गति का निर्देश करते है, वही हमारे चित्त का चरम आश्रय और चरम आनन्द है।

"अतएव आध्यात्मिक साधना कभी रूप की साधना नही हो सकती। वह सारे रूप के भीतर से चंचल रूप के बन्धन को अतिक्रम करके ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु अपने को ही चरम समझने का भान कराती है, साधक उस भान के आवरण को भेदकर ही परम पदार्थ को देखना चाहता है। यदि यह नाम-रूप का आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद न कर सकता। यदि वे अविश्रान्त भाव से नित्य प्रवहमान होकर अपनी सीमा को आप ही न तोड़ते चलते तो इन्हें छोड़कर मनुष्य के मन मे और किसी चिन्ता का स्थान ही न होता, तब इन्हें ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो बैठे रहते—तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे अचल और प्रत्यक्ष सत्यों की भीषण शृंखला मे बँधकर मूक और मूर्च्छित हो रहते, इनके पीछे और कुछ भी न देख पाते। किन्तु ये सारे खण्ड वस्तु-समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँधकर खड़े नही हो गये, इसीलिए हम अखण्ड सत्य का, अक्षय पुरुष का, सन्धान पाते है···

"इसीलिए शिल्प-साधना मे भाव-व्यंजना ('सजेस्टिवनेस') का इतना आदर है। इस भाव-व्यंजना के द्वारा रूप अपनी एकान्त व्यक्तता को यथासम्भव परिहार करता है, इसीलिए अपने को अव्यक्त में विलीन कर देता है। इसीलिए मनुष्य का हृदय रूप से प्रतिहत नही होता। राजोद्यान का सिंहद्वार कितना ही

बौद्ध या हिन्दू देवताओं की मूर्तियों का अपूर्व कारु-कौशल उस प्रकार का हो ही नहीं सकता था, यदि शिल्पकार उसे अपने तन-मन और जीवन से न रचता। ब्रजभाषा के कृष्ण की सारी लीला भी इसी तन-मन और जीवन के ईंट-चूने-गारे से बनी है। कवि ने अपनी मनुष्यता का सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग उस भाव-मधुर रुचिर-छवि की रचना में किया है। वह एकान्त दूर से निरीक्ष्यमाण चित्र नहीं है, वह अन्तर की प्रेम-स्रोतस्विनी की ठोस जमावट है। वहीं आकर उसकी सारी धारा सार्थक हो गयी है, रूपान्तरित हो गयी है। वह किसी वाद या व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती, वह अपने-आपमें पूर्ण है; पर आज का नाटक या काव्य या शिल्प न तो उस जीवनमय, किन्तु नित्य-नूतन ग्रीक मानवीयता के साथ मेल रखता है और न इस मनोमय किन्तु परिवर्तनातीत भाव-मधुर वैष्णव मानवीयता का सादृश्य रखता है। वस्तुतः आज की ललित कला का कोई एक रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। बहुस्वधर्मा, नानामुखी, साक्षिसापेक्षा इस कला का रूप भविष्य ही निर्णय करेगा।

इसीलिए जब सूरदास रूपातीत को 'मोहन' कहना कवि के लिए 'न्याय' बताते हैं तो उनकी बात सहज ही समझ में आ जाती है। यह रूप अन्य रूपों की भाँति आगे बढ़ने का मार्ग नहीं दिखाता, यहाँ आकर सारी गति रुद्ध हो जाती है, सारी वृत्तियाँ मुग्ध हो जाती हैं, सारी चेष्टाएँ व्यर्थता के रूप में सार्थक हो जाती हैं। कवि की सारी सार्थकता इस व्यर्थता में ही है। यह रूप मोहन है। मोहनेवाला, अर्थात् जहाँ जाकर सारी मानसिक वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं। तुलसीदास एक जगह कहते हैं :

सखि ! रघुनाथ रूप निहारु।
सरदविधु रवि सुअन मनसिज मान भंजन हारु।
स्याम सुभग सरीर जनु मन-काम पूरनिहारु॥
चारु चन्दन मनहुँ मरकत सिखर लसत निहारु।
रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गज मनि हारु॥
मनहुँ सुरधुनि नखत गन बिच तिमिरभञ्ज निहारु।
बिमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-बिनिन्द निहारु॥
बदन सुषमा सदन सोभित मदन मोहनि हारु।
सकल अंग अनूप नहिं कोउ सुकवि बरन निहारु॥
दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरख निहारु।

यहाँ भी कवि के उसी रूप का उल्लेख है। ऐसा कोई कवि नहीं जो उस 'सकल अंग अनूप' का वर्णन कर सके। उसके लिए एक शब्द ही उपयुक्त है और इसका उपयोग वह तब करता है जब उसकी उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं, उत्प्रेक्षाएँ रुद्धवेग हो पड़ती हैं, रूपक विगत-ऋद्धि हो उठते हैं। उस समय वह एक ही बात कहता है—'बदन सुषमा सदन सोभित मदन-मोहनिहारु।' और यहीं आकर सारा कवित्व पर्यवसित हो जाता है। जिसका रूप एक बार

कवि को भावमदिर कर देता है, उसे मद कहा जा सकता है। मदन की यह विशेषता है कि उससे मोह का आवेश बढ़ता है, नयी-नयी कल्पनाएँ, नये-नये रूप दर्शक को विह्वल कर देते हैं। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सासारिको के रूप मे मदन का भाव है—वह मादक होता है, उससे जड़ता आती है। पर कृष्ण का रूप 'मदन-मोहन' है, वह मादकता को भी मोहित कर देता है। उस मोह का रूप तमः-प्रकृतिक नही है, वह सत्त्व-प्रकृतिक है। (प्रीति सन्दर्भ, 203-215) वैष्णव कवि की वाणी का सारा ऐश्वर्य इस 'मदनमोहनिहारु' छवि तक आकर हत-चेष्ट हो जाता है, साधक एक कदम और आगे बढता है। वह बिना किसी कारण, बिना किसी लाभ के, बिना किसी उद्देश्य के, अपने को उस पर निछावर कर देता है, अपनी सत्ता उसी मे विलीन कर देता है, यही उसका सुख है, यही उसकी चरम आराधना है —'दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु।' देखनेवाला देखने मे ही सुख पाता है—केवल देखने मे !

कविवर रवीन्द्रनाथ एक स्थान पर लिखते हैं—"जो लोग अनन्त की साधना करते है, जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते है, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि जो कुछ देख और जान रहे है, वही चरम सत्य नहीं है, स्वतन्त्र नही है, किसी भी क्षण में वह अपने-आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित नही कर सकता; यदि वे ऐसा करते होते तो सभी स्वयम्भू, स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहते। ये जो अन्तहीन स्थिति के द्वारा अन्तहीन गति का निर्देश करते है, वही हमारे चित्त का चरम आश्रय और चरम आनन्द है।

"अतएव आध्यात्मिक साधना कभी रूप की साधना नही हो सकती। वह सारे रूप के भीतर से चंचल रूप के बन्धन को अतिक्रम करके ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु अपने को ही चरम समझने का भान कराती है, साधक उस भान के आवरण को भेदकर ही परम पदार्थ को देखना चाहता है। यदि यह नाम-रूप का आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद न कर सकता। यदि वे अविश्रान्त भाव से नित्य प्रवहमान होकर अपनी सीमा को आप ही न तोड़ते चलते तो इन्हे छोड़कर मनुष्य के मन मे और किसी चिन्ता का स्थान ही न होता, तब इन्हें ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो बैठे रहते—तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे अचल और प्रत्यक्ष सत्यों की भीषण शृंखला मे बँधकर मूक और मूर्च्छित हो रहते, इनके पीछे और कुछ भी न देख पाते। किन्तु ये सारे खण्ड वस्तु-समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँधकर खड़े नही हो गये, इसीलिए हम अखण्ड सत्य का, अक्षय पुरुष का, सन्धान पाते है···

"इसीलिए शिल्प-साधना मे भाव-व्यंजना ('सजेस्टिवनेस') का इतना आदर है। इस भाव-व्यंजना के द्वारा रूप अपनी एकान्त व्यक्तता को यथासम्भव परिहार करता है, इसीलिए अपने को अव्यक्त में विलीन कर देता है। इसीलिए मनुष्य का हृदय रूप से प्रतिहत नही होता। राजोद्यान का सिंहद्वार कितना ही

अभ्रभेदी क्यों न हो, उसकी शिल्पकला कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, वह यह नहीं कहता कि हममें आकर ही सारा रास्ता समाप्त हो गया। असल गन्तव्य-स्थान उसे अतिक्रम करने के बाद ही है, यही बताना उसका कर्तव्य है।"

इस लम्बे उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इसमें रूप के बन्धनात्मक-स्वरूप से उतरकर बाधात्मक-रूप में प्रकट होने की सुन्दर व्याख्या की गयी है। रूप बन्धन है, पर यह बन्धन रूपातीत को समझने में सहायक है; रूप चल है, पर वह सनातन की ओर इशारा करता है; रूप सीमा है, पर उसमें असीम की भावव्यंजना है। यही रूप जब आध्यात्मिक-साधना का विषय हो जाता है तो बन्धन से ही नीचे उतरकर बाधा का रूप धारण करता है। फिर वह उस राजोद्यान के सिंहद्वार के समान गन्तव्य की ओर इशारा न कर अपने-आपको ही विषम बाधा के रूप में उपस्थित करता है। एक सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ ने कहा है कि आर्ट जब देवी-देवताओं की उपासना में नियोजित होता है तो उसमें एकघुष्टता या मोनोटोनी आ जाती है, उसमें प्रतिभा का स्थान नहीं रह जाता; क्योंकि प्रतिभा नित्य नूतन रूप चाहती है, देवी-देवताओं की मूर्तियों की एक ही कल्पना सदा के लिए स्थिर हो जाती है। रवीन्द्रनाथ स्वयं कहते हैं—"कल्पना जब रुककर एक ही रूप में, एकान्तभाव से, देह धारण करती है, तब वह अपने उसी रूप को दिखाती है, रूप के अनन्त सत्य को नहीं। इसीलिए विश्व-जगत् के विचित्र और चिर-प्रवाहित रूप के चिरपरिवर्तनशील अन्तहीन प्रकाश में ही हम अनन्त के आनन्द को मूर्तिमान देखते हैं।"

वैष्णव कवि भी रूप के इस पहलू को समझता है। अन्तर यह है कि उसका रूप चरम रूप है जिसकी उपासना में वह अरूप की परवा नहीं करता। यह रूप कल्पना-प्रसूत नहीं है, बल्कि कल्पना से परे है। रवीन्द्रनाथ का तत्त्ववाद और उपलब्धि एक ही वस्तु है, इसीलिए उनके निकट कल्पना और भक्ति में कहीं विरोध नहीं हो सकता है। वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है—अर्थात् जहाँ रूप 'मोहन' हो उठता है, जहाँ सारी चित्तवृत्ति मुग्ध हो जाती है—वहीं उसकी भक्ति शुरू होती है। कवि-वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के उस ऊँचे स्तर तक पहुँचकर रुक जाते हैं, जहाँ वह हतचेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त-वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना—आत्मनिवेदन—में अपना सर्वस्व आहुत कर देता है।

वैष्णव कवि के इस भाव को न समझकर वर्तमान युग के आलोचक उसे 'टाइप' या 'फार्मल' हो जाना कहने लगते हैं। हमें 'टाइप' या 'फार्मल' शब्द से कोई एतराज नहीं। मगर यूरोप के पण्डित कभी-कभी कहा करते हैं कि 'टाइप' में आकर आर्ट अवनत हो जाता है अर्थात् वे इन शब्दों का कुछ अनादर के साथ व्यवहार करते हैं। इस सम्बन्ध में एक कलासमीक्षक का कहना है—'फ़ार्मल' कहकर शिल्प की अवज्ञा करना बहुत उचित बात नहीं है। जिस प्रकार काव्य में,

उसी प्रकार चित्र और शिल्पकला मे आर्ट (कला) को 'फार्मल' होना ही पड़ता है—किन्तु इसीलिए एक-एक भाव के लिए एक सम्पूर्ण 'फार्म' पा सकना किसी जाति और उसकी कला के इतिहास में मामूली बात नही है।

बात असल मे यह है कि जाति ने जिस रूप को निरन्तर मनन के द्वारा एक श्रेष्ठ रूप दिया, वह सौन्दर्य की सृष्टि को विशिष्ट होने से बचाता है। एक जगह हमने चीन की कला के सम्बन्ध मे किसी यूरोपीय समालोचक का एक उद्धरण पढ़ा था, जिसका भाव यह है कि कला के रस को लगातार जारी रखने में चीनवालों ने संसार की अन्य किसी जाति से अधिक सफलता पायी है, क्योंकि चीन की कला एक विशेष आकार में चार हजार वर्षों से बराबर चली आ रही है। कला के विषय मे चीनवालों के बारे मे जो बात कही गयी है, वही बात काव्य के विषय मे वैष्णव-कवियों के बारे मे कही जा सकती है। पर जिस लिए एक विशेष आकार-भङ्गी ग्रहण करने के कारण चीन की कला मे रस का अभाव बताना धृष्टता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की रूपोपासना को भी वैचित्र्य-विहीन कहना अनुचित है।

यह तो हुई टाइप और फार्म की बात। पर कुछ समालोचक इसके विपरीत विचार रखकर भी वैष्णव कवि की रूपोपासना को हेय समझते हैं। वे फार्म और टाइप को स्वीकार कर लेते है, पर इस 'फार्म' के साथ चित्तवृत्ति की मुक्ति को स्वीकार नही करते अर्थात् वे कृष्ण या राधा के विशेष रूप के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नही करते। वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि रूपातीत को एक कल्पनातीत रूप में बांधना पड़ा है, पर साथ ही यह भी निश्चित कर देना चाहते है कि इस स्वीकृत 'फार्म' को अमुक-अमुक चित्तवृत्तियों के साथ बांध देना चाहिए। देवी को अगर एक रूप दिया गया है तो उस रूप की परितृप्ति के साधन भी निश्चित होने चाहिए। इसी श्रेणी मे वे पण्डित भी आते हैं जो राधा और कृष्ण के संयोग-शृंगार को त्याज्य समझते हैं। असल में रूप के साथ जब चित्त-वृत्तियों को बांध देते है, तभी वह बन्धन से उतरकर बाधा के रूप में खड़ा हो जाता है। 'तारा' या 'त्रिपुरसुन्दरी' का रूप भी निश्चित है, और साधना-पद्धति भी। पर वैष्णव-कवि का रूप तो निश्चित है, किन्तु साधना-पद्धति अनिश्चित ! कृष्ण की उपासना पिता, स्वामी, पुत्र, सखा, माता, प्रेमी आदि नाना रूपो में हो सकती है। वह बन्धन है, पर बाधा नहीं।

तुलसीदास कहते हैं—

यौंहि सोहि नाते अनेक मानिये जो भावै,
ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै।

यही वैष्णव-कवियो की रूप-उपासना है। रूप के अतीत अरूप-सत्ता को वह भूल जाता है। पर इस बन्धन की स्वीकृति को सार्थक करता है चित्तवृत्ति की मुक्ति में। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी अपने तटों की सार्थकता अपने स्रोत की मुक्ति में पाती है। इसीलिए वैष्णव कवि की ठोस रूपोपासना 'पंगनो'

की रूपोपासना से अलग है।

उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों का विश्वास था कि मानव-सभ्यता के प्रथम युग में मनुष्य ने भय और कौतूहलवश नाना अदृष्ट शक्तियों के नाना रूपों की कल्पना की थी; परन्तु वर्तमान शताब्दी के नृतत्त्वशास्त्र के नये आविष्कारों ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। आज संसार की जिन जातियों को आदिम श्रेणी का समझा जाता है, उनमें बिना किसी अपवाद के इस बात का अभाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों पुरानी जातियों के पुराने इतिहास का प्रकाशन होता जा रहा है, त्यों-त्यों यह बात प्रकट होने लगी है कि भय-मूलक रूपों की कल्पना मध्यवर्ती स्थिति की उपज है, आदिम की नहीं। प्रागैतिहासिक युग की चित्रित दीवारों, गुफाओं और शस्त्र आदि के अध्ययन से नृतत्त्ववेत्ताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि आदिमानव की रूप-सृष्टि के दो कारण थे : प्रथम यह कि आदिमानव का विश्वास था कि जिस चीज का चित्र बनाया जाता है, वह वस्तुतः बढ़ा करती है; अगर एक हरिण का चित्र बनाया गया, तो वन में अनेक हरिणों की वृद्धि होगी। एक बादल का अंकित करना आकाश में बादलों की वृद्धि का उपाय समझा जाता था। दूसरा कारण यह था कि आदिमानव चित्रों को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि समझता था; अतएव उसके पास किसी चीज के चित्र रहने का मतलब यह था कि सचमुच उस वस्तु पर उसका अधिकार होगा। जब जे. जी. फ्रेजर ने पहले-पहल इस निष्कर्ष को प्रकाशित किया, तो सारे यूरोप में इसका बड़ा जबर्दस्त विरोध किया गया। कहा गया कि ये स्वप्न-प्रसूत विचार है, कपोल-कल्पना है—असत्य हैं; पर सन् 1903 ई. में जब एस. रेनैक (S. Reinach) ने लगभग 1200 प्रागैतिहासिक चित्रणों को प्रकाशित किया तो विरोध ठण्डा पड़ गया। देखा गया कि इन चित्रों में सब-के-सब दूध देनेवाले पशुओं, हरिणों, घोड़ों और बकरियों के थे। इस श्रेणी की रूप-सृष्टि को तान्त्रिक सृष्टि या 'मैजिकल क्रिएशन' कहते हैं।

यह देखा गया है कि जब मनुष्य हाथ से चित्र खींचने लगता है, उसके बहुत पहले से ही वह मन में उसकी कल्पना किये रहता है। इसलिए तान्त्रिक सृष्टि ही मनुष्य की आदिमानस सृष्टि रही होगी। हिन्दुओं के वेद यद्यपि आदिमानव-सभ्यता के प्रतिनिधि नहीं हैं; परन्तु वैदिक मन्त्रों में तान्त्रिक सृष्टि के मानस-रूप का आभास हम पाते हैं। जो हो, मनुष्य ने सभ्यता के शिखर पर चढ़ने के लिए जो दूसरी सीढ़ी बनायी वह तान्त्रिक सृष्टि के सर्वथा विपरीत थी। अब उसे धीरे-धीरे अनुभव होने लगा था कि हिरन का चित्र बनाने में ही हिरन नहीं बढ़ते, गाय के अंकित होते ही उसके घर दूध की नदी नहीं बहने लगती—कोई शक्ति है जो इस तान्त्रिक नियम में बाधा पहुँचा रही है। वह भयानक है। वह गायों का संहार कर सकती है, वह वन को निःसत्व बना देती है, वह घर के बच्चों पर भी हमला करती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता की दौड़ में आगे बढ़ने लगा, त्यों-त्यों वह इस शक्ति की विकरालता अनुभव करने लगा। केवल

विकरालता ही नहीं, उसने देखा कि यह शक्ति अनेकरूपा है—इसकी पूजा होनी चाहिए। यहीं से भयमूलक रूप की सृष्टि आरम्भ हुई।

मनुष्य का मन कुछ और आगे बढ़ा। उसने देखा, विकराल शक्ति की पूजा हो रही है, तो भी भयजनक अवस्था का अन्त नहीं होता। उसने अनुभव किया कि केवल विकराल शक्ति-भर ही सब कुछ नहीं है, कुछ और है जो इसकी पूजा के बिना भी संसार की रक्षा कर रहा है और पूजा होने पर संसार का नाश कर सकता है। वह अकेले ही पैदा कर सकता है, अकेले ही रक्षा कर सकता है, अकेले ही संहार भी कर सकता है। हवा उसी के इशारे पर नाच रही है, समुद्र उसी के इशारे पर मौन-गम्भीर मुद्रा से आकाश की ओर ताक रहा है, सूर्य उसी के इंगित पर जल रहा है। वह महान् है, वह ब्रह्म है, वह व्यापक है।

और उसका रूप? संसार में ऐसा क्या है, जो उसका रूप न हो? क्या है, जो ठीक-ठीक उसका रूप बता सके? वह यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं—नेति, नेति, नेति! मगर मनुष्य के भीतर का कवि, उसके भीतर का कलाकार, उसमें का मनीषी इसकी सृष्टि करेगा ही। सीधे रास्ते न हो सकेगा तो टेढ़े से चलकर, भौतिक रूप से काम न चलेगा तो अभिनव कल्पना के बल पर। वह अनन्त है; पर मनुष्य उसकी अनन्तता को अभिव्यक्त कैसे करेगा? उसके पास क्या है, जो अनन्तत्व को रूप दे सके? है क्यों नहीं? वह जो शंख में एक आवर्त्त है, घुमाते जाओ, पर समाप्त होने का नाम नहीं लेता—न स्थान में, और न काल में—उस आवर्त्तमात्र को अनन्तत्व का प्रतीक क्यों नहीं माना जा सकता? इस आवर्त्त को आधार करके स्वस्तिक और प्रणव की रचना हुई। ब्रह्म शान्त है; पर शान्ति को रूप कैसे दिया जाय? मनुष्य ने उसकी भी कल्पना की। सारांश, उसने अरूप को रूप देने के नाना उपाय आविष्कार किये और यहीं से प्रतीक-मूलक रचनाओं का सूत्रपात हुआ।

मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा; परन्तु इस व्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता की कल्पना के कारण उसका मन सदा अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा। धीरे-धीरे उसने ब्रह्म को 'ईश्वर' नाम दिया। ईश्वर अर्थात् समर्थ। ऐश्वर्यबोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा समझा, अपना उद्धारकर्ता समझा। इस मनोवृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं; परन्तु साथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं। इस मनोवृत्ति को दार्शनिक मनोवृत्ति कहते हैं। ये दोनों बातें मनुष्य की सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं। समय-समय पर इन दोनों वृत्तियों में कभी यह, कभी वह प्रबल होती रही। इसके फलस्वरूप संसार में नाना प्रकार के धर्ममत और दार्शनिक-मतवाद पैदा होते रहे। इन दोनों मनोवृत्तियों के फलस्वरूप मनुष्यजाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्ति, मन्दिर आदि निर्माण किये; अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे; ललित कला की अभूतपूर्व समृद्धि सम्पादित की; पर सर्वत्र वह कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक

मनोवृत्ति का परिचय देता रहा।

अचानक मध्ययुग की भारतीय साधना में हम एक प्रकार के कवियों और चित्रकारों को एक अभिनव सृष्टि में तल्लीन देखते हैं। वे मानते है कि शक्ति में ऐश्वर्य है—इसलिए निश्चय ही वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते है कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है—काल मे भी और स्थान में भी; अर्थात् वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है, पर ये दोनों उसके एकाङ्गी परिचय हैं। ऐश्वर्य भी उसका एक अङ्ग है, ब्रह्मत्त्व भी उसका एक अंश है, इन दोनो को अतिक्रान्त करके स्थित है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम मे! जहाँ वह साधारण-से-साधारण आदमी का समानधर्मा है। यही इस प्रेम की प्यास में अपना सबकुछ भूल जाता है, यही अहीर की छोहरिया के सामने नाचता है, गाता है, कल्लोल करता है:

जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।

जो उसे ज्ञानमय समझते है, ब्रह्म समझते है, वे उसके एक अंश को जानते है; पर जो उसे प्रेम-मय समझते है, वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते है।[1] ये कवि और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते है कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—'प्रेमा पुमर्थो महान्।'

इस मध्ययुग की साधना के समानान्तर चलनेवाली एक दूसरी प्रचण्ड प्रेम-धारा यूरोप में उसी युग में आविर्भूत हुई थी; वह थी ईसाई-साधना। प्राचीन यहूदियों के धर्म-ग्रन्थ के अनुसार यह संसार ख़ुदा के हाथ से खिसककर गिरा

1. 'श्रीमद्भागवत' (1-2-11) मे एक श्लोक पाया है—

विदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

इस श्लोक के आधार पर वैष्णव आचार्यों ने परम-पुरुष के तीन रूपों का वर्णन किया है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म भगवान् के उस रूप का नाम है जो विशुद्ध ज्ञानमय है, ज्ञानमार्ग के उपासक इस रूप की उपासना करते हैं। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। जिस प्रकार चर्मचक्षु से सूर्य-मण्डल के नाना विजातीय पदार्थ, जिनमें सैकड़ों मील विस्तृत अन्धकारमय दरारें भी हैं, एक ही ज्योति के रूप मे दिखायी देते हैं उसी प्रकार भगवान् का नाना शक्तिमय और गुणमय रूप ज्ञानमय ही दिखायी देता है ('ब्रह्मसंहिता', 5-46)। परमात्मा योगियों का उपास्य है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद बना रहता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत दूरी पर रहकर नाना पदार्थों के नाना रूपों में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्ति के द्वारा नाना पदार्थों मे 'परमात्म-रूप' से प्रत्यक्ष होते हैं (श्रीमद्भागवत, 1.9-42)। प्रेमियों के निकट भगवान् का पूर्णरूप प्रकट होता है। इस रूप को 'भगवान्' कहते हैं। वैष्णव आचार्यों ने बताया है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। (दे.—जीव गोस्वामी का 'भागवत-सन्दर्भ' और भागवत के ऊपर उद्धृत श्लोक पर महाप्रभु वल्लभाचार्य, श्री जीवगोस्वामिपाद और श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाएँ।)

हुआ यन्त्र है। इसीलिए यह पापमय है। इसमें पैदा होनेवाले मनुष्य स्वभावतः ही पापमय हैं। इनके और ईश्वर के बीच एक बडा भारी व्यवधान रह गया है। इसी व्यवधान के कारण मनुष्य—पापात्मा—भगवान् के पवित्र संसर्ग से वञ्चित होकर शैतान का शिकार बन गया है। बाद के ईसाई भक्तों ने विश्वास-पूर्वक कहा कि मनुष्य की इस दुरवस्था से करुणा-विगलित होकर प्रभु ईसा-मसीह ने अवतार धारण करके इस व्यवधान को भर दिया है। जिसके सिर पर उस करुणा-मूर्त्ति ने हाथ रख दिया, वही तर गया। पतितों पर जिसकी विशेष दृष्टि है, वह दीनों की पुकार पर दौड़ पडता है, आर्तों को वह शरण देता है—अद्भुत प्रेममय है वह पतित-पावन, वह दीन-दयालु, वह अशरणशरण।

मध्ययुग की भारतीय साधना में भी श्रीकृष्ण या श्रीरामचन्द्र ठीक इसी प्रकार दिखायी देते हैं। कहीं हम उन्हें मांसाशी गीध—'जटाऊ की धूरि जटान सों' झारते देखते है, कही अस्पृश्य शबरी के जूठे बेरों को प्रेम-सहित चखते देखते हैं—कहीं दीन सुदामा के पैरों को 'आँसुन के जल सों' धोते देखते हैं—ठीक उसी प्रकार का पतित-पावन का रूप, दीन-दयालु रूप, अशरण-शरण रूप! मगर वैष्णव कवि यहीं आकर नहीं रुकता। ईसाई साधक की विगलद्बाष्पा भावुकता ही उसकी नैया पार कर देती है, उसे आगे जाने की जरूरत नहीं; पर वैष्णव कवि नैया पार करने की चिन्ता में उतना समय वर्बाद करना नहीं जानता। उसे अर्थ नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए—चाहिए भक्ति, चाहिए प्रेम :

अरथ न, धरम न, काम रुचि, गति न चहौं निरबान,
जनम जनम रघुपति भगति, यह बरदान न आन।

संसार के उपासना के इतिहास में रूपों की उपासना की कमी नहीं है। परन्तु कहाँ है वह साहस, वह प्रेम पर बलिदान कर सकने की अद्भुत क्षमता, जो मध्ययुग के इन साधक कवियों ने ठोस रूप के प्रति प्रकट की है :

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं,
आठहुँ सिद्धि नवौं निधि को सुख नन्द की धेनु चराइ बिसारौं।

यह उपास्य रूप की चरम सृष्टि है, इसके आगे रूप की रचना असम्भव है। यहाँ आकर भगवान् मनुष्य के अपने हो जाते हैं, वह बड़े भी नहीं, छोटे भी नहीं, हमारे हैं। हमारे माता-पिता है, भाई-बहन हैं, सखा-सखी हैं, प्रेम-प्रेमिका हैं, पुत्र-पुत्री है—हम जो चाहें वही हैं। वेदों और पुराणों ने जिसका कोई उप-युक्त पता नहीं बताया, इंजील और कुरान जिसकी व्याख्या करते थक गये, दर्शन और धर्मग्रन्थ जिसका कोई सन्धान न पा सके, वही कितना सहज है, कितना निकट! वह हमारा प्रेमी है! :

ब्रह्म जो भाष्यो पुराननि में
तेहि देख्यो पलोटत राधिका पायनि।

('विद्या,' 1933 ई०)

हिन्दी का भक्ति-साहित्य

जिस समय हिन्दी का भक्ति-साहित्य बनना शुरू हुआ था, वह समय एक युग-सन्धि काल था। प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नयी जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थी, तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसङ्गठित समाज था, जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई व्यक्ति उसके विशेष धर्म-मत को यदि स्वीकार कर ले तो इस्लाम समस्त भेद-भाव भूल जाता था। वह राजा से रङ्क और ब्राह्मण से चाण्डाल तक सबको धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो 'बिजली की चमक के समान' इस विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गयी। इसने दो रूपो में अपने-आपको प्रकाशित किया। यही वे दो धाराएँ हैं जिन्हें निर्गुण-धारा और सगुण-धारा नाम दे दिया गया है। इन दोनों साधनाओं ने दो पूर्ववर्ती धर्ममतो को केन्द्र बनाकर ही अपने-आपको प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात् नाथपन्थी साधकों के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना ने हिन्दू जाति के बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का; एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों में से किसी का इष्ट नहीं था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को इष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनों के साधन थे। भगवान् की लीला में दोनो ही विश्वास करते थे। दोनों ही का अनुभव था कि भगवान् लीला के लिए ही इस जागतिक प्रपंच को सँभाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने में रस पाते रहे, जबकि निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्त अपने-आपमें रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़-जगत् के सम्बन्ध की ही स्थायिता पर से रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक सम्बन्ध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम को प्रधानता दी जाती। जो लोग शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते, हैं वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंग में बार-बार 'जड़-जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति-शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार हैं। इसीलिए चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से सम्बन्ध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्ति-शास्त्रियों का दावा है, कि अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिए भगवत्-प्रेम न तो इन्द्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धिसाध्य। वह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन-बुद्धि-स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विश्रमित होता है। भागवत में (11. 2. 36) इसीलिए कहा है :

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वाभावात्।
करोमि यद्यद् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥"

पर निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्त की वाणियों के अध्ययन के लिए शास्त्र बहुत कम सहायक हैं। अब तक इनके अध्ययन के लिए जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक-ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियाँ हैं और उतने ही महत्त्वपूर्ण विषय हैं भिन्न-भिन्न जातियों और सम्प्रदायों की राजनीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्ति-साहित्य के पढ़ने वाले पाठक को जो बात सबसे अधिक आकृष्ट करती है—विशेषकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा; एक के लिए पिण्ड का ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिण्ड; एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुण धारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ कभी न झुकनेवाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ घर-फूंक मस्तीवाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आपमें स्वतन्त्र नहीं है। नाथमार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तन्त्रमत की अनेक साधनाएँ

और विचारधाराएँ आ गयी हैं तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वेदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्ययुग के निर्गुण कवियों के साहित्य मे आनेवाले सहज, शून्य, निरंजन, नाद, बिन्दु आदि बहुतेरे शब्द—जो इस साहित्य के मर्मस्थल के पहरेदार हैं—तब तक समझ में नही आ सकते, जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गम्भीरता-पूर्वक न किया जाय। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक मे मैंने इन शब्दो के मनो-रंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बार-बार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता-जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस शब्द का अर्थ कुछ इस लहज़े मे किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्व-वर्त्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। खसम भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम अवस्था' कहा करते हैं। 'ख-सम' और 'गगनोपम' एक ही बात है। अवधूतगीता में इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते हैं जिसमे द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नही होते, जो माया-प्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है और जो ज्ञानरूपी अमृतपान का परिणाम है। टीकाकारों ने 'ख-सम' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता' किया है। इस साहित्य मे वह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है, निर्गुण साधकों के साहित्य में उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आयी है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर-प्रयत्नों से साधित समाधि का बहुत आदर करते नही जान पड़ते। जो सहजावस्था शरीर-प्रयत्नों से साधी जाती है, वह ससीम है और शरीर के साथ-ही-साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की ख-समावस्था को सामयिक आनन्द ही मानते थे। मूल तत्त्व तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक-कान रूँधने की जरूरत ही नही होती; कन्था और मुद्रा-धारण की आवश्यकता ही नही होती। वह 'सहज समाधि' का अधिकारी होता है—सहज समाधि, जिसमे 'कहूँ सो नाम, सुनूँ सो सुमरन, जो कुछ करूँ सो पूजा' ही है। अब तक पूर्ववर्त्ती साहित्य के साथ मिला-कर न देखने के कारण पण्डित लोग 'खसम' शब्द के इस महान् अर्थ को भूलते आये हैं। मैंने उल्लिखित 'कबीर' पुस्तक में विस्तृत भाव से इस शब्द के पूर्वापर अर्थ का विचार किया है और इसीलिए मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीर-दास 'खसम' शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरबी अर्थ के अतिरि..

भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान में रखते रहे हैं। मेरा विश्वास है कि नेपाल और हिमालय की तराइयों में जहाँ-जहाँ योगमार्ग का प्रबल प्रचार था, वहाँ के लोक-गीतों और लोक-कथानकों से ऐसे अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकता है।

परन्तु संयोग और सौभाग्यवश जो पुस्तकें हमारे हाथ में आ गयी हैं, उनको ही अध्ययन का प्रधान अवलम्ब नहीं माना जा सकता। पुस्तकों में लिखी बातों से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ में लेंगे उनमें प्रचुर कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होगी। भारतीय समाज जैसा आज है, वैसा ही हमेशा नहीं था। नये-नये जन-समूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने विचारों और आचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोड़ते गये हैं। पुरानी समाज-व्यवस्था भी सदा एक-सी नहीं रही है। आज जो जातियाँ समाज के सबसे निचले स्तर में विद्यमान हैं, वे सदा वहीं नहीं रही और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर में ही रही हैं जो आज ऊँची हैं। इस विराट् जन-समुद्र का सामाजिक जीवन बहुत स्थितिशील है, फिर भी ऐसी धाराएँ इसमें एकदम कम नहीं हैं जिन्होंने उसकी सतह को आलोड़ित-विलोड़ित किया है। एक ऐसा भी जमाना गया है जब इस देश का एक बहुत बड़ा जन-समाज ब्राह्मण-धर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक-भावना भी थी। मुसलमानों के आने के पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थीं—कोई भी जाति तब हिन्दू नहीं कही जाती थी। मुसलमानों ने ही इस देश के रहनेवालों को पहले-पहल हिन्दू नाम दिया। किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमें की बहुत-सी अस्पृश्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को बाध्य हुईं या मुसलमान। इस युग की यह एक विशेष घटना है, जब प्रत्येक मानव-समूह को किसी-न-किसी बड़े कैम्प में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्ध चन्द्राकृति भूभाग में जुलाहों को देखकर रिज़ली साहब ने अपनी पुस्तक 'पीपुल्स ऑफ इण्डिया' (पृ. 126) में लिखा है कि इन्होंने कभी समूह रूप में मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीर-रज्जब आदि महापुरुष इसी वंश के रत्न थे। वस्तुतः वे ही 'ना हिन्दू ना मुसलमान' थे। सहजपन्थी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है कि मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं। मैं यह तो नहीं कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहले वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं। पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थीं और दूसरों के मानने-न-मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अध्येता को इन जातियों की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप ज़रूर जानने चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक

जाति में और न एक सम्प्रदाय में ही। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है, वे नाना भाँति की परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के मिलनबिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ से एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति-मार्ग; जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोषगुण उन्हें स्पष्ट दिखायी दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वे साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सके थे। पर इसी को सब-कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जायें तो इसे भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'ओझा-अभिनन्दन-ग्रन्थमाला' में एक लेख द्वारा दिखाया है कि मध्ययुग का भक्ति-साहित्य किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों के साथ सम्बद्ध है।

(विश्वभारती पत्रिका, 1944 ई)

हिन्दी पर वैष्णव धर्म का प्रभाव

मध्ययुग में भक्ति की एक नयी धारा भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक बह गयी और देखते-देखते इस विशाल देश को एक नये रूप में बदल दिया। भाषा-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित डॉक्टर ग्रियर्सन[1] मध्ययुग के इस आन्दोलन के सम्बन्ध में कहते हैं, "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त (अर्थात् पुराने धार्मिक मतों के) अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी। कोई हिन्दू नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आयी, कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता; किन्तु वे सभी धार्मिक ग्रन्थ जो इस (भक्ति) के सम्बन्ध में लिखे गये हैं, और जिनका काल निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है, ईसाई सन् के बहुत बाद लिखे गये हैं।"—इसीलिए डॉक्टर साहब इस नयी बात का अनुभव कर सके हैं।[2] आपका कहना है कि यह बात मद्रास प्रान्त में आकर

1. ग्रियर्सन, 'माडर्न हिन्दुइज्म ऐण्ड इट्स डेट टु दि नेस्टोरियन्स', जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1907, पृ. 313
2. ग्रियर्सन, 'भक्तिमार्ग', इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स, खण्ड, 2, 1909.

उपादान है। उनका यह भ्रम स्वाभाविक है। असल बात यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के दुर्बल और रोगाक्रान्त होने पर उसकी जीवनी-शक्ति एकाएक प्रबल वेग से जाग पड़ती है, ठीक उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के रोगाक्रान्त होने पर उसकी जीवनी-शक्ति अर्थात् भक्ति-साधना, वेग के साथ जाग पड़ी थी। हम इस प्रश्न के ऊपर फिर विस्तृत विवेचन करेंगे।

हिन्दी-साहित्य के ऊपर वैष्णव प्रभाव का अध्ययन एक विशाल कार्य है। मध्ययुग का हिन्दी-साहित्य कुछ थोड़े-से अपवादों को छोड़कर समस्त वैष्णव साहित्य ही है। मिश्रबन्धुओं ने जिन नौ महाकवियों को हिन्दी का 'नवरत्न' माना है, जिनकी संख्या बाद में दस करनी पड़ी है, उनमें से सात तो नख से सिख तक वैष्णव हैं। तीन—चन्द, कबीर और भूषण—और चाहे कुछ भी हों, अ-वैष्णव नहीं हैं। 'मिश्रबन्धु-विनोद' के प्रथम दो भागों में जिन कवियों की चर्चा है, उनमें 85 फीसदी पूरे वैष्णव हैं।[1] शेष में बहुत ही कम अवैष्णव हैं। साहित्य की धर्म के साथ इस प्रकार की अद्भुत एकात्मता संसार के इतिहास में विरल नहीं है। परन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण वैष्णव साहित्य और वैष्णव साधना की एकता संसार के इतिहास में एक नयी बात है। यह बात क्या है, यह समझने के लिए हमें इस युग तक के साहित्यिक और धार्मिक विकास की एक साधारण जानकारी आवश्यक है।

भारतीय 'नाट्यशास्त्र' के आरम्भ में ही एक ऐसी कथा आती है जो विद्वानों को चक्कर में डाल देती है। इस कथा के अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने 'नाट्य वेद' नामक पाँचवें वेद की रचना की थी। साधारणतया हिन्दू आचार्य किसी नये शास्त्र की नींव डालते समय उसका सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार वेदों से जरूर स्थापित करते हैं। नाट्य-शास्त्र की रचना के समय भी यह बात अवश्य प्रस्तुत हुई होगी। परन्तु जब कोई सीधा सम्बन्ध मिलना असम्भव हो गया होगा तब उक्त कथा के बल पर एक पाँचवें वेद की कल्पना आवश्यक समझी गयी होगी। मामला पेचीदा इसलिए हो जाता है कि वस्तुतः वेदों में ऐसे कथोपकथनों की कमी नहीं है जिन्हें आसानी के साथ नाटकों का मूल रूप कह सकते थे; फिर नाट्य वेद की कल्पना शास्त्रकार ने क्यों की? प्रभावशाली

1. यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

वैष्णव कवि	84.79 प्रतिशत
सन्त (अर्थात् शास्त्र की परवा किये बिना भक्ति करनेवाले)	3.59 "
मुसलमान	2.75 "
जैन	2.74 "
अन्यान्य	6.13 "

यह सूची अपूर्ण हो सकती है। क्योंकि कितने ही कवियों के विषय में ठीक-ठीक नहीं जाना जा सका कि उनकी कविता का विषय क्या है। यह ध्यान देने की बात है कि मुसलमान कवियों में से अधिकांश वैष्णव भावापन्न हैं और जैनों में भी कुछ वैष्णव ढंग के कवि हैं।

विचार के लगभग सभी यूरोपीय पण्डितो ने इस पर अपनी-अपनी रायें दी हैं।[1] फलत 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना' तो हो गयी, परन्तु कोई उचित समाधान नहीं हो पाया।

हमारी समझ मे इस मामले का इतना पेचीदा हो जाना एक कल्पित किन्तु भ्रमात्मक सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर निर्भर है। यूरोपीय पण्डित यह मानकर ही कलम उठाते हैं कि भारतवर्ष में जो कुछ है वह वेदों से ही शुरू होता है। हमे श्री मनमोहन घोष[2] का यह मत ठीक जान पड़ता है कि नाटक इस देश मे आर्यों के आगमन के पूर्व ही वर्तमान थे। परन्तु उनमे पात्रो की बातचीत नही रहा करती थी, वे अभिनय-प्रधान हुआ करते थे। इन अभिनयो का काम था 'रस' का उद्रेक। आर्य-संसर्ग के बाद अभिनय के साथ-साथ कथोपकथन भी मिल गया। परन्तु नाटक का प्रधान उपकरण अभिनय रहता था और लक्ष्य निष्पत्ति। प्राचीन संस्कृत-नाटको मे 'लज्जां नाटयति', 'वृक्षसेचनं नाटयति' आदि प्रयोग इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रसिद्ध टीकाकार राघवभट्ट ने वृक्षसेचन, भ्रमरबाधा-निवारण, आदि अभिनयो की भंगी का भी निर्देश किया है।[3]

रस नाटक का ही विषय था, इस बात का और भी स्पष्ट प्रमाण है आलंकारिको की रस-सूत्र की व्याख्या। वस्तुतः मम्मट ने[4] जिन आलंकारिको का मत भारतीय नाट्यसूत्र के सिलसिले मे उद्धृत किया है, वे सभी—लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त—नाट्यशास्त्र के ही व्याख्याता हैं और दर्शक के मन मे रसोद्रेक की बात ही कहते आये हैं। नाटक मे रस की भाँति ही अलंकार स्फुट काव्य का विषय समझा जाता था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अलंकार-सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्यों—दण्डी और भामह—ने अलंकार को ही प्रधान माना है। रस की चर्चा तो वे करते ही नही। उनकी पुस्तकों से यह अनुमान करना बिल्कुल कठिन नही है कि वे रस को काव्य—अर्थात् स्फुट श्लोक का विषय ही नही समझते।[5]

आठवीं शताब्दी के आस-पास अलंकार-शास्त्र मे ध्वनि-सम्प्रदाय जोर पकड़ता

1. इन मतो के लिए ए. बी. कीथ का 'इण्डियन ड्रामा' देखिए।
2. 'अभिनय दर्पण' की प्रस्तावना (Introduction) XXIII-VI
3. देखिए 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्,' राघव भट्ट की टीका (निर्णयसागर); वृक्षसेचन (पृ. 27), भ्रमरबाधा (पृ. 34), श्रृंगारलज्जा (पृ. 40), विषाद (पृ. 49), मुखोन्नयनपरिहार (पृ. 109), कुसुमावचय (पृ. 115), प्रसाधन (पृ. 129-32); पतिवम (पृ. 139), अवतरण (पृ. 189), रथाधिरोहण (पृ. 222)। विशेष व्याख्या के लिए देखिए 'अभिनय-दर्पण' में मनमोहन घोष की प्रस्तावना।
4. 'काव्यप्रकाश', चतुर्थ उल्लास।
5. इसीलिए रुय्यक 'अलंकार सर्वस्व' (पृ. 7) में कहते है—"तदेव अलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।"

दिखायी देता है।[1] ध्वनि या व्यंग्य को काव्य की आत्मा मानकर और ध्वनि में भी रस-ध्वनि को सर्वोत्तम स्थान देकर इस सम्प्रदाय ने अलंकारशास्त्र को अभिनव जीवन दिया और एक बड़ा कार्य यह किया कि रस और अलंकार दोनों को नाटक और स्फुट काव्य में समान रूप से उपयोगी बताया। ध्वनि-सम्प्रदाय ने अलंकार-प्रधान काव्य को 'अवर' या अश्रेष्ठ कोटि में रखा। यद्यपि साहित्य-दर्पणकार ने इसको काव्य की आत्मा बताया, परन्तु असल में वे ध्वनि को ही काव्यात्मक समझते रहे। मुख्य बात तो यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक ध्वनि-सम्प्रदाय का ही बोलबाला रहा। 'साहित्य-दर्पण' में सबसे प्रथम इस शास्त्र में नायिकाभेद का प्रवेश हुआ। यद्यपि ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों ने 'रस' को काव्य का सर्वश्रेष्ठ उपादान मान लिया था, परन्तु रस को इतना अधिक स्थान नहीं दिया गया कि उसमें नायिकाभेद भी मिला दिया जाये। 'रस' रूपक-विवेचना का प्रधान विषय समझा जाता था और उसी में नायिकाओं का वर्गीकरण भी सम्मिलित रहता था। यह ध्यान देने की बात है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में ही नायिका-भेद और अलंकार एक साथ विविक्त हुए। यह शताब्दी वस्तुतः देशी भाषाओं के साहित्य की उन्नति की शताब्दी है।

'साहित्यदर्पण' के बाद एक ऐसे मत का प्रादुर्भाव दिखायी देता है जो रस के अतिरिक्त अन्य किसी बात को काव्य-विवेचना का विषय समझता ही नहीं, या समझकर भी उसे गौण स्थान देता है। इसी तरह एक दूसरा सम्प्रदाय ऐसा दिखायी देता है जो अलंकार के अतिरिक्त अन्य किसी विषय की परवा नहीं करता। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही आचार्य इन दोनों विषयों पर अलग-अलग ग्रन्थ लिखता है। परन्तु इस बात का अच्छा अध्ययन करना हो तो संस्कृत को छोड़कर देशी भाषाओं के उदीयमान साहित्य की ओर देखना होगा। यहाँ वह अद्भुत बात दिखायी देती है जिसे हजारों वर्ष के भारतीय साहित्य में बेजोड़ कहा जा सकता है। संसार की बात तो हम नहीं जानते—वह बहुत बड़ा है—पर हमारी जानी हुई दुनिया में यह बात अद्वितीय है। यहाँ हम देखते हैं कि रस—विशेषकर रसों के राजा शृंगार—के आलम्बनों और उद्दीपनों का वर्गी-

1. शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं : [1] अभिधा अर्थात् कोश-व्याकरण-सम्मत शब्द का सांकेतिक अर्थ बतानेवाली शक्ति; [2] लक्षणा अर्थात् संकेतार्थ से सम्बद्ध अन्य लक्षित अर्थ को बतानेवाली शक्ति; और [3] व्यंजना अर्थात् अभिधेय और लक्ष्य के अतिरिक्त उनसे सम्बद्ध या असम्बद्ध अन्य अर्थों को व्यक्त करनेवाली (suggestive) शक्ति। सर्वप्रथम 'ध्वन्यालोक' में व्यंग्य-अर्थ (ध्वनि) की प्रधानता की युक्तिपूर्वक प्रतिष्ठा की गयी है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन इस मत को वैयाकरणों के स्फोटवाद से उद्भूत बताते हैं। पर 'स्फोट' से इसका सम्बन्ध केवल इसलिए बताया गया है कि इस मत को नवीन कहकर उड़ा न दिया जा सके। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्वनि का जो सर्वांगपूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है वह इस बात का प्रमाण है कि इसके बहुत पूर्व ही इस मत का अस्तित्व था। स्वयं आनन्दवर्धन ही कहते हैं : "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः"—(ध्वन्यालोक, 1-1)

करण हो रहा है और उनके उदाहरणों के बहाने भगवान् की लीला गायी जा रही है। "आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका गुविन्द सुमिरन कौ बहानो है!" अर्थात् कविता करने के बहाने परम आराध्य का भजन या परम आराध्य के भजन के बहाने कविता! ललित कला के सुकुमार प्राण 'रस' के साथ धार्मिक और दार्शनिक साधना के परमलक्ष्य का इस प्रकार एकीकरण अन्यत्र दुर्लभ है। इस युग की देशी भाषाओं के साहित्य का संसार की साहित्यिक साधना मे यही महान् दान है।

बंगाल मे सर्वप्रथम रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक संस्कृत-ग्रन्थ मे इस प्रकार से रस का विवेचन किया। रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के भक्तों में से थे। इनका समय पन्द्रहवी शताब्दी का अन्तिम और सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ था। यही पुस्तक संस्कृत मे प्रथम बार भक्ति और अलंकार-शास्त्र को एक रूप देकर लिखी गयी। इसके बहुत पहले जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास ने क्रमशः संस्कृत, मैथिली और बंगला में राधाकृष्ण की लीलाओ का गान किया था। परन्तु रस-शास्त्र के नाम पर नायक-नायिकाओं का प्रथम वर्गीकरण यही था जिसमे उदाहरण के लिए राधा-माधव की लीलाओ का वर्णन रखा गया। इस ग्रन्थ मे 'उज्ज्वल या मधुररस को, जिसे ग्रन्थकार भक्तिरस भी कहता है (मधुराख्यो भक्तिरसः, 1-3), मनुष्य का परम प्राप्तव्य बताया गया है। मधुर-रस के आलम्बन श्रीकृष्ण ही हो सकते है, दूसरा नही। गौडीय वैष्णवों के मत से पाँच रस होते है—शान्त, हास्य या प्रीति, सख्य या प्रेम, वात्सल्य और माधुर्य। इसी माधुर्य को उज्ज्वल रस कहते है। इसे ग्रन्थकार 'भक्तिरस-राट्' या भक्तिरसों का राजा बताता है। इसके बाद बंगाल मे नायिकाओ और नायकों के वर्गीकरण के अनुसार पद लिखने की चाल-सी चल पड़ी। परन्तु इस प्रकार की रसव्याख्या से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्प्रदाय का मुख्य विषय कविता नही, भक्ति था। हिन्दी में जो रस-ग्रन्थ लिखे गये उनमे भक्ति और कवित्व समान भाव से गुँथे हुए थे। कही-कही तो कवित्व ही प्रधान है, भक्ति गौण। हम यहाँ सूरदास, तुलसीदास जैसे कवियों की बात नही कर रहे है, केशव, मतिराम और देव जैसे रस-ग्रन्थकारो की बात कर रहे है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन दिनो 'उज्ज्वल नीलमणि' की रचना हुई उसके कुछ पहले ही हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध थे। 'उज्ज्वल नीलमणि' ने भक्ति-रस की जो सर्वांगपूर्ण व्याख्या की है वह सर्वांश मे नही, तो अधिकांश में नवीन है। ऐसा एकाएक नही हो सकता। इसके पूर्व इसकी पर्याप्त चर्चा रही होगी। इसी तरह हिन्दी के जिस ग्रन्थ की हम चर्चा करने जा रहे है, वह पहला प्रयत्न नही जान पड़ता। साधारण धारणा यह है कि केशवदास ही हिन्दी के प्रथम रसाचार्य हैं, परन्तु बात असल मे यह नही है। कृपाराम नामक एक अन्य कवि ने 1541 ई. मे ही रस पर सुन्दर ग्रन्थ

लिखा था।[1] इस ग्रन्थ का नाम 'हिततरंगिणी' है। "इसमें रसों का विषय बहुत ही विस्तारपूर्वक और मनोहर छन्दों द्वारा कहा गया है। इस कवि की भाषा सुष्ठु व्रजभाषा है। इन्होंने लिखा है कि अन्य कवि बड़े छन्दों में शृंगाररस का वर्णन करते हैं, परन्तु मैंने दोहा में इसलिए लिखा कि उसमें थोड़े ही अक्षरों में बहुत अर्थ आ जाता है।[2] इस कथन से प्रकट होता है कि उस समय बहुत-से कवि थे, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके ग्रन्थ अब नहीं मिलते।"[3] इसी ग्रन्थ में पहले-पहले राधाकृष्ण की प्रेमलीला को उदाहरण रूप में लिखित पाया जाता है :

आजु सकारे हौं गयी नन्दलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू निरखे औरै हाल॥

यहाँ यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि हिन्दी में राधा-माधव की प्रेमगाथाओं का प्रचार भक्त कवियों के कण्ठ से इसके बहुत पहले हो चुका था। इस श्रेणी के कवि भक्ति के आवेश में ही कविता (गान कहना अधिक ठीक होगा) लिखा करते थे, परन्तु कृपाराम की श्रेणी के आचार्य कविता करने बैठते थे और उस पर भक्ति का पर्दा डाल देते थे। यह बात ध्यान देने की है कि इस श्रेणी के आचार्यों का वर्गीकरण गौड़ीय वैष्णवों की श्रेणी का नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रभाव गौड़ीय वैष्णवों का है। फिर यह बात आयी कहाँ से ? एक और बात ध्यान देने की है, वह यह कि पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले यह धारा हिन्दी साहित्य में एकदम अपरिचित है। रसाचार्यों की बात छोड़ भी दी जाये, तो भी भक्त कवियों के गान भी पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले दृष्टिगोचर नहीं होते।

एक ओर तो इन कवियों और रसाचार्यों पर गौड़ीय प्रभाव का कोई चिह्न दिखायी नहीं देता, दूसरी ओर इस प्रकार के प्रेम-गानों के सभी पुराने रचयिता —जयदेव, विद्यापति, उमापति, चण्डीदास हिन्दी के किसी भी वैष्णव कवि से पूर्ववर्ती और पूर्वी प्रदेश के ठहरते हैं। राधाकृष्ण की शृंगार-लीला का अगर कोई सीधा सम्बन्ध कहीं से मिलता है तो इन्हीं पूर्ववर्ती भक्तों से। महाप्रभु चैतन्यदेव, जो जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास इन तीनों कवियों के काव्य-रसिक थे, वृन्दावन आये थे और उन्होंने ही इसे नया रूप दिया था। उनके अनेक शिष्य वहाँ आजीवन के लिए रह गये थे और उस सम्प्रदाय के कितने ही भक्त परवर्ती हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि भी हुए। इस प्रकार पूर्वी प्रदेशों से

1. बरनत कवि सिंगार रस छन्द बड़े विस्तारि,
   मैं बरन्यो दोहानि बिच यातें सुघर विचारि।
2. 'मिश्रबन्धु विनोद,' पृ. 276 (तृतीय संस्करण, लखनऊ, 1986 वि.)
3. कृपाराम के अतिरिक्त, गोप (1615), करनेस और मोहनलाल मिश्र ने रीति-ग्रन्थ लिखे थे। ये तीनों ही केशवदास के पूर्ववर्ती थे। (दे. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-शब्दसागर' की भूमिका, पृ. 121-22), परन्तु हम नहीं जानते कि इन्होंने अपने ग्रन्थों में राधा-माधव की लीलाओं को उद्धृत किया है या नहीं।

इस धारा का साक्षात् सम्बन्ध भी दिखायी देता है। इन दो परस्पर-विरोधी बातों का समाधान क्या है ?

यूरोपीय पण्डितों का रास्ता सीधा है। वैष्णव भक्त भी भगवान् को 'पतित-पावन' कहते है, 'करुणा-सिन्धु' कहते हैं, और ईसाई भक्त भी ऐसा ही कहते हैं, इसलिए भक्ति ईसायत की देन है। कुछ कहते हैं यह मद्रास मे बसे हुए नेस्टोरियन ईसाइयो की देन है।[1] कुछ कहते हैं यह वैक्ट्रिया या इसिकुल ह्रद से आयी है और कुछ कहते है यह सूफियो[2] की मध्यस्थता मे आयी है। ऐसे लोगों की दृष्टि मे संसार मे जो कुछ अच्छा है वह यूरोप और ईसाई धर्म में ही है, इसलिए हिन्दुओ ने भक्ति को भी निश्चय ही वही से उधार लिया होगा! 'खुल जाओ सुमसुम' और लो, वह दरवाजा खुल गया!!

इस स्थान पर यह कह देना उचित होगा कि हिन्दी-साहित्य में भक्तिधारा को बहाने का श्रेय निश्चय ही दो प्रसिद्ध आचार्यों को प्राप्त है। राम-भक्ति की धारा के प्रवर्तक आचार्य रामानन्द है। इस धारा को दो भागो मे विभक्त पाया जाता है। प्रथम वे सन्त है जो शास्त्रो और रूढियों के कायल नही है। इन्हे निर्गुणवादी भक्त भी कह सकते है। कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि भक्त इसी श्रेणी के हैं। दूसरी श्रेणी मे तुलसीदास जैसे महात्मा हैं जो भक्तिवाद और शास्त्रो के सामजस्य के अनुसार साधनमार्ग का निर्देश करते हैं। कृष्ण-भक्ति की धारा के प्रधान प्रवर्त्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य हैं। परन्तु केवल इतना कह देने से हम सन्तुष्ट नही हो सकते। कोई भी मत-वाद जब किसी नवीन भूमि मे प्रवेश करता है तो वहाँ की रीति-नीति, आचार-विचार से मिलकर एक नया रूप धारण करता है। महाराष्ट्र की भक्ति एक चीज है, युक्तप्रान्त की दूसरी और बगाल की कुछ और। इनके मूल सिद्धान्त एक ही हो सकते हैं, परन्तु इनके आकार-प्रकार सर्वथा अलग हैं। रामानन्द-प्रवर्त्तित रामधारा कबीर में एक रूप धारण करती है और तुलसीदास मे दूसरा। जब व्यक्ति-विशेष के कारण साधना का रूप बदल सकता है, तो देश-विशेष के साथ क्यों नही बदलेगा? जो लोग कुछ दाक्षिणात्य आचार्यों के दार्शनिक और धार्मिक मतों का अध्ययन करके ही तुलसीदास और सूरदास के रहस्यो का उद्घाटन करते हैं, वे लोकमत के साथ अविचार करते हैं। जिस भक्ति-साधना ने देव, मतिराम और पद्माकर को पैदा किया, वह किसी आचार्य की ही साधना नही थी। आचार्य-विशेष की दीक्षा तो उस पर केवल रंग चढ़ा गयी, मूल कंकाल कुछ और ही था।

हमारा विश्वास है कि ग्यारहवी से पन्द्रहवी शताब्दी तक उत्तरभारत के जन-साधारण मे एक साधना विकसित होती जा रही थी। पन्द्रहवी शताब्दी में

[1] 'माडर्न हिन्दुइज्म एण्ड इट्स डेट टु द नेस्टोरियन्स' (जे. आर. ए. एस., 1907)
[2] 'धाइस्ट कृष्ण, क्रिश्चियनिटी ऐण्ड गूजर्स' (जे. आर. ए. एस, 1908)

वह एकाएक फूट उठी। ग्रियर्सन साहब का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि "अचानक बिजली के समान यह बात भारतीय अन्तरीप के इस छोर से उस छोर तक चमक गयी।" परन्तु इसके लिए चार सौ वर्ष से मेघ पुंजीभूत हो रहे थे। और केवल बिजली ही नहीं चमकी, पन्द्रहवीं शताब्दी मे भक्ति की जो वर्षा आरम्भ हुई, वह चार सौ वर्ष तक बरसती ही रही—जरा भी रुकी नहीं।

इन चार शताब्दियों में जन-साधारण क्या सोच रहा था, यह जानने के पहले भक्ति-आन्दोलन की कुछ मुख्य बातों को ध्यान में रखना होगा। ये बातें इस प्रकार हैं :

1. प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष नहीं—'प्रेमा पुमर्थो महान्' !
2. भगवान् के प्रति प्रेम कौलीन्य से बड़ी चीज है।
3. भक्त भगवान् से भी बड़ा है।
4. भक्ति के बिना शास्त्रज्ञान और पाण्डित्य व्यर्थ है।
5. नाम रूप से भी बढ़कर है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह मत ब्राह्मणधर्म का विरोधी तो नहीं था, परन्तु उसका सम्पूर्ण अनुगामी भी नहीं था। महायान-मत से इसका अन्तर यही था कि वह ब्राह्मणधर्म का पूर्ण विरोधी था और यह उसका अंग होकर भी स्वाधीन था।

इन चार शताब्दियों में भारतीय धर्म-मत की क्या अवस्था थी, यह बात हिन्दू धर्म के संस्कृत-ग्रन्थों से बहुत कम समझ पड़ती है। असल में संस्कृत ग्रन्थों की दृष्टि से यह युग टीका-युग कहा जा सकता है। कोई अच्छा ग्रन्थ अगर इस जमाने मे लिखा गया तो वह टीकाएँ ही थी। धर्मशास्त्रों में व्यवस्था-मूलक अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जो निश्चय ही टीका श्रेणी मे आते है। इन टीकाओं और निबन्धों से उस युग की भयानक सतर्कता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। जान पड़ता है, शास्त्रीय आदेशों के पालन मे ज्यों-ज्यों शिथिलता आती जा रही थी त्यों-त्यों ब्राह्मण आचार्य अधिक सतर्क भाव ग्रहण करते जा रहे थे। इन अनुपस्थितिमूलक (negative) प्रमाणों के बल पर यही अनुमान होता है कि शास्त्रों की व्यवस्थाओं से लोकमत बेपरवा होता जा रहा था। उस युग के ग्राम-गीत और प्रवाद यदि उपलब्ध होते तो हम यह आसानी से जान सकते कि जनसाधारण का मत उस समय क्या था। परन्तु अभी तक, दुर्भाग्यवश इस दिशा में कुछ सन्तोषजनक कार्य नहीं हुआ है।

जो हो, हिन्दी-साहित्य की शैशवावस्था में ही हमें एक महात्मा के दर्शन होते हैं जो एक विशेष धर्ममत के अन्यतम प्रतिष्ठाता हैं। ये हैं गोरखनाथ। आप नाथ-सम्प्रदाय के आचार्य थे। यह सम्प्रदाय महायान बौद्ध धर्म का उत्तराधिकारी था। तन्त्र और योग की क्रियाएँ इस मत के प्रधान अंग हैं। कबीरदास पर गोरखनाथ की निर्गुण साधना का प्रभाव स्पष्ट ही लक्षित होता है। हिन्दी साहित्य के निर्गुण अंग पर इस सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव है, परन्तु हम आज

उस दिशा की ओर अग्रसर होना नहीं चाहते। गोरखनाथ का उल्लेख हमने इस-लिए किया कि उनका हिन्दी के शैशवकाल में दिखायी देना एक विशेष अर्थ रखता है। नाथ-सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध महायान बौद्ध-धर्म से है। यह सम्प्रदाय बंगाल से लेकर युक्त-प्रान्त तक बहुत प्रभावशाली हो गया था। हिन्दी साहित्य में गोरखनाथ एक ओर उस युग की हिन्दी-भाषी जनता का सम्बन्ध महायान बौद्धों से जोड़ते हैं और दूसरी ओर बंगाल से भी सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यहाँ हम उस युग के समाज का सीधा सम्बन्ध देश और काल से स्थापित होते देखते हैं। सच पूछिए तो उत्तरकालीन वैष्णव धर्म-मत पर महायान बौद्धधर्म का प्रभाव बहुत अधिक है। जिस प्रकार पुत्र का सम्बन्ध पिता की अपेक्षा माता से अधिक रहता है और जिस प्रकार माता के रक्त-मांस का अधिक भागधेय होकर भी पुत्र पिता के नाम से ही प्रसिद्ध होता है, वैसे ही हिन्दी में वैष्णव धर्म का सम्बन्ध महायान से अधिक होते हुए भी वह वल्लभाचार्य के नाम से पुकारा गया।

महायान बौद्ध धर्म की शाखा आचार्यों की दृष्टि में कितनी भी शून्यवादी क्यों न रही हो, उस धर्म के अनुयायी अधिकांश जन-साधारण में सैकड़ों देव-देवियों की पूजा चल पड़ी थी। उनके देव-देवियों—प्रज्ञापारमिता, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री—की मूर्तियाँ बहुत कुछ वासुदेव और लक्ष्मी की मूर्तियों के समान हैं।[1] प्रसिद्ध डॉक्टर केर्न ने बताया है कि वैष्णव भक्तिवाद इन महायानों की भक्ति का ही विकसित रूप है।[2] यहाँ तक कि नाम-संकीर्तन भी जिसे ग्रियर्सन साहब[3] ईसाई धर्म का प्रभाव बताते हैं, महायान धर्मवालों की चीज़ है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने चीन और भारत के संकीर्त्तनों का साम्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि महायान-मत ही संकीर्त्तनप्रथा का मूल उत्स है। बंगाल के इतिहास से यह बात अलग नहीं की जा सकती कि बौद्ध धर्म का ह्रास होते ही महायान मत के नाना पन्थ वैष्णवों में शामिल हुए। इस प्रकार आउल-बाउल आदि अनेक सहजिया पन्थ जिनकी साधना प्रेम-मूलक थी और जो परकीया-प्रेम को सहज-साधना का प्रधान उपाय समझते थे, सोलहवीं शताब्दी में नित्यानन्द के वैष्णव झण्डे के नीचे एकत्र हुए। इन्हीं नित्यानन्द को महाप्रभु चैतन्य ने अपने सम्प्रदाय में निमन्त्रित किया और यहीं से गौड़ीय वैष्णव धर्म ने अभिनव रूप धारण किया।[4] यह धर्ममत समस्त बंगाल, उड़ीसा में तथा अंशतः असम में पहुँचा। उड़ीसा के धर्माचार्यों में चैतन्य और नागार्जुन, दोनों के मतों के समन्वय से एक विशाल वैष्णव-बौद्ध साहित्य निर्मित हुआ।

1. डी. सी. सेन, बेंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर, पृ. 401
2. केर्न, मैनुअल आव बुद्धिज्म, पृ. 124
3. ग्रियर्सन, माडर्न हिन्दुइज्म एंड नेस्टोरियन्स (जे. आर. ए. एस., 1907)
4. डी. सी. सेन, बेंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर, पृ. 403

केप्रेम-गानों का प्रभाव व्रजभाषा के शैशव-काल में ही पड़ा। केवल नाभादास या गुरु नानक ने जयदेव का नाम लिया हो, सो बात नहीं, सूरदास के भजनों में जयदेव के पदों का अनुवाद भी है।[1] पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि "सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[2] अर्थात् सूरदास के बहुत पहले ही (और इसीलिए वल्लभाचार्य के भी बहुत पहले) वैष्णव प्रेम-धारा ने इस प्रदेश में अपनी जड़ जमा ली थी। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि बारहवीं से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक जिस प्रकार का बौद्ध तन्त्रवाद बंगाल और उड़ीसा के पूर्वी प्रान्तों में प्रबल रहा, वैसा इस प्रदेश में नहीं था। मध्ययुग में बंगाल का प्रान्त तन्त्र का अखाड़ा समझा जाता था, परन्तु वैष्णव प्रेम-वाद में कुछ ऐसा रस था जो अवैष्णवों को भी आकृष्ट करता रहा। इसके सबसे ज्वलन्त उदाहरण हैं विद्यापति। आप स्वयं शैव थे, परन्तु प्रेम-साधना की ओर इतने आकृष्ट हुए कि शायद ही कोई वैष्णव कवि बंगाल में इतने दिनों तक इतना समादृत रहा हो।

बंगाल के बाहर का प्रान्त इस प्रेम से प्रभावित तो हुआ था, पर वह प्रभाव केवल आइडिया का प्रभाव था।[3] वास्तव में बंगाल की भूमि में परकीया-भाव को

1. जयदेव और सूरदास के इन पदों की तुलना कीजिए :

    मेघैर्मेदुरम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
    र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
    इत्थं नन्द निदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्व कुञ्जद्रुमं
    राधा माधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः।

    —जयदेव

    गगन गरजि घहराइ जुरी घटा कारी।
    पौन झकझोर चपला चमकि चहुँ ओर
    सुवन तन चितै नन्द डरत भारी॥
    कह्यो वृषभानु की कुँवरि सों बोलि कै
    राधिका कान्ह घर लिये जा री॥
    दोऊ घर जाहु संग नभ भयो
    स्याम रंग कुँवर गह्यो वृषभानु बारी।
    गये बन ओर नवल नंदकिशोर
    नवल राधा नये कुञ्ज भारी॥
    अंग पुलकित भये मदन तिन तन
    जये सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी॥—'संक्षिप्त सूरसागर', पृ. 91

2. 'हिन्दी-शब्दसागर,' आठवाँ भाग, पृष्ठ 104

3. यह सन्देह करने की बात नहीं है कि मध्ययुग में यह बात फैलकर कैसे इतनी दूर तक आ सकी थी। जायसी के 'पद्मावत' की रचना के सौ वर्ष के भीतर ही उसका बँगला अनुवाद हो गया था। यह अनुवाद आराकान के एक मुसलमान बादशाह ने करवाया था।

→

ऊँचा रूप देने का उपकरण पहले से ही वर्तमान था, ब्रजभाषा प्रान्तों मे यह बात नही थी। अर्थात् राधा और कृष्ण-सम्बन्धी प्रेम के गान तो इस प्रदेश में चल पडे, परन्तु राधा कृष्ण की रानी ही समझी गयी। सूरदास ने राधा और कृष्ण का विवाह बडी धूम-धाम से कराया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इस आन्दोलन को और जोर दे दिया।

अब हम अलकार-सम्प्रदाय की बातों पर विचार करेंगे। बंगाल मे चैतन्य-युग के बाद ही वैष्णव आलकारिकों का विकास हुआ है। हम अन्यत्र लिख चुके है कि इन आलंकारिको का कोई भी प्रभाव हिन्दी-आलंकारिकों पर नही पड़ा। सच पूछा जाय तो 'रस-ग्रन्थो' की रचना हिन्दी मे पहले ही होने लगी थी। ब्रजभाषा में गोपियों और कृष्ण की नाना लीलाओ का वर्णन पहले से ही होता आ रहा था। हिन्दी-रसाचार्यो ने उदाहरण के लिए इन लीलाओं को ठीक उसी तरह उद्धृत किया जिस प्रकार मम्मट आदि ने कालिदास के शिव-पार्वती-परिणय सम्बन्धी श्लोकों को उद्धृत किया था। एक नवीनता यह आ गयी कि मम्मट आदि तो अन्य कवियो की रचना उद्धृत करते थे, ये अपनी ही रचना उद्धृत करने लगे। विश्वनाथ कुछ दूर तक इस प्रथा के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। बाद मे वर्गीकरण करके कविता करना एक सरल उपाय समझा गया और हिन्दी मे रस-ग्रन्थो की बाढ आ गयी। हमारा खयाल है कि पण्डितराज जगन्नाथ इस बात मे ब्रजभाषावालों से प्रभावित हुए थे।

हिन्दी-साहित्य पर वैष्णव प्रभाव की चर्चा करते समय दो अत्यन्त मनोरञ्जक विषयों को छोड़ा नही जाता। एक तो पद, सवैया और कवित्त (इनमे कवित्त सबसे अधिक जरूरी है) और दूसरे इन छन्दों के इतिहास के साथ 'भागवत' तथा 'रामचरितमानस' और 'भागवत' तथा 'सूरसागर' की तुलना आवश्यक है। पर ये दोनों बातें संक्षेप मे नहीं लिखी जा सकतीं। इसलिए यहाँ हम इनके सम्बन्ध मे कुछ नही कहना चाहते। इतना ही कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि हिन्दी-साहित्य मे वैष्णव धर्म का समस्त इतिहास इन्हीं कई छन्दों के इतिहास में आ जाता है।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है, उसका सारांश यह है कि वैष्णव धर्म [illegible]

→ दादू के जीवन-काल मे ही उनका प्रभाव बंगाल में फैल गया था। श्री क्षिति[illegible]
बगाल के बाउलों के गान सुनकर ही पहले-पहल समझा कि दादू जन्म के मुस[illegible]
उनका नाम दाउद था। चैतन्य देव के अनन्तर ही गौड़ीय वैष्णव धर्म [illegible]
गया। मीराबाई के जीवन-काल में ही उनके गान गुर्जर प्रान्तों में [illegible]
बगाल के गोपीचन्द का गान सौ वर्ष के भीतर ही सुदूर पंजाब [illegible]
और अब भी गाया जाता है। इन बातों के लिए श्री क्षितिमो[illegible]
राजस्थान और बंगाल का आध्यात्मिक सहयोग' (वी. ही[illegible]
देखिए।

धर्म की अपेक्षा लोकधर्म अधिक है। हिन्दी-साहित्य के लोक-गीतों में इसका प्रवेश वल्लभाचार्य के बहुत पहले हो गया था। इन्हीं गीतों का विकसित और सुसंस्कृत रूप 'सूरसागर' के अन्तर्गत विद्यमान है। अन्य सभी अशास्त्रीय या लोक-धर्मों, बौद्ध, जैन, यहाँ तक कि उपनिषदों के धर्म की भाँति इसकी जन्मभूमि भी बिहार, बंगाल और उड़ीसा के प्रान्त हैं। वल्लभाचार्य या चैतन्यदेव प्रभृति ने इस लोक-धर्म को शास्त्र-सम्मत रूप दिया। ज्यों ही इसने एक बार शास्त्र का सहारा पाया, त्योंही विद्युत की भाँति इस छोर से उस छोर तक फैल गया; क्योंकि असल में उसके लिए क्षेत्र बहुत पहले से ही तैयार था। जब शास्त्र-सम्मत होकर इसने अपना पूरा प्रभाव विस्तार किया तो आलंकारिकों और रसाचार्यों ने भी उसको अपने शास्त्र का आलम्बन बनाया। असल मे यह कहीं बाहर से आयी हुई चीज नहीं है। भारतीय साधना की जीवनी शक्ति के रूप में यह धारा नाना युग मे नाना रूप में प्रकट हुई थी। मध्ययुग के वैष्णव धर्म ने इसे जो रूप दिया, वह महायान भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था। इस भक्ति-साहित्य ने संसार के साहित्य मे एक नयी वस्तु दान की और वह यह कि आध्यात्मिक, धार्मिक और कला सम्बन्धी सभी साधनाओं का लक्ष्य विचित्र रूप से एक है; जो ज्ञान का विषय है, वही भक्ति का और वही रस का।

[आलोक-पर्व से]

प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का अनुशीलन

दृष्टिकोण-विस्तार की अपेक्षा

हिन्दी का अध्ययन एक दृष्टि से विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जानेवाले अन्य साहित्यों के अध्ययन से थोड़ा भिन्न है। हिन्दी में हम एक ओर तो ऐसे कवियों, प्रवृत्तियों और भावधाराओं का अध्ययन करते हैं जो प्राचीन साहित्य के अग हैं और जिनके अनुशीलन के लिए उसी प्रकार के अध्यवसाय और शोध-सामग्री की आवश्यकता होती है, जिस प्रकार की सामग्री संस्कृत, पाली और प्राकृत आदि 'क्लासिकल' कही जानेवाली भाषाओं के लिए अपेक्षित है; पूर्व-मध्यकाल के साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना के साथ उसका सम्बन्ध घनिष्ठ और प्रत्यक्ष है। दूसरी ओर उसका साहित्य नित्य बढ़ता जा रहा है। जब तक हमारे विभाग

का विद्यार्थी परीक्षा भवन से बाहर आता है, तब तक साहित्य आगे निकल गया होता है। इस प्रकार एक ओर हमें धैर्य की जरूरत होती है तो दूसरी ओर भागते हुए कालप्रवाह पर सतर्क दृष्टि रखने की आवश्यकता होती है। इस प्रवाह पर किस प्रकार दृष्टि रखी जा सकती है, यह हमारे विश्वविद्यालय के सामने बड़ा भारी प्रश्न है।

जैसे-जैसे शोधकार्य आगे बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि यह धारणा बहुत कुछ निराधार ही है कि आधुनिक भाषाओं के विकास के बाद उत्तरमध्यकाल में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान कम हो गया था। हिन्दी साहित्य का वह अंश जिसे मैंने प्राचीन कहा है, अपने आपमें सम्पूर्ण नहीं है, उसी प्रकार किसी भी प्रान्तीय भाषा का साहित्य अपने-आपमें परिपूर्ण नहीं है। सबको परस्पर की सहायता की आवश्यकता है, सबका साहित्य एक-दूसरे से उलझा हुआ है। हिन्दी में पाया जानेवाला नाथ योगियों का साहित्य समूचे भारत की भाषाओं में फैला हुआ है। विद्यापति के प्रभाव का विस्तार बहुत व्यापक है। वह बंगाल के गौड़ीय वैष्णवों के साहित्य को प्रेरणा देता रहा है, असम के शंकरदेव जैसे महात्माओं को और उनके सम्प्रदाय के वैष्णव-साहित्य को प्रभावित किया है, नेपाल के नाट्य-साहित्य में प्राण-सञ्चार करता रहा है और उड़ीसा के भक्तों में भी प्रिय रहा है। पश्चिमी बंगाल, बिहार, रीवाँ, उत्तरी उड़ीसा में प्रचलित निरंजन या धर्म-देवता सम्प्रदाय का एक टाँका बंगला में है तो दूसरा उड़िया में और तीसरा कबीरपन्थियों के साहित्य में और मेरा विश्वास है कि एकाध टाँका गुरुमुखी के साहित्य में भी मिल सकता है। नाभादास का 'भक्तमाल' आज से कोई दो सौ वर्ष पहले बंगला में अनुवादित हुआ और उसने बंगला साहित्य को प्रभावित किया। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस अनूदित ग्रन्थ से प्रभावित होकर सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास आदि पर बहुत सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। इस ग्रन्थ का अनुवाद मराठी में भी हुआ था और उड़िया में अनुवाद हुआ था या नहीं यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मेरे एक मित्र—प्रो. प्रह्लाद प्रधान—ने उसके अनुकरण पर लिखे एक उड़िया ग्रन्थ की चर्चा मुझसे की थी। बंगाल के गौड़ीय वैष्णवों ने भक्ति और भक्तों का जो सूक्ष्म विवेचन किया था, उसने आगे चलकर उत्तरभारत के उस रामभक्ति साहित्य को—जिसका केन्द्र अयोध्या में है—बहुत प्रभावित किया था। यह कहानी अब भी कही जाने को है। उदाहरण बढ़ाना बेकार है। हमारे देश के मध्ययुग का साहित्य भी बहुत दूर तक एक और अविच्छिन्न नहीं है। इस प्रकार के केन्द्र की आवश्यकता है, जहाँ सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का अध्ययन विशेष गम्भीरता के साथ किया जाय।

मैं जितना ही सोचता हूँ, उतना ही स्पष्ट मालूम होता है कि प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य एक-दूसरे से ऐसा उलझा हुआ है कि उनके निपुण अनुशीलन के बिना हम उस मध्ययुग को एकदम नहीं समझ सकेंगे जिसके गर्भ से हमारा यह

आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है। बंगाल के ब्रजबुलि का साहित्य ब्रजभाषा के साहित्य से ही नहीं, असम, उड़ीसा और मिथिला के साहित्य से अविच्छिन्न भाव से सम्बद्ध है। हिन्दी के पुराने साहित्य का अध्ययन तब तक अधूरा ही कहा जायगा, जब तक हम देश और काल में फैले हुए बृहत्तर भारतीय साहित्य का अध्ययन नहीं कर लेते। यह बात अन्य प्रान्तीय भाषाओं के लिए भी सही है।

यह एक अत्यन्त विचित्र और संकेतपूर्ण बात है कि मध्ययुग के अपभ्रंश साहित्य की जो कुछ भी काव्य-पद्धति है—बौद्धों के दोहे और पद, जैन मुनियों के निर्गुन भाव के पाहुड़ दोहे, सिद्धों के दोहा-चौपाई में लिखने की प्रथा, जैन कवियों के कड़वकबद्ध चरित काव्यों की परम्परा—सबका अवशेष हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में मिलता है अर्थात् आरम्भिक हिन्दी साहित्य की लालटेन यदि ठीक जलायी जा सकी तो हम पूर्व-मध्यकाल के अन्धकार में आसानी से घुस सकेंगे। इसीलिए मुझे इस प्रकार के स्वप्न से बड़ा उल्लास अनुभव होता है कि विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग इस महायज्ञ का प्रधान पीठ बनेगा। हिन्दी के अनुशीलन कार्य से अनेक प्रान्तीय भाषाओं के इतिहास पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ेगा। इस समय (स्वातन्त्र्य पूर्व स्थिति) जब हिन्दी अन्तरप्रान्तीय भाषा होने जा रही है, इस प्रकार के शोधकार्य का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यह बहुत बड़ा कार्य है, फिर भी यह हमारे कार्य का एक सामान्य अंश मात्र है। बदली हुई परिस्थितियों में हमें बहुत-कुछ करना है, सबका नाम गिनाना यहाँ सम्भव नहीं है। आवश्यक भी नहीं है। यह सन्तोष की बात है कि इस ओर विद्वानों का ध्यान गया है, परन्तु इस प्रकार के सभी प्रयत्न छिटपुट और असंगठित रूप में हो रहे हैं। इसकी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए।

इतिहास कुछ खण्ड-सत्यों का संग्रह मात्र नहीं है, साहित्य का इतिहास तो बिलकुल नहीं। हमारे साहित्य का इतिहास तभी पूर्ण कहा जायेगा जब हमें उसके पढ़ने के बाद चिन्ताधारा की समग्रता और उसकी जीवन्त गति का प्रत्यक्ष दर्शन हो। अपभ्रंश के साहित्य का नया स्वर केवल पूर्वापर ग्रन्थ-परम्परा के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह तत्कालीन प्रचलित संस्कृत काव्यधारा से थोड़ा भिन्न है। मनुष्य केवल उत्तराधिकार में ही ऐसा विचार नहीं पाता जिसको अग्रसर करना या समृद्ध करना उसका कर्त्तव्य और दायित्व होता है। यह पार्श्ववर्त्ती मनुष्य की चिन्ताधारा से प्रभावित होता है। ऐसे प्रयत्न हमने देखे हैं जो रीति-काल के अन्तिम भग्नावशेषों में ही आधुनिक विचारों के बीज खोजने की दु:साध्य साधना से अनुप्राणित है। सचाई यह है कि नवीन मानवता और उसके गर्भ से उत्पन्न उन्मुक्त विचारधारा, जो आधुनिक साहित्य का मूल अंश है, एकदम नयी परिस्थितियों की उपज है और उसे हमने उत्तराधिकार के रूप में नहीं बल्कि पार्श्ववर्त्ती विचारों के सम्पर्क-स्थापन के कारण पाया है। इसी प्रकार अपभ्रंश में जो नया स्वर दिखायी देता है, उसके लिए भी यह जरूरी

नहीं कि वह पूर्ववर्ती साहित्य के पेट से ही उत्पन्न हुआ हो। उसमें भी किसी नवीन मानव-मण्डली का स्पर्श मिल सकता है। कहने का मतलब यह है कि हिन्दी साहित्य के प्राचीन युग के अध्ययन के लिए दृष्टि-विस्तार की आवश्यकता है। केवल साहित्य नहीं धर्म, दर्शन, देवता, मण्डल, मूर्त्ति-विधान, चित्र-कला सब जगह हमें देश और काल दोनों में दूर तक दृष्टिपात करने की आवश्यकता हो सकती है।

[विचार और वितर्क से]

मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति और हिन्दी

पिछले एक हजार वर्षों की भारतीय धर्म-साधना का इतिहास अब भी अनवधीत और अनालोचित ही कहा जायेगा। हमारे ऐतिहासिक पण्डितों ने उस युग के राजनीतिक और आर्थिक ढांचे का थोड़ा-बहुत अध्ययन अवश्य उपस्थित किया है, पर विशाल बौद्ध और जैन मतों की क्रम-परिणति, स्मार्त और पौराणिक मतों का सर्वग्रासी रूप, शाक्त, पाशुपत और भागवत धर्म-साधनाओं की परिणति का अध्ययन अब भी नहीं हुआ है। अभी भी निरंजन-दैवत विशाल शैव सम्प्रदाय केवल कुतूहल का विषय बना हुआ है। जब से महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री महाशय ने बंगाल में निरंजन ठाकुर की पूजा को जीवित बौद्ध-धर्म का भग्नावशेष घोषित किया तब से बंगाल में तो इस विषय की कथंचित थोड़ी-बहुत चर्चा हुई है, पर अन्यत्र यह चर्चा भी नहीं सुनायी देती। कबीरपन्थ का अध्ययन करते समय प्रस्तुत लेखक को इस निरंजन दैवत सम्प्रदाय का पता लगा था। पश्चिमी बंगाल से लेकर रीवां तक के विस्तृत भूखण्ड में यह धर्म प्रचलित था—बाद में चलकर कबीरपन्थ में अन्तर्मुक्त हो गया था। पर केवल इतना ही नहीं—राजपूताने में उसने एक रूप धारण किया है, उत्तरी प्रदेशों में दूसरा और पूर्वी प्रदेशों में एकदम भिन्न तीसरा। इस समूचे धर्म-मत के अध्ययन का एकमात्र उत्स पुराना हिन्दी साहित्य है। हम लोगों ने इस उत्स का वास्तविक मूल्य नहीं समझा है। अभी भी हम हिन्दी साहित्य के केवल साहित्यिक पहलू का अध्ययन करके चुप हो जाते हैं। अब भी सन्तों और भक्तों की उक्ति के अनुसार उनके उत्कर्ष की श्रेणी का विचार करने में हम समय नष्ट कर रहे हैं। साहित्यिक अध्ययन बहुत बड़ी चीज है! पर हिन्दी में उपलब्ध साहित्य का मूल्य केवल साहित्यिक नहीं है। वह हमारे हजार वर्ष के सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक साधनों के अध्ययन का सबसे बहुमूल्य और सबसे विशाल साधन है। समूचे मध्ययुग के अध्ययन के लिए संस्कृत की पोथियों की

अपेक्षा इस भाषा का साहित्य कहीं अधिक उपादेय और विश्वसनीय है। यह लोक जीवन का सच्चा और सर्वोत्तम निर्देशक है। इस छोटे-से लेख में हम एकाध उदाहरण देकर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि संस्कृति के विद्यार्थी के लिए इस भाषा की कितनी आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति के साथ हिन्दी भाषा के सम्बन्ध पर विचार करते समय यह याद रखना चाहिए कि भारतवर्ष हिन्दी-भाषी क्षेत्र से बहुत बड़ा है। समूची भारतीय संस्कृति के निर्माण में ऐसे बहुत-से उपादान हैं जो हिन्दी-भाषी प्रदेशों के बाहर से आये हैं। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी भारतवर्ष की सर्वप्रधान भाषा है, वह उसके मर्मस्थल में बोली जाती है और इस विशाल देश की एक बहुत बड़ी संख्या इसी भाषा के किसी-न-किसी रूप का व्यवहार करती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के पिछले हजार वर्षों के रूप को समझने के लिए हिन्दी एकमात्र नहीं तो सर्वप्रधान साधन जरूर है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ-ही-साथ भारतीय संस्कृति एक विशेष दिशा में मुड़ चुकी थी। आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले के अपभ्रंश भाषा के जो पद और दोहे मिले हैं, वे इस झुकाव को बहुत स्पष्टता के साथ प्रमाणित करते हैं। भारतीय संस्कृति की जो छाप प्रारम्भ की हिन्दी-भाषा पर पड़ी है, वह इतनी स्पष्ट है कि केवल भाषा के अध्ययन से भी हम संस्कृति के विभिन्न रूपों का अनुमान लगा सकते हैं। ऐसा बहुत बार हुआ है कि एक ही शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, एक ही मुहावरा विशेष अवस्था की सूचना देता है और कभी-कभी तो धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक आदर्शों के परिवर्तन के साथ शब्द बिल्कुल विपरीत अर्थ में व्यवहृत होता रहा है।

अपनी बात समझाने के लिए मैं एक मनोरञ्जक शब्द के भिन्न-भिन्न काल के प्रयोगों का उदाहरण दूँ। यह शब्द है 'खसम'। कबीरदास के पदों से मामूली परिचय रखनेवाला आदमी भी खसम को अच्छी तरह पहचानता है। साधारणतः खसम शब्द अरबी का माना जाता है और इसका अर्थ किया जाता है : पति। उदाहरणार्थ खसम के साथ 'भोरे सूती' हुई इन्द्रिय-वधुओं की जो करारी खबर कबीरदास ने ली है, वह उपभोग्य ही नहीं है, झकझोर देनेवाली भी है। अब पति के साथ पत्नियाँ शयन करें तो किसी भी दृष्टि से इसमें नाराज होने की बात नहीं है, फिर कबीर-जैसा मस्तमौला फक्कड़ क्यों इस बात से चिढ़ गया—यह एक विचारने लायक बात है। मैं उसी बात को समझाने की कोशिश करता हूँ।

'ख-सम' शब्द असल में संस्कृत और अपभ्रंश के साहित्य में व्यवहृत हुआ है। इसका अर्थ है आकाश के समान या शून्य के समान। बौद्ध लोग आत्मा को नित्य पदार्थ नहीं मानते थे। वे नाना प्रकार की तपस्या ही इसलिए करते थे कि आत्मा को निर्वाण प्राप्त हो अर्थात् वह दीपक की लौ की तरह बुझ जाय और इस प्रकार इस भवजाल से छुटकारा मिले। बौद्धों के सहजयान और वज्रयान

एक प्रकार के यौगिक और तान्त्रिक सम्प्रदाय थे। वे नाना प्रकार की यौगिक क्रियाओं से समाधिस्थ होने को 'ख-सम' भाव कहते थे। वहाँ न भाव का ज्ञान होता है और न अभाव का, बल्कि शून्य के सामान्य नैरात्म्य भाव का ज्ञान होता है। यही बौद्धों का 'खसम' है। सरोजवज्र और शबरपाद नामक सहजयानी सिद्धों के कथन में कई बार यह शब्द आया है। अद्वयवज्र ने अपनी टीका में इस शब्द की व्याख्या भी की है। परन्तु नाथपन्थी योगी लोग आत्मा की नित्य सत्ता में विश्वास रखते थे। इन्होंने सहजयानियों के बहुत-से शब्द ज्यों-के-त्यों ले लिये हैं, परन्तु अर्थ सर्वत्र बदल दिया है। 'खसम' या 'गगनोपम' भाव इनमें भी प्रचलित है, परन्तु वहाँ नैरात्म्य भाव उसका अर्थ नहीं, कैवल्य भाव अर्थ है। अर्थात् उनके मत से समाधि में आत्मा नहीं है ऐसा ज्ञान नहीं होता, बल्कि 'केवल' आत्मा ही आत्मा है यही ज्ञान होता है।

न शून्य रूपं, विशून्य रूपम्
न शुद्ध रूपं, न विशुद्ध रूपम्।
रूपं विरूपं न भवामि किंचित्
स्वरूप रूपं परमार्थ तत्त्वम्।

कहने का मतलब यह कि एक ही शब्द का दोनों ने व्यवहार किया है, पर एकदम अलग-अलग अर्थ में। एक का खसम भाव समाधि की वह अवस्था है जहाँ 'आत्मा है ही नहीं' ऐसा भान होता है, और दूसरे का खसम या गगनोपम भाव वह अवस्था है जहाँ केवल आत्मा-ही-आत्मा दीखता है। 'अवधूतगीता' में इस भाव का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। कबीरदास इन नाथपन्थी योगियों से प्रभावित थे। उन्होंने स्वयं उस समाधि का अनुभव किया था जिसे योगी लोग अत्यन्त ऊँची अवस्था मानते थे, जहाँ—

गगन की गुफा ते तहँ गैब का चाँदना
उदय और अस्त का नाम नाहीं,
दिवस औ रैन तहँ नेक नहिं पाइये
प्रेम परकास के सिंधु माही।
सदा आनन्द दुखदन्द व्यापै नहीं
पूरनानन्द भरपूर देखा,
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक नहिं पाइये
कहे कबीर रस एक परवा।

परन्तु वे कायों की नाना भाँति की साधना से मिले हुए भगवान् के साक्षात्कार को महत्त्व देते थे। वे इसे 'कच्चा योग' कहते थे। क्योंकि, समाधि में तो निश्चित ही परमानन्द अखण्ड ज्योति का दर्शन होता है, पर समाधि टूटने पर तो फिर मनुष्य दुखद्वन्द्व की दुनिया में आ ही जाता है न! फिर इस योग से क्या लाभ? 'धागा टूटिगा गगन विनसिगा, कहाँ गया जोग तुम्हारा?' कबीरदास का कहना था कि भक्ति होनी चाहिए, भगवान् स्वयं मिलेंगे। भगवान् नहीं तो

समाधि एक विडम्बना मात्र है। इसीलिए उन्होंने 'खसम-भाव' को बहुत ऊँचा भाव नहीं समझा। उन दिनों इस्लाम का आगमन हो चुका था और भारतीय मत में नया उपादान बड़ी तेजी से प्रवेश कर रहा था। 'खसम' शब्द पतिवाचक होकर उसी माध्यम से कबीर को मिला था। कबीरदास ने दोनों स्रोतों से आये हुए शब्दों को मिला दिया। खसम का अर्थ निकृष्ट पति और परम प्रेममय उत्कृष्ट भगवान् पति हुए। यहाँ आकर खसम एक तीसरे भाव का वाचक हो गया। अब यह बात आसानी से समझ में आ जायेगी कि कबीर का मन जब माधव को छोड़कर खसम से प्रेम करता है, तब क्यों वे उसे प्रेम की रस्सी से बाँधकर हरिरस की ओर खींचना चाहते हैं :

धीरो मेरे मनुआँ तोहि धरि टाँगों
तूने किया मोरे खसम से साँगों
प्रेम की जेवरिया तेरे गले बाँधों
वहाँ ले जाऊँ जहाँ मेरे माधों। इत्यादि

इस प्रकार यह एक खसम शब्द तीन प्रकार के आध्यात्मिक साधनों का परिचायक है। परन्तु इस प्रकार के मनोरंजक शब्दों में यह अकेला नहीं है। ऐसे शब्दों का विशाल ठाठ है—शून्य है, सहज है, निरजन है, परजी है, नाद है, बिन्दु है, यहाँ तक कि राम-रहीम और केशव-करीम भी हैं। मुझे अफसोस है कि मैं समयाभाव के कारण उन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर अपने श्रोताओं को नहीं ले जा सकता।

कबीरदास में अपने पूर्ववर्ती और सहयोगियों की अपेक्षा जो बात विशेष थी वह है भक्ति। यह भक्ति ही मध्ययुग की भारतीय संस्कृति की विशेषता है। भक्ति ने ही नाथपन्थियों, निरंजनपन्थियों आदि के निर्गुण मत से मिलकर उस महान् साहित्य को पैदा किया था जिसे निर्गुण सन्त साहित्य कहते हैं, भक्ति ने ही सूफी साधना को वह भारतीय रूप दिया जिसे प्रेममार्गी साधना कहते हैं और मलिक मुहम्मद जायसी जैसे भक्त जिस साधना के अग्रणी हैं, भक्ति ने ही रामावतार और कृष्णावतार का आश्रय करके उस बेजोड़ प्रेमसाहित्य का निर्माण किया जिसकी तुलना वह स्वयंआप ही है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, हित हरिवंश आदि महात्माओं की अमर वाणी आज के भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। परन्तु भक्ति ने केवल आध्यात्मिक और धार्मिक साधनाओं को ही रूप नहीं दिया, उसने लौकिक रस-परक रचनाओं को भी बड़ी दूर तक प्रभावित किया। नितान्त लौकिक रस की कविताओं में भी गोपी और गोपाल इस प्रकार आ जाते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। भगवान् की भक्ति ने किसी साहित्य के लौकिक अंग को भी इतनी दूर तक प्रभावित किया हो, यह बात शायद संसार के इतिहास में और कहीं नहीं हुई है। वस्तुतः ऐसा कवि मन-ही-मन यह प्रतिज्ञा करके ही कलम उठाता है कि,

'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, न तु—
राधिका गुविन्द सुमिरन को बहानो है !'

इस विराट् भक्ति-आन्दोलन ने लोक-जीवन को और उसकी भाषा को बहुत अधिक प्रभावित किया। वैष्णव भक्ति ने लोगों के चित्त को ही नहीं जीता, उसने उनकी जबान पर भी कब्जा कर लिया। तरकारी काटना या कुम्हड़ा चीरना जैसे निर्दोष प्रयोगों में भी हिंसा की गन्ध पायी गयी और भक्त गृहस्थ ने इन्हें भी छोड़ देना चाहा। सच्चा वैष्णव मन, वचन और कर्म से अहिंसक होता है, अगर जबान से काटना या चीरना शब्द निकल गया तो वह वचन से अहिंसक कहाँ रहा! इस मनोवृत्ति ने भाषा के मुहावरों में बहुत परिवर्तन ला दिया। एक व्यक्तिगत अभिज्ञता की बात बताऊँ। मैं उन दिनों बालक था। कुल 12-13 वर्ष की उम्र होगी। हमारे घर एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य पधारे थे। मेरे ऊपर उनका विशेष स्नेह था। एक बार वे पूजा पर बैठे थे। जप करते-करते उन्होंने मुझे कुछ करने को इशारा किया। इशारे का तात्पर्य ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण मैंने उनसे पूछा कि 'क्या ठाकुरजी को टाँग दूँ?' क्षण-भर में आचार्य का चेहरा तमतमा गया। अन्त में क्रुद्ध होकर उन्होंने इशारा किया कि 'भाग जाओ।' मुझे वहाँ से भागना पड़ा। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मुझसे बहुत बड़ा अन्याय यह हो गया था कि मैंने ठाकुरजी को टाँग देने की बात कही थी। ठाकुरजी को 'झूलन देना' उचित मुहावरा था। मेरी दुर्विनीत भाषा से पूज्य की पूजा की अवहेलना हुई थी। वैष्णव शिष्टाचार की भाषा मामूली आदमी का भी असम्मान पसन्द नहीं करती, फिर ठाकुरजी की तो बात ही क्या है। मैं जब शान्तिनिकेतन पहली बार आया था तब एक नौकर ने एक दिन पूछा कि 'आपकी सेवा हो गयी?' मैं थोड़ी देर तक समझ ही न सका। बाद में उसके गले की कण्ठी देखकर खयाल आया कि यह आदमी वैष्णव है और तब कहीं समझ में आया कि सेवा अर्थात् भोजन। वैष्णव भोजन से भगवान् की सेवा करता है, यही मुख्य बात है, बाद में प्रसाद पाना तो गौण बात है। सो, अच्छा वैष्णव-भक्त किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कल्पना नहीं कर सकता कि वह महज पेट के लिए खाता है। असल में वह सेवा करता है। वैष्णव शिष्टाचार की भाषा भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल रूप का निदर्शन है। इस भाषा ने साधारण जनता को भी बड़ी दूर तक प्रभावित किया था।

निर्गुण और सगुण भाव के साधकों में मौलिक भेद था, फिर भी रामनाम का प्रचार करने में दोनों ने पूरा उत्साह दिखाया। इस रामनाम ने उत्तर भारत की जनता की भाषा और जीवन पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। 'राम,राम' का अर्थ नमस्कार है, परन्तु यही 'राम,राम' भिन्न भाव से उच्चारित होकर घृणा और जुगुप्सा के अर्थ में व्यवहृत होता है। जन्म और विवाह से लेकर मृत्यु तक सर्वत्र रामनाम के साथ कोई-न-कोई मुहाविरा जुड़ा हुआ है। और तो और, खाने-पीने से लेकर पहनने-ओढ़ने तक की वस्तुओं में रामनाम विद्यमान है। वैष्णव जिन

वस्तुओं को अपवित्र कहकर त्याग देता है, उनके साथ भी रामनाम जोड़कर उसमे की अपवित्रता को धो देना चाहता है। प्याज को इसीलिए रामलड्डू कहा जाता है और लहसुन को रामजावा।

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में इस्लाम के प्रादुर्भाव की ओर हमने पहले ही लक्ष्य किया है। सूफी मतवाद का वह भारतीय रूप, जो प्रेममार्गी सन्तो की देन है, बहुत लोकप्रिय हुआ था।

[आलोक-पर्व से]



हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी

[illegible]

[illegible] हिन्दी [illegible] (1952) [illegible] साहित्य [illegible] (1954) [illegible] विश्वविद्यालय [illegible]

[illegible] हिन्दू विश्वविद्यालय [illegible] साहित्य [illegible] हिन्दी [illegible]